गीताज्ञान

श्लोक, पदच्छेद, अन्वय, शब्दार्थ, सरल अर्थ और पद्यानुवाद सहित

युग की भाषा में गीता की जीवनोपयोगी नवीनतम टीका

१

प्रथम अध्याय

[अर्जुन का विषाद]

लेखक—

[श्रीहरिगीता, गीताअध्ययन, गीता के सप्तस्वर आदि ग्रन्थों के यशस्वी लेखक]

व्याख्यानवाचस्पति श्री पं० दीनानाथ भार्गव दिनेश

संशोधित तथा परिवर्धित द्वितीय संस्करण

गीता जयन्ती
सं० २००७

मूल्य
१)

प्रकाशक—
मानवधर्म कार्यालय
पीपल महादेव
दिल्ली।

मुद्रक—
जमना प्रिंटिंग वर्क्स
पीपल महादेव
दिल्ली।

शुभ-कामना

प्रातःस्मरणीय महामना श्री पं० मदनमोहन जी मालवीय

आपका कार्य बहुत उत्तम है। इसकी बहुत आवश्यकता है कि धर्म के ज्ञान का प्रचार जहां तक हो सके किया जाय। संसार में धर्म से परे कोई वस्तु नहीं है।

—मदनमोहन मालवीय

गणतन्त्र भारत के राष्ट्रपति तपोमूर्ति श्री डा. राजेन्द्रप्रसाद जी

पं० दीनानाथ दिनेश की लिखी हुई पुस्तकें और उनका कार्य देखकर मुझे विशेष आनन्द और सन्तोष हुआ।

धर्म की सेवा और सत्साहित्य के प्रसार का जो मार्ग दिनेश जी ने चुना है वह सराहनीय है। रेडियो द्वारा गीता-प्रवचनों, जन-समूह में व्याख्यानों, कथाओं, पुस्तकों के लेखन एवं प्रकाशन और 'मानवधर्म' के सम्पादन से दिनेश जी देश और धर्म की सच्ची सेवा कर रहे हैं।

'मानवधर्म कार्यालय' के कुछ प्रकाशन मैंने देखे, उनमें जीवन के विकास और चरित्र-निर्माण के लिये बड़े काम की सामग्री रहती है।

मैं 'मानवधर्म कार्यालय' की अभिवृद्धि और उन्नति चाहता हूँ।

राजेन्द्र प्रसाद
२४-११-४५

यह गीता का भाष्य स्वराज्य में ज्ञान और कर्म की प्रेरणा देने के लिये उपयोगी सिद्ध होगा। [signature]

...It is with added joy that he has already completed...volumes of his commentary on the Gita which will undoubtedly prove to be the crowning glory of the series of his publications under the denomination of the MANAVA DHARMA KARYALAYA.

B. Pattabhi Sitaramayya
President,
Indian National Congress.

20-12-49

गीता के पवित्र सार को समझने और व्यवहार में लाने के लिये
नित्य-पाठ और मनन करने योग्य अपूर्व ग्रन्थ।

लेखक —

[श्रीहरिगीता, गीताज्ञान, गीता-अध्ययन, आदि ग्रन्थों के यशस्वी लेखक]

व्याख्यानवाचस्पति श्री पं० दीनानाथ भार्गव दिनेश

●

गीता के सप्तस्वर पुस्तक में—

गीता के सात सौ श्लोकों में से केवल सात श्लोक इस उद्देश्य से चुने गये हैं कि कम से कम समय में गीता का अधिक से अधिक व्यावहारिक बोध हो जाय और इन सात श्लोकों के क्रियात्मक ज्ञान तथा आचरण से पाठक गीता के सम्पूर्ण ज्ञान और श्रीकृष्ण की कृपा का पात्र बन जाये।

●

८४ पृष्ठों और भगवान् श्रीकृष्ण के तिरंगे चित्र सहित

मूल्य केवल आठ आना

मानवधर्म कार्यालय पीपल महादेव, देहली।

गीता के प्राङ्गण में

इस गीता-शास्त्र का अर्थ जान लेने पर समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि होती है।

—श्री शंकराचार्य

"श्रोताओं को अपना मन कोमल करके इस कथा के माधुर्य का अनुभव उसी प्रकार करना चाहिये, जिस प्रकार चकोर के बच्चे मनोयोग-पूर्वक शरद् ऋतु की कोमल चन्द्रकलाओं के सुधा-कण चुन लेते हैं।

भ्रमर जैसे फूल का पराग ले जाते हैं, परन्तु कमलों के दल को इससे कुछ संवेदना नहीं होती, वैसी ही रीति इस ग्रन्थ के सेवन करने की है।

जैसे अपना स्थान न छोड़कर चन्द्रोदय होते ही आलिंगन-प्रेम का उपभोग केवल कुमुदनी ही जानती है, वैसे ही जिसका अन्तःकरण गम्भीरता से स्थिर हो रहा है, वही इस कथा का सन्मान करना जानता है।

गीता सुनने के लिये जो लोग अर्जुन की पंक्ति में बैठने के योग्य हों, उनको कृपा कर इस कथा की ओर ध्यान देना चाहिये।"

—सन्त ज्ञानेश्वर

"गीता के अनेक प्रकार के तात्पर्य कहे गये हैं।'''इन भिन्न-भिन्न तात्पर्यों को देखकर कोई भी मनुष्य घबड़ाकर सहज ही यह प्रश्न कर सकता है—

क्या ऐसे परस्पर विरोधी अनेक तात्पर्य एक ही गीता ग्रन्थ से निकल सकते हैं? और यदि निकल सकते हैं तो इस भिन्नता का हेतु क्या है?'''भिन्न-भिन्न भाष्यों के आचार्य बड़े विद्वान् धार्मिक और सुशील थे। यदि कहा जाय कि शंकराचार्य के समान महातत्त्व-ज्ञानी आज तक संसार में कोई भी नहीं हुआ है, तो भी अतिशयोक्ति न होगी। तब फिर इनमें और इनके बाद के आचार्यों में इतना मतभेद क्यों हुआ? गीता कोई इन्द्रजाल नहीं है कि जिससे मनमाना अर्थ निकाल लिया जाय? भगवान् ने अर्जुन को गीता का उपदेश इसलिये दिया था कि उसका भ्रम दूर हो, इसलिये नहीं कि उसका भ्रम और भी बढ़ जाय। गीता में एक ही विशेष और निश्चित अर्थ का उपदेश किया गया है और अर्जुन पर उस उपदेश का अपेक्षित परिणाम भी हुआ है। इतना सब कुछ होने पर भी गीता के तात्पर्यार्थ के विषय में इतनी गड़बड़ क्यों हो रही है?

यह प्रश्न कठिन है, परन्तु इसका उत्तर उतना कठिन नहीं है जितना पहिले-पहल मालूम पड़ता है। समुद्र-मन्थन के समय किसी को अमृत, किसी को विष, किसी को लक्ष्मी, ऐरावत, पारिजात आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ मिले; परन्तु इतने ही से समुद्र के यथार्थ स्वरूप का कुछ निर्णय नहीं होगया। ठीक इसी प्रकार साम्प्रदायिक रीति से गीता-सागर को मथनेवाले टीकाकारों की अवस्था होगई है।'''गीता के एक होने पर भी वह भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवालों को भिन्न-भिन्न स्वरूप में दिखने लगी है।"

—लोकमान्य तिलक

'हे भगवन्! इस कलियुग में जिसके मत में जैसा जँचता है, उसी प्रकार हरेक आदमी गीता का अर्थ लिख देता है। सब लोगों ने किसी न किसी बहाने से गीता का मनमाना अर्थ किया है। भगवन्! मैं क्या करूं ?"

—वामन पण्डित

"हम गीता के पास आते हैं साहाय्य और प्रकाश पाने के लिये।...हमारा हेतु यही होना चाहिये कि हमें इसमें से इसका वास्तविक अभिप्राय और जीता-जागता सन्देश मिले, वह असली चीज़ मिले जिसका ग्रहण मनुष्य जाति के पूर्णत्व और परम आध्यात्मिक कल्याण का कारण होगा।"

—श्री अरविंद

गीता की विशेषता—

गीता सच्चिदानन्द पूर्णपुरुष पुरुषोत्तम की वाणी है। गीता की वाणी में विलक्षणता, नित्य नवीनता, प्रेरणा और रुचि उत्पन्न कर देने की शक्ति है।

गीता उपनिषद्रूपी गौओं का दूध है। माता के दूध से जैसे बालक का शारीरिक विकास होता है, उसी प्रकार गीतारूपी दुग्धामृत बौद्धिक और आत्मिक विकास करता है।

वेदों उपनिषदों तथा अनेकों धर्म-शास्त्रों में अनन्त ज्ञान की गम्भीर चर्चा है। उसी ज्ञान को संक्षेप में अथवा किसी नवीन रूप में कह देना गीता की विशेषता नहीं है, गीता की विशेषता है उस शास्त्रज्ञान को कुशलता पूर्वक दैनिक व्यवहार और कर्म में उतार लाना। इसी कारण गीता को ब्रह्मविद्या का योगशास्त्र कहा गया है।

गीता का विषय—

ब्रह्म की अव्यय शक्ति और विद्या से योग करा देना, अथवा

दिव्य चेतना को मानवीय चेतना में भर देना गीता का मुख्य विषय है।

ब्रह्म और जीव का योग कराने के लिये गीता ने कर्म, भक्ति और ज्ञान का प्रासंगिक वर्णन किया है। ज्ञान बुद्धि को निर्मल और पवित्र करता है, भक्ति से अहंभाव का अन्त होता है और समदृष्टि तथा दिव्य-दृष्टि मिलती है। उस दृष्टि से विश्व में विश्व-पुरुष को देखकर जो कर्म किया जाता है, वही गीता का प्रतिपादित कर्म है, उसी कर्म ने गीता को मानवजाति के लिये उच्चतम व्यावहारिक ग्रन्थ बना दिया है।

गीता के तात्पर्य को भलीभांति न समझनेवाले कह सकते हैं कि महाभारत की युद्धभूमि में अर्जुन अपना कर्तव्य जानना चाहता था, उस समय उसे ब्रह्मज्ञान के गम्भीर उपदेश की, मोक्षमार्ग की, अथवा भक्ति की चर्चा से कोई प्रयोजन नहीं था, फिर भी गीता में आत्मज्ञान, यज्ञ-कर्म, संयम, साम्यवाद, ईश्वर-दर्शन, भक्ति, तप, स्वाध्याय, त्याग, दान आदि विषयों की विलक्षण विवेचना है। स्थित-प्रज्ञ, भक्त, गुणातीत और जीवन-मुक्त पुरुष के व्यवहार पर गीता ने जिस ढंग से प्रकाश डाला है, वह अर्जुन जैसी परिस्थिति में घिरे हुए किं-कर्तव्य-विमूढ दुःखी मनुष्य के लिये कहां तक उपयोगी हो सकता है ?

इस भ्रम अथवा शंका को गीता अपनी प्रस्तावना का प्रथम चरण धरते ही निर्मूल कर देती है। जीव को कर्तव्य के ज्ञान से दूर रखने अथवा कर्तव्य-कर्म से हटा देनेवाला अभिमान है। अभिमान की उत्पत्ति प्रज्ञावाद और ईश्वरीय शक्ति को न जानने से होती है। अभिमान से मोह और ममता का परिवार बढ़ता है; अतः कर्तव्य का बोध कराने के लिये गीता ने जिस योग-शास्त्र का उपदेश दिया है, वह ज्ञान से सम्पूर्ण संशयों को काटकर भक्ति की शक्ति से कर्म करने की

सात्त्विक सामर्थ्य देता है। ज्ञान और भक्ति सहित कर्म करने से कर्म दोषों, विकारों और भूलों से बचा रहता है—उसमें कुशलता आ जाती है, उसका करनेवाला सदा पवित्र और निष्पाप रहता है। ऐसे कर्म को गीता ने 'दिव्य-कर्म' कहा है। इसी दिव्य कर्म से परमेश्वर उत्पत्ति, पालन और संहार के कार्य करते हैं। गीता के ज्ञान तथा भक्ति की आधारशिला पर खड़ा होनेवाला गीता का कर्म—अशान्त को शान्ति देता है, दुःखी को सुखी बनाता है, दरिद्री को सम्पन्नता प्रदान करता है और वह सब कुछ करता है जिससे जीवन प्रतिभाशाली तथा तेजोमय होकर पुरुषोत्तम तक पहुँचता है।

मनुष्य की कठिनाई—

मनुष्य की एक बड़ी कठिनाई यह है कि वह संसार में रहकर व्यवहार करता हुआ, सत्य का आचरण कैसे कर सकता है? सुख, ऐश्वर्य और भोग उसे ब्रह्म से दूर कर देते हैं और सुख-भोगों का त्याग संसार को नीरस जड़ तथा प्रगतिहीन बना देता है। जिसे कुछ नहीं चाहिये वह कर्म क्यों करे? जिसे सुख, राज्य और भोगों की इच्छा नहीं है, उसे पुरुषार्थ से क्या प्रयोजन? इस उलझन में फंसा हुआ मनुष्य न विजय-वैभव को प्राप्त कर पाता और न परमेश्वर को। उसके जीवन में मिथ्याचार भर जाता है, वह संसार में फंसा रहता है और कहता है कि संसार असार है—मिथ्या है। वह धन-संग्रह, विजय, कीर्ति और ऐश्वर्य के लिये कर्मों में लिप्त रहता है और त्याग तथा वैराग्य की बातें करता है। वह अपने कर्मों से परमेश्वर के साथ नहीं रहना चाहता, परन्तु ईश्वरीय सहायता के लिये हाथ जोड़ता, गिड़गिड़ाता और प्रार्थना करता है। इस विषमता ने मनुष्य को अज्ञान और धोखे में डाला हुआ है, वह धर्म की बातें करता है, धर्म के अनुसार आचरण नहीं करता।

गीता से जगत् और जगत्पति दोनों मिलते हैं—

गीता मनुष्य को कर्म का ऐसा मार्ग दिखाती है जिस पर जगत् और जगत्पति दोनों हिल-मिल कर चलते हैं। गीता के इस मार्ग को निष्काम कर्म कहें, भक्ति-मार्ग कहें अथवा ज्ञान-मार्ग, सबका ध्येय एक ही है और सब मिलकर ही ध्येय तक पहुँचने की शक्ति देते हैं।

निष्काम-कर्म, यज्ञ-कर्म, लोक-संग्रह के लिये कर्म, सेवा और सत्य के कर्म, सबका प्रयोजन एक ही है। ऐसे कर्म करने के लिये गीता स्थित-प्रज्ञ होने का आदेश देती है, ब्राह्मी-स्थिति में टिकाती है, गुणातीत होकर व्यवहार करना सिखाती है और जीवन-मुक्ति के लिये अपना अद्‌भुत योग देती है।

गीता के योग में कहीं कृत्रिमता नहीं है, सरलता अथवा सहज भाव से नियमित कर्म करते रहने में ही गीता के अभ्यास और वैराग्य की साधना हो जाती है। कर्म से हटना परमेश्वर से हटना है। कर्म की पवित्रता में परमेश्वर रहता है। कर्म से परमेश्वर की पूजा होती है, सात्त्विक कर्म, ब्रह्म और जीव का गठ-बन्धन कर देता है।

गीता निरपेक्ष जीवन-ग्रन्थ है—

गीता किसी सम्प्रदाय और विशेष धर्म का प्रतिपादन नहीं करती, किसी भी प्रकार पूर्ण परमेश्वर की ओर जाना गीता का धर्म है। गीता में जीवन को असुन्दर और भद्दा बनानेवाले काम क्रोध आदि विकारों से बचे रहने के उपदेश और साधन हैं। चिन्ता की चिता पर बैठकर जीते-जी जल जाना, गीता की दृष्टि में अधर्म और आत्मघात है। ईश्वर की सहायता लेकर निर्मल बुद्धि से कर्म करते हुए नित्य निरन्तर पूर्णता की ओर बढ़ते जाना गीता का धर्म है। अपने-अपने कर्तव्य का पालन करनेवाला अथवा स्वधर्म को जाननेवाला गीता के धर्म को जानता है।

गीता ऐसा बुद्धियोग देती है, जिससे ज्ञान के चक्षु खुल जाते हैं, गुप्त रहस्य प्रकट हो जाते हैं, प्रत्येक कर्म में कुशलता मिलती है, निराशा दुःख और द्वन्दों के बन्धन मनुष्य को बांधने में उसी प्रकार छोटे रह जाते हैं जैसे श्रीकृष्ण को बांधने में यशोदा की सारी रस्सियां छोटी पड़ गई थीं अथवा जैसे वेदान्त के ब्रह्म को बांधने में माया सदा छोटी रह जाती है।

गीता का प्रत्येक श्लोक परमेश्वर के हाथ का एक औजार है। जीव कैसा ही कुडौल भौंडा अथवा अनुपयोगी क्यों न हो, गीता के श्लोकों की रगड़ से उसका स्वरूप बन जाता है—सत्यं शिवं और सुन्दरं का दर्शन उसमें प्रत्यक्ष हो उठता है, ब्रह्म उसमें से स्पष्ट बोलता है, उसके कर्म ब्रह्म के कर्म हो जाते हैं, उसे कर्मों का भार नहीं लगता, उसके कर्मों के विकार धुल जाते हैं।

गीता ने सम्पूर्ण ज्ञान की थाह लेली है—

वामन भगवान् ने जैसे तीन डगों से तीनों लोक नाप लिये थे, इसी प्रकार गीता के सात सौ श्लोकों ने विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान की थाह ले ली है। जो कुछ गीता में है, वह कहीं किसी एक ग्रन्थ में नहीं मिलता. जो सबमें मिलकर है वह गीता में है।

गीता के सम्बन्ध में अनेकों भ्रान्तियां—

गीता किसने कही, किस समय कही, उसमें कितने श्लोक थे, कितने मिलाये गये, कितने वास्तव में थे, यदि गीता युद्धभूमि में कही गई तो इतना समय कैसे मिला, आदि-आदि शंकाओं में पड़े रहनेवाले गीता के तत्त्व तक पहुँचने की चेष्टा नहीं करते। यद्यपि इन प्रश्नों से गीता के गम्भीर ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है, जिन्हें उन्नत जीवन बनाना है, उन्हें संशयवाद अथवा किसी भी प्रकार के वाद-विवाद में न पड़कर जीवन के लिये उपयोगी सन्देश गीता से ग्रहण

करना चाहिये ; फिर भी मानव अपनी दुर्बलता से संशयों के रहते हुए किसी सत्य से लाभ नहीं उठा सकता।

गीता के वक्ता—

गीता के वक्ता पूर्ण ज्ञानी योगेश्वर परमपुरुष श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्ण ने अपनी पूर्णता कुशलता और योगशक्ति से गीता में मानव-जीवन के उपयुक्त विषयों का असाधारण प्रतिपादन किया है।

गीता के श्लोक—

गीता में केवल सात सौ श्लोक हैं। इनमें से भी एक श्लोक में धृतराष्ट्र का प्रश्न है, ४१ श्लोक संजय के कहे हुए हैं, ८४ श्लोकों में अर्जुन के प्रश्न और प्रार्थनायें हैं और शेष ५७४ श्लोकों में गीता के परमेश्वर श्रीकृष्ण का सन्देश है। इन श्लोकों में से भी विश्वरूप-दर्शन के श्लोकों का दिग्दर्शन कराने में श्रीकृष्ण को कुछ देर नहीं लगी होगी, क्योंकि वह रूप केवल दिखाना मात्र था। श्रीकृष्ण जैसे कुशल वक्ता और अर्जुन जैसे जितेन्द्रिय एवं सावधान श्रोता के लिये गीता कहने और समझने में कितना कम समय लगा होगा, इसका अनुमान नियम से गीता-पाठ करनेवाले ही लगा सकते हैं। अभ्यास हो जाने पर सात सौ श्लोकों के पाठ में अधिक से अधिक डेढ़ घंटा लगता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से गीता—

गीता का उपदेश योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने मनुष्यमात्र के प्रतिनिधि अर्जुन को कुरुक्षेत्र की भयंकर युद्धस्थली पर दिया है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस सत्य के पीछे सम्पूर्ण महाभारत है। अनेक अन्वेषकों ने इसी की पुष्टि की है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा तथ्य सामने नहीं आया है।

आध्यात्मिक विचारधारा—

आध्यात्मिक दृष्टि से प्रत्येक जीव के सामने जीवन की विस्तृत

कुरुक्षेत्र-भूमि है, उसे कर्म-युद्ध करना है। युद्ध के बिना कहीं विजय, श्री और शान्ति नहीं मिलती। कर्म के युद्ध और झंझटों से घबराकर मनुष्य जीवन से ऊब जाता है, भागना चाहता है, परन्तु श्रीकृष्ण के रूप में अन्तर्यामी परमात्मा उसे सन्देश देते हैं कि स्वधर्म से विमुख होकर भागने में जीवन नहीं है। कठिनाइयों के सामने घुटने न टेकना ही ज्ञान का बल है। आत्मग्लानि और दीनता का भाव सबसे बड़ी दुर्बलता है। इस दुर्बलता को छोड़कर कर्म-जगत् में आगे बढ़ने-वाला धर्म का जीवन जीता है।

गीता का ज्ञान कर्म-क्षेत्र में होता है—

गीता में क्या है इसकी थाह उन्हें मिलती है जो कर्म-क्षेत्र में उतरते हैं। किनारे पर खड़े रहनेवालों को मंझधार की गहराई का अनुभव नहीं होता। गीता का ज्ञान केवल पाण्डित्य से नहीं कर्मनिष्ठा और प्रभु के चरणों में जीवन का उत्सर्ग करने से होता है। कर्म-क्षेत्र से दूर रहनेवाले नेत्रहीन धृतराष्ट्र ने संजय से गीता सुनी थी, परन्तु कोरे ज्ञान से उसका अज्ञान दूर नहीं हुआ—उसके ज्ञान-चक्षु नहीं खुल सके।

गीता की वाणी कहीं बंधी नहीं है—

अनेकों आचार्यों और विद्वानों ने अपनी-अपनी गम्भीर पाण्डित्यपूर्ण और मार्मिक व्याख्याओं से गीता का मत प्रकट किया है, परन्तु युग-युग में नित्य नवीन रहनेवाली गीता की अलौकिक वाणी कहीं बंधी नहीं है। गीता की अखण्ड धारा परात्पर पुरुष के मुख से प्रवाहित होकर निरन्तर बहती हुई अपनी कल-कल ध्वनि से विश्व को आनन्द-विभोर करती है। गीता के तट पर खड़ा होनेवाला उसकी वाणी सुनता है, उसमें गोता लगानेवाला पवित्र हो जाता है और उसका जलपान करनेवाले में प्रभु समा जाते हैं और जब वे उसके हृदय से बोलते हैं तभी "गीताज्ञान" प्रकट होता है।

किसी परिस्थिति के प्रभाव में आकर साम्प्रदायिक पुष्टि के लिये किया गया गीता का भाष्य प्रज्ञावाद से अधिक कुछ नहीं है। प्रज्ञावादी ज्ञान की बात कर सकते हैं, पर ज्ञान को आचरण में लाने की चेष्टा उनमें नहीं होती।

गीता का यह भाष्य—

गीता के ज्ञान को नित्य व्यवहार में लाने के लिये श्रीकृष्ण-शरणापन्न-बुद्धि से अनन्तों प्रयत्नों की भांति मेरा भी यह एक प्रयत्न है। 'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' के प्रेरणात्मक सन्देश से जो कुछ साहस और उत्साह बटोर सका उसीके फल-स्वरूप यह 'गीताज्ञान' जनता-जनार्दन की सेवामें विनम्रता सहित सहर्ष समर्पित है।

द्वितीय संस्करण
गीता-जयन्ती, सं० २००७
पीपल महादेव, दिल्ली।

दीनानाथ दिनेश

[प्रकाशक की ओर से]

दूसरा संशोधित संस्करण

पाठकों ने गीताज्ञान का यथोचित समादर करके सांस्कृतिक प्रकाशनों के लिये हमारे उत्साह की वृद्धि की इसके लिये हम आभारी हैं।

अधिक मांग के कारण गीताज्ञान का प्रथम अध्याय शीघ्र ही समाप्त हो गया और दिनेश जी को संशोधन एवं परिवर्धन करने का अवकाश न मिलने से दूसरा संस्करण बहुत विलम्ब से छपा है, इसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं।

प्रथम अध्याय गीता की भूमिका है। इस अध्याय में मनुष्य के स्वभाव का सत्य, शिव और सुन्दर चित्रण है। गीता के ज्ञान को सरलता से व्यवहार में लाने के लिये इस संशोधित और परिवर्धित संस्करण का अध्ययन उपयोगी सिद्ध होगा।

आशा है गीता की इस युगोपयोगी टीका से पाठक विशेष प्रकाश और सहायता प्राप्त कर सकेंगे।

विनीत—
केदारनाथ भार्गव
व्यवस्थापक

मानवधर्म कार्यालय
देहली।

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथम अध्याय

प्रारम्भ से पूर्व

कर्मभूमि—युद्ध-क्षेत्र—

यह जगत् कर्म-भूमि है। यहाँ निरन्तर संघर्ष और क्रान्ति होती है। जगत् के संघर्षों से भयभीत होकर पीछे हटने में हार और कायरता है।

जीवन में नित्य नये संघर्ष आते हैं, एक न एक संकट मनुष्य को घेरे रहता है, बाधाओं और आपत्तियों के सामने घुटने टेक देने-वाला सदा के लिये दब जाता है। कर्म-युद्ध, धर्म-युद्ध, मानसिक-युद्ध और अनेक प्रकार के आध्यात्मिक तथा भौतिक युद्ध कर्म-क्षेत्र में बढ़ने के लिये लड़ने पड़ते हैं। कर्म करना भी एक प्रकार का युद्ध है। गीता कर्म-युद्ध का उपनिषद् है।

विजय का मार्ग—

गीता की पृष्ठभूमि में एक विराट् युद्ध का क्षेत्र है, जिस पर दो महाशक्तिशाली पक्षों का युद्ध हुआ है। भौतिक युद्ध में गीता ने आध्यात्मिकता की प्रतिष्ठा करके जगत् को विजय का एक अनुपम मार्ग दिखाया है। गीता द्वारा प्राप्त विजय से धरती का विस्तृत राज्य तो
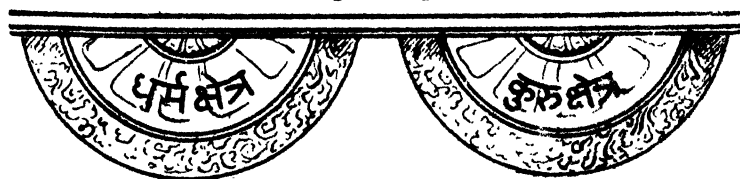
अनायास ही मिल जाता है, साथ ही स्वर्ग के सम्पूर्ण सुख और जीवन्मुक्ति भी सुलभ हो जाती है।

जीवन-रथ की बागडोर—

गीता विजय का गीत है। कौरवों और पाण्डवों की भांति, जीवन में दैवी और आसुरी-सम्पत्तियों का निरन्तर युद्ध होता है; इस युद्ध में विजय दिलानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जो श्रद्धा और प्रेम सहित, सहज स्वभाव से, छल-कपट छोड़कर श्रीकृष्ण की शरण लेते हैं, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के चारों घोड़ों की बागडोर उन्हींके हाथों में सौंप देते हैं, उनके जीवन-रथ पर बैठकर श्रीकृष्ण उन्हें युद्ध के महा भयंकर क्षेत्र में विजयी बनाते हैं।

गीता का आरम्भ—

महाभारत की ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार कौरवों और पाण्डवों का युद्ध निश्चित हो जाने पर दोनों की सेनायें कुरुक्षेत्र की युद्ध-भूमि पर आकर डट गईं। कौरवों के पिता धृतराष्ट्र अन्धे होने के कारण युद्ध देख नहीं सकते थे। श्री वेदव्यास ने अपने महायोग से उन्हें नेत्र देने चाहे, परन्तु धृतराष्ट्र को अपने कुल का विनाश देखने में ग्लानि हुई। व्यासजी ने संजय को दिव्यदृष्टि प्रदान की, जिसके द्वारा वे कहीं भी बैठकर युद्ध की घटनाओं को सुन और जान सकते थे। संजय ने कुरुक्षेत्र में जो कुछ देखा और श्रीकृष्ण तथा अर्जुन का जो संवाद सुना, वह धृतराष्ट्र को ज्यों का त्यों सुना दिया।

गीता, धृतराष्ट्र के प्रश्न से आरम्भ होती है।
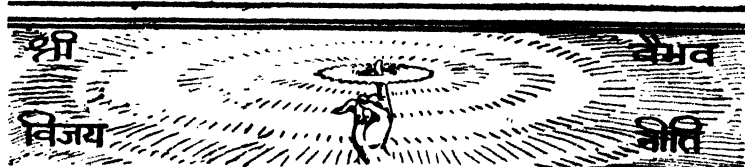
१

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥

धर्मक्षेत्रे, कुरुक्षेत्रे, समवेताः, युयुत्सवः,
मामकाः, पाण्डवाः, च, एव, किम्, अकुर्वत, संजय ।

संजय=हे संजय, धर्मक्षेत्रे=धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्रे=कुरुक्षेत्र में, युयुत्सवः=युद्ध की इच्छा से, समवेताः=इकट्ठे हुए, मामकाः=मेरे, च=और, पाण्डवाः=पाण्डु के पुत्रों ने, एव=भी, किम्=क्या, अकुर्वत=किया ।

रण-लालसा से पुण्य-भू कुरु-खेत में एकत्र हो ।
मेरे सुतों ने पाण्डवों ने क्या किया संजय कहो ॥

अर्थ—हे संजय ! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने भी क्या किया ?

व्याख्या—अपने पुत्रों का मोह किसे नहीं होता ? धृतराष्ट्र ने जब सुना कि युद्ध में भीष्म पितामह भूमि पर गिरा दिये गये, तब उसे घोर दुःख हुआ । उसने आश्चर्य, व्याकुलता और ममता से प्रेरित होकर कुरुक्षेत्र का सम्पूर्ण वृत्तान्त जानने के लिये संजय से प्रश्न किया—
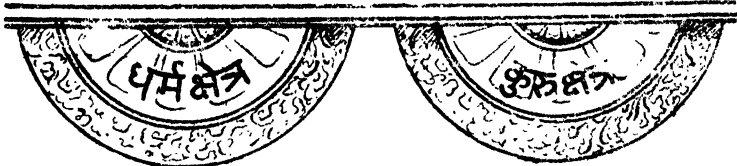
मोह और ममता में मनुष्य अन्धा हो जाता है, जो वह जानता है उसमें भी उसे संशय और भ्रम होने लगता है और तब वह किसी का सहारा ढूंढता है।

धृतराष्ट्र को युद्ध होने का निश्चय भली भांति विदित था। अपने पुत्रों के अन्याय तथा अधर्म और पाण्डवों के धर्म से भी वह परिचित था; भगवान् श्रीकृष्ण की दैवी शक्ति को भी वह जानता था।

मनुष्य, अन्तिम समय तक आशा और तृष्णा को नहीं छोड़ता। धृतराष्ट्र को आशा थी कि श्रीकृष्ण के सन्मुख जाकर और धर्मात्मा पाण्डवों को देखकर, मेरे पुत्रों की बुद्धि न्याय की ओर झुकेगी और कोई न कोई समझौता हो जायगा; परन्तु युद्ध में महाप्रतापी इच्छा-मृत्यु भीष्म के गिरने का समाचार सुनकर उसकी आशा टूट गयी और उसने सारा वृत्तान्त जानने की इच्छा की।

कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र है—

उपनिषदों और पुराणों में कुरुक्षेत्र का वर्णन है—
अम्बाले से दक्खिन और दिल्ली के उत्तर-पश्चिम में कुरुक्षेत्र का मैदान है।

एक बार भारी अकाल पड़ा था। अधिक अन्न उपजाने के लिये उस समय के राजा कुरु ने इस मैदान को हल से जोता था, इसीलिये इसका नाम 'कुरु-क्षेत्र' अर्थात् कुरु का क्षेत्र पड़ गया।

राजा कुरु से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उन्हें वरदान दिया था कि इस कुरुक्षेत्र में तप करते-करते अथवा युद्ध करते-करते शरीर छोड़ने-वालों को उत्तम गति मिलेगी।
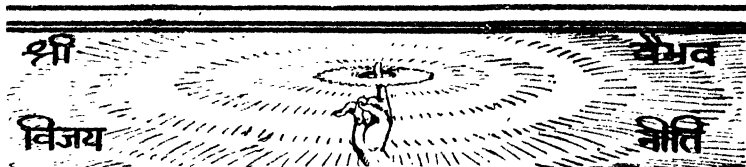
श्री वैशम्पायन का कथन है—

इह तपस्यन्ति ये केचित् तपः परमकं नराः ।
देहत्यागेन ते सर्वे यास्यन्ति ब्रह्मणः पदम् ॥

प्राणी जो भी यहां तपस्या किया करेंगे ।
देह-त्याग वे नित्य परम-पद लिया करेंगे ॥

अत्यन्त प्राचीनकाल में अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मा आदि देवताओं ने कुरुक्षेत्र की भूमि पर तप किया था। कुरुक्षेत्र का नाम समन्त-पञ्चक भी है। कुरुक्षेत्र देवताओं के यजन-पूजन की भूमि है।

जिस प्रकार खेत में डाला हुआ बीज सहस्र गुना होकर निकलता है, इसी प्रकार कुरुक्षेत्र में किया गया धर्म-कर्म फलता-फूलता है।

कुरुक्षेत्र की ऐतिहासिक भूमि पर अनेकों बार संहार-कार्य हुआ है। परशुराम ने इसी भूमि पर भीषण युद्ध किये। महाभारत के युद्ध के पश्चात् भी इसी भूमि पर भारत के भाग्य बदलनेवाले युद्ध हुए हैं।

कुरुक्षेत्र का आध्यात्मिक भाव—

आध्यात्मिक दृष्टि से कुरुक्षेत्र कर्मों का क्षेत्र है। यह मृत्युलोक कर्म-भूमि है। कर्म का धर्म के साथ अटूट सम्बन्ध है। धर्म-हीन कर्म और कर्म-हीन धर्म दोनों ही घातक हैं। भयंकर रक्त-पात होने पर भी कर्म के क्षेत्र में अन्तिम विजय धर्म को मिलती है। धर्म और कर्म के योग में मनुष्य-जीवन की सार्थकता है।

कर्मक्षेत्र में उतरनेवाले धर्म-प्रिय पुरुषों के जीवन की बागडोर भगवान् अपने हाथों में ले लेते हैं। कुरुक्षेत्ररूपी कर्मक्षेत्र से दूर
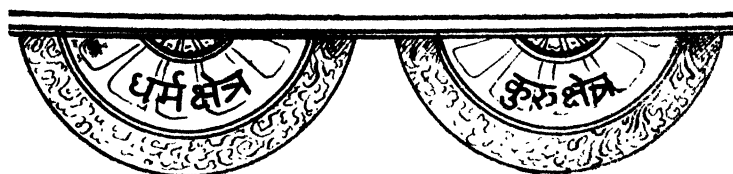
रहनेवाले अथवा कुरुक्षेत्र में अन्याय का पक्ष लेकर आनेवाले का साथ भगवान् नहीं देते।

शास्त्रीय भाषा में क्षेत्र को शरीर भी कहते हैं—

'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।' (गीता १३।१)

हे कौन्तेय! यह शरीर क्षेत्र' कहा जाता है।

भगवान् बुद्ध ने एक किसान को देखकर कहा था कि शरीर एक खेत है। मन, वचन, कर्म, आहार-विहार और इन्द्रियों का संयम करके, पुरुषार्थ के बैलों और प्रज्ञा के हल से खेत को जोतनेवाला श्रद्धा का बीज डाल कर और तप की वृष्टि से सींच कर आनन्द रूप अमृत फल पाता है।

गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में—

तुलसी काया खेत है मनसा भये किसान।

अथर्ववेद की एक प्रेरणात्मक वाणी में कहा है—

'स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज।'

अपने शरीररूपी क्षेत्र में अनामय—विकार रहित और स्वस्थ होकर विराजो!

शरीर कर्म-क्षेत्र है और सब साधनों का आधार तथा मुक्ति का द्वार होने के कारण धर्म-क्षेत्र भी है।

बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथिन्ह गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक संवारा॥
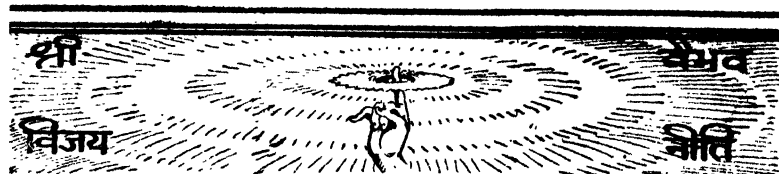
सो परत्र दुःख पावइ सिर धुनिधुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥—तुलसीदास

धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में जिस प्रकार कौरवों और पाण्डवों का युद्ध हुआ था, उसी प्रकार शरीर के क्षेत्र में दैवी और आसुरी भावों का अथवा सद्गुणों और दुर्गुणों का निरन्तर युद्ध होता है।

इस शरीर में दैवी और आसुरी दोनों भाव रहते हैं। दैवी वृत्तियों की विजय से धर्म की स्थापना होती है और आसुरी भावों की विजय से धर्म और ज्ञान का लोप हो जाता है।

पापों में बंधे रहने के कारण अन्त में असुरों की हार होती है। दुर्गुण कितने ही बलवान हों, संख्या में अधिक हों, तो भी सद्गुणों की विजय होती है। दुर्गुण, कौरवों की भांति हठी, कपटी, दुर्बुद्धि और अधर्मी होते हैं। वे सद्गुणों को चुनौती देते हैं और उन्हें सुई की नोक के बराबर भूमि भी देना स्वीकार नहीं करते। अपनी इस अनुदार और क्रूर नीति के कारण उनका विनाश निश्चित होता है।

गीता में धर्म—

गीता का प्रारम्भ धर्म शब्द से हुआ है। गीता में जिस धर्म का वर्णन है, वह उदार और व्यापक है, वह मानवमात्र के लिये उपयोगी है। गीता के धर्म का फल—विजय, समृद्धि, वैभव और अनन्त श्री है। गीता का धर्म युग-युग में नव स्फूर्ति, शक्ति और कर्म-कुशलता देनेवाला है। गीता के धर्म का कर्म से अनन्य सम्बन्ध है।
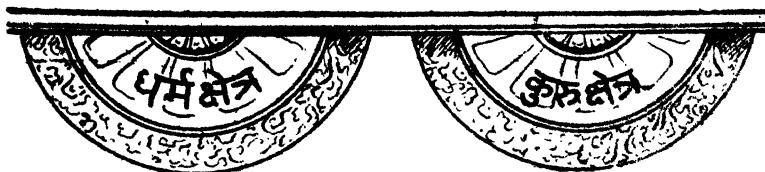
आध्यात्मिक दृष्टि से—

शरीर—धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र है।

धृतराष्ट्र—अन्धा मन है, जिसने शरीर के राष्ट्र पर अपना न होते हुए भी अधिकार जमा लिया है।

कौरव—आसुरी भाव हैं।

पाण्डव—दैवी भाव हैं।

अर्जुन—जीवात्मा है।

श्रीकृष्ण—परमात्मा देवता हैं।

संजय—योग द्वारा प्राप्त चेतना-शक्ति है। मनरूपी धृतराष्ट्र को यही चेतना-शक्ति शरीर में होने वाला सारा वृत्तान्त बताती है।

महाभारत और गीता का इतिहास मानव-जीवन के साथ गुँथ गया है। मनुष्य के राष्ट्रीय, सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन को चेतना देने के लिये गीता से नित्य नया भाव उमड़ता रहता है।

आसुरीभाववाले सदा मनमानी करते हैं और अशांत रहते हैं। दैवीभाववाले कर्तव्य-पालन में तत्पर रहकर सदा विजय वैजयन्ती फहराते हैं।

दैवी भावों वाले पुरुषों के साथ परमेश्वर रहते हैं। आसुरीजनों को परमेश्वर नहीं दिखता क्योंकि वे भयभीत होते हैं और मृत्यु को देखते हैं। संजय ने इस सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन किया और धृतराष्ट्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए दुर्योधन और द्रोणाचार्य का वार्तालाप सुनाया—
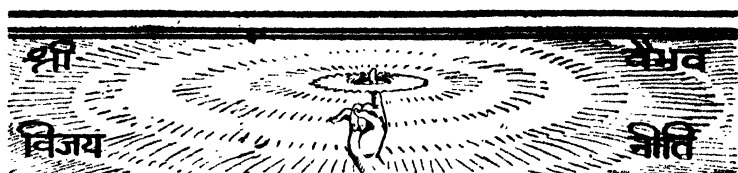
१

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥

दृष्ट्वा, तु, पाण्डवानीकम्, व्यूढम्, दुर्योधनः, तदा,
आचार्यम्, उपसंगम्य, राजा, वचनम्, अब्रवीत् ।

तदा=तब, राजा=राजा, दुर्योधनः=दुर्योधन ने, पाण्डवानीकम्=पाण्डवों की सेना को, व्यूढम्=व्यूह-रचना से खड़ी, दृष्ट्वा=देखकर, तु=और, आचार्यम्=आचार्य के, उपसंगम्य=पास जाकर, वचनम्=(इस प्रकार) वचन, अब्रवीत्=कहा।

तब देखकर पांडव-कटक को व्यूह-रचना साज से।
इस भाँति दुर्योधन वचन, कहने लगे गुरुराज से ॥

अर्थ—तब राजा दुर्योधन ने पाण्डवों की सेना को व्यूह-रचना से खड़ी देखकर और आचार्य के पास जाकर इस प्रकार वचन कहा।

व्याख्या—महाभारत के अनुसार कौरवों के साथ ग्यारह अक्षौहिणी सेना थी और पाण्डवों के साथ सात अक्षौहिणी।

महाभारत के युद्ध में अठारह अक्षौहिणी सेना, महाभारत के अठारह पर्व, अठारह दिन तक महाभारत का युद्ध और गीता के अठारह अध्यायों से एकरूपता का बोध होता है। अठारह अक्षौहिणी सेना
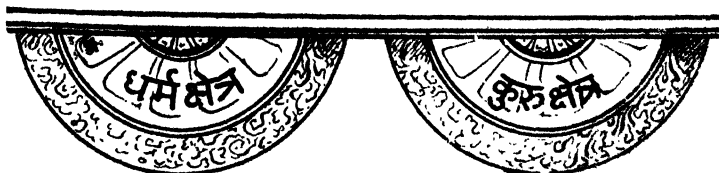
का लय एक ब्रह्म में हो गया। उसी ब्रह्म का प्रतिपादन और उसीको प्राप्त करने के साधन महाभारत के अठारह पर्वों में हैं। उसी ब्रह्म में रहकर अनासक्त कर्म करने का विधान गीता के अठारह अध्यायों में है—तीन गुण, पांच महाभूत, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और पांच विषय—इन अठारह की एकता और सद्भाव में ब्रह्म बसता है। विषमता, दुर्भाव और अनेकता में घोर पतन है। एकता और समता के आधार पर विश्व ठहरा हुआ है। समता नष्ट होते ही विश्व बिखर जाता है।

गीता के वक्ता श्रीकृष्ण, श्रोता अर्जुन और सम्पादक वेद व्यास तीनों कृष्णमय हो गये, तभी गीता प्रकट हुई।

चरित्रवान और आस्तिक जन एक में मिलकर एक रूप हो जाते हैं, परन्तु चरित्रहीन अभिमानी और नास्तिक न अपने में विश्वास रखते हैं और न दूसरों में। दुर्योधन इसी स्थिति में था।

दोनों सेनायें युद्ध के लिये तैयार हो गईं, तब दुर्योधन द्रोणाचार्य के पास पहुँचा।

दुर्योधन का ध्येय स्पष्ट है, वह निम्न कारणों से गुरु द्रोणाचार्य के पास गया था—

१—भारतीय संस्कृति में गुरुजनों को प्रणाम करके कार्य का आरम्भ करना उत्तम माना गया है।

महाभारत में मनुष्य के स्वभाव का स्पष्ट दर्शन है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के शस्त्र-ग्रहण न करने का अभिमान भी खण्डित हो गया। अर्जुन का अखण्ड धैर्य भी टूट गया, कर्ण में दानवीरता और उदारता
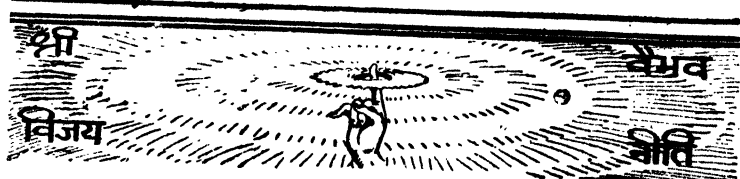
के दर्शन हुए। दुर्योधन जैसे दुराचारी भी संस्कृति और मर्यादा का पालन करते देखे गये। जीव-धारी में अच्छाई और बुराई दोनों का निवास होता है। विजय उसकी होती है जो अंत समय तक दुर्गुणों से नहीं दबता तथा धर्म और परमेश्वर को नहीं छोड़ता।

२—दुर्योधन द्रोणाचार्य को अपने पास बुला सकते थे, परन्तु परम पराक्रमी और युद्ध-विद्या के आचार्य को सन्मान देने के लिये राजा आचार्य के पास गये।

३—अधर्मी जन, सदा भयभीत और दूसरों की सहायता पर निर्भर रहता है।

४—द्वेष और लोभ से ढकी हुई बुद्धि पर धर्मक्षेत्र और महापुरुषों का प्रभाव नहीं पड़ता। वे अपना ही स्वार्थ सिद्ध करने के साधन खोजते हैं और अपनी इच्छा-पूर्ति के लिये ज्ञानी गुरुजनों को भी विचलित करने का प्रयत्न करते हैं।

दैनिक व्यवहार में जब दुर्गुण और सद्गुण परस्पर युद्ध करते हैं तो दुर्गुणों का राजा काम आगे बढ़कर संस्कार रूप आचार्य के पास पहुँचता है। संस्कार भले और बुरे सबको समान रूप से देखते हैं। जो उन्हें अपना बना लेता है, उसीका साथ देते हैं।

दुर्योधन कामरूप है और द्रोणाचार्य संस्कार रूप। द्रोणाचार्य ने कौरवों और पाण्डवों दोनों को युद्ध-विद्या की शिक्षा दी थी।

संसार में भावना के अनुसार फल मिलता है। मृत्यु को देखने वाले शंकाशील और कुटिल जन मृत्यु पाते हैं—परमानन्द में स्थित रहनेवाले घोर संकटों को भी पार कर जाते हैं।

दुर्योधन ने पाण्डवों की सेना में अपना विनाश देखा और आचार्य को भी मृत्यु के दर्शन कराये—

३
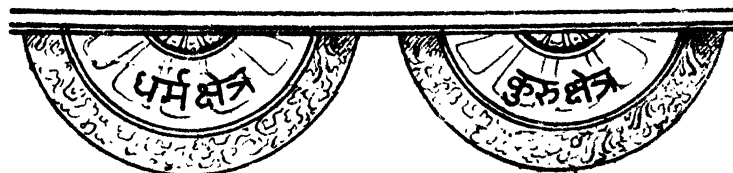
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥

पश्य, एताम्, पाण्डुपुत्राणाम्, आचार्य, महतीम्, चमूम्,
व्यूढाम्, द्रुपदपुत्रेण, तव, शिष्येण, धीमता ।

आचार्य=हे आचार्य, तव=आपके, धीमता=बुद्धिमान्, शिष्येण=शिष्य, द्रुपदपुत्रेण =द्रुपद के पुत्र द्वारा, व्यूढाम्=व्यूह-रचना की गई, पाण्डुपुत्राणाम्=पाण्डुपुत्रों की, एताम्=इस, महतीम्=बड़ी भारी, चमूम्=सेना को, पश्य=देखिये ।

आचार्य महती सैन्य सारी, पाण्डवों की देखिये ।
तव शिष्य बुधवर द्रुपद-सुत ने दल सभी व्यूहित किये ॥

अर्थ—हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपद के पुत्र द्वारा व्यूह-रचना की गई पाण्डु-पुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिये ।

व्याख्या—संसार में देवता और दानव, बुद्धिमान् और मूर्ख सब प्रकार के जीव सदा से रहते आये हैं और रहेंगे । यहाँ न तो सब सत्यवादी परम धर्मनिष्ठ हो सकते हैं और न सब अधार्मिक दुष्कर्मी और क्रूर ही । परमेश्वर की सृष्टि में अच्छे-बुरे, सुखी-दुःखी,
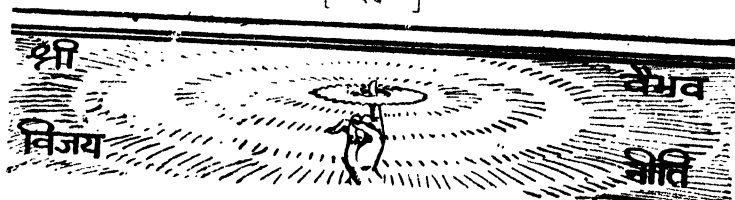
बलवान्-कायर, धनी-दरिद्री, मनुष्य-पशु सबके लिये खुला स्थान है। कभी धर्म-प्रिय जन अधिक संख्या में होते हैं और कभी अधर्मियों की संख्या बढ़ जाती है, परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि युग-युग में धर्म की विजय हुई है और होती रहेगी। अधर्म का पक्ष चाहे कितना ही प्रबल हो, शक्ति, विद्या, श्री और सत्ता सम्पन्न हो तो भी नित्य सरल सत्यमय ब्रह्मरूप धर्म, अधर्म का उसी प्रकार अन्त करता है, जैसे नृसिंह हरि ने हिरण्यकश्यप का, श्रीराम ने रावण का और श्रीकृष्ण ने कंस का अन्त किया। धर्म का इतिहास संघर्ष कष्ट-सहन सत्य और विजय की गाथाओं से भरा पड़ा है।

कौरवों के साथ ग्यारह अक्षौहिणी सेना थी और पाण्डवों के साथ केवल सात अक्षौहिणी। एक अक्षौहिणी सेना में २१८७० हाथी २१८७० रथ, ६५६१० घोड़े और १०९३५० पैदल होते हैं।

दुर्योधन की सेना, पाण्डवों की सेना से बहुत बड़ी थी, परन्तु पाप से उत्पन्न भय के कारण दुर्योधन को शत्रु-पक्ष प्रबल जान पड़ता था। इसीलिये वह द्रोणाचार्य के पास उन्हें उत्तेजित करने के लिये गया और गम्भीर व्यङ्ग के साथ बोला—'यह देखिये, पाण्डवों की बड़ी भारी सेना।'

दुरात्माओं की बात दुर्योधन की भांति कभी स्पष्ट नहीं होती। दुरात्मा सदा मुँह देखी बात करते हैं—उनके मन में कुछ, वचन में कुछ और कर्म में कुछ और ही होता है।

दुर्योधन के कथन का व्यङ्ग में यह अभिप्राय हो सकता था कि
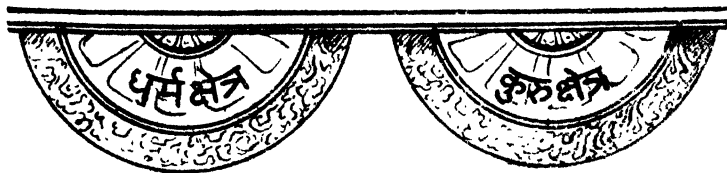
इतनी बड़ी सेना लेकर पाण्डव हमसे लड़ने आये हैं अर्थात् उनकी सेना कुछ भी नहीं है। और यह भी अर्थ हो सकता है कि गुरुदेव! पाण्डवों ने बहुत बड़ी सेना इकट्ठी कर ली है, हमें ऐसी आशा नहीं थी।

पापी को सर्वत्र पाप दिखता है, उसके हृदय में अशान्ति रहती है। वह स्वयं भयभीत रहता है और दूसरों को भी भय दिखाता है। भय, चिन्ता और अशान्ति के रहते हुए भी पापी जन दुष्कर्मों को नहीं छोड़ते।

दुर्योधन ने कहा—'गुरुदेव! पाण्डवों की सेना को मोर्चे बनाकर खड़ी करनेवाला आप ही का बुद्धिमान् शिष्य है। जिसे आपने बड़े स्नेह से शिक्षा दी वही आज आपके सामने युद्ध करने खड़ा है। संसार में कोई किसी का नहीं है।'

दम्भी और स्वार्थीजन, वैराग्य की बनावटी बातें करते हैं—'संसार में कौन किसी का है? कोई किसी के काम नहीं आता, अपने कहे जानेवाले भी आंखें बदल देते हैं, संसार में भला करने पर भी बुरा मिलता है।'

दुर्योधन-वृत्ति के नर-नारी जहाँ ऐसे मिथ्या-वैराग्य की बातें बनाते हैं; वहाँ अर्जुन जैसे धर्म-भीरु मोह से उत्पन्न दया में फंस कर दुर्जनों को दुर्व्यवहार करते देख चुप होकर बैठना चाहते हैं और अपनी उदासीनता को धर्म तथा वैराग्य मानते हैं।

गीता ऐसे दोनों प्रकार के प्राणियों को सावधान करती है और ऐसा ज्ञान देती है, जिससे जान पड़ता है कि संसार में सब अपने हैं,
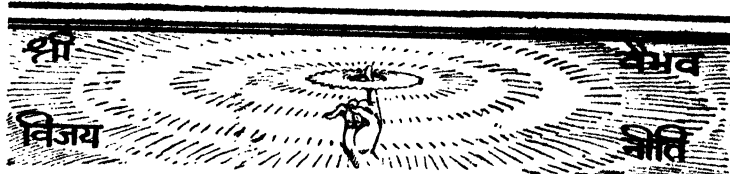
सब सबके काम आते हैं; डूबने को तिनका भी सहारा देता है। सेवा प्रेम और सद्भावना से सबके साथ सद्व्यवहार करके उसे ईश्वर के अर्पण कर देने में ही परम हित और मुक्ति है। अन्याय और दुष्टता को मनमार कर सहन करनेवाला कायर पुरुष पाप का भागी है।

दुर्योधन-वृत्ति के नरनारी भयभीत शंकाशील निराश और दुःखी रहते हैं। वे स्वयं धन-भोग एवं सुख चाहते हैं, परन्तु दूसरों को वैराग्य और संसार की असारता दिखाते हैं। विषादग्रस्त अर्जुन-वृत्ति के जीव दया और करुणा में घिरकर अन्याय सहन करने को तैयार हो जाते हैं और मोह-मार्ग में भूले रहते हैं। श्रीकृष्ण वृत्ति के मनुष्य सदा सावधान जागृत धर्मशील और कर्तव्य-तत्पर रहते हैं।

दुर्योधन ने अपनी कुटिलता से द्रोणाचार्य को पुराने द्वेष की कहानी का स्मरण दिलाया और कहा कि पाण्डवों की सेना का मोर्चा बनाकर खड़ा करनेवाला राजा द्रुपद का बेटा धृष्टद्युम्न है। वही द्रुपद जिसे दया करके एक बार आपने छोड़ दिया था।

द्रुपद ने अपने अपमान का बदला लेने और आपका वध करने के लिये यज्ञ द्वारा धृष्टद्युम्न को प्राप्त किया है। यह धृष्टद्युम्न आपका काल है, मैं आपको सावधान कर देना चाहता हूँ।

गीता ऐतिहासिक ग्रन्थ होने के साथ आध्यात्मिक और वैज्ञानिक योगशास्त्र माना जाता है। आध्यात्मिक अर्थों में द्रोणाचार्य संस्कारों के समूह हैं और धृष्टद्युम्न, यज्ञादि शुभ कर्मों से उत्पन्न ज्ञान की ज्योति है। ज्ञान सद्वृत्तियों को असद्वृत्तियों से लड़ने में सहायता देता है। जैसे धृष्टद्युम्न ने द्रोणाचार्य से विद्या प्राप्त की, उसी प्रकार ज्ञान संस्कारों से बढ़ता है। ज्ञान, संस्कारों के समूह का उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे धृष्टद्युम्न ने द्रोणाचार्य का अन्त कर दिया।

दुर्योधन ने फिर कहा कि धृष्टद्युम्न अकेला ही नहीं है, उसकी रक्षा और सहायता करने के लिये अनेकों महारथी इस युद्ध में आये हैं—

४
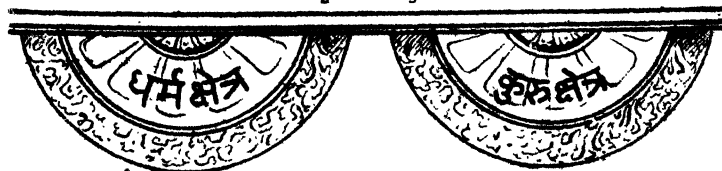
अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥

अत्र, शूराः, महेष्वासाः, भीमार्जुनसमाः, युधि,
युयुधानः, विराटः, च, द्रुपदः, च, महारथः ।

अत्र=इस सेना में, महेष्वासाः=बड़े-बड़े धनुषोंवाले, युधि=युद्ध में भीमार्जुनसमाः=भीम और अर्जुन के समान, शूराः=शूरवीर, युयुधानः=सात्यकि, च=और, विराटः=विराट, च=तथा, महारथः=महारथी, द्रुपदः=द्रुपद हैं ।

भट भीम अर्जुन से अनेकों शूर-श्रेष्ठ धनुर्धरे ।
सात्यकि द्रुपद योद्धा विराट महारथी रणबांकुरे ॥

अर्थ—इस सेना में बड़े-बड़े धनुषोंवाले युद्ध में भीम और अर्जुन के समान शूर वीर, सात्यकि और विराट तथा महारथी द्रुपद हैं ।

व्याख्या—परम तेजस्वी गुरु द्रोणाचार्य अकेले ही अपनी शस्त्र-विद्या और बाहुबल से पाण्डवों को जीतने में समर्थ थे । उनकी अतुल शक्ति अजेय थी, परन्तु ऐसे महान् पराक्रमी आचार्य में राग-द्वेष और ईर्ष्या की अग्नि भड़काकर दुर्योधन उनकी शक्ति का पतन कर रहा था ।

मनुष्य की आयु और बल को नष्ट करनेवाले द्वेष और विकार
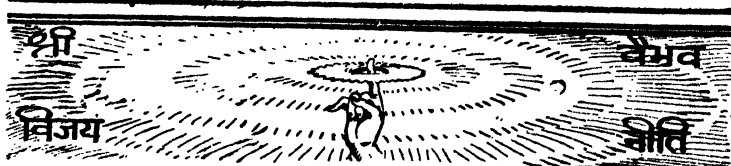
है। ऐसी कोई बुराई नहीं है जो राग-द्वेष से उत्पन्न न हो। छोटे-से छोटी बुराई भी शक्ति को क्षीण करती है।

दुर्योधन ने कहा कि केवल धृष्टद्युम्न ही नहीं, भीम और अर्जुन के समान अनेकों वीर आपकी शक्ति को चुनौती देने के लिये पाण्डवों की सेना में सम्मिलित हुए हैं। भीम और अर्जुन के पराक्रम से द्रोणाचार्य और दुर्योधन भली-भांति परिचित थे। शस्त्र-विद्या सीखते समय दुर्योधन गदा-युद्ध और मल्ल-युद्ध में अनेकों बार भीम से हार चुका था, द्रौपदी के स्वयंवर में अर्जुन ने अद्भुत शस्त्र-कौशल दिखाया था और विराट की गौओं की रक्षा करते समय भीम ने वृक्ष उखाड़ कर ही घमासान युद्ध किया था। एक बार ही नहीं अनेकों बार दुर्योधन भीम और अर्जुन का पराक्रम देख चुका था। इसीलिये उसने द्रोणाचार्य को सावधान किया और उन वीरों के नाम बताये जो भीम और अर्जुन जैसा पराक्रम दिखलानेवाले थे।

युयुधान राजा सत्यक के पुत्र थे। इन्होंने अर्जुन से शस्त्र-विद्या सीखी थी। इनका वास्तविक नाम सात्यकि था, परन्तु परम पराक्रमी महान् योद्धा होने के कारण इनका नाम 'युयुधान' पड़ गया। सात्यकि भगवान् श्रीकृष्ण के सारथी भी रह चुके थे।

विराट, मत्स्य देश के राजा थे। पाँचों पाण्डवों और द्रौपदी ने वनवास के तेरहवें वर्ष इन्हीं के यहाँ गुप्त रूप से निवास किया था। विराट की सुपुत्री उत्तरा के साथ अभिमन्यु का विवाह हुआ था।

द्रुपद, पाञ्चाल देश के राजा थे। द्रौपदी, इन्हीं की पुत्री थी।
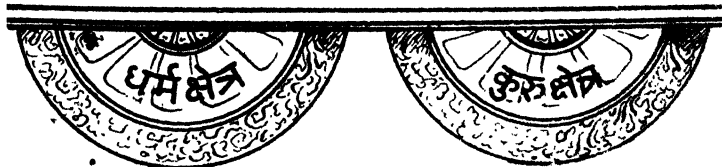
बाल्यावस्था में राजा द्रुपद और भरद्वाज के पुत्र द्रोणाचार्य की घनिष्ठ मित्रता थी। एक बार अपनी दरिद्रावस्था में द्रोणाचार्य द्रुपद के पास गये थे। द्रुपद ने द्रोणाचार्य का यथोचित सत्कार नहीं किया। स्वात्माभिमानी द्रोणाचार्य इस अपमान को सहन नहीं कर सके और उन्होंने कौरवों-पाण्डवों को शस्त्र-विद्या सिखाने के पश्चात् उन्हीं के द्वारा द्रुपद को बंधवा मंगवाया और अपने अपमान का बदला चुकाने के लिये द्रुपद से आधा राज्य ले लिया। द्रुपद अपनी पराजय से बड़े दुखी हुए और मन ही मन में उन्होंने द्रोणाचार्य को नीचा दिखाने का संकल्प कर लिया, तभी से इन दोनों में विद्वेष बढ़ गया।

श्रेष्ठ विद्वान्, महात्मा और वीर पुरुष भी मान बड़ाई और द्वेष को छोड़ने में समर्थ नहीं हो पाते। जो मानापमान से ऊपर है वह ब्रह्म-रूप होता है।

द्रुपद ने यज्ञ करके यह कामना की कि उन्हें द्रोणाचार्य का वध करनेवाला शूरवीर पुत्र प्राप्त हो। धृष्टद्युम्न यज्ञ से प्राप्त द्रुपद का पुत्र था, इसी ने द्रोणाचार्य का वध किया।

ये सब वीर महारथी थे। शस्त्र-विद्या में निपुण और दश हजार योद्धाओं से अकेले युद्ध करनेवाले को 'महारथी' कहते हैं।

असंख्य योद्धाओं से युद्ध करनेवाला 'अतिरथी' कहा जाता है। एक वीर के साथ युद्ध करनेवाला 'रथी' कहलाता है।

दुर्योधन ने फिर कहा कि इन तीन महारथियों के अतिरिक्त पाण्डवों के साथ और भी महारथी हैं—
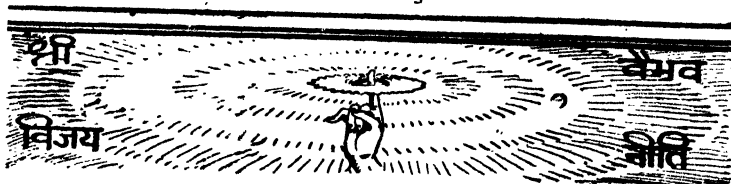
५

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥

धृष्टकेतुः, चेकितानः, काशिराजः, च, वीर्यवान्,
पुरुजित्, कुन्तिभोजः, च, शैब्यः, च, नरपुङ्गवः ।

धृष्टकेतुः=धृष्टकेतु, चेकितानः=चेकितान, च=और, वीर्यवान्=बलवान्, काशिराजः=काशिराज, पुरुजित=पुरुजित्, च=और, कुन्तिभोजः=कुन्तिभोज, च=तथा, नरपुङ्गवः=मनुष्यों में श्रेष्ठ, शैब्यः=शैब्य हैं ।

भट धृष्टकेतु नरेश-काशी चेकितान महान् हैं ।
नर श्रेष्ठ शैब्य नरेन्द्र पुरुजित् कुन्तिभोज समान हैं ॥

अर्थ—धृष्टकेतु, चेकितान और बलवान् काशिराज, पुरुजित् और कुन्तिभोज तथा मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य हैं ।

व्याख्या—दुर्योधन ने द्रोणाचार्य को विशेष-विशेष महारथी वीरों का परिचय दिया है ।

धृष्टकेतु, चन्देरी के राजा शिशुपाल के पुत्र थे । भगवान् श्रीकृष्ण
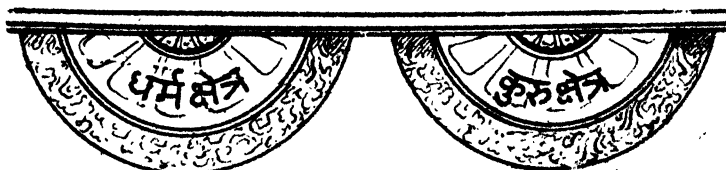
ने राजसूय-यज्ञ में शिशुपाल का वध किया था और पाण्डवों की सहायता से धृष्टद्युम्न को चेदि देश का राजा बनाया था।

चेकितान, पाण्डवों के सेनापतियों में से एक सुप्रसिद्ध महारथी थे। ये यादव-वंश की एक शाखा वृष्णिकुल में उत्पन्न हुए थे। महाभारत के युद्ध में दुर्योधन ने इनका वध किया था।

काशिराज काशी के राजा थे। धृतराष्ट्र और राजा पाण्डु की मातायें इन्हीं के कुलकी थीं।

पुरुजित् और कुन्तिभोज, दोनों बड़े पराक्रमी थे। कुन्तिभोज ने कुन्ती का अपनी पुत्री की भांति लालन-पालन किया था। इसी नाते ये पाण्डवों के शुभ चिन्तक थे।

शैब्य, राजा शिवि के पुत्र थे। अपने बल और सदाचार के कारण इन्हें नरपुङ्गव—मनुष्यों में श्रेष्ठ कहा जाता था। ये धर्मराज युधिष्ठिर के श्वसुर थे।

इन महारथी वीरों के अतिरिक्त पाण्डवों की सेना में देश-विदेशों के मित्र राष्ट्रों से आये हुए उनके मित्र, सम्बन्धी, शुभचिन्तक आदि दलबल सहित सम्मिलित हुए थे।

दुर्योधन ने पाण्डवों की सेना के कुछ और भी गिने चुने योद्धाओं के नाम लिये—
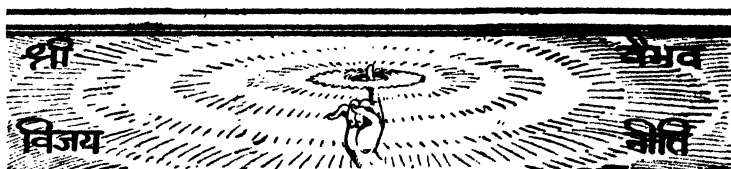
६

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥

युधामन्युः, च, विक्रान्तः, उत्तमौजाः, च, वीर्यवान्,
सौभद्रः, द्रौपदेयाः, च, सर्वे, एव, महारथाः ।

विक्रान्तः=पराक्रमी, युधामन्युः=युधामन्यु, च=और,
वीर्यवान्=बलवान, उत्तमौजाः=उत्तमौजा, च=तथा,
सौभद्रः=अभिमन्यु, च=एवम्, द्रौपदेयाः=द्रौपदी के पुत्र,
सर्वे=सब, एव=ही, महारथाः=महारथी हैं ।

श्री उत्तमौजा युधामन्यु पराक्रमी वर वीर हैं ।
सौभद्र सारे द्रौपदेय महारथी रणधीर हैं ॥

अर्थ—पराक्रमी युधामन्यु और बलवान् उत्तमौजा तथा अभिमन्यु एवं द्रौपदी के पुत्र सब ही महारथी हैं ।

व्याख्या—युद्ध में जिसका क्रोध भड़कता है, उसे युधामन्यु कहते हैं । युधामन्यु पाञ्चाल देश के राजकुमार थे ।

उत्तमौजा, युधामन्यु के भाई थे । अपने बल और विक्रम के कारण ये दोनों भाई प्रसिद्ध थे । ये दोनों भाई अर्जुन के चक्र-रक्षक थे ।

सौभद्र, सुभद्रा के पुत्र थे, इन्हीं का नाम अभिमन्यु था ।

अभिमन्यु बालकपन से ही शस्त्र-विद्या में निपुण थे।

श्रीकृष्ण और अर्जुन के साथ बैठकर सुभद्रा जो कुछ सुनती थी उसका प्रभाव गर्भ में स्थित अभिमन्यु पर पड़ता था। इसी कारण बालक अभिमन्यु परम पराक्रमी निर्भय कुशल और बुद्धिमान था।

अभिमन्यु ने अपने पिता अर्जुन से शस्त्र-विद्या सीखी थी। द्रोणाचार्य के बनाये हुए चक्रव्यूह में प्रवेश करने का ज्ञान केवल अर्जुन और अभिमन्यु को ही था। जिस समय चक्रव्यूह बनाया गया, तब अर्जुन बहुत दूर युद्ध में घिरे हुए थे। अतः बालक अभिमन्यु युद्धभूमि में आये और अकेले ही चक्रव्यूह में घुस गये। अभिमन्यु ने आश्चर्य-जनक वीरता, साहस और कुशलता के साथ युद्ध किया, परन्तु द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा बृहद्बल और कृतवर्मा महारथियों ने अकेले बालक को घेर लिया और अन्याय तथा क्रूरता पूर्वक उसका वध किया।

अभिमन्यु की मृत्यु से पाण्डव बड़े दुःखी हुए—श्रीकृष्ण ने उन्हें बड़ा धीरज दिया और समझाया। अन्याय, अधर्म और क्रूरता को निर्मूल करने के लिये बड़े-बड़े बलिदान देने पड़ते हैं।

द्रौपदेय, द्रौपदी के पाँचों पुत्र थे। इनके नाम प्रतिविन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेन थे। अश्वत्थामा ने रात्रि के समय इन पाँचों की बड़ी क्रूरता से हत्या की थी। ये सब वीर शस्त्र-विद्या में निपुण और महारथी थे।

पाण्डवों की सेना के महारथियों के नाम सुनते-सुनते गुरु द्रोणाचार्य की मुद्रा गम्भीर होगयी। राजनीति में निपुण दुर्योधन ने तुरन्त बात को बदल दिया और कहा—
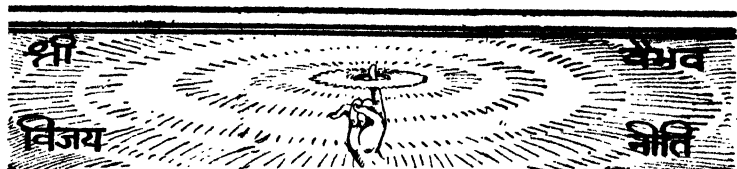
७

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥

अस्माकम्, तु, विशिष्टाः, ये, तान्, निबोध द्विजोत्तम,
नायकाः, मम, सैन्यस्य, संज्ञार्थम्, तान्, ब्रवीमि, ते।

द्विजोत्तम=हे द्विजराज, अस्माकम्=हमारी तरफ के, तु=भी, ये=जो, विशिष्टाः=प्रधान हैं, तान्=उनको, निबोध=जान लीजिये, ते=आपकी, संज्ञार्थम्=जानकारी के लिये, मम=अपनी, सैन्यस्य=सेना के (जो) नायकाः=सेनापति हैं, तान्=उनके नाम, ब्रवीमि=कहता हूँ।

द्विजराज! जो अपने कटक के श्रेष्ठ सेनापति सभी।
सुन लीजिये मैं नाम उनके भी सुनाता हूँ अभी॥

अर्थ—हे द्विजराज! हमारी तरफ के भी जो प्रधान हैं, उनको जान लीजिये, आपकी जानकारी के लिये अपनी सेना के जो सेनापति हैं उनके नाम कहता हूँ।

व्याख्या—द्रोणाचार्य के शान्त स्वभाव और उदासीनता को देख कर दुर्योधन ने उन्हें 'द्विजराज' कहा है।

दुर्योधन को शंका हुई कि द्रोणाचार्य अपने ब्रह्म-स्वभाव के कारण दया और उदासीनता से युद्ध न छोड़ दें, अतः उनमें क्षात्रभाव जगाने के लिये उसने अपने विशेष-विशेष वीरों के नाम सुनाने प्रारम्भ किये—

८

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥

भवान्, भीष्मः, च, कर्णः, च, कृपः, च, समितिञ्जयः,
अश्वत्थामा, विकर्णः, च, सौमदत्तिः, तथा, एव, च ।

भवान्=आप, च=और, भीष्मः=भीष्म पितामह, च=तथा, कर्णः=कर्ण, च=और, समितिञ्जयः=संग्राम-विजयी, कृपः=कृपाचार्य, च=और, तथा=वैसे, एव=ही, अश्वत्थामा=अश्वत्थामा, विकर्णः=विकर्ण, च=तथा, सौमदत्तिः=सौमदत्ति हैं ।

हैं आप फिर श्री भीष्म कर्ण अजेय कृप रणधीर हैं ।
भूरिश्रवा गुरुपुत्र और विकर्ण से बलवीर हैं ॥

अर्थ—आप और भीष्मपितामह तथा कर्ण और संग्राम-विजयी कृपाचार्य और वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण तथा सौमदत्ति हैं ।

व्याख्या—सबसे पहिले दुर्योधन ने गुरु द्रोणाचार्य का नाम लिया । सभ्यता, शिष्टाचार, गुण-ग्राहकता और राजनीति की दृष्टि से यही उचित था । द्रोणाचार्य महान् तेजस्वी बलशाली विद्वान् वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाता और शस्त्र-विद्या में सब प्रकार निपुण थे ।
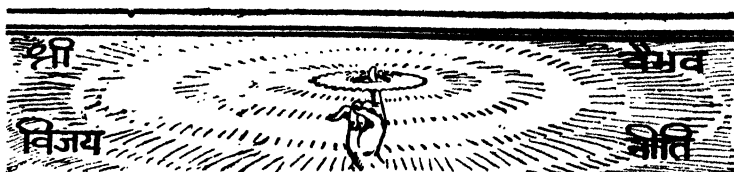
उन्होंने महर्षि अग्निवेश्य और परम पराक्रमी श्री परशुरामजी से अस्त्र-शस्त्र-विद्या सीखी थी। सब विद्याओं में निपुण साहसी अनुभवी और युद्ध-विद्या के धुरन्धर ज्ञाता श्री द्रोणाचार्य अद्वितीय वीर थे। आग्नेयास्त्र, ब्रह्मास्त्र, शक्ति, शूल, नारायणास्त्र आदि अनेकों अस्त्र-शस्त्रों का उन्हें सम्पूर्ण ज्ञान था। युद्ध में पूरी शक्ति लगाकर खड़े हो जाने पर द्रोणाचार्य के सामने कोई नहीं ठहर सकता था।

विद्या और वीरता दोनों के योग से मनुष्य महान् बनता है। केवल भौतिक बल से बर्बरता बढ़ती है और वीरता-रहित विद्या सुगन्धि-रहित फूल के समान है। द्रोणाचार्य में बल और विद्या दोनों का योग था। इतना होने पर भी अधर्म का पक्ष लेने के कारण उनका अन्त होगया।

प्राचीन समय में जहाँ ज्ञान और विद्या की असीम उन्नति हुई, वहां अस्त्र-शस्त्र विद्या में भी भारत सब से आगे था। प्रधान सेनापति, उपसेनापति, सेनापति, सेना-नायक, नायक, दलपति, व्यूहपति, चक्र-रक्षक, और पादरक्षक, आदि अपनी-अपनी योग्यतानुसार सेना का संचालन करते थे। द्रोणाचार्य, सैनिक-शिक्षण-संस्था के अध्यक्ष थे।

दुर्योधन ने द्रोणाचार्य का अनुपम पराक्रम और बल देखकर उन्हें प्रधानता दी थी और सबसे आगे उन्हीं का नाम रखा था।

महाभारत में द्रोणाचार्य ने अद्भुत युद्ध किया था। उन्हें किसी प्रकार युद्ध में पराजित होते हुए न देखकर भीम ने 'अश्वत्थामा' नाम के हाथी को मार डाला और घोषणा कर दी कि अश्वत्थामा मारा गया। मनुष्य में कोई न कोई कमी होती है, द्रोणाचार्य जैसे अतिरथी
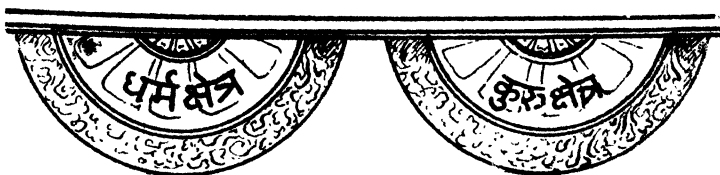
भी पुत्र के मोह से व्याकुल होगये। उन्होंने उसी समय शस्त्र छोड़ दिये। उसी शोक की अवस्था में धृष्टद्युम्न ने उनकी हत्या कर दी।

संस्कार अमर और अजेय होते हैं। संस्कारों के सामने कोई शक्ति नहीं ठहरती। काम, क्रोध, लोभ, मोह की प्रबल शक्ति संस्कारों से ही उत्पन्न होती है। कर्म का फल, संस्कारों से उत्पन्न होता है। कर्म-फल मिटता नहीं, परन्तु उसके नष्ट करने की इच्छा-मात्र भी संस्कारों का अन्त कर देती है, उसी प्रकार जैसे अश्वत्थामा के मरने के असत्य समाचार ने द्रोणाचार्य का अन्त कर दिया।

दुर्योधन ने गुरु द्रोणाचार्य का नाम लेकर, फिर कुरु-कुल के वयोवृद्ध श्री भीष्म पितामह का नाम लिया। भीष्म राजा शान्तनु के पुत्र थे। इनका नाम देवव्रत था, परन्तु आजीवन ब्रह्मचर्य का कठिन व्रत लेने से और राज-पद को छोड़ने की भीषण प्रतिज्ञा करने से इनका नाम भीष्म पड़ गया था। भीष्म ने मृत्यु को भी जीत लिया था। उनकी इच्छा के बिना मृत्यु उनके पास आने का साहस नहीं कर सकती थी।

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा: मृत्युमुपाघ्नत—

ब्रह्मचर्य और तप से देवता मृत्यु को भी जीत लेते हैं।

भीष्म, ब्रह्मचर्य और तप के साक्षात् स्वरूप थे, उनकी सामर्थ्य का मेरुदण्ड कभी झुकना नहीं जानता था।

'तुलसी या संसार में सोइ भये समरत्थ।
इक कञ्चन इक कुचन को जिन न पसार्‌यो हत्थ॥'
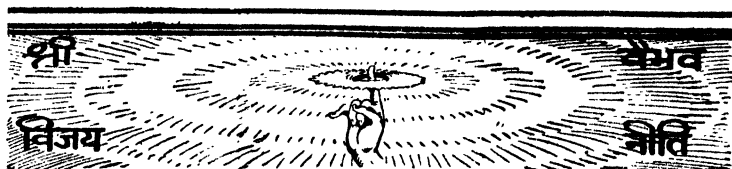
भीष्म जैसे समर्थ इच्छा-मृत्यु और सर्वतोमुखी प्रतिभाधारी पुरुष भी धर्म और परमेश्वर से विमुख होकर नष्ट हो जाते हैं।

भीष्म के पश्चात् दुर्योधन ने कर्ण का नाम लिया। अर्जुन को छोड़कर पाण्डवों की सेना में कर्ण के समान कोई दूसरा वीर नहीं था। कर्ण धनुर्विद्या में प्रवीण थे। सूर्यदेव ने उन्हें दिव्य कुण्डल और अभेद्य कवच दिये थे। कुण्डल और कवच के रहते हुए कर्ण किसी से नहीं जीते जा सकते थे।

कर्ण महादानी थे। एक दिन इन्द्र ने कर्ण से दान में कवच और कुण्डल मांग लिये। दानवीर कर्ण ने इन अमूल्य और प्राणों के समान प्रिय वस्तुओं को देने में संकोच नहीं किया। कर्ण की इस उदारता और दान-वीरता की समानता संसार में कहीं नहीं है।

दुर्योधन का विश्वास था कि अकेला कर्ण ही सारे पाण्डवों को पराजित कर देगा। कर्ण ने आश्चर्यजनक युद्ध किया। जिस समय उसने अर्जुन पर सर्पमुखी बाण छोड़ा, तब श्रीकृष्ण ने रथ को इतने बल और वेग से नीचे दबाया कि घोड़ों ने घुटने टेक दिये और रथ के पहिये धरती में गड़ गये। श्रीकृष्ण तुरन्त रथ से नीचे उतरे और पहियों को निकालने लगे। कर्ण ने अच्छा अवसर देखकर श्रीकृष्ण और अर्जुन पर बाणों की वर्षा कर दी, पर श्रीकृष्ण जिसे बचानेवाले हों उसे मारनेवाला नहीं रहता। अवसर आया कि कर्ण का रथ भी धरती में फंस गया। कर्ण ने अपने सारथी से रथ निकालने की प्रार्थना की, परन्तु श्रीकृष्ण जैसा सच्चा सेवक प्रभु और साथी मिलना दुर्लभ है।
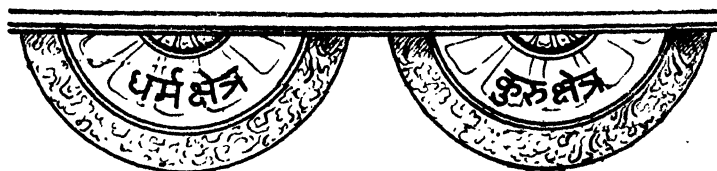
कर्ण को स्वयं रथ से उतरना पड़ा। उसने कहा—'अर्जुन! तुम धर्म को जाननेवाले हो! आशा है, इस संकट के समय तुम मुझ पर बाण नहीं छोड़ोगे।' अर्जुन ने हाथ रोक लिया, परन्तु समय, नीति और धर्म के मर्म को जाननेवाले श्रीकृष्ण ने कहा—'अधर्मीजन, मृत्यु को देखकर धर्म की दुहाई देते हैं। हे कर्ण! धर्मराज को छल से जुवे में जीतने के समय तुम्हारा धर्म कहां गया था? द्रौपदी की लाज-हरण करते समय तुमने धर्म को कहाँ रख दिया था? वन से लौटने पर पाण्डवों को उनका राज्य न लौटाने के समय तुम्हारा धर्म कहाँ था? भीम को विष देने के समय, पाण्डवों को लाख के घर में जलवाते समय और अकेले बालक अभिमन्यु को मारते समय तुम्हारा धर्म कहाँ गया था? धर्म के नाम पर धोखा देनेवाला कभी नहीं बच सकता।'

कर्ण को अपने अधर्म का फल भोगना पड़ा। क्षण भर में उसकी वीरता धरती की धूल में मिल गयी।

कृपाचार्य, द्रोणाचार्य से पहिले कौरवों और पाण्डवों को शस्त्र-विद्या सिखाते थे। कृपाचार्य, महर्षि शरद्वान् गौतम के पुत्र थे। इनकी बहिन कृपी का विवाह द्रोणाचार्य के साथ हुआ था।

कृपाचार्य, सब प्रकार विद्वान धर्मात्मा सदाचारी और शस्त्र-विद्या में निपुण थे। युद्ध में सदा विजय पाने के कारण वे 'समितिञ्जय' थे।

अश्वत्थामा, द्रोणाचार्य के पुत्र थे और उन्हीं से युद्ध-विद्या की शिक्षा प्राप्त की थी। उनमें द्रोणाचार्य का तेज, अपने धर्म का बल तथा अभ्यास द्वारा प्राप्त निपुणता थी।
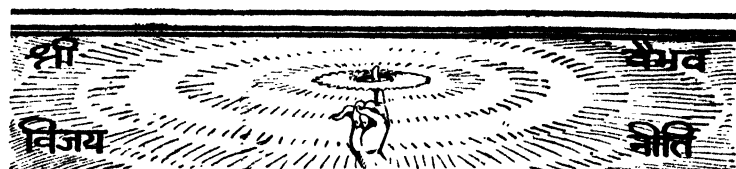
अश्वत्थामा के माथे पर एक प्रकाशमान् मणि चमकती रहती थी। युद्ध समाप्त हो जाने पर अश्वत्थामा ने दुर्योधन को धैर्य देने के लिये एक दिन रात को सोते हुए द्रौपदी के पुत्रों के सिर काट दिये थे। अर्जुन और श्रीकृष्ण अश्वत्थामा को पकड़कर ले आये, परन्तु द्रौपदी ने उसे क्षमा कर दिया। अर्जुन ने उसके माथे की मणि निकालकर उसे छोड़ दिया। धोखा देनेवाले का तेज अस्त हो जाता है। धनी, बलवान् तथा विद्यावान् होने पर भी दुष्कर्मी को शान्ति नहीं मिलती। कहा जाता है कि अश्वत्थामा अमर होते हुए भी अपने पाप का दण्ड भोग रहे हैं और अशान्त तथा तेजोहीन अवस्था में भटकते हैं।

अश्वत्थामा-वृत्ति के नरनारी धोखा छल एवं कपट करके अपने भोले-भाले बन्धुओं का गला काटते हैं। अपने पापके कारण वे अशान्त और प्रतिभाहीन होकर दुःखी रहते हैं—न मरते हैं न जीते हैं।

विकर्ण, धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों में से एक थे। विकर्ण, धर्मप्रिय और साहसी महारथी थे। द्रौपदी के चीर-हरण के समय विकर्ण ने खड़े होकर दुर्योधन के कुकर्म को अन्याय घोषित किया था। धर्म-भीरु पुरुष अपने मित्रों और बन्धुओं के दबाव में आकर विकर्ण की भांति अधर्म का पक्ष लेते हैं। उन्हें कुसंग का दण्ड भोगना पड़ता है।

सौमदत्ति, राजा सोमदत्त के पुत्र थे, इनका नाम 'भूरिश्रवा' था।

इन महारथियों के अतिरिक्त कौरवों की सेना में और भी महारथी थे। उनके विषय में दुर्योधन ने कहा—

८
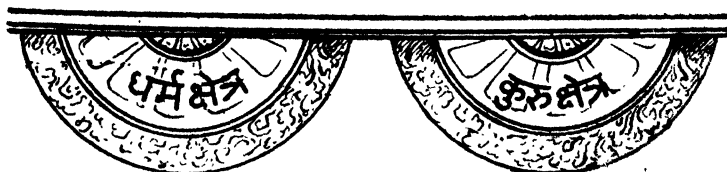
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥

अन्ये, च, बहवः, शूराः, मदर्थे त्यक्तजीविताः,
नानाशस्त्रप्रहरणाः, सर्वे, युद्धविशारदाः ।

अन्ये=और, च=भी, बहवः=बहुत से, शूराः=शूरवीर, नानाशस्त्रप्रहरणाः=अनेक प्रकार के शस्त्र चलानेवाले, सर्वे=सभी, युद्धविशारदाः=युद्ध-विद्या में निपुण, मदर्थे=मेरे लिये, त्यक्तजीविताः=प्राण देने को तत्पर हैं ।

रण साज साजे निपुण शूर अनेक ऐसे बल भरे ।
मेरे लिये तैयार हैं जीवन हथेली पर धरे ॥

अर्थ—और भी बहुत से शूरवीर अनेक प्रकार के शस्त्र चलानेवाले सभी युद्ध-विद्या में निपुण मेरे लिये प्राण देने को तत्पर हैं ।

व्याख्या—बात को बहुत न बढ़ाते हुए दुर्योधन ने संक्षेप में कह दिया । कभी-कभी संक्षेप, प्रिय और सन्तोषजनक हो जाता है । संक्षेप में बात करने से समय का दुरुपयोग नहीं होता । कब किस बात को विस्तार में कहना और किसे संक्षेप में कहना—यह भी एक कला है । राजनीति में निपुण दुर्योधन ने सौ बातों की एक बात कह
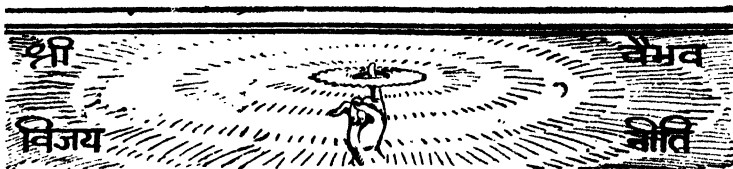
दी कि मेरे लिये जीने और मरनेवाले बहुत से शूरवीर हैं, उन पर मुझे पूरा विश्वास है। वे सब युद्ध करने में निपुण हैं और अनेक प्रकार के शस्त्रों के चलानेवाले हैं।'

शस्त्र, उन्हें कहते हैं जिनको हाथ में लेकर लड़ा जाय जैसे—तलवार, लाठी कुठार आदि।

अस्त्र, उन्हें कहते हैं जो फेंके जाते हैं जैसे—तीर, गोली, शतघ्नी, बम आदि।

श्रीकृष्ण और धर्मराज के युग में भी अनेकों वीर दुर्योधन के समर्थक थे।

संसार में ऐसे मनुष्यों की कमी नहीं जो सत्य और धर्म के विरोध में खड़े होते हैं—बहुत-से ऐसे होते हैं जो धर्म-प्रिय जनों के वैभव, तेज और यश-मान को नहीं देख सकते, बहुत-से अपनी मनमानी करने के लिये संयमी जनों से द्वेष बाँधते हैं और कुछ ऐसे होते हैं, जो अच्छे सत्यवादी जनों से अनेकों बार पराजित होकर उन्हें दबाने का अवसर ढूँढा करते हैं। इस प्रकार की मनोवृत्ति के सभी मनुष्य कौरव-पक्ष को बनाते हैं, परन्तु सम्पन्न और समर्थ होने पर भी कौरववृत्ति के मनुष्य दुःखी, चिन्तित, अशान्त और भयभीत रहते हैं।

अनेकों अजेय महारथियों की सहायता पाकर भी दुर्योधन, निर्भय नहीं था—उसे चिन्ता जलाये डाल रही थी। उसने व्याकुल होकर गुरु द्रोणाचार्य से कहा—

१०
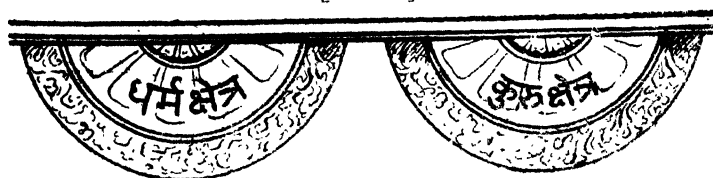
अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥

अपर्याप्तम्, तत्, अस्माकम्, बलम्, भीष्माभिरक्षितम्, पर्याप्तम्, तु, इदम्, एतेषाम्, बलम्, भीमाभिरक्षितम् ।

भीष्माभिरक्षितम्=भीष्मपितामह की रक्षा में, अस्माकम्=हमारी, तत्=वह, बलम्=सेना, अपर्याप्तम्=अपर्याप्त है, तु=और, भीमाभिरक्षितम्=भीम की रक्षा में, एतेषाम्=उनकी, इदम्=यह, बलम्=सेना, पर्याप्तम्=पर्याप्त है ।

श्री भीष्म-रक्षित है नहीं पर्याप्त अपना दल बड़ा ।
पर भीम-रक्षा में उधर पर्याप्त उनका दल खड़ा ॥

अर्थ—भीष्मपितामह की रक्षा में हमारी वह सेना अपर्याप्त है और भीम की रक्षा में उनकी यह सेना पर्याप्त है ।

व्याख्या—दुर्योधन-वृत्ति के मनुष्य सदा दोहरी बातें करते हैं। द्वेष और असत्यता की अवस्था में कोई स्पष्ट बात नहीं होती। यदि वह कहता है कि हमारी सेना असीम और अजेय है, तो उसके हृदय की चिन्ता ज्यों की त्यों बनी रहती है और यदि वह कहता है कि इतनी बड़ी होते हुए भी हमारी सेना अपर्याप्त अर्थात् काफी नहीं है, तो
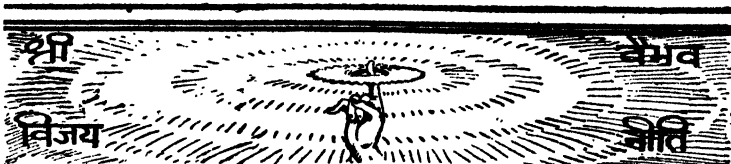
इसमें आचार्य का अपमान होता है और साथ ही उत्साह भंग हो जाता है, अतः उसने इस प्रकार बात की कि जिसका कुछ भी अर्थ लगाया जा सकता है।

अपर्याप्त का अर्थ—अमर्यादित, अपार और अगणित भी हो सकता है और पर्याप्त नहीं अर्थात् काफी नहीं भी।

पहला अर्थ करने पर दुर्योधन अपने मुँह अपनी बड़ाई करता हुआ जान पड़ता है।

दुर्योधन का स्वभाव कुछ ऐसा ही था—वह सदा अपने को और अपने पक्ष को बड़ा और अजेय कहता था। उसने अपनी कुशल राजनीति से कर्ण को सुरक्षित-विभाग (Reserve Force) में पीछे और भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्य को युद्ध में सामने रखा था। वह पूरे विश्वास के साथ कहता था कि, 'मेरी सेना बड़ी गुणवान् और सुसञ्चालित है, अतः मेरी विजय होगी।'

अपने पिता धृतराष्ट्र से उसने कहा था—

गुणहीनं परेषाञ्च बहु पश्यामि भारत।
गुणोदयं बहुगुणमात्मनश्च विशाम्पते॥

हे राजन्! पाण्डवों की सेना को मैं प्रायः गुण-हीन देखता हूँ और अपनी सेना को बहुत प्रकार के गुणवाली और पराक्रम दिखाने-वाली मानता हूँ।

दुर्योधन ने अहंभाव से यहाँ तक विचार प्रकट किया था कि हमारे महारथी ऐसे हैं, जो रण में अकेले ही पाण्डवों को सेना
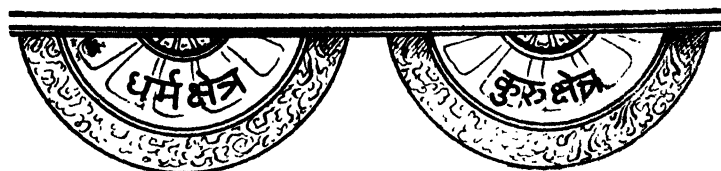
सहित मार सकते हैं—फिर सब मिलकर युद्ध करेंगे तो बात ही क्या !

स्वयं-प्रशंसक होने के अतिरिक्त दुर्योधन की सेना ग्यारह अक्षौहिणी थी। वह उसे बड़ी और समर्थ कहकर उत्साह भी बढ़ाना चाहता था; अतः उसने अपर्याप्त शब्द कहकर अपनी सेना को अपरिमित और अजेय सिद्ध किया हो तो सन्देह नहीं है।

पाप के कारण दुर्योधन के मन में भय और संशय ने घर कर लिया था, अतः उसने पाण्डवों की सेना को बहुत भारी कहा और अपनी सेना को पर्याप्त नहीं माना, यह दूसरा अर्थ है।

दुर्योधन ने द्रोणाचार्य के सामने अपने मन की बात कह दी थी कि 'मुझे भीष्म पितामह की रक्षा में अपनी बड़ी भारी सेना भी पर्याप्त नहीं जान पड़ती। ऐसा कहने के कारण भी थे—

१—भीष्म और द्रोणाचार्य पाण्डवों से हार्दिक स्नेह रखते थे।

२—भीष्म और द्रोणाचार्य, धर्म-प्रिय तथा सत्यवादी थे। अधर्मी मनुष्य को धर्मात्मा पर विश्वास नहीं होता, क्योंकि धर्म-प्रिय किसी भी समय अन्याय का विरोध कर सकता है।

३—द्रोणाचार्य और भीष्म, कौरवों की निन्दा करते थे और पाण्डवों की प्रशंसा। ऐसा करने से राजा दुर्योधन का नियन्त्रण और अनुशासन भंग होता था। अनुशासन-हीन बल अधिक होने पर भी असमर्थ रहता है—यही दुर्योधन की चिन्ता थी।

४—भीष्म, कौरवों की ओर से युद्ध कर रहे थे, परन्तु पाण्डवों को समर्थ मानते थे। उन्होंने दुर्योधन से कहा था—
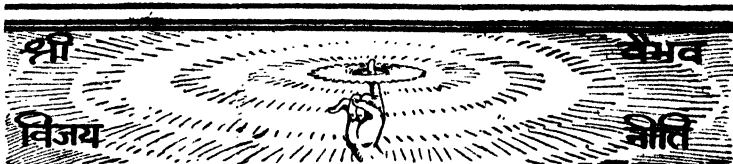
'एकैकशस्ते सम्मर्दे हन्युः सर्वान्महीक्षितः।
प्रत्यक्षं तव राजेन्द्र राजसूये यथाऽभवत्॥'

पाण्डव इतने बलशाली हैं कि युद्ध में एक-एक पाण्डव तुम्हारे सारे योद्धाओं को मार देने में समर्थ है। हे दुर्योधन! 'राजसूय यज्ञ' में तुम्हारे देखते-देखते ऐसा हो चुका है।

और फिर सर्व-समर्थ श्रीकृष्ण, पाण्डवों की सहायता करते हैं।

भीष्म के ऐसे विचारों से दुर्योधन सदा चिन्तित रहता था।

५—दुर्योधन जानता था कि दो घोड़ों पर सवारी करनेवाला कभी सुरक्षित नहीं रहता। भीष्म, कौरव और पाण्डव दोनों को समान मानते हैं, अतः पूरी शक्ति लगाकर वे किसी एक तरफ नहीं हो सकते। द्विविधा सदा घातक होती है।

इन्हीं सब कारणों से दुर्योधन, भय और संशय में फँस गया था और उसने कहा कि मुझे भीष्मपितामह की रक्षा में अपनी सेना का बल पर्याप्त नहीं जान पड़ता और उधर भीम की रक्षा में उनकी छोटी-सी सेना भी पर्याप्त है, क्योंकि भीम युद्ध में बड़े-छोटे को देखने-वाला नहीं और भयंकर रूप से संहार करता है। उसकी सेना व्यवस्थित है, उसमें अनुशासन तथा नियन्त्रण है, एक ही हृदय और एक ही ध्येय है।

दुर्योधन-वृत्ति के नर-नारी एक की प्रशंसा और दूसरे की निन्दा करके सबको अपना प्रिय बनाये रखना चाहते हैं, उनका कोई निश्चित मत नहीं होता, वे वही करते हैं, जिससे उनका स्वार्थ पूरा हो।

जैसे ही दुर्योधन ने भीष्म पितामह को अपनी ओर आते देखा, उसने तुरन्त बात बदल दी और कहने लगा—

११

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥

अयनेषु, च, सर्वेषु, यथाभागम्, अवस्थिताः,
भीष्मम्, एव, अभिरक्षन्तु, भवन्तः, सर्व, एव, हि ।

हि=इसलिये भवन्तः=आप, सर्वे=सब, एव=ही, यथाभागम्=अपने-अपने स्थान पर, च=और, सर्वेषु=सब, अयनेषु=मोरचों पर, अवस्थिताः=स्थित रहते हुए, एव=निश्चय-पूर्वक, भीष्मम्=भीष्मपितामह को, अभिरक्षन्तु=रक्षा करें ।

इस हेतु निज-निज मोरचों पर वीर पूरा बल धरें ।
सब ओर चारों छोर से रक्षा पितामह की करें ॥

अर्थ—इसलिये आप सब ही अपने-अपने स्थान पर और सब मोरचों पर स्थित रहते हुए निश्चय पूर्वक भीष्म पितामह की रक्षा करें ।

व्याख्या—भीष्म पितामह को देखकर उन्हें प्रसन्न रखने के लिये दुर्योधन ने उनके सम्बन्ध में बात करनी प्रारम्भ कर दी—जिससे दो व्यक्तियों को एकान्त में बात करते देख कर उन्हें किसी प्रकार का सन्देह न हो और वे यही समझें कि मेरी प्रशंसा में बातें हो रही हैं ।
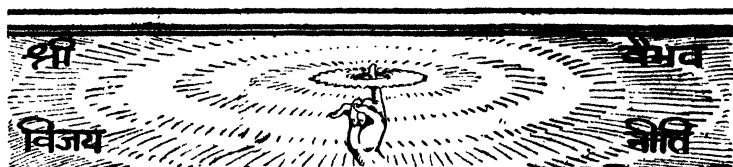
दुर्योधन ने अपनी सेना का कर्तव्य घोषित करते हुए कहा—

१—सबको व्यवस्था के लिये अपने-अपने स्थान पर रहना चाहिये।

२—सावधान होकर सेनापति की आज्ञा माननी चाहिये।

३—सेनापति की रक्षा करना सबका कर्तव्य है, उनके लिये अपने प्राण न्योछावर करने में भी किसी को संकोच नहीं होना चाहिये।

४—सेनापति वृद्ध हैं, अतः उनकी सब प्रकार देख-रेख करनी चाहिये, क्योंकि सेना की विजय और पराजय सेनापति पर निर्भर है।

दुर्योधन के भावों में भले ही बनावट और कुटिलता हो, परन्तु राजनैतिक दृष्टिसे सेनाके नाम उसका यह सन्देश महत्वपूर्ण है।

अनुशासन, नियन्त्रण, दृढ़ संगठन और बल बनाये रखने के लिये, प्रमुख नेता, सेनापति अथवा गृहपति की आज्ञा का पालन करना और उसकी देखरेख करना प्रत्येक नर-नारी का कर्तव्य है।

भीष्म के संबंध में दुर्योधन ने अपने स्पष्ट भाव प्रकट किये हैं—

१—भीष्म पितामह समर्थ अवश्य हैं, परन्तु वे पाण्डवों को नहीं मारेंगे—हमारी सेना को इस बात का ध्यान रखना चाहिये।

२—शिखण्डी के सामने आ जाने पर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भीष्म शस्त्र नहीं उठायेंगे। ऐसे समय में पितामह की रक्षा करनी चाहिये।

दुर्योधन की घोषणा को सुनकर भीष्म अप्रसन्न नहीं हुए। ज्ञानवान् और सावधान पुरुष, समय को साधने का प्रयत्न करते हैं, सहन शक्ति से काम लेते हैं और व्यर्थ वाद-विवाद में नहीं पड़ते।

कुरुकुल पितामह भीष्म ने इसी सजगनीति से काम लिया।

१२
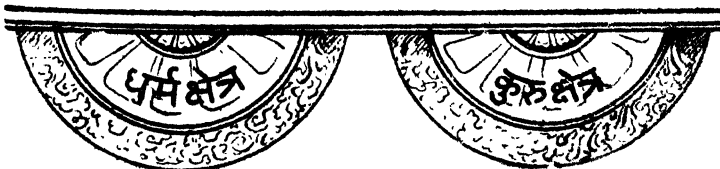
तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥

तस्य, संजनयन्, हर्षम्, कुरुवृद्धः, पितामहः, सिंहनादम्, विनद्य, उच्चैः, शंखम्, दध्मौ, प्रतापवान् ।

कुरुवृद्धः=कौरवों में वयोवृद्ध, प्रतापवान्=प्रतापवान्, पितामहः=भीष्मपितामह ने, तस्य=दुर्योधन के मन में, हर्षम्=हर्ष, संजनयन्=उत्पन्न करते हुए, सिंहनादम्=सिंह के समान गर्जन, विनद्य=करके, उच्चैः=बड़े ऊंचे स्वरसे, शंखम्=शंख, दध्मौ=बजाया ।

कुरु-कुल पितामह तब नृपति-मन मोद से भरने लगे ।
कर विकट गर्जन सिंह-सी निज शंख ध्वनि करने लगे ॥

अर्थ—कौरवों में वयोवृद्ध प्रतापवान भीष्मपितामह ने दुर्योधन के मन में हर्ष उत्पन्न करते हुए सिंह के समान गर्जन करके बड़े ऊंचे स्वर से शंख बजाया ।

व्याख्या—भीष्म ने अपनी ज्ञान की अनुभवी और दूर तक देख लेनेवाली आँखों से दुर्योधन के हृदय को देख लिया था । भीष्म, भली-भांति जानते थे कि अधर्म की विजय कभी नहीं हो सकती, परन्तु उन्होंने राजा दुर्योधन का अन्न खाया था, संकट के समय में उसे छोड़
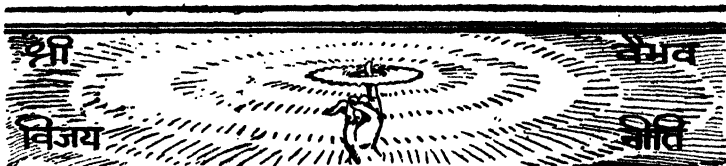
देना भी भीष्म की दृष्टि में कर्तव्य से गिर जाना था।

स्वधर्म का आचरण करने के लिये मनुष्य का जन्म मिला है। कर्तव्य के दृढ़ बन्धन में बंधकर अनेकों बार अप्रिय कर्म करने पड़ते हैं। कर्तव्य के बन्धनों को तोड़नेवाला घोर बन्धनों में बंध जाता है। कर्तव्य के बन्धन में मुक्ति है।

भीष्मपितामह ने सत्यवती की सन्तान तथा उसके वंश की रक्षा का व्रत लिया था, उस प्रतिज्ञा को निभाने के लिये भी भीष्म कौरवों का साथ नहीं छोड़ सकते थे। अतः उन्होंने राजा दुर्योधन को उत्साहित और प्रसन्न करने के लिये सिंह-गर्जना की और सेनापति के पद से युद्ध की घोषणा करते हुए शंख बजा दिया।

यद्यपि भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य का मन दुर्योधन से नहीं मिलता था, परन्तु वे एक प्रकार से शासन के अधिकारी थे, राजाज्ञा का पालन करना उनका कर्तव्य था और सेनापति होकर वे अपने कर्तव्य-पालन में किसी प्रकार पीछे नहीं रहना चाहते थे।

प्रत्येक परिस्थिति में कर्तव्य-पालन की दृढ़ता ही ज्ञान और ब्रह्मनिष्ठा का चिन्ह है। घर में, समाज में और राज्य में अनेकों ऐसे कर्म करने पड़ते हैं, जिन्हें मनुष्य करना नहीं चाहता।

स्वधर्म के लिये कठिन और अप्रिय कर्म करते हुए भी निर्विकार और प्रसन्न रहनेवाला मनुष्य श्रेष्ठ पद पाता है।

भीष्म ने प्रसन्नता से सिंह के समान गर्जना की, उनके शंख की महाध्वनि ने वातावरण को गम्भीर और सजग बना दिया।

१३

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥

ततः, शंखाः, च भेर्यः, च, पणवानकगोमुखाः,
सहसा, एव, अभ्यहन्यन्त, सः, शब्दः, तुमुलः, अभवत् ।

ततः=उसके पश्चात्, शंखाः=शंख, भेर्यः=भेरियां, च=और, पणवानकगोमुखाः=ढोल, मृदङ्ग तथा नरसिंहे, सहसा=एक साथ, एव=ही, अभ्यहन्यन्त=बजने लगे, च=और, सः=उनका वह, शब्दः=शब्द, तुमुल=बड़ा भयंकर, अभवत्=हो गया।

फिर शंख भेरी ढोल आनक गोमुखे चहुँ ओर से।
सब युद्ध बाजे एकदम बजने लगे ध्वनि घोर से ॥

अर्थ—उसके पश्चात शंख भेरियां और ढोल, मृदङ्ग तथा नरसिंहे एक साथ ही बजने लगे और उनका वह शब्द बड़ा भयङ्कर होगया।

व्याख्या—प्रधान सेनापति भीष्म ने युद्ध की घोषणा कर दी, वीरों में उत्साह की लहर दौड़ गयी और प्रसन्नता पूर्वक चारों ओर शंख, ढोल, मृदङ्ग, भेरी आदि बाजे युद्ध की कठोरता को भी सरस करने के लिये बज उठे।
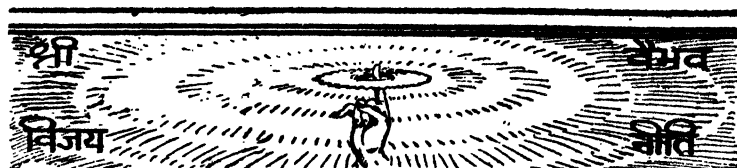
प्रसन्नता और उत्साह से मनुष्य का बल दुगुना हो जाता है। भय, उदासी और चिन्ता बल को खा जाती हैं। भारतीय संस्कृति सदा प्रसन्नता-पूर्वक कर्म करने का आदेश देती है।

प्रातःकाल भगवान् की आरती करने में जो मधुर-ध्वनि उठती है, वही दिन भर कर्म करने में रहनी चाहिये। जिसके कर्म आनन्द मोद एवं मङ्गल सहित प्रसन्नता से पूरे होते हैं, उसे कभी दुःख और असफलता का मुख नहीं देखना पड़ता। घर में, वन में, कुएँ से पानी भरते समय, चक्की चलाते हुए, झाड़ू देते हुए और प्रत्येक कठिन कर्म करते हुए गाना-बजाना बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है।

युद्ध में मृत्यु को सन्मुख देखकर भी वीर पुरुष प्रसन्न होते हैं। पुण्यात्मा पुरुष का पहला लक्षण आनन्द और प्रसन्नता है।

वीरों में इसी आनन्द का प्रवाह लाने के लिये कौरवों ने युद्ध के बाजे बजाये, परन्तु हृदय में जब चोर बैठ जाता है, अथवा जान-बूझकर दुष्कर्म किये जाते हैं तो भय पीछा नहीं छोड़ता। भय की घनघोर घटा प्रसन्नता के सूर्य को ढक लेती है, भय की अंधेरी में जीवन के कमल को कुबुद्धि का तुषार मार जाता है। भय की अवस्था में आनन्द-वर्द्धक मधुर शब्द भी कठोर लगने लगते हैं। अतः युद्ध-सूचक संगीत कौरवों को भयंकर प्रतीत हुआ।

पाण्डव, उस शब्द को सुनकर सावधान हो गये और उन्होंने बड़े उत्साह तथा साहस से प्रतिध्वनि करते हुए मंगल-सूचक शंख बजाये।

सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन आगे आये—

१४
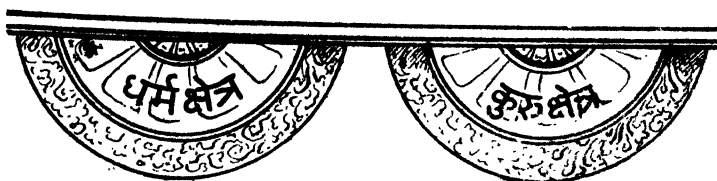
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः॥

ततः, श्वैतैः, हयैः, युक्ते, महति, स्यन्दने, स्थितौ,
माधवः, पाण्डवः, च, एव, दिव्यौ, शंखौ, प्रदध्मतुः।

ततः=उसके पश्चात्, श्वैतैः=सफेद, हयैः=घोड़ों से, युक्ते=जुते, महति=महान्, स्यन्दने=रथ में, स्थितौ=बैठे हुए, माधवः=भगवान् श्रीकृष्ण, च=और, पाण्डवः=अर्जुन ने, एव=भी, दिव्यौ=दिव्य, शंखौ=शंख, प्रदध्मतुः=बजाये।

श्रीकृष्ण अर्जुन श्वेत घोड़ों से सजे रथ पर चढ़े।
निज दिव्य शंखों को बजाते वीरवर आगे बढ़े॥

अर्थ—उसके पश्चात् सफेद घोड़ों से जुते महान् रथ में बैठे हुए भगवान् कृष्ण और अर्जुन ने भी दिव्य शंख बजाये।

व्याख्या—संजय ने राजा धृतराष्ट्र को बतलाया कि श्रीकृष्ण और अर्जुन बड़े विनम्रभाव से विवश होकर युद्ध में आये थे। श्रीकृष्ण और पाण्डवों ने शान्ति के लिये कुछ उठा नहीं रखा था। श्रीकृष्ण स्वयं शान्ति-दूत बनकर कौरवों की सभा में गये थे, परन्तु जिसके सिर पर
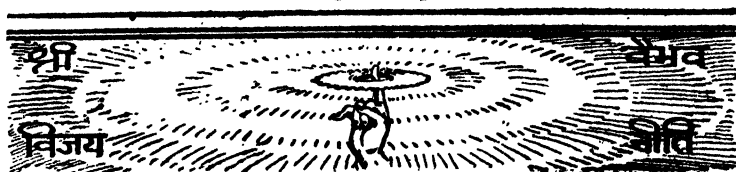
मृत्यु मंडराती है, उसकी बुद्धि उलट जाती है। बहुत कुछ समझाने पर भी कौरव नहीं माने और युद्ध करने पर तुले रहे।

महाभारत के मैदान में भी पहल कौरवों ने ही की।

कौरवों की ओर से युद्ध की घोषणा हो जाने के पश्चात् और कौरव-दल में युद्ध के बाजों की ध्वनि सुनकर श्रीकृष्ण और अर्जुन आगे बढ़े।

अर्जुन का रथ दिव्य तेजोमय और विशाल था। खांडव-वन-दहन के समय अग्निदेव ने प्रसन्न होकर अर्जुन को यह रथ दिया था। अर्जुन के रथ में चार सुन्दर सफेद रंग के घोड़े जुते हुए थे।

महाभारत के समय में भारत का अश्व-विज्ञान बहुत चढ़ा-बढ़ा था। चित्ररथ गन्धर्व ने श्रीकृष्ण को ऐसे घोड़े दिये थे, जो चलने में वायु के समान गतिवान्, कभी न थकनेवाले, सधे हुए और निर्भय थे।

उपनिषदों में रथ को शरीर कहा है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।

आत्मा को रथी जानो और शरीर को रथ।

सुन्दर सारथी मिल जाने पर रथ महान् हो जाता है, उसके दिव्य स्पर्श से मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार निर्मल हो जाते हैं और उनकी गति अबाध्य हो जाती है।

श्रीकृष्ण और अर्जुन के शंख भी अलौकिक थे, उनका शब्द परम प्रभावशाली और बजाने का ढङ्ग असाधारण था।

१६
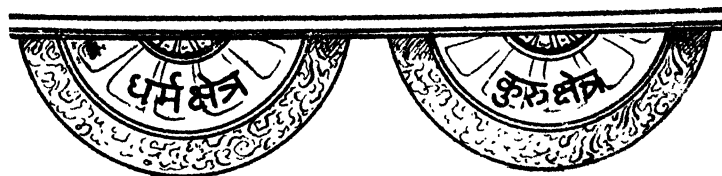
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः॥

पाञ्चजन्यम्, हृषीकेशः, देवदत्तम्, धनञ्जयः,
पौण्ड्रम्, दध्मौ, महाशंखम्, भीमकर्मा, वृकोदरः।

हृषीकेशः=हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण ने, पाञ्चजन्यम्=पाञ्चजन्य,
धनञ्जयः=अर्जुन ने, देवदत्तम्=देवदत्त शंख, (और)
भीमकर्मा=भयङ्कर कर्म करनेवाले, वृकोदरः=भीम ने,
पौण्ड्रम्=पौण्ड्र, महाशंखम्=महाशंख, दध्मौ=बजाया।

श्रीकृष्ण अर्जुन पांचजन्य व देवदत्त गुंजा उठे।
फिर भीमकर्मा भीम पौण्ड्र-निनाद करने में जुटे॥

अर्थ—हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण ने पांचजन्य अर्जुन ने देवदत्त और भयङ्कर कर्म करनेवाले भीम ने पौण्ड्र महाशंख बजाया।

व्याख्या—श्रीकृष्ण हृषीकेश थे। उन्हें अपनी इन्द्रियों पर पूरा संयम था। आवेश, अधीरता, क्रोध आदि उन्हें विचलित नहीं कर पाते थे। ऐसे धीर धुरन्धर महान् योगेश्वर इन्द्रियों के स्वामी श्रीकृष्ण ने अपना प्रसिद्ध 'पाञ्चजन्य' नाम का शंख बजाया।
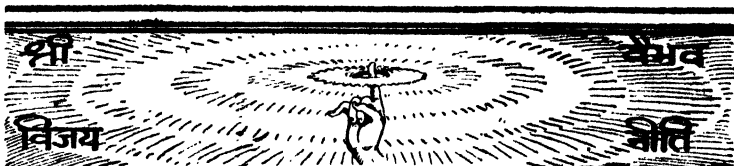
कहा जाता है कि 'पाञ्चजन्य शंख' एक श्रीगण दैत्य पञ्चजन के उदर से श्रीकृष्ण को प्राप्त हुआ था।

श्रीकृष्ण का मत, पञ्चों के मत के समान विचारपूर्ण, अनुभवी निष्पक्ष तथा सर्वहितकारी होता था। उनके पांचजन्य की ध्वनि पञ्च-परमेश्वर के मत को प्रकट करती थी।

पंच-परमेश्वर की वाणी सुननेवाले श्रीकृष्ण के पाञ्चजन्य की ध्वनि सुनकर सदा निर्भय रहते हैं।

अर्जुन का नाम 'धनञ्जय' था। वह धर्म के साथ धन जीतकर लाता था। न्यायपूर्वक धनञ्जय होनेवाले के साथ परमेश्वर सदा रहते हैं। न्याय से धन-उपार्जन करनेवाला ही श्रीकृष्ण को अपनी देह के रथ पर बैठाने का अधिकारी होता है।

अर्जुन के शंख का नाम 'देवदत्त' था। यह शंख उसे इन्द्र ने उपहार में दिया था। 'देवदत्त शंख' की ध्वनि सुनकर शत्रुओं का हृदय दहल जाता था।

जिसके शरीर-रथ पर भगवान् बैठते हैं, उसकी वाणी प्रभावशाली और दैवी होती है।

भीम को 'भीमकर्मा और वृकोदर' कहा जाता था। भीम महाशक्तिशाली उग्र और भयङ्कर कर्म करनेवाले थे। उनके शंख का नाम 'पौण्ड्र' था। यह शंख बहुत बड़ा और भारी था—इसीलिये उसे 'महाशंख' कहा है।

१६
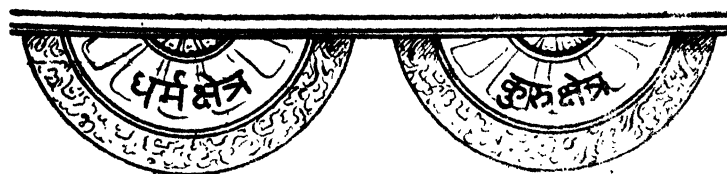
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥

अनन्तविजयम्, राजा, कुन्तीपुत्रः, युधिष्ठिरः,
नकुलः, सहदेवः, च, सुघोषमणिपुष्पकौ ।

कुन्तीपुत्रः=कुन्तीपुत्र, राजा=राजा, युधिष्ठिरः=युधिष्ठिर ने, अनन्तविजयम्=अनन्त विजय, (एवं) नकुलः=नकुल, च=और, सहदेवः-सहदेव ने, सुघोषमणिपुष्पकौ-सुघोष तथा मणिपुष्पक शंख बजाये ।

करने लगे ध्वनि नृप युधिष्ठिर निज अनन्त-विजय लिये ।
गुञ्जित नकुल सहदेव ने सु-सुघोष मणिपुष्पक किये ॥

अर्थ—कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय शंख एवं नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक शंख बजाये ।

व्याख्या—युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन कुन्ती के और नकुल तथा सहदेव माद्री के पुत्र थे। परन्तु इन पाँचों में अगाध प्रेम तथा अटूट संघटन था। पाँचों का मत एक था, पाँचों अपने-अपने कर्तव्य-पालन में सावधान तथा निपुण थे, धर्मराज को सबने अपना
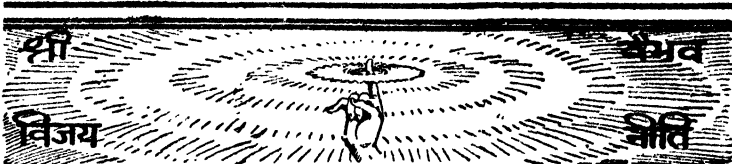
गीताज्ञान
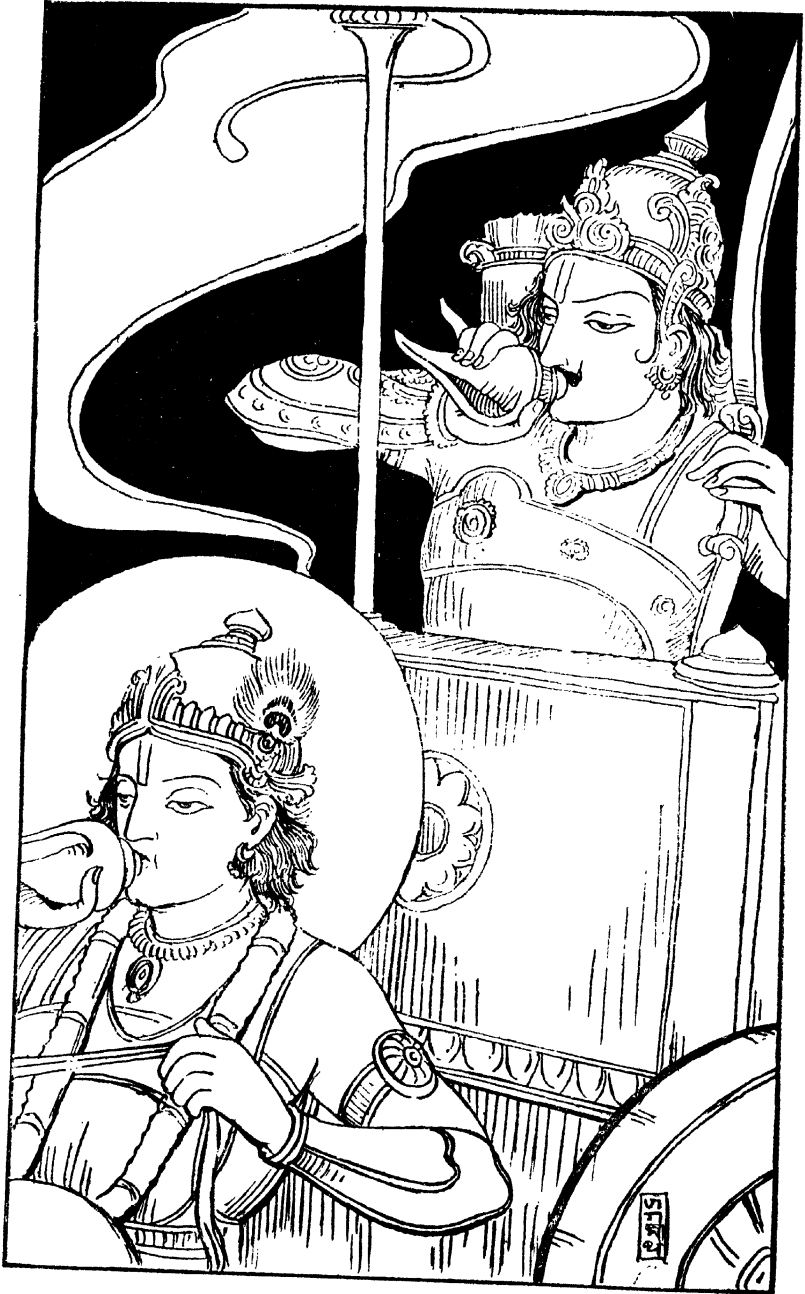
तब कृष्ण अर्जुन श्वेत घोड़ों से सजे रथ पर चढ़े।
निज दिव्य शंखों को बजाते वीर वर आगे बढ़े॥

राजा स्वीकार किया था। जहाँ ऐसी सद्‌भावना, ममता और परस्पर सेवा का भाव होता है, वहीं भगवान्‌ रहते हैं।

युधिष्ठिर की रक्षा और आज्ञा-पालन में सब भाई तत्पर रहते थे और पाँचों पर श्रीकृष्ण की कृपा थी। युधिष्ठिर का शंख बजते ही अनन्त विजय की सूचना दे देता था।

संसार में उसीका जन्म सफल है, जिसमें कुछ न कुछ विशेषता होती है। परमेश्वर ने सृष्टि की रचना ऐसे अद्‌भुत ढङ्ग से की है कि प्रत्येक प्राणी अपना विशेष स्थान रखता है और परमात्मा की देन को नष्ट न करे, तो अपने विशेष रूप को प्रत्यक्ष प्रकट कर सकता है।

पाँचों पाण्डवों ने अपने चरित्र, पुरुषार्थ और भगवत्कृपा से विशेषतायें प्राप्त की थीं। पांचों के मन वचन और कर्म में विलक्षण बल था।

कौरवों में किसी भी वीर के पास शब्द का महाबल नहीं था, अतः पाण्डवों और श्रीकृष्ण के प्रभाव-सूचक शंखों की ध्वनि चारों ओर गूंज उठी।

विशेषता और महत्ता परमेश्वर और धर्म के साथ रहने में है। धर्महीन में कोई विशेषता नहीं रहती।

पाँचों पाण्डवों के साथ-साथ उनके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध महारथियों ने भी शंख बजाये—
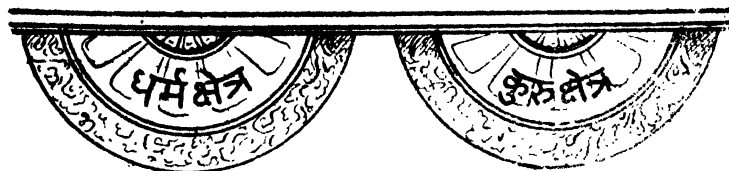
१७

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥

काश्यः, च, परमेष्वासः, शिखण्डी, च, महारथः,
धृष्टद्युम्नः, विराटः, च, सात्यकिः, च, अपराजितः ।

परमेष्वासः=श्रेष्ठ धनुर्धारी,	काश्यः=काशी नरेश,	च=और,
महारथः=महारथी,	शिखण्डी=शिखण्डी,	च=तथा,
धृष्टद्युम्नः=धृष्टद्युम्न,	विराटः=विराट,	च=एवम्,
अपराजितः=अजेय,	सात्यकिः=सात्यकि	च=तथा,

काशी-नरेश विशाल धनुधारी शिखण्डी वीर भी ।
भट धृष्टद्युम्न विराट सात्यकि श्रेष्ठ योद्धागण सभी ॥

अर्थ—श्रेष्ठ धनुर्धारी काशी नरेश और महारथी शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न, विराट एवं अजेय सात्यकि तथा—

व्याख्या द्रोणाचार्य का वध करने के लिये धृष्टद्युम्न और भीष्म-पितामह का वध करने के लिये शिखण्डी ने जन्म लिया था । कर्म की गति बड़ी सूक्ष्म कही जाती है । मनुष्य का प्रत्येक कर्म और विचार अपना संस्कार बनाता है । 'जो जैसा करता है वह वैसा पाता है' यह सिद्धान्त अटल है ।
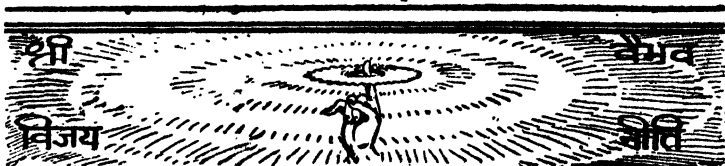
महाभारत की कथा के अनुसार भीष्मपितामह—अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका तीन कन्याओं को अपने बन्धु विचित्रवीर्य के लिये ले आये थे। अम्बिका और अम्बालिका का विवाह तो हो गया, परन्तु अम्बा ने भीष्म से प्रार्थना की कि वह विचित्र-वीर्य के साथ विवाह नहीं करना चाहती। भीष्म ने उसे लौट जाने की अनुमति दे दी, परन्तु जब अम्बा का विवाह कहीं नहीं हुआ तो वह भीष्मपितामह के पास आयी और उनके साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट की। भीष्म ने अपना जीवन, सेवा में लगाने के लिये अखण्ड ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की थी—अतः उन्होंने किसी भी प्रकार विवाह करना स्वीकार नहीं किया।

अम्बा को इस प्रकार अविवाहित रह जाने का बड़ा दुःख हुआ और उसने तप करते-करते भगवान् शिव का वरदान पाकर शरीर छोड़ दिया।

यही अम्बा, दूसरे जन्म में शिखण्डिनी के रूप में उत्पन्न हुई। माता-पिता ने अपनी इस पुत्री का पुत्र के समान पालन-पोषण किया और शिक्षा दी।

राजा हिरण्यवर्मा की कन्या के साथ शिखण्डिनी का विवाह भी होगया, परन्तु जब कन्या अपने पति के यहाँ आयी तो उसे पता चला कि शिखण्डिनी स्त्री है। हिरण्यवर्मा को द्रुपद के इस धोखे पर बड़ा क्रोध आया और सेना लेकर द्रुपद पर चढ़ाई कर दी।

शिखण्डिनी को इसका बड़ा दुःख हुआ और वह तप करने वन में चली गयी। वहाँ उसे पुरुषत्व प्राप्त हो गया। तप ही पुरुषत्व है।
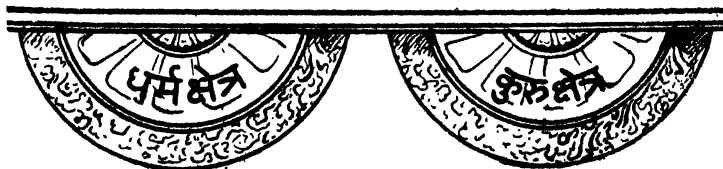
१८

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥

द्रुपदः, द्रौपदेयाः, च, सर्वशः, पृथिवीपते,
सौभद्रः, च, महाबाहुः, शंखान्, दध्मुः, पृथक्-पृथक्।

पृथिवीपते=हे राजन्, द्रुपदः=द्रुपद, द्रौपदेयाः=द्रौपदी के पुत्र, च=एवम्, महाबाहुः=महाबाहु, सौभद्रः=अभिमन्यु, च=और, सर्वशः=सबने, पृथक्-पृथक्=अलग-अलग, शंखान्=शंख, दध्मुः=बजाये।

सब द्रौपदी के सुत द्रुपद सौभद्र बल भरने लगे।
चहुँ ओर राजन् वीर निज-निज शंख ध्वनि करने लगे॥

अर्थ—हे राजन्! द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र एवं महाबाहु अभिमन्यु और सबने अलग-अलग शंख बजाये।

व्याख्या—बहुत अधिक संख्या में अज्ञानी, असावधान, अनुशासन-हीन और अनियंत्रित साधारण वीरों की अपेक्षा, विशेष सावधान, विचारवान्, एक ध्येयवाले और सत्यप्रिय थोड़े-से वीर भी बहुत श्रेष्ठ होते हैं।

शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, काशिराज, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र, अभिमन्यु आदि विशेष बल-सम्पन्न महारथी पाण्डवों के साथ थे। उन सबका एक मन और एक ध्येय था और सभी ने उल्लास-सहित अपने-अपने शंखों को बजाया।

१९
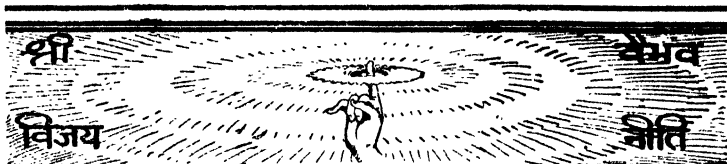
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥

सः, घोषः, धार्तराष्ट्राणाम्, हृदयानि, व्यदारयत्,
नभः, च, पृथिवीम्, च, एव, तुमुलः, व्यनुनादयन् ।

च = और, सः = उस, तुमुलः = घोर, घोषः = शब्द ने, नभः = आकाश, च = तथा, पृथिवीम् = पृथिवी को, व्यनुनादयन् = गुँजाते हुए, धार्तराष्ट्राणाम् = धृतराष्ट्र के पुत्रों के, हृदयानि = हृदय, एव = भी, व्यदारयत् = विदीर्ण कर दिये ।

वह घोर शब्द विदीर्ण सब कौरव-हृदय करने लगा ।
चहुँ ओर गूँज वसुन्धरा आकाश में भरने लगा ॥

अर्थ—और उस घोर शब्द ने आकाश तथा पृथिवी को गुंजाते हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदय भी विदीर्ण कर दिये ।

व्याख्या—कहावत प्रसिद्ध है कि भगवान् के बिना जीवन धोखा है । जो अपने को अथवा दूसरों को धोखा देता है, उसमें उत्साह नहीं रहता; भय और शंका से उसका हृदय काँपता रहता है । धन, विद्या और बल के होते हुए भी उसकी हलचल में सामर्थ्य नहीं रहती ।
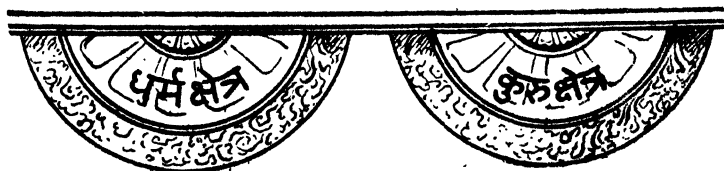
कौरवों की यही दशा थी—उनमें उत्साह नहीं था; उनके घोषों में बल नहीं था, उनकी हलचल में भगवान् नहीं थे, अतः उनकी आवाज़ दब गयी।

पाण्डवों के साथ श्रीकृष्ण थे; उनमें धर्म की दी हुई निर्भयता थी; आत्म-समर्पण की बुद्धि थी; निष्काम-कर्मयोग का बल था और लोक-संग्रह तथा न्याय की भावना थी अतः उनके शब्द में बल था। पृथिवी से आकाश तक पाण्डवों के शंखों की ध्वनि गूंज गयी।

कर्म करने में जैसा भाव होता है, वैसा ही उसका फल मिलता है। कौरवों ने केवल दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये शंख बजाया था (१—१२)। उनके इस कर्म में कामना थी। पाण्डवों ने कर्तव्य-पालन और भगवान् की प्रसन्नता के लिये शंख बजाये थे, अतः उनका कर्म निष्काम था।

जो कर्म, धर्मभाव से, परमेश्वर की आज्ञा से, परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये किये जाते हैं, उनमें कहीं छल-कपट नहीं होता। ऐसे कर्मों से सकामी पुरुषों का हृदय दहल जाता है, उन्हें भय और दीनता घेर लेती है। कौरवों और पाण्डवों के शंखों की तुमुल ध्वनि हुई, परन्तु कौरवों के हृदय दहल गये और पाण्डवों का शब्द ऊंचा उठकर पृथ्वी से आकाश तक भर गया।

सत्य की शक्ति अनन्त है, परमेश्वर की सहायता सबसे बड़ी है, उत्साही हृदय से निकली हुई वाणी का विश्व पर पूरा प्रभाव पड़ता है।

चारों ओर ऐसा भीषण कोलाहल हो रहा था, उस समय एक विलक्षण घटना घटी—

२०
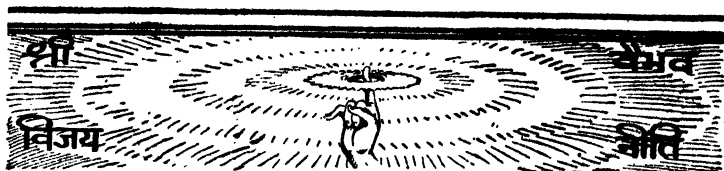
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥

अथ, व्यवस्थितान्, दृष्ट्वा, धार्तराष्ट्रान्, कपिध्वजः,
प्रवृत्ते, शस्त्रसंपाते, धनुः, उद्यम्य, पाण्डवः,

अथ=उसके उपरान्त, धार्तराष्ट्रान्=धृतराष्ट्र के पुत्रों को, व्यवस्थितान्=खड़े हुए, दृष्ट्वा=देखकर, शस्त्रसंपाते=शस्त्र चलने की, प्रवृत्ते=तय्यारी के समय, कपिध्वजः=कपिध्वज, पाण्डवः=अर्जुन ने, धनुः=धनुष, उद्यम्य=उठाकर ।

तब कौरवों को देख रण का साज सब पूरा किये ।
शस्त्रादि चलने के समय अर्जुन कपिध्वज धनु लिये ॥

अर्थ—उसके उपरान्त धृतराष्ट्र के पुत्रों को खड़े हुए देखकर शस्त्र चलने की तैयारी के समय कपिध्वज अर्जुन ने धनुष उठाकर—

व्याख्या—शंख, भेरी गोमुखे आदि युद्ध-सूचक बाजे बज जाने के पश्चात् अर्जुन ने देखा कि कौरवों की सेना व्यवस्था से खड़ी है और शस्त्र चलाने के लिये तैयार है। उस समय अर्जुन ने भी अपना धनुष उठा लिया ।
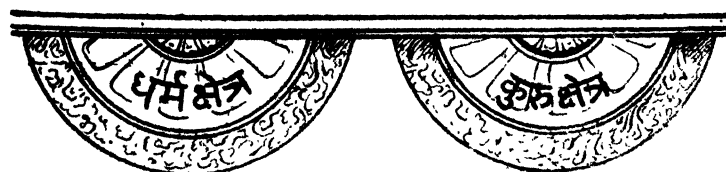
अर्जुन के झण्डे पर 'कपि' का चिन्ह था इसीलिये उसे 'कपिध्वज' कहा गया है।

जो जैसा होता है, वह वैसा ही अपना चिन्ह रखता है। कहा जाता है कि मनुष्य के मन के भाव उसके मुख पर झलकते हैं, परन्तु मुख देखकर हृदय के भाव पढ़ लेने का अनुभव किसी-किसी को ही होता है। इसीलिये वीर पुरुष अपने-अपने विशेष भावों के झण्डे लगाया करते थे। झण्डा मनोवृत्ति का सूचक और विशेषता का चिन्ह होता है।

अर्जुन की ध्वजा पर हनूमान् बैठे थे। पौराणिक गाथा के अनुसार हनूमान्जी ने भीम को महाभारत में सहायता करने का वचन दिया था। हनूमान् अपने पूरे बल सहित अर्जुन के रथ पर बैठते थे, अतः अर्जुन की ध्वजा पर भी उन्हीं का चिन्ह था। अर्जुन के सहायक अतुलित बलशाली हनूमान् थे।

आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर जान पड़ता है कि अर्जुन को हनूमान् के गुण बहुत प्रिय थे। हनूमान् ने सेवा के लिये अपना जीवन अर्पित कर दिया था। हनूमान् बल के भण्डार थे। ब्रह्मचर्य से हनूमान् की देह सोने जैसी चमकती थी। दुष्कृतों का दमन करने के लिये हनूमान् सदा उद्यत रहते थे, ज्ञानियों में हनूमान् गण्य-मान्य थे, उनमें सम्पूर्ण सद्गुण निवास करते थे और वे अपने प्रभु की आज्ञा पर जीवन न्योछावर करने के लिये तत्पर रहते थे।

अर्जुन के भी ऐसे भाव थे, इसी कारण उसने हनूमान् को
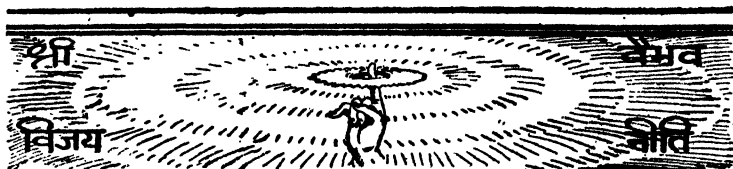
अपनी ध्वजा का चिन्ह बनाया।

हनूमान् के अनेकों भक्त उनके गुणों की स्तुति करते हुए कहा करते हैं—

'अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहम्,
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशम्,
रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥'

इन गुणों को धारण करने का प्रयत्न करनेवाले नहीं के बराबर होते हैं। केवल मुख से बोल देने में ही भक्तजन समझ लेते हैं कि हनूमान् हमारी रक्षा करेंगे।

अर्जुन ने हनूमान् के इन गुणों को धारण किया था। वह महाबलशाली, सदाचारी, ज्ञानवान् और संयमी था।

हनूमान् वायु-पुत्र हैं, योग-ग्रन्थों में वायु की महिमा का वर्णन है—

'मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः!' (ह० यो० १।४६)

प्राणों का संयम करने से मनुष्य मुक्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं।

चले वाते चलञ्चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्। (ह० यो० २।२)

प्राण चञ्चल होने से मन चञ्चल हो जाता है और प्राणों के स्थिर हो जाने से मन स्थिर हो जाता है।

हनूमान्-पताका का यही अभिप्राय है कि अर्जुन को प्राणों पर संयम था, उसके स्वभाव में स्थिरता थी, इसी कारण एक बार गीता सुनकर ही उसके अनुसार आचरण करने में वह सफल होगया।

प्रारम्भ में अर्जुन का मन कुछ चलायमान हुआ—
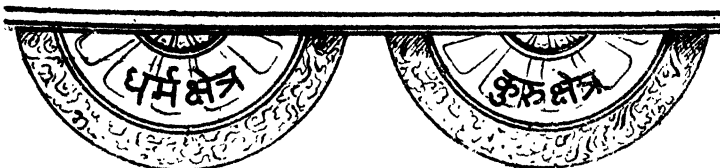
२१

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥

हृषीकेशम्, तदा, वाक्यम्, इदम्, आह, महीपते,
सेनयोः, उभयोः, मध्ये, रथम्, स्थापय, मे, अच्युत।

महीपते = हे राजन्, तदा = उस समय, हृषीकेशम् = हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण से, इदम् = यह, वाक्यम् = वचन, आह = बोला, (कि) अच्युत = हे अच्युत, मे = मेरे, रथम् = रथको, उभयोः = दोनों, सेनयोः = सेनाओं के, मध्ये–बीच में, स्थापय = खड़ा कर दीजिये।

श्रीकृष्ण से कहने लगे आगे बढ़ा रथ लीजिये।
दोनो दलों के बीच में अच्युत खड़ा कर दीजिये ॥

अर्थ—हे राजन्! उस समय हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्ण से यह वचन बोला कि हे अच्युत मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दीजिये।

व्याख्या—नर और नारायण अथवा जीव और ब्रह्म अथवा शिष्य और गुरु दोनों एक ही रथ पर बैठे थे।

श्रीकृष्ण को अपनी इन्द्रियों पर पूरा-पूरा संयम था। वे अपनी तीव्र बुद्धि और पैनी दृष्टि से हृदय की बात जान लेते थे।
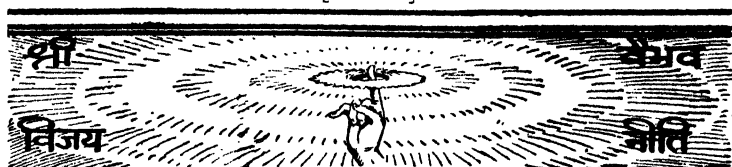
प्रायः मनुष्य दूसरे की बात नहीं सुनता—अपनी ही कहता है, अपनी ही सुनता है और अपनी ही मानता है। परन्तु जो सहनशील गम्भीर संयमी और बुद्धिमान् होते हैं, वे श्रीकृष्ण की भांति महान्-आत्मा उदार-हृदय और विशाल बुद्धि से प्रत्येक परिस्थिति में सावधान रहते हैं।

संजय ने धृतराष्ट्र को श्रीकृष्ण के इन महान् गुणों का परिचय केवल 'हृषीकेश' नाम लेकर करा दिया। अनेकों भक्त, भगवान् के नामों का जप करते हैं। नाम-जप का ध्येय नामी के गुणों का ध्यान, मनन और धारण होता है। ऐसा करते-करते साधक पर नामी के दिव्य कर्मों का अखण्ड प्रभाव पड़ता है और उसका निरन्तर रूपान्तर होता है।

अर्जुन ने कहा—'हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दीजिये।'

ब्रह्म जीव को कैसे और कहां लेजाता है? इसका अनुभव तो उन पवित्र आत्माओं को होता है जो अपनी कोई हठ, इच्छा तथा वासना न रखकर अपने आपको ब्रह्म के हाथों में सौंप देते हैं। यह विशेष स्थिति है, साधारण स्थिति में मनुष्य अपनी इच्छा प्रकट करता है। संसार को देखकर वह किनारे पर नहीं रहना चाहता, बीचों-बीच पहुँचने की कामना करता है।

मनुष्य जैसा चाहता है भगवान् वैसा ही करते हैं, परन्तु मनुष्य की भांति परमेश्वर किसी आवेश, उत्तेजना, दबाव या प्रभाव में नहीं आता। परमेश्वर का नाम अच्युत है, उसकी शक्ति टपक-टपक कर
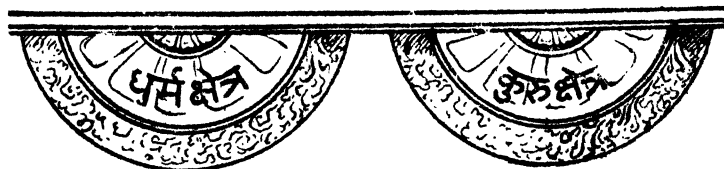
नहीं बिखरती; उसका पतन नहीं होता, वह अपने स्वरूप, शक्ति और संयम से अपने को डिगने या गिरने नहीं देता, सदा स्थिर सावधान और पूर्ण रहता है।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण को दोनों सेनाओं के बीच में रथ खड़ा करने का आदेश दिया। अच्युत श्रीकृष्ण इस आज्ञा को पाकर विचलित नहीं हुए। फिर भी अर्जुन एकाएक सहम गया। मनुष्य का ऐसा ही स्वभाव होता है। वह अपने को बुद्धिमान् मानकर संरक्षकों, गुरुजनों और परमेश्वर को भी अपनी इच्छा के अनुसार चलाना चाहता है, स्वयं किसी की इच्छानुसार नहीं चलता। मनुष्य सबको अपने आधीन रखना चाहता है, किसी के आधीन नहीं रहता। जगत् और जगत्पति को अपना बनाना चाहता है, उनका नहीं बनता।

स्वभाव की इस दीनता और हीनता के कारण मनुष्य उत्तेजित हो जाता है, आवेश में आता है, उसकी शक्ति छीज जाती है, संयम टूट जाता है, सावधानी साथ छोड़ देती है, अभिमान घेर लेता है और विषाद पीछा करता है। जब बिना विचारे किसी चंचलता अथवा आवेश से कर्म हो जाते हैं तो कर्ता को बुद्धिवाद का सहारा लेना पड़ता है। उसकी कर्म-शक्ति ढीली पड़ जाती है और वह अपनी बात स्वयं न समझते हुए भी दूसरों को समझाने का प्रयत्न करता है।

दोनों सेनाओं के बीच में रथ खड़ा करने का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए अर्जुन ने कहा—

२२
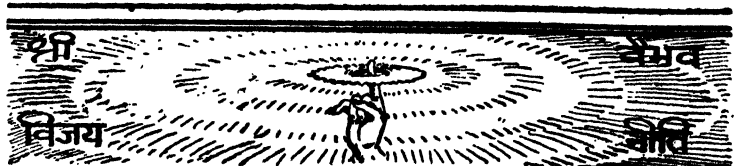
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥

यावत्, एतान्, निरीक्षे, अहम्, योद्धु कामान्, अवस्थितान्, कैः, मया, सह, योद्धव्यम्, अस्मिन्, रणसमुद्यमे,

यावत्=जब तक, अहम्=मैं, एतान्=इन, योद्धुकामान्=युद्ध की कामना से, अवस्थितान्=खड़े हुओं को, निरीक्षे=देख लूं, अस्मिन्=इस, रणसमुद्यमे=युद्ध में, मया=मुझे कैः=किन-किन के, सह=साथ, योद्धव्यम्=युद्ध करना चाहिये।

करलूं निरीक्षण युद्ध में जो जो जुड़े रणधीर हैं।
इस युद्ध में माधव ! मुझे जिन पर चलाने तीर हैं ॥

अर्थ—जब तक मैं इन युद्ध की कामना से खड़े हुओं को देख लूं, इस युद्ध में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना चाहिये।

व्याख्या—अर्जुन उन वीरों को देखना चाहता था जो उसके साथ युद्ध करने योग्य थे। मित्रता और विरोध बराबरवाले के साथ शोभा देता है।

जैसा आगे आये उसे देखकर निश्चित कर्तव्य-पालन करनेवाला सदा सुखी रहता है, परन्तु जिसे कर्तव्य-पालन करते हुए अभिमान हो जाता है, उसे नीचा देखना पड़ता है।

योग्यता का निरीक्षण करते-करते अर्जुन में अभिमान जागा—

२३
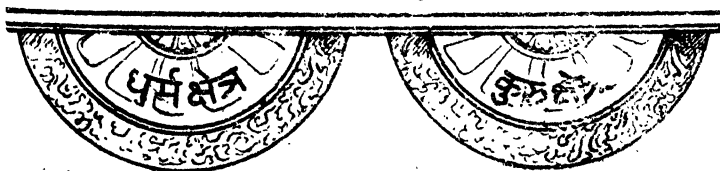
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥

योत्स्यमानान्, अवेक्षे, अहम्, यः, एते, अत्र, समागताः, धार्तराष्ट्रस्य, दुर्बुद्धेः, युद्धे, प्रियचिकीर्षवः ।

युद्धे=युद्ध में, दुर्बुद्धेः=दुर्बुद्धि, धार्तराष्ट्रस्य=दुर्योधन का, प्रियचिकीर्षवः=भला चाहनेवाले, यः=जो-जो, एते=ये राजा लोग, अत्र=यहाँ, समागताः=आये हैं, योत्स्यमानान्=उन युद्ध करनेवालों को, अहम्=मैं, अवेक्षे=देखूंगा ।

मैं देखलूं रणहेतु जो आये यहाँ बलवान् हैं ।
जो चाहते दुर्बुद्धि दुर्योधन-कुमति-कल्याण हैं ॥

अर्थ—युद्ध में दुर्बुद्धि दुर्योधन का भला चाहनेवाले जो-जो ये राजा लोग, यहाँ आये हैं, उन युद्ध करनेवालों को मैं देखूँगा ।

व्याख्या—अर्जुन ने सहज स्वभाव से ही यह इच्छा प्रकट की थी कि मैं उन्हें एक बार देख लेना चाहता हूँ, जिनसे मुझे युद्ध करना होगा ।

दुर्योधन को देखते ही अर्जुन को उसके अन्यायपूर्ण अनुचित कर्म याद आगये । अर्जुन में उत्तेजना के साथ अभिमान भी जागा
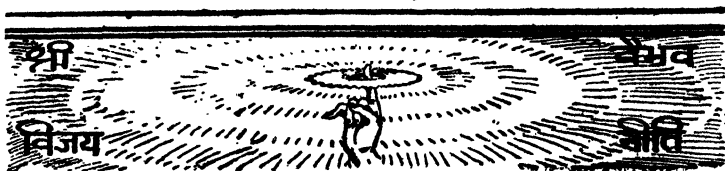
और उसने दुर्योधन को 'दुर्बुद्धि' कहा।

सत्य और न्याय को छोड़नेवाला 'दुर्बुद्धि' कहा जाता है। अपने परिवार, समाज और देश में द्वेष और विरोध बढ़ानेवाला 'दुर्बुद्धि' कहलाता है। किसी की बात न मानकर अपनी ही हठ रखनेवाले को 'दुर्बुद्धि' कहते हैं। सदा स्वार्थ-कामनाओं में लगे रहनेवाले परद्रोही असंयमी और अविचारी भी 'दुर्बुद्धि' होते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि दुर्योधन दुर्बुद्धि था। अन्याय पर अन्याय करके; सत्य का गला घोंटकर; अपनी हठ और स्वार्थ-कामना से उसने पाण्डवों का धन-हरण किया, लाज लूटी, देश छीना और उन्हें दबाने के अनुचित प्रयत्न किये, वयोवृद्धों के समझाने पर भी न माना और अन्त में महाभारत का निश्चय करके अपने विनाश को बुलाया।

अतः अर्जुन ने दुर्योधन को 'दुर्बुद्धि' कहकर कुछ अनुचित नहीं किया था, परन्तु दूसरों को बुरा कहते हुए जिन्हें अभिमान नहीं होता ऐसे महान् आत्मा दुर्लभ हैं।

मनुष्य की इस स्वाभाविक हीनता ने अर्जुन को घेर लिया और उसने कहा कि मैं उन्हें अच्छी तरह देखूंगा जो दुर्योधन का पक्ष लेकर यहाँ मुझसे युद्ध करने आये हैं।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन के उठते हुए अहंभाव को देखा। उन्होंने अपनी कुशल बुद्धि से अहंकार के परिणाम को भी जान लिया और अर्जुन के रथ को तुरन्त आगे बढ़ा दिया।

संजय ने इसी बात की चर्चा करते हुए धृतराष्ट्र से कहा—

२४

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥

एवम्, उक्तः, हृषीकेशः, गुडाकेशेन, भारत,
सेनयोः, उभयोः, मध्ये, स्थापयित्वा, रथोत्तमम्।

भारत=हे धृतराष्ट्र, गुडाकेशेन=गुडाकेश अर्जुन के, एवम्=इस प्रकार, उक्तः=कहने पर, हृषीकेशः=हृषीकेश श्रीकृष्ण ने. उभयोः=दोनों, सेनयोः=सेनाओं के, मध्ये=बीच में, रथोत्तमम्=उत्तम रथ को, स्थापयित्वा=खड़ा करके।

श्रीकृष्ण ने जब गुडाकेश-विचार, भारत! सुन लिया।
दोनों दलों के बीच में जाकर खड़ा रथ को किया ॥

अर्थ—हे धृतराष्ट्र! गुडाकेश अर्जुन के इस प्रकार कहने पर हृषीकेश श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में उत्तम रथ को खड़ा करके।

व्याख्या—अर्जुन, गुडाकेश थे। नींद को जीत लेनेवाला 'गुडाकेश' कहलाता है। अर्जुन ने तप और साधना द्वारा अपने मन और इन्द्रियों पर पूरा-पूरा संयम कर लिया था, उसे कभी आलस्य नहीं आता था, वह सदा सावधान और सजग रहता था। इतना होने पर भी आवेश और अहंकार ने उसे पकड़ लिया। अहंकार का फल दुःख है, परन्तु दुःख को दूर करनेवाले आनन्दरूप हृषीकेश भगवान्, अर्जुन के साथ थे।

श्रीकृष्ण ने प्रसन्नता से रथ को आगे बढ़ा दिया और—

२६
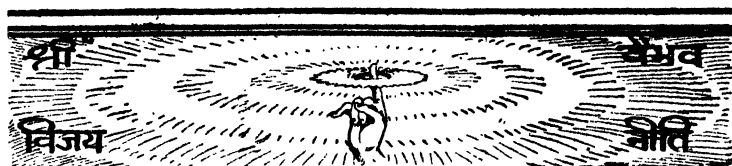
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः, सर्वेषाम्, च, महीक्षिताम्,
उवाच, पार्थ, पश्य, एतान्, समवेतान्, कुरून्, इति ।

सर्वेषाम्=सारे, महीक्षिताम्=राजाओं, च=और,
भीष्मद्रोणप्रमुखतः=भीष्म द्रोण के सामने (ले जाकर) इति=यह,
उवाच=कहा, पार्थ=हे पार्थ, एतान्=इन,
समवेतान्=इकट्ठे हुए, कुरून्=कौरवों को, पश्य=देख ।

राजा रथी श्रीभीष्म द्रोणाचार्य के जा सामने ।
लो देखलो कौरव-कटक अर्जुन ! कहा भगवान् ने ॥

अर्थ—सारे राजाओं और भीष्म द्रोण के सामने ले जाकर यह कहा, हे पार्थ ! इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख ।

व्याख्या—श्रीकृष्ण ने अर्जुन के रथ को ऐसे स्थान पर ले जाकर खड़ा कर दिया, जहाँ उसे अपने-आप ही अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया ।
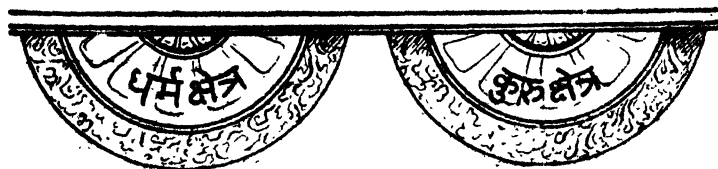
अर्जुन ने भीष्म, द्रोणाचार्य और बड़े-बड़े महारथियों को अपने सामने युद्ध करने के लिये खड़ा देखा। उसने देख लिया कि आज मेरी वीरता को पूरी पूरी चुनौती मिल रही है। अर्जुन ने यह भी देखा कि उसके प्रियजन और परिजन, दुर्बुद्धि दुर्योधन का साथ देने आये हैं।

कौरवों की सेना वेगवती नदी के समान हिलोरें ले रही थी, उसके प्रवाह को देख कर एक बार अर्जुन भी मोहित होगया। वह डूब जाता, यदि श्रीकृष्ण जैसा खिवैया उसके साथ न होता।

पुराणों में कौरवों की रण-नदी का एक रूपक है—

भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गांधारनीलोत्पला,
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी।
सोत्तीर्णा खलु पांडवैरणनदी कैवर्तकः केशवः॥

भीष्म द्रोण दोनों दृढ़ तट हैं और जयद्रथ रूपी जल।
कर्ण तरङ्ग, कमल है शकुनी, शल्य रूप घड़ियाल सबल।
भारी मकर विकर्ण द्रोणसुत, कृपाचार्य हैं प्रबल प्रवाह।
दुर्योधन है भँवर भयंकर, रण-रूपी यह नदी अथाह।
किन्तु पार जा पहुँचे पाण्डव, हुई सरल निष्कण्टक राह।
कैसे हो बाधा 'दिनेश' जब केशव बने स्वयं मल्लाह॥

वीर और सावधान मनुष्य को भी अहंकार पछाड़ देता है। अर्जुन ने अपने चारों ओर देखा।—

२६
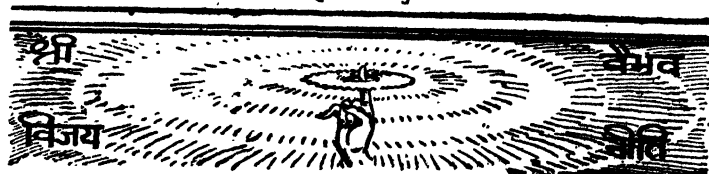
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथपितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥

तत्र, अपश्यत, स्थितान्, पार्थः, पितॄन्, अथ, पितामहान्,
आचार्यान्, मातुलान्, भ्रातॄन्, पुत्रान्, पौत्रान्, सखीन्, तथा ।

अथ = तब, पार्थः = पार्थ ने, तत्र = वहां, स्थितान = खड़े हुए,
पितॄन् = ताऊ-चाचाओं, पितामहान् = पितामहों, आचार्यान् = आचार्यों
मातुलान् = मामाओं, भ्रातॄन् = भाइयों, पुत्रान् = पुत्रों, पौत्रान् = पौत्रों,
तथा = और, सखीन् = मित्रों को, अपश्यत् = देखा ।

तब पार्थ ने देखा वहां सब हैं स्वजन बूढ़े बड़े ।
आचार्य भाई पुत्र मामा पौत्र प्रियजन हैं खड़े ॥

अर्थ—तब पार्थ ने वहां खड़े हुए ताऊ-चाचाओं, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों और मित्रों को देखा ।

२७
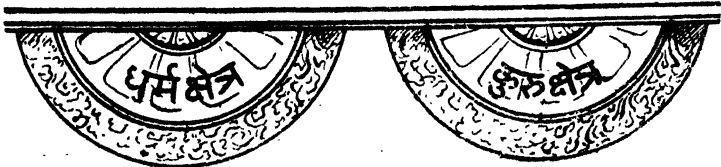
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥

श्वशुरान्, सुहृदः, च, एव, सेनयोः, उभयोः, अपि,
तान्, समीक्ष्य, सः, कौन्तेयः, सर्वान्, बन्धून्, अवस्थितान् ।

उभयोः = दोनों, एव = ही, सेनयोः = सेनाओं में, श्वशुरान् = श्वसुरों, च = और, सुहृदः = सुहृदों को, अपि = भी, (देखा) तान् = उन, अवस्थितान् = खड़े हुए, सर्वान = सब, बन्धून् = बन्धु-बान्धवों को, समीक्ष्य = देखकर, सः = वह, कौन्तेयः = अर्जुन ।

स्नेही श्वसुर देखे खड़े कौन्तेय ने देखा जहां ।
दोनों दलों में देखकर प्रिय बन्धु बान्धव ही वहां ॥

अर्थ—दोनों ही सेनाओं में श्वसुरों और सुहृदों को भी देखा, उन खड़े हुए सब बन्धु-बान्धवों को देख कर वह अर्जुन—

२८

कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥

कृपया, परया, आविष्टः, विषीदन्, इदम्, अब्रवीत्,
दृष्ट्वा, इमम्, स्वजनम्, कृष्ण, युयुत्सुम्, समुपस्थितम् ।

परया = अत्यन्त, कृपया = करुणा से, आविष्टः = भरा हुआ, विषीदन् = दुःखी होकर, इदम् = यह, अब्रवीत् = बोला, कृष्ण = हे कृष्ण, इमम् = इन, युयुत्सुम = युद्ध की इच्छावाले, समुपस्थितम् = खड़े हुए, स्वजनम् = अपने ही स्वजनों को, दृष्ट्वा = देखकर ।

कहने लगे इस भांति तब होकर कृपायुत खिन्न से ।
हे कृष्ण ! रण में देख कर एकत्र मित्र अभिन्न से ॥

अर्थ—अत्यन्त करुणा से भरा हुआ दुःखी होकर यह बोला—'हे कृष्ण ! इन युद्ध की इच्छावाले खड़े हुए अपने ही स्वजनों को देखकर—

व्याख्या—अर्जुन ने दर्प के साथ श्रीकृष्ण को दोनों सेनाओं के बीच में रथ खड़ा करने का आदेश दिया था। श्रीकृष्ण ने परिस्थिति की गम्भीरता को समझते हुए अर्जुन को निमित्त बनाया और उसके सामने एक भीषण दृश्य उपस्थित कर दिया।

मनुष्य किस प्रकार संकटों में घिरता है, मोह और अज्ञान उसे घसीट कर कहाँ ले जाते हैं और फिर परमेश्वर अपनी सहायता देकर उसे विषाद से किस प्रकार निकालते हैं ? गीता में इन सब सांसारिक घटनाओं और संघर्षों के दृष्टान्त हैं ।

गीता मनुष्य के आन्तरिक जीवन की एक झाँकी दिखा देती है, साफ-साफ शब्दों में बड़ी सरलता के साथ गीता में उन सब नैतिक और सांसारिक कठिनाइयों को दिखाया है जो मनुष्य के सामने आती हैं । गीता में उन कठिनाइयों का निश्चित सुलझाव भी है ।

गृह-कलह और भयंकर संहार के परिणाम की कल्पना ने अर्जुन के मन को विचलित कर दिया । वह जानता था कि युद्ध में उसकी विजय होगी, अधर्म और अन्याय का वह अवश्य ही अन्त कर देगा । कौरव जीवित नहीं रह सकते और उनके साथी चाहे कोई हों, उन्हें भी मौत के मुँह में जाना पड़ेगा । परन्तु मित्रों, प्रियजनों और परिजनों को सामने देखकर उसका दावा खण्डित होगया, उसकी वीरता, उलझन में पड़ गई ।

यद्यपि अर्जुन इन बातों को पहिले से जानता था, परन्तु उसने इस दृश्य को कभी देखा नहीं था । वह न्याय और धर्म की रक्षा के लिये युद्ध-भूमि में आया था । उस पर जो अत्याचार हुए थे, उनकी पीड़ा उसके हृदय को साल रही थी । वह अपना अधिकार चाहता था, परन्तु युद्ध में अपनों को ही देखकर उसके हृदय में विद्रोह हो उठा, उसके भावों को एक धक्का लगा, प्राण काँप गये, वह वेदना से सिहर उठा और व्याकुल होकर बोला—

२९
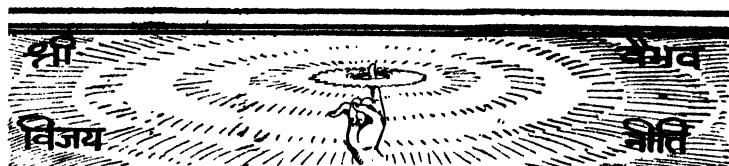
सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥

सीदन्ति, मम, गात्राणि, मुखम्, च, परिशुष्यति,
वेपथुः, च, शरीरे, मे, रोमहर्षः, च, जायते ।

मम=मेरे, गात्राणि=अङ्ग, सीदन्ति=शिथिल हुए जाते हैं,
च=और, मुखम्=मुख, परिशुष्यति=सूखा जाता है,
च = तथा, मे = मेरे, शरीरे = शरीर में, वेपथुः=कम्प,
च = और, रोमहर्षः = रोमाञ्च, जायते = हो रहा है ।

होते शिथिल हैं अङ्ग सारे सूख मेरा मुख रहा ।
तन कांपता थर-थर तथा रोमाञ्च होता है महा ॥

अर्थ—मेरे अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं और मुख सूखा जाता है तथा मेरे शरीर में कम्प और रोमांच हो रहा है ।

व्याख्या—महादेव शंकर से भी जिसका बल नहीं हारा, महाबली असुरों को जिसने समूल नष्ट कर दिया, उसे मोह-ममता ने हिला डाला, उसके हाथ-पैर फूलने लगे, धीरज टूट गया और सारा शरीर ऐसे काँपने लगा, जैसे आंधी में बैंत का बिरवा । उसने कहा—

३०
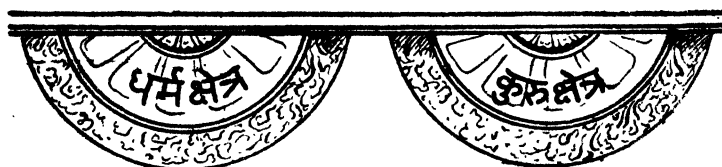
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥

गाण्डीवम्, स्रंसते, हस्तात्, त्वक्, च, एव, परिदह्यते, न, च, शक्नोमि, अवस्थातुम्, भ्रमति, इव, च, मे, मनः।

हस्तात्=हाथ से, गाण्डीवम्=गाण्डीव, स्रंसते=गिरता है, च=और, त्वक्=त्वचा, एव=भी, परिदह्यते=जल रही है, च=तथा, मे=मेरा, मनः=मन, भ्रमति-इव=घूम-सा रहा है, च=और, न=नहीं, शक्नोमि=मैं खड़ा भी रह सकता।

गाण्डीव गिरता हाथ से जलता समस्त शरीर है।
मैं रह नहीं पाता खड़ा मन भ्रमित और अधीर है॥

अर्थ—हाथ से गाण्डीव गिरता है और त्वचा भी जल रही है, तथा मेरा मन घूम-सा रहा है और मैं खड़ा भी नहीं रह सकता।

व्याख्या—अहंकार, जब मोह में बदल जाता है, तो बल को कुचल कर फैंक देता है। इसीलिये अनुभवी महापुरुषों ने सत्य की खोज करके सदा विनम्र रह कर कर्तव्य-पालन करने का आदेश दिया है। गुरु नानक ने कितनी बड़ी बात कही है—
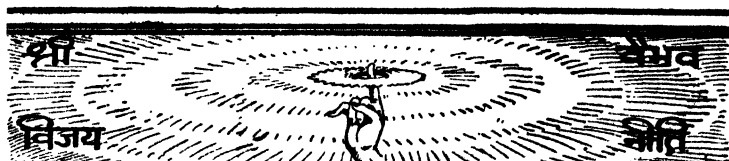
'नानक नन्हें हो रहो जैसे नन्हा दूब।
बड़ी घास जल जायगी दूब खूब की खूब ॥'

ऊपर सिर उठाकर चलनेवाला ठोकर खाता है। बिना झुके पानी भी नहीं मिलता। नीति की वाणी है—

'ऊंचे पानी ना टिके नीचे ही ठहराय।
नीचा हो सो भर पिये ऊँचा प्यासा जाय ॥'

अर्जुन पर जो आन्तरिक संकट आया, उसका कारण भय नहीं था। वह किसी भूल से भी युद्ध में नहीं आया था। वास्तव में अहंकार और कामना ने उसकी धर्म-बुद्धि में विद्रोह कर दिया और उसके मन में ऐसी आँधी उठायी कि उसे सहारा लेकर खड़ा रहने का कोई आधार नहीं दीख पड़ा। एक क्षण में ही कुछ का कुछ होगया। उसका कभी न चूकनेवाला गाण्डीव हाथ से छूटने लगा।

देवताओं ने संकटों को काटने के लिये अर्जुन को गांडीव दिया था। गांडीव की विचित्र कहानी है—वह हजारों वर्ष ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, चन्द्र और वरुण के हाथों में खेला, सोने से मढ़े हुए उस दिव्य और अनुपम गाण्डीव धनुष की समता लाखों आयुध भी नहीं कर सकते थे। ऐसे गाण्डीवधारी को भी मोह ने पकड़ कर झकझोर दिया।

अर्जुन जानता था कि गाण्डीव उसका गौरव है, परन्तु वह ऐसी परिस्थिति में फँसगया कि अपने गौरव की रक्षा करने में असमर्थ रह गया, उसका शरीर जलने लगा और मन चकरा गया। अधीर होकर उसने कहा—
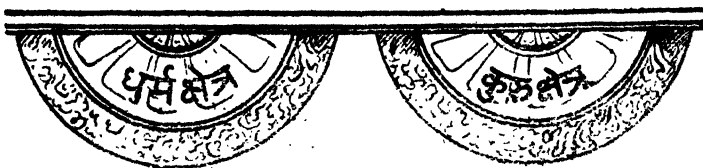
३१

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥

निमित्तानि, च, पश्यामि, विपरीतानि, केशव,
न, च, श्रेयः, अनुपश्यामि, हत्वा, स्वजनम्, आहवे।

केशव=हे केशव, (मैं) निमित्तानि=लक्षणों को, च=भी, विपरीतानि=विपरीत, पश्यामि=देखता हूँ, आहवे=युद्ध में, स्वजनम्=स्वजनों को, हत्वा=मारकर, श्रेयः=कल्याण, च=भी, न=नहीं, अनुपश्यामि=देखता।

केशव! सभी विपरीत लक्षण दिख रहे, मन म्लान है।
रण में स्वजन सब मारकर दिखता नहीं कल्याण है॥

अर्थ—हे केशव! मैं लक्षणों को भी विपरीत देखता हूँ—युद्ध में स्वजनों को मारकर कल्याण भी नहीं देखता।

व्याख्या—धीर, संयमी और विचारवान् पुरुष कभी मन में ग्लानि नहीं होने देते। मन का पतन मनुष्य को भयभीत कर देता है, बुरे विचार उठने लगते हैं और शंकायें घेर लेती हैं।
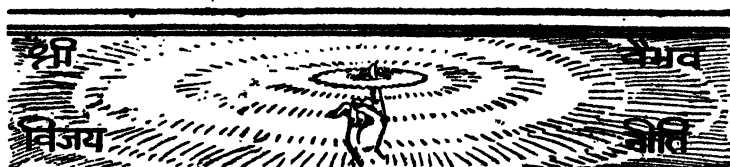
धीर-वीर और शत्रुओं को ताप देनेवाला अर्जुन, मोह के कारण विपरीत विचार करने लगा—क्या होगा ? कैसे होगा ? बड़ा कठिन कार्य है ? जन-समाज क्या कहेगा ? अच्छा होगा या बुरा ? इस आपत्ति को सिर पर क्यों लिया जाय ? आदि-आदि विचार मनुष्य के हृदय को हिला देते हैं। शंकाशील मनुष्य पूरी शक्ति से कार्य नहीं कर पाता। उसे वर्तमान की अपेक्षा भविष्य की चिन्ता लगी रहती है, भाग्य, समय, शकुन आदि के विचारों में पड़कर वह भ्रांत-सा हो जाता है।

मोह से आत्मिक शक्ति क्षीण हो जाती है, इच्छा-शक्ति अथवा आत्म-बल की शिथिलता से कर्तव्य का निर्णय नहीं हो पाता और प्रायः सभी लक्षण विपरीत-से दिखने लगते हैं। मन के बिगड़ने से जगत् बिगड़ जाता है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'

मन ही मुक्ति देता है और मन ही बन्धन में डालता है।

अर्जुन के मन पर युद्ध के दृश्य का इतना गहरा प्रभाव पड़ा था कि उसे सभी कुछ उल्टा दीखने लगा। मनुष्य के विषाद का सबसे बड़ा कारण मन की निर्बलता और शिथिलता है। जिसका मन बलवान् है, बुद्धि दृढ़ है और संकल्प सत्य हैं, वह किसी भी परिस्थिति कठिनाई अथवा आपत्ति के सामने झुकना नहीं जानता। कर्म की भयंकरता अथवा कठिनाई, स्वजनों के मोह, करुणा अथवा भविष्य की चिन्ता से भले पुरुष भी 'किं कर्तव्य विमूढ़' हो जाते हैं।

युद्ध की कठोरता देखकर अर्जुन को कुल के नाश का ध्यान आया—उसे युद्ध में अपना कल्याण नहीं दिखा। उसने कहा—

३२
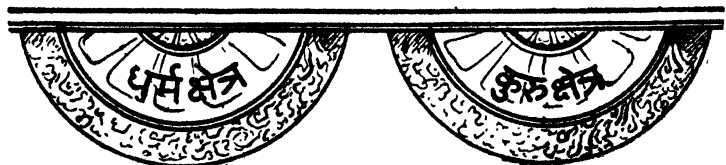
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥

न, काङ्क्षे, विजयम्, कृष्ण, न, च, राज्यम्, सुखानि, च, किम्, नः, राज्येन, गोविन्द, किम्, भोगैः, जीवितेन, वा ।

कृष्ण=हे कृष्ण, (मैं) विजयम्=विजय, न=नहीं, काङ्क्षे=चाहता, च=और, राज्यम्=राज्य, च=तथा, सुखानि=सुखों को, (भी) न=नहीं चाहता, गोविन्द=हे गोविन्द, नः=हमें, राज्येन=राज्य से, किम्=क्या, भोगैः=भोगों से, वा=और, जीवितेन=जीवन से भी, किम्=क्या प्रयोजन है ?

इच्छा नहीं जय राज्य की है व्यर्थ ही सुख भोग है ।
गोविन्द ! जीवन राज्य सुख का क्या हमें उपयोग है ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! मैं विजय नहीं चाहता और राज्य तथा सुखों को भी नहीं चाहता, हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या, भोगों से और जीवन से भी क्या प्रयोजन है ?
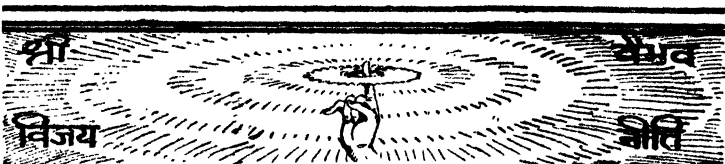
व्याख्या—सुख, राज्य और विजय से संसार, सुखमय बनता है, इनको त्याग देने से वैराग्य नहीं होता; इनसे उत्पन्न विकारों के त्याग को वैराग्य कहते हैं।

अर्जुन अधिकार प्राप्त करने की इच्छा से युद्ध करने आया था। विजय और सुख उसके जीवन का ध्येय था, परन्तु मोह ने उसमें कुल-नाश का भय उत्पन्न कर दिया। मोह भय अथवा मन की दीनता से उत्पन्न वैराग्य सदा दुःखदायी होता है।

कर्तव्य-कर्म द्वारा अधिकारों को प्राप्त करना और प्राप्त करके उनका सदुपयोग करना, मनुष्य के जीवन का ध्येय है। अधिकार-प्राप्ति के लिये संघर्ष अथवा युद्ध को 'परमपुरुषार्थ' कहते हैं।

अर्जुन का पुरुषार्थ शिथिल होगया था, वह राज्य लेने की लालसा छोड़ चुका था, क्षत्रियों का जीवन, जिस विजय में धन्य होता है, उस स्वधर्मपालन से भी अर्जुन ने मुँह मोड़ लिया था।

त्याग और ग्रहण, वैराग्य और भोग, संन्यास और गृहस्थ-जीवन, सब में सफलता और सुख देनेवाला, स्वधर्म का आचरण है। स्वधर्म से अलग होते ही धर्म में मिथ्याचार आ जाता है। जीव, अर्जुन की भांति प्रायः धर्म के पाखण्ड में पड़े रहते हैं। वैराग्य का बनावटी रूप उन्हें कहीं का नहीं रहने देता। 'मुझे कुछ नहीं चाहिये' ऐसा कहना, केवल मिथ्यावाद है। अर्जुन इसी मोह और मिथ्यावाद में पड़कर अपने जन्मसिद्ध अधिकारों को छोड़ने के लिये तैयार होगया। उसने अपनी विरक्ति का कारण भी बताया—
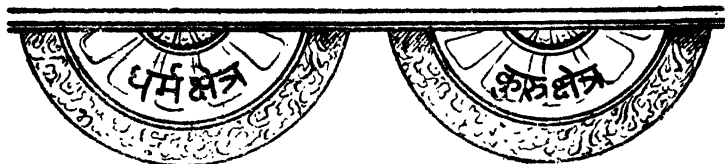
३३

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥

येषाम्, अर्थे, काङ्क्षितम्, नः, राज्यम्, भोगाः, सुखानि, च,
ते, इमे, अवस्थिताः, युद्धे, प्राणान्, त्यक्त्वा, धनानि, च ।

येषाम = जिनके, अर्थे = लिये, नः = हमें, सुखानि = सुख, भोगाः = भोग, च = और, राज्यम् = राज्य, काङ्क्षितम् = चाहिये, ते = वे (ही), इमे = ये (सब), धनानि = धन, च = और, प्राणान् = जीवन की आशा, त्यक्त्वा = छोड़कर, युद्धे = युद्ध में, अवस्थिताः = खड़े हैं ।

जिनके लिये सुख भोग सम्पति राज्य की इच्छा रही ।
लड़ने खड़े हैं आश तज धन और जीवन की वही ॥

अर्थ—जिनके लिये हमें सुख भोग और राज्य चाहिये, वे ही ये सब धन और जीवन की आशा छोड़कर युद्ध में खड़े हैं ।
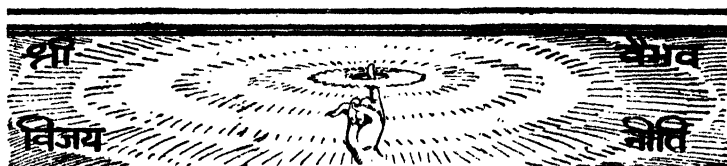
व्याख्या—स्वयं सुखी रहकर मनुष्य अपने निकट सम्बन्धियों और मित्रों को भी सुखी देखना चाहता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। पिता, पितामह आचार्य बन्धु-बान्धव सबकी उपस्थिति और प्रसन्नता में ही सुख भोग सार्थक होता है, परन्तु ममता में न्याय नहीं होता; संकुचित-लाभ के पीछे दौड़ने से महत्तर लाभ छूट जाता है।

माया और ममता ने अर्जुन के पैर तोड़ दिये, उसका हृदय संकुचित दया से द्रवीभूत होगया। उसने कहा कि जिन अपने प्रियजनों और परिजनों के लिये जीवन और सुख की कामना की जाती है, वे सब तो मर जाने के लिये खड़े हैं। इन्हें मारकर राज्य और सुख क्या काम आयेगा?

मनुष्य, अपनी दुर्बलता और ममता-मोह के विद्रोह का समर्थन करने के लिये जिस नीति और बुद्धि का सहारा लेता है, उसमें धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करने की शक्ति नहीं होती। ऐसी दशा में मनुष्य अपने ही मन और बुद्धि को बड़ा मानकर अपनी रुचि के अनुसार कर्म करता है और उसी को धर्म मान लेता है। संसार में अनेकों संकट मनुष्य के इसी संमूढ़-स्वभाव के कारण आते हैं।

अर्जुन अपनी समझ से महती दया और धर्म का कार्य कर रहा था, उसने बार-बार अपने सम्बन्धियों की दुहाई देकर कहा—

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र
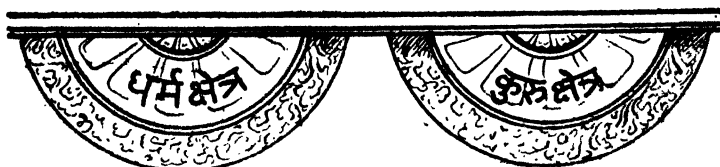
३४

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥

आचार्याः, पितरः, पुत्राः, तथा, एव, च, पितामहाः,
मातुलाः, श्वशुराः, पौत्राः, श्यालाः, सम्बन्धिनः, तथा ।

आचार्याः=गुरुजन, पितरः=ताऊ-चाचा, पुत्राः=पुत्र, च=और, तथा=इसी प्रकार, एव=ही, पितामहाः=दादा, मातुलाः=मामा, श्वशुराः=श्वसुर, पौत्राः=पोते, श्यालाः=साले, तथा=तथा, सम्बन्धिनः=सम्बन्धी हैं ।

आचार्य-गण मामा पितामह सुत सभी बूढ़े बड़े ।
साले ससुर स्नेही सकल प्रिय पौत्र सम्बन्धी खड़े ॥

अर्थ—गुरुजन, ताऊ-चाचा, पुत्र और इसी प्रकार ही दादा, मामा, श्वसुर, पोते, साले तथा सम्बन्धी हैं ।

३५
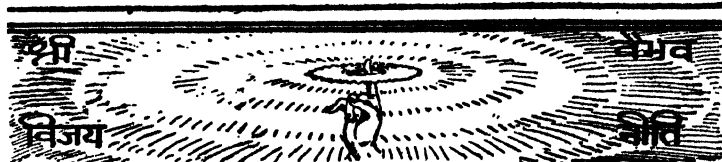
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥

एतान्, न, हन्तुम्, इच्छामि, घ्नतः, अपि, मधुसूदन,
अपि, त्रैलोक्यराज्यस्य, हेतोः, किम्, नु, महीकृते ।

मधुसूदन=हे मधुसूदन, घ्नतः=मारने पर, अपि=भी, एतान्=इनको, महीकृते=पृथ्वी के लिये, किम्-नु=तो क्या, त्रैलोक्यराज्यस्य=तीनों लोकों के राज्य के, हेतोः=लिये, अपि=भी, (मैं) न=नहीं, हन्तुम्=मारना, इच्छामि=चाहता ।

क्या भूमि मधुसूदन ! मिलें त्रैलोक्य का यदि राज्य भी ।
वे मारलें पर शस्त्र मैं उन पर न छोड़ूंगा कभी ॥

अर्थ—हे मधुसूदन ! मारने पर भी इनको पृथ्वी के लिये तो क्या, तीनों लोकों के राज्य के लिये भी मैं नहीं मारना चाहता ।

व्याख्या—श्रीकृष्ण ने अर्जुन का रथ युद्ध-भूमि के बीच में ऐसे स्थान पर खड़ा किया था, जहाँ से वह द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह और अपने प्रियजनों को भली प्रकार देख सकता था ।
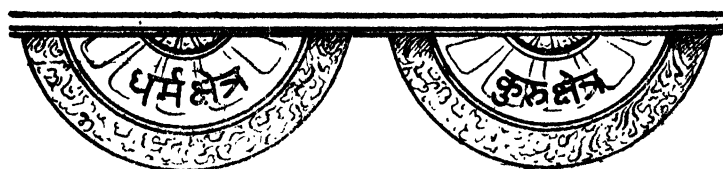
यह शरीर ही रथ है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं, आत्मा परमात्मारूप श्रीकृष्ण हैं, जीव अर्जुन है। पाप और पुण्य अथवा दैवी और आसुरी भावों के बीच में जीवन का रथ आता है और जीव की भावना के अनुसार धर्म अथवा अधर्म की ओर जाता है।

जीव मोह-वश बारम्बार माया-ममता के कारण ऐसे पथ पर जाना चाहता है, जिस पर उसके मन के विरुद्ध कार्य न हो, ब्रह्म उसे सावधान करके अपनी ओर लाता है। इस संघर्ष में जो जिस ओर खिंच जाता है, उसे वही मिलता है।

अर्जुन इसी जीवन-संघर्ष में था। कर्तव्य-ब्रह्म से विमुख होकर उसने मोह-मार्ग पर श्रेय समझा था। अर्जुन के समान मोह-मार्ग में भूला हुआ दुःखी जीव, यहाँ तक कह देता है कि मरना स्वीकार है, पर अपने मन के विरुद्ध कार्य नहीं करूंगा, चाहे तीनों लोकों का राज्य मिल जाय। अपने ही नहीं रहेंगे तो त्रैलोक्य का राज्य भी किस काम का?

कौरवों जैसे अपनों के लिये यह संकुचित और पक्षपातपूर्ण भावना मनुष्य को अर्जुन की भांति विषाद में फंसा देती है।

अर्जुन यह जानता था कि मैं कौरवों का वध नहीं करूंगा, तो भी वे मुझे जीवित नहीं रहने देंगे। अपने अस्तित्व को मिटा देने-वाली करुणा ने अर्जुन के बल, विक्रम और बुद्धि को ढक लिया। वह अपनी घात होती देखने के लिये तैयार था, परन्तु स्वधर्म से पीछे हटने के लिये बौद्धिक तर्क और युक्तियों से बराबर अपनी बात का समर्थन कर रहा था। उसने अपनी बुद्धि के बल से कहा—

३६
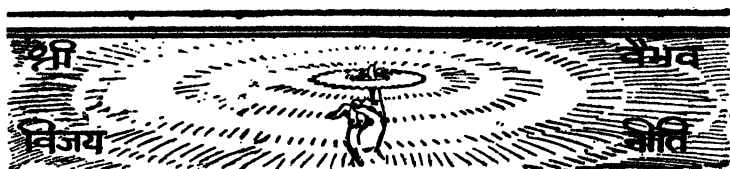
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः॥

निहत्य, धार्तराष्ट्रान्, नः, का, प्रीतिः, स्यात्, जनार्दन, पापम्, एव, आश्रयेत्, अस्मान्, हत्वा, एतान्, आततायिनः।

जनार्दन=हे जनार्दन, धार्तराष्ट्रान्=धृतराष्ट्र के पुत्रों को, निहत्य=मारकर, नः=हमें, का=क्या, प्रीतिः=प्रसन्नता, स्यात्=होगी, एतान्=इन, आततायिनः=आततायियों को, हत्वा=मारकर तो, अस्मान्=हमें, पापम्=पाप, एव=ही, आश्रयेत्=लगेगा।

इनको जनार्दन मार कर होगा हमें सन्ताप ही।
हैं आततायी मारने से पर लगेगा पाप ही॥

अर्थ—हे जनार्दन! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा।

व्याख्या—जगत् में प्रत्येक प्राणी सुख के लिये कर्म करता है। जो जिस भाव में रहता है वैसा ही सुख चाहता है। ज्ञानी जन ऐसा सात्विक-सुख चाहते हैं, जो दूसरों को दुःख देकर न मिला हो और जिससे आत्म-शान्ति तथा परमानन्द प्राप्त हो।
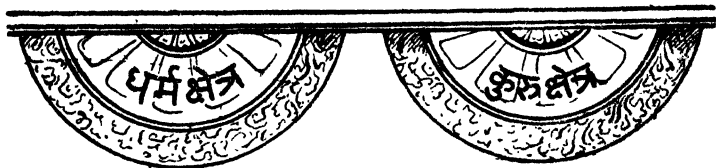
अर्जुन कौरवों का वध करने में ऐसा आत्मिक सुख नहीं देखता था। यद्यपि वह जानता था कि कौरव आततायी हैं, तो भी स्वजन होने के कारण वह उनका वध करने के लिये तैयार नहीं था।

देश पर आपत्ति लानेवाले जनों को 'आततायी' कहते हैं। स्मृतिकारों ने लिखा है—

'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते आततायिनः॥'

आग लगानेवाला, विष देनेवाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने को उद्यत, धन का हरण करनेवाला, ज़मीन छीननेवाला और स्त्री का अपहरण करनेवाला ये छहों ही आततायी हैं।

आततायी समाज में छल-कपट, दम्भ, व्यभिचार और स्वार्थ फैलाते हैं, उनके कारण व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व पर नित्य नये-नये संकट आते हैं।

गुरु, बालक, वृद्ध, विद्वान्, ब्राह्मण कोई भी हो, आततायी के कर्म करनेवाला समाज और परमेश्वर की दृष्टि में पापी माना जाता है। आततायी देश के कलंक होते हैं। राष्ट्र को दुराचार अराजकता और व्यभिचार से बचाने के लिये निष्पक्ष होकर आततायियों का दमन करना उचित है। आततायियों के कर्मों को देखा अनदेखा कर देने से असत्य और दुराचारों की वृद्धि होती है।

अर्जुन का कहना था कि कौरव आततायी तो हैं, परन्तु अपने ही मित्र, बन्धु और परिजन हैं—

३७
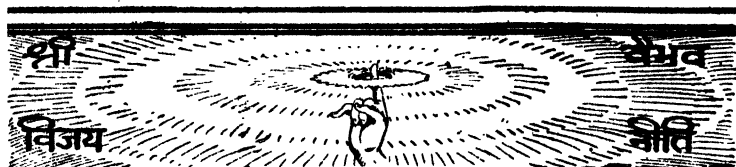
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥

तस्मात्, न, अर्हाः, वयम्, हन्तुम्, धार्तराष्ट्रान्, स्वबान्धवान्, स्वजनम्, हि, कथम्, हत्वा, सुखिनः, स्याम, माधव ।

तस्मात्=इसलिये, माधव=हे माधव, स्वबान्धवान्=अपने बान्धव, धार्तराष्ट्रान्=धृतराष्ट्र के पुत्रों को, हन्तुम्=मारना, वयम्=हमें, अर्हाः=उचित, न=नहीं है, हि=क्योंकि, स्वजनम्=अपनों ही को, हत्वा=मारकर, (हम) कथम्=कैसे, सुखिनः=सुखी, स्याम=होंगे ।

माधव ! उचित वध है न इनका बन्धु हैं अपने सभी ।
निज बन्धुओं को मारकर क्या हम सुखी होंगे कभी ॥

अर्थ—इसलिये हे माधव ! अपने बान्धव धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारना हमें उचित नहीं है, क्योंकि अपनों ही को मार कर हम कैसे सुखी होंगे ?
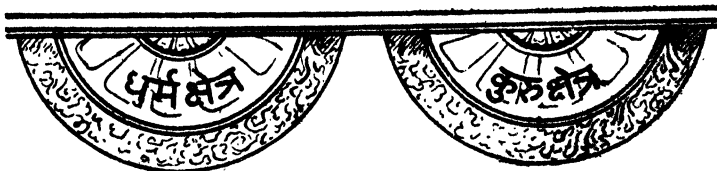
व्याख्या—व्यक्तिगत सुख चाहनेवाला संसार को सुखी नहीं बना सकता, उसे लोक-हित के कर्म भयङ्कर और कठोर लगते हैं। अपनों में ही आसक्त रहनेवाला और दुर्गुणों तथा अयोग्यता को सहन करनेवाला, न्याय सेवा और परमार्थ के कार्य करने के योग्य नहीं रहता। सबके साथ उदार और सम-दृष्टि से अपने परिवार के सगे-सम्बन्धी और मित्रों जैसा व्यवहार करना मानवधर्म है।

मनुष्य जैसे-जैसे महान् होता जाता है, ज्ञान, बुद्धि, बल, सत्ता, और प्रतिष्ठा पाने के साथ-साथ उसका उत्तरदायित्व भी बढ़ता है। जीवन का विकास होने पर पक्षपात की संकुचित सीमायें टूट जाती हैं।

सत्यव्रती हरिश्चन्द्र ने मरघट की रखवाली करने का कठोर कर्म किया। कर्तव्य-पालन के लिये अपने ही मृतक पुत्र और घोर विलाप करती हुई स्त्री को देख कर भी वे मोहित नहीं हुए। कर्तव्य-पालन के ईश्वरीय मार्ग में जो नियम अपने और अपनों के लिये होते हैं, वे ही सबके लिये होने चाहियें। पक्षपात और संकोच में सुख और शान्ति की व्यवस्था खंडित हो जाती है।

अर्जुन बन्धुओं के मोह से अधीर होकर धर्म के नियमों को तोड़ने के लिये तैयार होगया था।

मोह मनुष्य की आखें बदल देता है। मोहित जन को अधर्म में धर्म और धर्म में अधर्म दीखने लगता है। मोह के कारण अपने आततायी बन्धुओं की मनमानी को सहन करने में ही अर्जुन धर्म मान रहा था। अपने लोभ-रहित धर्मभाव को दिखाते हुए उसने कहा—
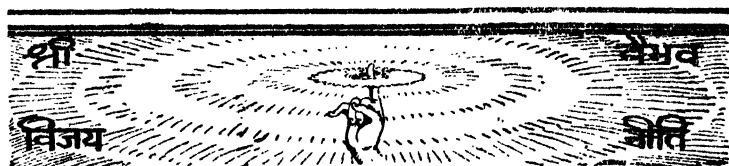
३८

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥

यद्यपि, एते, न, पश्यन्ति, लोभोपहतचेतसः,
कुलक्षयकृतम्, दोषम्, मित्रद्रोहे, च, पातकम् ।

यद्यपि=यद्यपि, लोभोपहतचेतसः=लोभ से भ्रष्ट चित्तवाले, एते=ये लोग, कुलक्षयकृतम्=कुल के नाश से उत्पन्न, दोषम्=दोषों को, च=और, मित्रद्रोहे=मित्रों से द्रोह करने में, पातकम्=पापको, न=नहीं, पश्यन्ति=देखते हैं ।

मतिमन्द उनकी लोभ से दिखता न उनको आप है ।
कुल-नाश से क्या दोष, प्रियजन-द्रोह से क्या पाप है ॥

अर्थ—यद्यपि लोभ से भ्रष्ट चित्तवाले ये लोग कुल के नाश से उत्पन्न दोषों को और मित्रों से द्रोह करने में पाप को नहीं देखते हैं ।

३८
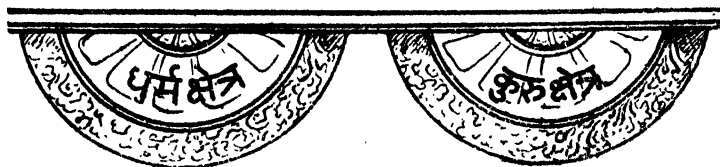
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥

कथम्, न, ज्ञेयम्, अस्माभिः, पापात्, अस्मात्, निवर्तितुम्, कुलक्षयकृतम्, दोषम्, प्रपश्यद्भिः, जनार्दन ।

जनार्दन=हे जनार्दन, कुलक्षयकृतम्=कुल के नाश से उत्पन्न, दोषम्=दोषों को, प्रपश्यद्भिः=देखनेवाले, अस्माभिः=हम लोग, अस्मात्=इस, पापात्=पाप से, निवर्तितुम्=बचने के लिये, ज्ञेयम्=विचार, कथम्=क्यों, न=न करें ।

कुल-नाश-दोषों का जनार्दन ! जब हमें सब ज्ञान है ।
फिर क्यों न ऐसे पाप से बचना भला भगवान् है ॥

हे जनार्दन ! कुल के नाश से उत्पन्न दोषों को देखनेवाले हम लोग इस पाप से बचने के लिये विचार क्यों न करें ?

व्याख्या—कुल-धर्म और राष्ट्र-धर्म की रक्षा के लिये अर्जुन महाभारत के युद्ध में आया था, परन्तु उसे जान पड़ा कि युद्ध करने
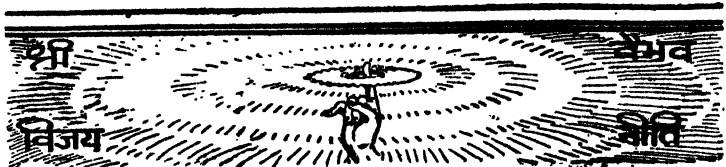
से तो सारा कुल ही नष्ट हो जायगा, फिर कुल-धर्म कहाँ रहेगा ?

अर्जुन जानता था कि अपराध कौरवों का है, अन्याय उनकी ओर से हुआ है, धर्म के नियम उन्होंने तोड़े हैं और युद्ध की चुनौती भी कौरवों ने ही दी है, तो भी वह अधर्म का उत्तर धर्म से देना चाहता था।

मोह अज्ञान अथवा भ्रम से बनी हुई धर्मबुद्धि, धर्म के सत्य और तेज को उसी प्रकार ढक लेती है, जैसे अग्नि को राख अथवा धुआँ।

अर्जुन ने कहा कि लोभ से अन्धे होकर कौरव, युद्ध से होने-वाले दोषों को नहीं देखते। उन भ्रष्ट चित्तवाले कौरवों के साथ हम भी अन्धे होकर युद्ध करें, यह कौन-सा धर्म है ? कौरवों को अपने पाप का ध्यान नहीं है तो हम अपने पुण्य को क्यों छोड़ें ?

अर्जुन की भांति मोह में भूले हुए मनुष्य, स्वार्थी और दुर्बुद्धि देश-द्रोहियों की आँखें खोलने के लिये तैयार नहीं होते—वास्तव में यही अधर्म है। धर्म के रास्ते पर चलनेवाला कुल के हित के लिये व्यक्तिगत स्वार्थ का बलिदान कर देता है, ग्राम अथवा नगर की भलाई के लिये एक कुल के हित को न्योछावर कर देता है और राष्ट्र के लिये नगर अथवा प्रान्त का मोह छोड़ देता है।

अर्जुन, धर्म-नीति से विरुद्ध अपने ही मन की बात मानकर अपने कुल की रक्षा के लिये सारे देश में अन्याय स्वार्थ-परायणता और बढ़ते हुए व्यभिचार की ओर से आँखें बन्द कर लेना चाहता था—माया ममता इसी का नाम है। अर्जुन ने यहाँ तक कहा—
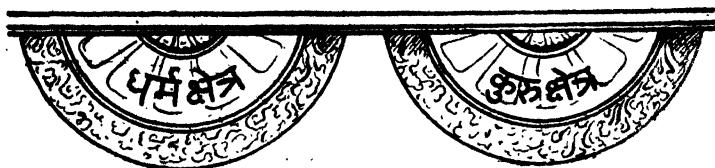
४०

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥

कुलक्षये, प्रणश्यन्ति, कुलधर्माः, सनातनाः,
धर्मे, नष्टे, कुलम्, कृत्स्नम्, अधर्मः, अभिभवति, उत।

कुलक्षये=कुल का नाश होने से, सनातनाः=सनातन, कुलधर्माः=कुलधर्म, प्रणश्यन्ति=नष्ट हो जाते हैं, उत=और, धर्मे=धर्म का, नष्टे=नाश हो जाने पर, कृत्स्नम्=सारे, कुलम्=कुल को, अधर्मः=पाप, अभिभवति=दबा लेता है।

कुल नष्ट होते भ्रष्ट होता कुल सनातनधर्म है।
जब धर्म मिटता आ दबाता पाप और अधर्म है ॥

अर्थ—कुल का नाश होने से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं और धर्म का नाश हो जाने पर सारे कुल को पाप दबा लेता है।

व्याख्या—अर्जुन सब प्रकार से योग्य, वीर और विद्वान था। श्रीकृष्ण ने उसे देखभाल कर अपना सखा चुना था। अर्जुन ने अपने हृदय की दो बातें कहीं—
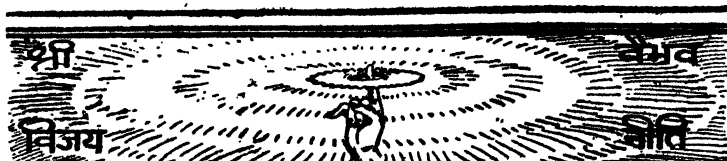
१—कुल के नष्ट होने से कुल का सनातनधर्म नष्ट हो जाता है।

२—धर्म के नष्ट होने से पाप दबा लेता है।

अर्जुन का यह कथन युक्तिपूर्ण और सत्य जान पड़ता है। कुल में कोई न रहेगा तो उसकी परम्परागत संस्कृति, आचार-विचार, प्रतिष्ठा आदि की रक्षा कौन करेगा? युद्ध में विनाश निश्चित था, क्योंकि जन-हानि के बिना कोई पक्ष विजयी नहीं होता। जब कुल की रक्षा करनेवाले ही नहीं रहेंगे, तो धर्म कहाँ रहेगा?

भूमि, जन और संस्कृति तीनों के महायोग से धर्म की रक्षा होती है। एक भूखण्ड पर रहनेवाले एक-से विचारों के नर-नारी, अपनी उन्नति के लिये नित्य नये-नये प्रयत्न करते हैं, उन्हीं प्रयत्नों से सत्य के सिद्धान्तों पर सभ्यता और संस्कृति का निर्माण होता है।

किसी भी देश की संस्कृति उसके सत्य के प्रयोगों की अनुभूति होती है। संस्कृति राष्ट्रीय विकास की वाणी है, सर्वोदय की आधार-शिला है, शिव-सिद्धान्तों की जाग्रत चेतना है। धर्म, कर्म, ज्ञान, कला-कौशल, नीति और प्रतिभा के विकास से संस्कृति बनती है। संस्कृति के पीछे युग-युग की साधना तपस्या और अनुभूतियों का प्रकाश रहता है।

संस्कृति शरीर है और धर्म उसका प्राण। धर्म-हीन संस्कृति का कोई मूल्य नहीं।

धर्म उसे कहते हैं, जो सबको धारण करता है। धर्म वह कला,
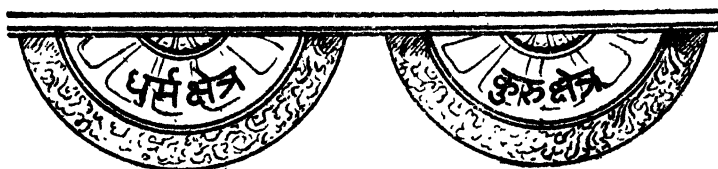
नियम, विधि और कर्म है जो जीवन को अभ्युदय और श्रेय के मार्ग पर चलाता है।*

धर्म के नष्ट होने से दुराचार, अन्याय, असत्य, स्वार्थभाव और दम्भ फैल जाते हैं। अधर्म जिसे दबा लेता है, उसके जीवन का विकास दब जाता है, वह अंधेरे में पड़ा रहता है, उसके लिये उन्नति, सुख, शान्ति और स्वास्थ्य नहीं रहता।

प्राकृतिक और नैतिक नियमों में बंधा हुआ होने के कारण विश्व ठहरा हुआ है। इन नियमों का टूटना ही अधर्म है। धर्म-हीन राष्ट्र, प्रदेश, नगर, परिवार और व्यक्ति उन्नति करने योग्य नहीं रहते।

अर्जुन का कथन इतने अंशों में अकाट्य है, परन्तु वह अपने इस सिद्धान्त को निभाने में असमर्थ था। धर्म का नाश होने से कुल का ही नहीं—सम्पूर्ण राष्ट्र का विनाश हो जाता है। कौरवों ने धर्म पर भीषण प्रहार किया था। धर्म की जड़ पर कुठाराघात होते देखकर ही महाभारत का युद्ध निश्चित हुआ था। जब-जब धर्म का लोप होता है, तब-तब भीषण नर-संहार होते हैं। हिंसा, अकाल, नये-नये रोग, दरिद्रता, भूकम्प, दैवी और प्राकृतिक कोप और अनेकों प्रकार की आपत्तियाँ वहीं आती हैं, जहाँ धर्म के नियम तोड़ दिये जाते हैं। प्रकृति और परमेश्वर जिन नियमों से अपना कार्य करते हैं, उनके टूटते ही संहार-चक्र चल उठता है। महाभारत उसी संहार का एक भीषण दृश्य था।

*मानवधर्म कार्यालय से प्रकाशित 'गीता के सप्त स्वर' में धर्म की व्याख्या पढ़िये।
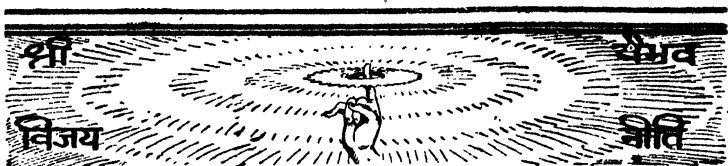
कौरवों ने अपने जीवन-काल में ही कुल के सनातन धर्म को नष्ट कर दिया था।

सनातन-धर्म वह है जो सदा एक रस रहता है, जिससे नित्य नवचेतना, उमङ्ग, उत्साह और नवजीवन मिलता है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दया, अक्रोध, नम्रता आदि धर्म और दैवी सम्पत्ति के नियम, जिस प्रकार नित्य नूतन रहते हैं उसी प्रकार 'सनातन-धर्म' का रूप है।

कुल के सनातन धर्म को शास्त्रों ने इस प्रकार समझाया है—

आचारो विनयो विद्या प्रतिष्ठा तीर्थदर्शनम्।
निष्ठा वृत्तिस्तपो दानं नवधा कुललक्षणम्॥

आचार, विद्या, विनय, प्रतिष्ठा, तीर्थ-दर्शन, निष्ठा, वृत्ति, तप और दान नौ कुल के लक्षण हैं। इन्हीं को कुल का सनातन-धर्म कहा जाता है।

१. आचार—

'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'—

आचार-हीन मनुष्य को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। केवल आहार-विहार और व्यवहार के नियमों को आचार नहीं कहते। आचार-विचार का अभिप्राय व्यापक और उदार है—जिससे सदाचार की प्रतिष्ठा होती है, सद्गुणों का विकास होता है, दैवी सम्पत्ति की वृद्धि होती है, सेवा और परमार्थ के कर्म होते हैं, संयम बना रहता है, नियम टूटता नहीं, स्वधर्म का आचरण होता है, कर्तव्य-पालन में रुचि रहती है और धर्म के विरुद्ध कार्य नहीं होता—उसे 'आचार' कहते हैं।
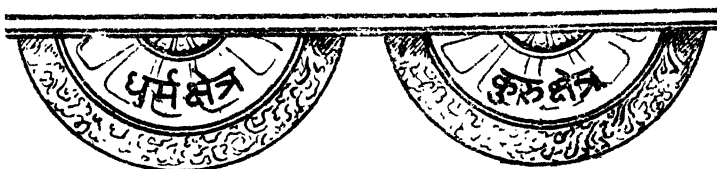
आचार अथवा सदाचार और उज्ज्वल चरित्र से कुल का सनातन-धर्म सदा जीवित रहता है और सर्वतोमुखी विकास को प्रेरणा देता है। कुल में सदाचार नहीं है तो कुछ नहीं। सदाचार कल्पवृक्ष के समान है; धर्म उसका मूल है; चरित्र उसका तना है; कर्तव्य-पालन उसकी शाखायें हैं; सद्गुण उसके पत्ते हैं; सदिच्छाओं की पूर्ति उसके फूल हैं और जीवन्मुक्ति, उसका अमृतफल है।

पवित्र कुलवाले पुण्यात्मा सदाचार की जड़ को सूखने नहीं देते।

२. विनय—

विनय वह उत्तम गुण है जिसको व्यवहार में लाने से सब प्रसन्न रहते हैं, उत्तेजना तथा क्रोध को भड़कने का अवसर नहीं मिलता, श्रद्धा तथा प्रेम की निरन्तर वृद्धि होती है और द्वेष, क्लेश, कहन-सुनन, अशान्ति एवं पारिवारिक युद्ध को सिर उठाने का साहस नहीं होता।

विनयशील, स्वयं शान्त रहता है और शान्ति बाँटता है, उसकी शक्ति व्यर्थ की झिक-झिक में नष्ट नहीं होती। विनय से सुख मिलता है और परिवार की निरन्तर वृद्धि होती है। विनय और सहन-शक्ति का अटूट सम्बन्ध है। विनयशील परिवार के संघर्ष और मथन से निकले हुए विष को शंकर के समान पी जाता है और सबको शान्ति देता है। जिस परिवार में विनय है, उसमें लक्ष्मी और नारायण प्रेम-सहित निवास करते हैं।

एक बोलता है और दूसरा मुँह तोड़ उत्तर देता है, तो परस्पर
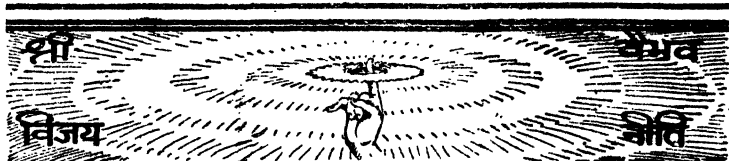
सद्भावना और प्रेम के बन्धन तो उलझते और टूटते ही हैं, कभी-कभी महाभारत का दृश्य भी उपस्थित हो जाता है।

अतः विनय, कुल का महत्त्वपूर्ण सनातन धर्म है।

३. विद्या—

विद्या, सुख और समृद्धि की जननी है। विद्या, ज्ञान और शिक्षा की खान है। विद्या के बिना मनुष्य पशु के समान है। अज्ञान, अधर्म, अन्धविश्वास, मिथ्याचार और विकार वहीं रहते हैं, जहाँ विद्या नहीं होती।

उपनिषदों के ऋषियों का कितना सुन्दर अनुभव है—

'आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्।'

आत्मा से शतदल शौर्य कमल खिलता है।
विद्या से जग में सुधा स्रोत - मिलता है॥

विद्या-हीन, सदा अंधेरे में भटकता है, उसका जीवन व्यर्थ चला जाता है।

'अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।'

अज्ञान अविद्या के उन्मुख जो होते।
वे अन्धकार में अपना जीवन खोते॥

विद्या-हीन परिवार में आलस्य, अव्यवस्था, असावधानी, अज्ञान, अदूरदर्शिता आदि अनेकों अवगुण रहते हैं। जिस परिवार में जितनी अधिक विद्या होती है, वह उतना ही अधिक अनुशासन में रहता है। सुख और समृद्धि उसके आँगनों में खेलते हैं।
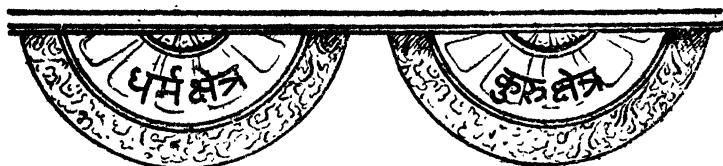
४. प्रतिष्ठा—

यश, मान, कीर्ति, नेकनामी, आदर, सन्मान, गौरव आदि प्रतिष्ठा के पूरक शब्द हैं।

संसार में, देश में, नगर में, मुहल्ले में अथवा घर में कहीं भी जिसकी प्रतिष्ठा नहीं होती, उसका जन्म और जीवन निष्प्रयोजन है। प्रत्येक नर-नारी, बालक, युवक और वृद्ध को ऐसा कार्य करना चाहिये, जिससे उसके परिवार और देश की प्रतिष्ठा हो। जिन कर्मों से अपकीर्ति होने की सम्भावना होती है, उन्हें उत्तम कुलवाले व्यक्ति त्याग देते हैं। कुल की प्रतिष्ठा बनाये रखना कुल-धर्म का एक आवश्यक अङ्ग है।

५. तीर्थ-दर्शन—

नित्य नये-नये अनुभव प्राप्त करने के लिये और परिवर्तन के लिये, कभी-कभी गृह-कार्यों से अवकाश लेकर पवित्र स्थानों में जाने से उत्साह और नवीनता बनी रहती है और जीवन शिथिल नहीं होता।

संसार एक महान् पुस्तक है। अनेकों घटनाओं से उसके पन्ने भरे हुए हैं। नित्य नयी घटनाओं से पाठ-पढ़नेवाला कहीं धोखा नहीं खाता। तीर्थ-दर्शन का यही ध्येय है।

पवित्र तीर्थों, नैसर्गिक वनों, पर्वतों, कुञ्जों, नदियों के दर्शन से चित्त प्रसन्न होता है, सद्भावना जागती है, पवित्रता अपना कार्य करती है और दुःखों तथा थकान से छूटने का अच्छा अवसर मिलता है।
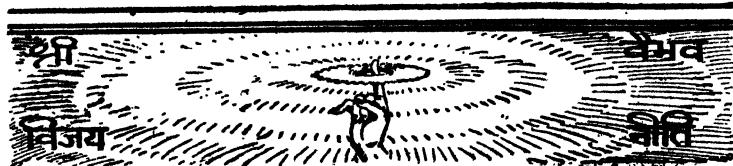
६. निष्ठा—

अपने कुल के धर्म कर्म में श्रद्धा सहित मन लगाने को 'निष्ठा' कहते हैं। निष्ठा किसी साम्प्रदायिक मान्यता का नाम नहीं है; कुल-धर्म में विशुद्ध विश्वास और दृढ़ता होने से निष्ठा बनती है।

निष्ठा श्रेय का मार्ग है और मन की वह पवित्र भावना है जो किसी प्रलोभन संकट अथवा वासना से दबती नहीं तथा निरन्तर संघर्ष करती हुई वंश की उज्ज्वलता को अधिकाधिक प्रकाशमान करती है।

७. वृत्ति—

वृत्ति से विशेषता आती है। विशेषता से बल बढ़ता है। जिसमें कोई विशेषता नहीं होती, वह संसार की दौड़ में पीछे रह जाता है।

जिसकी जो वृत्ति है उसीके अनुसार कर्म करने से स्वाभाविकता बनी रहती है, थोड़े से परिश्रम में अधिक कार्य हो जाता है, जीवन को उन्नत तथा महान् बनाने की सुविधायें मिलती हैं, नये सिरे से कार्य आरम्भ नहीं करना पड़ता और जहाँ तक पहुँच गये हैं उससे आगे प्रगति करने के अवसर मिलते हैं।

स्वाभाविक कर्म से नित्य-तृप्ति का मधुर फल मिलता है।

वृत्ति जीविका को भी कहते हैं। कुल में यदि जीविका चलाने के साधन न हों तो वह दरिद्रता तथा दुःखों से भरकर नष्ट हो जाता है। अतः प्रत्येक कुलीन पुरुष को अपनी जीविका के लिये अधिक से अधिक प्रयत्न और परिश्रम करना चाहिये। अपने कर्तव्य को छोड़कर आलस्य, मनोरञ्जन, भोग-विलास और खेल-कूद में ही समय खोने से वृत्ति नष्ट हो जाती है और समृद्धि नहीं होती।
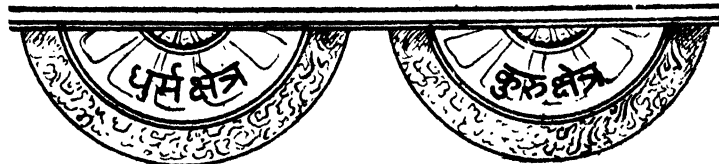
८. तप—

व्यावहारिक भाषा में कष्ट-सहन को 'तप' कहते हैं। संसार के तापों को प्रसन्नता से सहना और कर्तव्य-कर्म में लगे रहना, तप है।

तप से जीवन निखरता है, शक्ति बढ़ती है, कर्म करने का उत्साह बना रहता है और परिस्थितियों पर विजय पाने का बल मिलता है।

शरीर, वाणी और मन की साधना से 'तप' पूर्ण होता है।

ब्रह्मचर्य, अहिंसा, पवित्रता, सरलता, और देवताओं, विद्वानों तथा गुरुजनों का पूजन शरीर का तप है।

सत्य, मधुर और हितकर भाषण तथा स्वाध्याय वाणी का तप है।

मौन, प्रसन्नता, शान्ति, संयम और पवित्रता मन की तपस्या है।

९. दान—

दान देने से वृद्धि होती है। दान देना सबसे बड़ा यज्ञ है। उनका जीवन धन्य है जो दूसरों को देकर खाते हैं। दान से संसार में विषमता नहीं फैलती; संग्रह का कुभाव नहीं बनता और दरिद्रता का भय नहीं रहता।

दान देने से सद्भावना प्रेम और विश्वास की वृद्धि होती है; पुरुष और पुरुषोत्तम प्रसन्न होते हैं और समृद्धि कभी साथ नहीं छोड़ती।

कुल के इन नौ सनातन-धर्मों का पालन करने से परिवार, नगर, राष्ट्र और विश्व में स्वयं ही शान्ति हो जाती है; उपार्जन और वितरण बना रहता है; समता का आधार नहीं टूटता और जीवन का सदुपयोग होता है।

अर्जुन को यह शंका हुई कि कुल के नष्ट हो जाने से धर्म का लोप हो जायगा और युद्ध के घातक परिणाम अपना कुप्रभाव दिखायेंगे—
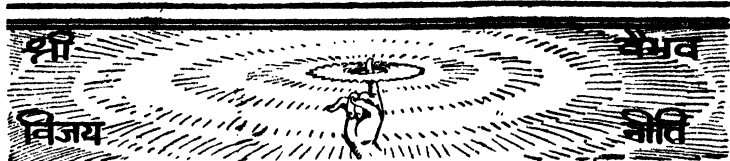
४१

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥

अधर्माभिभवात्, कृष्ण, प्रदुष्यन्ति, कुलस्त्रियः,
स्त्रीषु, दुष्टासु, वार्ष्णेय, जायते, वर्णसंकरः ।

कृष्ण = हे कृष्ण, अधर्माभिभवात् = अधर्म के अधिक बढ़जाने से, कुलस्त्रियः=कुल की स्त्रियां, प्रदुष्यन्ति=दूषित हो जाती हैं, वार्ष्णेय=हे वार्ष्णेय, स्त्रीषु=स्त्रियों के, दुष्टासु=दूषित हो जाने पर, वर्णसंकरः=वर्णसंकर, जायते=उत्पन्न होता है ।

जब वृद्धि होती पाप की कुल की बिगड़ती नारियाँ ।
हे कृष्ण ! फलती-फूलती तब वर्णसंकर क्यारियाँ ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! अधर्म के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं, हे वार्ष्णेय स्त्रियों के दूषित हो जाने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है ।
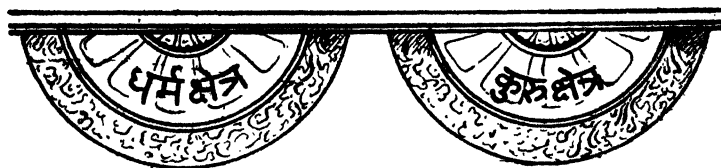
व्याख्या—अधर्म बढ़ जाने से कुल के धर्म नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। सदाचार, सत्य, संयम आदि सद्गुणों और सद्भावों के लोप होने से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं।

स्त्रियाँ सम्पूर्ण शक्ति, बुद्धि, विद्या और सुख की खान हैं। मातृ-शक्ति की अधोगति से सारी सृष्टि का पतन हो जाता है। स्त्रियों की शिक्षा और धर्म-परायणता इसी कारण पुरुषों से अधिक आवश्यक और उपयोगी है।

स्त्रियों में सरलता, कोमलता, सद्भाव, लज्जा, दया और धर्म सहजभाव से निवास करते हैं। स्त्रियाँ जगत् की जननी हैं, राष्ट्र की शक्ति हैं और घर की श्री हैं।

सरलता और कोमलता के कारण स्त्रियाँ धर्म-मार्ग से विचलित भी सहज में हो जाती हैं; अतः जहाँ स्त्रियों से धर्म है, वहाँ अधर्म भी प्रायः उन्हीं से फैलता है।

अर्जुन को यही भय हुआ—उसने कहा कि युद्ध में युवक वीरों के काम आ जाने पर केवल स्त्रियाँ बची रहेंगी, उन्हें वश में रखकर उचित मार्ग पर चलानेवाला कोई न रहेगा। ऐसी दशा में शुद्ध संस्कार नष्ट हो जायेंगे और वर्णसंकरता फैलेगी।

पाप, व्यभिचार और कुकर्मों से उत्पन्न हुई सन्तान को 'वर्ण-संकर' कहते हैं। 'वर्णसंकर' सन्तान, दूषित संस्कारों से उत्पन्न होती हैं। उनकी उत्पत्ति किसी धर्मभाव अथवा कुल-वृद्धि के लिये नहीं होती। धर्म के विरुद्ध काम-वासना से 'वर्ण-संकर' का जन्म होता है—

४१
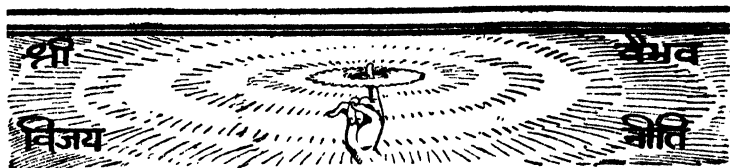
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥

सङ्करः, नरकाय एव, कुलघ्नानाम्, कुलस्य, च,
पतन्ति, पितरः, हि, एषाम्, लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।

सङ्करः=वर्णसंकर, कुलघ्नानाम्=कुल घातियों को, च=और, कुलस्य=कुल को, नरकाय=नरक में ले जाने के लिये, एव=ही (होता है), लुप्तपिण्डोदकक्रियाः=पिण्ड और जल की क्रिया के लोप हो जाने से, एषाम्=इनके, पितरः=पितर, हि=भी, पतन्ति=गिर जाते हैं।

कुल-घातकी को और कुलको ये गिराते पाप में।
होता न तर्पण पिण्ड, यों पड़ते पितर संताप में ॥

अर्थ—वर्णसंकर, कुल-घातियों को और कुल को नरक में ले जाने के लिये ही होता है। पिण्ड और जल की क्रिया के लोप हो जाने से इनके पितर भी गिर जाते हैं।

व्याख्या—जब स्त्री-पुरुषों का जीवन संयम, सादगी, सद्विचार और किसी धर्म-मर्यादा में बंधा हुआ नहीं होता तो उनकी संतानें भी उनके हाथों से निकल जाती हैं। बालकों को माता-पिता, भाई-बहिनों से हार्दिक स्नेह नहीं रहता। वे अपने ही भोग-विलास में निमग्न रहते हैं और अपने सुखों के लिये घर को ही नरक के समान
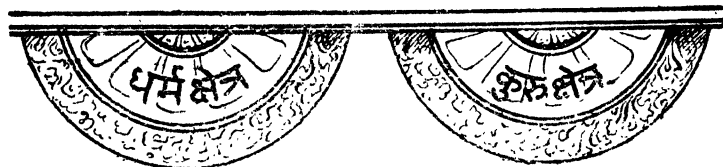
दुःखदायी बना देते हैं।

जो अपने कुल की घात करता है, उसे और उसके कुल को दूषित सन्तान उत्पन्न होने के कारण नरक में पड़ना पड़ता है।

तप ब्रह्मचर्य और शुभ संस्कारों से उत्पन्न हुई सन्तान, कुल का नाम ऊंचा करती है। माता-पिता और पूर्वजों की कीर्ति श्रेष्ठ संतान से अमर हो जाती है।

जीवन-विज्ञान के अनुसार गर्भाधान के समय की स्त्री-पुरुष की मनोवृत्ति और भावना के अनुरूप सन्तान उत्पन्न होती है। बालक के गर्भ में रहने के समय भी माता पिता की चेष्टाओं, कर्मों, विचारों और संग का बालक पर प्रभाव पड़ता है।

राजा दशरथ के सङ्कल्प से राम जैसे पुत्र हुए। श्रीराम की साधना से लव-कुश जैसी सन्तान हुई। इसी प्रकार वसुदेव के घर में कृष्ण और श्रीकृष्ण के प्रद्युम्न हुए। अभिमन्यु पर अपने माता-पिता और श्रीकृष्ण के सत्संग का प्रत्यक्ष प्रभाव था।

संस्कारों से उत्पन्न और पवित्र वातावरण में पालित-पोषित सन्तान सुख देती है, संसार को स्वर्ग बनाती है और संस्कारहीन वर्णसंकर सन्तान दुःख देनेवाली होती है।

वर्णसंकर सन्तान अपने कुल की कीर्ति को रखने योग्य नहीं होती। पिण्ड और तर्पण को छोड़ देने से उनके पितर भी प्रसन्न नहीं होते—यही नरक में पड़ना है।

पिण्ड-दान और तर्पण बहुत प्राचीन समय से प्रचलित हैं।
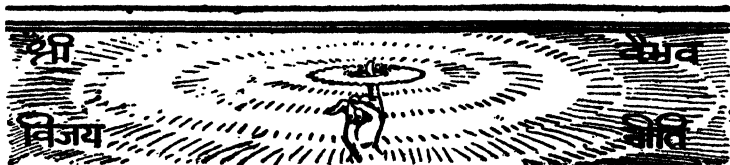
महाभारत में अनेकों स्थानों पर इनका वर्णन है। श्राद्ध और तर्पण की क्रिया अपने पितरों की चिर-स्मृति, उनके प्रति श्रद्धा तथा प्रेम से सम्बन्ध रखती है।

इस शरीर को 'पिण्ड' और आत्मा के अमृतत्व को 'उदक' कहते हैं। शरीर को परिवार और पूर्वजों की सेवा में लगा देने का नाम 'पिण्ड-दान' है और आत्मा के अमृतत्व से वंश वेल को सिञ्चित करने का नाम 'तर्पण' है। पिण्ड और तर्पण का आध्यात्मिकभाव जब स्थूल रूप से व्यवहार में आता है तो पितरों के नाम पर श्राद्ध, ब्राह्मण-भोजन, दान, सन्मान आदि होने लगता है और जल द्वारा तर्पण-क्रिया की जाती है।

शरीर अन्न से है; अन्न ब्रह्म रूप है, अतः ब्रह्म-भाव से अन्नों में श्रेष्ठ और सात्त्विक अन्न शाली (चावल) का पिण्ड बनाकर पितरों के अर्पण इसी ध्येय से किया जाता है कि यह शरीर अपने देश और कुल की सेवा के लिये सहर्ष प्रस्तुत है। इसी प्रकार आत्मा से श्रद्धाञ्जलि देने के लिये जल-दान अथवा तर्पण किया जाता है। श्राद्ध और तर्पण में जीवन को सेवा और त्यागमय बनाने के दिव्यभाव हैं।

हृदय के अनेकों ऐसे भाव हैं, जिन तक तर्क और बुद्धिवाद नहीं पहुँच सकता। हृदयवान् अपने पितरों की स्मृति में उनके नाम पर विद्वानों को भोजन कराता है; दान-मान से सन्तुष्ट करता है; विशुद्ध वैदिक मन्त्रों का उच्चारण करके तर्पण करता है— वह किसी तर्क बुद्धि से नहीं—हृदय के प्रेम से करता है। यही प्रथा श्राद्ध और
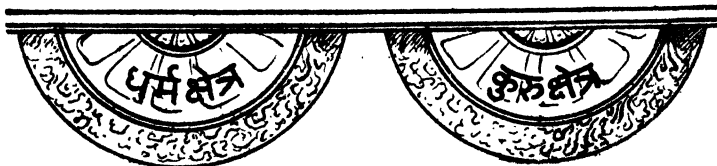
तर्पण के नाम से प्रचलित हुई। पितरों को तृप्त करने का नाम तर्पण है, शुभ कर्मों से पितर तृप्त होते हैं।

उस सन्तान का क्या महत्त्व है, जो कभी अपने वंशधरों का स्मरण नहीं करती, किसी दिन भी घड़ी दो घड़ी बैठकर उनके चरित्र और श्रेष्ठ कर्मों का ध्यान नहीं करता। श्राद्ध और तर्पण इस दृष्टि से अपना अनुपम स्थान रखते हैं और संसार की समस्त सभ्य जातियों में किसी न किसी रूप में प्रचलित हैं।

वीर पूजा (Hero Worship), स्मारक (Memorials) आदि पूर्वजों की चिरस्मृति के श्रेष्ठ साधन हैं। जयन्ती मनाना, निर्वाण-दिवस के समारोह और महापुरुषों को श्रद्धाञ्जलि देना—एक प्रकार से पिण्ड और तर्पण के ही रूप हैं। इनके द्वारा पूर्वजों के पद-चिन्हों पर चलने की रचनात्मक प्रेरणा मिलती है।

व्यस्त जीवन में प्रायः पूर्वजों की महत्ता पर विचार करने का समय नहीं मिलता, अतः पूर्वजों की मृत्यु-तिथि पर प्रतिमास न हो सके तो पितृ-पक्ष में पिंड तर्पण करने का विधान है। श्रद्धा से श्राद्ध कर्म करनेवाला हृदय में सन्तोष पाता है, उसे महान् आत्माओं का दिव्य आशीर्वाद मिलता है; इसके साथ ही वह विनम्र और सात्त्विक श्रद्धा से पितरों के स्वागत की तैयारी में घर और हृदय को पवित्र करता है, हवन आदि क्रियाओं से वायु-मण्डल शुद्ध करता है और फिर विद्वानों से अपने पूर्वजों के सम्बन्ध में बातचीत करता है। संस्कृति को जीवित रखने का यह सजीव साधन है।

४३
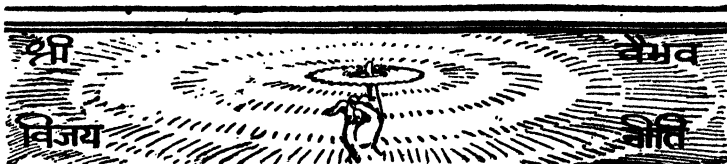
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्तेजातिधर्माः कुलधर्माश्चशाश्वताः ॥

दोषैः, एतैः, कुलघ्नानाम्, वर्णसंकरकारकैः,
उत्साद्यन्ते, जातिधर्माः, कुलधर्माः, च, शाश्वताः,

कुलघ्नानाम्=कुलघातकों के, वर्णसंकरकारकैः=वर्णसंकर बनानेवाले, एतैः=इन, दोषैः=दोषों से, शाश्वताः=सनातन, कुलधर्माः=कुलधर्म, च=और, जातिधर्माः=जाति धर्म, उत्साद्यन्ते=नष्ट हो जाते हैं ।

कुल-घातकों के वर्णसंकर-कारकी इस पाप से ।
सारे सनातन जाति कुल के धर्म मिटते आप से ॥

अर्थ—कुलघातकों के वर्णसंकर बनानेवाले इन दोषों से सनातन-कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं ।

व्याख्या—कुल की घात करनेवाले अपने संहार-कर्म से ऐसी परिस्थिति ले आते हैं जिससे वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है । वर्णसंकरों से कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं ।

कुल की घात करनेवाले उन्हें कहते हैं, जो परस्पर युद्ध करके अथवा किसी राग-द्वेष से किसी भी प्रकार कुल को नष्ट करते हैं । युद्ध के प्रायः चार भयङ्कर परिणाम होते हैं—
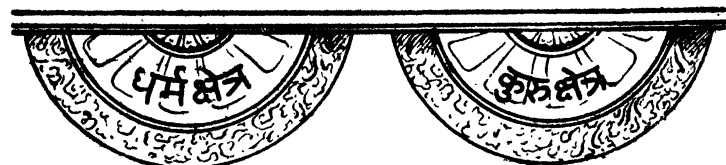
१—विनाश २—अकाल ३—रोगों का फैलना ४—धर्म की हानि।

इन दोषों का फल व्यभिचार है। व्यभिचार से वर्णसंकर सन्तान उत्पन्न होती है।

वर्णसंकर को धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति का कोई ज्ञान नहीं होता। धर्म, परमेश्वर, माता-पिता और देश से भी उसे कोई स्नेह नहीं होता। खाने-पीने, पहिनने और विषय-सुख भोगने में ही उसका जीवन बीतता है। वर्णसंकरों से धर्म की मर्यादा के अनुसार नहीं चला जाता। अतः वे सनातन कुल-धर्मों की सीमा लांघ जाते हैं और मनमाने कर्म करते हैं।

समाज की रक्षा के लिये नियम, मर्यादा अथवा बन्धन अत्यन्त आवश्यक होते हैं। धर्म और समाज के नियमों में रहनेवाला ही मुक्त होता है। वर्ण-संकर इन्द्रिय-सुखों और स्वार्थों के पीछे दौड़कर इन नियमों को तोड़ता है और कुल-धर्मों को नष्ट कर देता है।

जाति-धर्म उन धर्मों को कहते हैं जो किसी समाज के अंग होकर रहने में सहायता, सन्मति और लोक-संग्रह की बुद्धि देते हैं। जाति-धर्म से परस्पर प्रेम, मेल-जोल, संघटन और सद्-व्यवहार बना रहता है, सुख-दुःख के समय एक-दूसरे के काम आने की सद्-वृत्ति जागी रहती है और एक ऐसा अनुशासन रहता है जिसमें मनुष्य अनुचित कर्म करते हुए भयभीत होता है।

जाति सम्पूर्ण का एक अंग है, उसका कार्य एक विशाल उदार और व्यापक संगठन को शक्ति देना है। जैसे सिर, हाथ, पैर पेट,
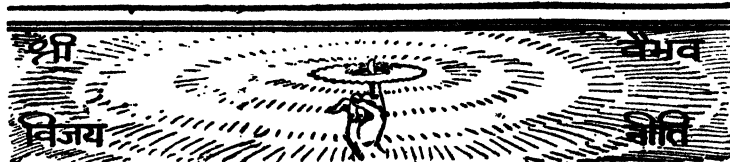
आदि शरीर के अंग होते हैं अथवा एक राष्ट्र में जैसे देशीय, प्रान्तीय, नागरिक और मुहल्लों की सभायें एक सार्वदेशिक सभा के अन्तर्गत होती हैं वैसे ही जाति होती है।

जाति व्यष्टि है और धर्म समष्टि है। धर्म जीवन के नियम देता है; सत्य, अहिंसा ब्रह्मचर्य आदि दैवी-गुणों को पालन करने की प्रेरणा देता है; सावधानी और कुशलता से कर्म करने की बुद्धि देता है। जाति, धर्म के नियमों पर चलने के लिये स्वधर्म का निश्चय करती है, अपनी कुछ मान्यतायें बना लेती है, अपना कोई एक ग्रन्थ शास्त्र के रूप में, एक देवता परमेश्वर के रूप में और एक मंच शक्तिशाली होने के लिये चुन लेती है। जाति-धर्म से धर्म की रक्षा होती है।

स्वधर्म का पतन होने से कुल धर्म नष्ट होता है, कुल-धर्म के खण्डित होने से जाति-धर्म का पतन होता है और जाति-धर्म का ह्रास होने से धर्म की हानि होती है।

परिस्थितियों और पदार्थों के सदुपयोग और दुरुपयोग के अनुसार जगत् में सुख और दुःख, लाभ-हानि, उत्थान और पतन होता है। धर्म और जाति के सदुपयोग से विजय, श्री और शक्ति प्राप्त होती है और दुरुपयोग से संघर्ष, भेदभाव, दलबन्दी, संकीर्ण साम्प्रदायिकता तथा कटुता फैलती है।

अर्जुन के सामने जाति-धर्म की हानि का भयंकर चित्र था। उसने कहा—

४४
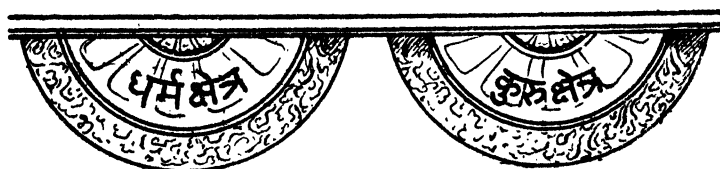
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥

उत्सन्नकुलधर्माणाम्, मनुष्याणाम्, जनार्दन,
नरके, अनियतम्, वासः, भवति, इति, अनुशुश्रुम ।

जनार्दन=हे जनार्दन, उत्सन्नकुलधर्माणाम्=जिनका कुलधर्म नष्ट होगया है, मनुष्याणाम्=उन मनुष्यों का, अनियतम्=अनिश्चित समय तक, नरके=नरक में, वासः=वास, भवति=होता है, इति=ऐसा, अनुशुश्रुम्=सुना है ।

इस भांति से कुल-धर्म जिनके कृष्ण होते भ्रष्ट हैं ।
कहते सुना है वे सदा पाते नरक में कष्ट हैं ॥

अर्थ—हे जनार्दन ! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, उन मनुष्यों का अनिश्चित समय तक नरक में वास होता है, ऐसा सुना है ।

व्याख्या—स्वर्ग और नरक दोनों का बनानेवाला मनुष्य ही है । सत्यनिष्ठ, निष्पाप तपस्वी जनों के लिये सर्वत्र स्वर्ग है, अधर्मी मनुष्य जहां जाता है, वहीं नरक बनाता है ।

धर्म या पाप के फल से स्वर्ग या नरक के सुख-दुःख जन्मजन्मान्तर तक भोगने पड़ते हैं । प्रायः जीवन में ही स्वर्ग और नरक मिल जाता है ।

नरक के भय से व्याकुल होकर अर्जुन ने कहा—

४५
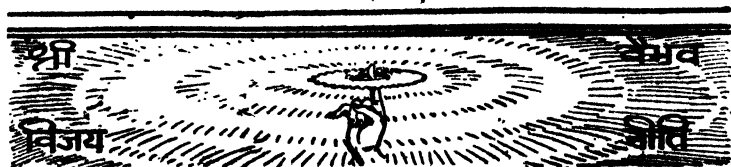
अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥

अहो, बत, महत्पापम्, कर्तुम्, व्यवसिताः वयम्,
यत्, राज्यसुखलोभेन, हन्तुम्, स्वजनम्, उद्यताः ।

अहो=हा, बत=शोक है, वयम्=हम, महत्पापम्=बहुत बड़ा पाप, कर्तुम्=करने को, व्यवसिताः=तैयार हो गये, यत्=जो, राज्यसुखलोभेन=राज्य सुख के लोभ से, स्वजनम्=अपने बन्धुजनों को, हन्तुम्=मारने के लिये, उद्यताः=उद्यत हैं ।

हम राज्य सुख के लोभ से हा ! पाप यह निश्चय किये ।
उद्यत हुए सम्बन्धियों के प्राण लेने के लिये ॥

अर्थ—हा, शोक है कि हम बहुत बड़ा पाप करने को तैयार हो गये, जो राज्य-सुख के लोभ से अपने बन्धुजनों को मारने के लिये उद्यत हैं ।

व्याख्या—अपने अधिकारों के लिये युद्ध को अर्जुन ने पाप समझा । अर्जुन की एक ही रट थी कि राज्य और सुख के लोभ से हम स्वजनों की हत्या क्यों करें ? अन्यायी स्वजनों की रक्षा करना अर्जुन की दृष्टि में न्याय था । स्वराज्य अथवा अधिकारों की प्राप्ति के लिये युद्ध जैसे भीषण कर्म से वह भयभीत हो गया था, इसीलिये उसने कहा—
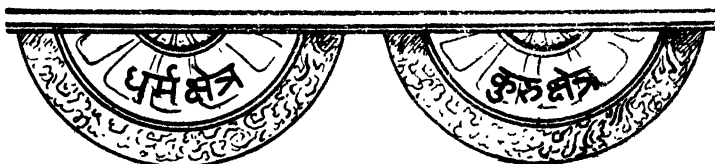
४६

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥

यदि, माम्, अप्रतीकारम्, अशस्त्रम्, शस्त्रपाणयः,
धार्तराष्ट्राः, रणे, हन्युः, तत्, मे, क्षेमतरम्, भवेत् ।

यदि=यदि, माम् =मुझ, अशस्त्रम्=शस्त्र रहित
अप्रतीकारम्=सामना न करनेवाले को, शस्त्रपाणयः=शस्त्र लेकर,
धार्तराष्ट्राः=धृतराष्ट्र के पुत्र, रणे=युद्ध में, हन्युः=मारें, तत्=वह,
मे=मेरे लिये, क्षेमतरम्=बहुत भला, भवेत्=होगा ।

यह ठीक हो यदि शस्त्र ले मारें मुझे कौरव सभी ।
निःशस्त्र हो मैं छोड़दूं करना सभी प्रतिकार भी ॥

अर्थ—यदि मुझ शस्त्र-रहित सामना न करनेवाले को शस्त्र लेकर धृतराष्ट्र के पुत्र युद्ध में मारें वह मेरे लिये बहुत भला होगा ।

व्याख्या—अर्जुन विषाद की अन्तिम अवस्था में जा पहुँचा था । मोह-ममता के कारण वह अपनी आहुति देने के लिये तैयार था, यद्यपि उससे न लोक-सेवा थी न राष्ट्र-हित और न व्यक्तिगत लाभ ।

संजय ने अर्जुन के विषाद का परिणाम दिखाते हुए कहा—
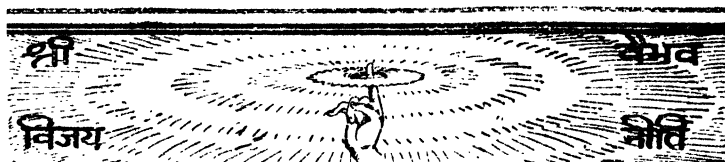
४७

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥

एवम्, उक्त्वा, अर्जुनः, संख्ये, रथोपस्थे, उपाविशत्,
विसृज्य, सशरम्, चापम्, शोकसंविग्नमानसः ।

संख्ये = रणभूमि में, शोकसंविग्नमानसः = शोक में डूबे हुए मनवाला,
अर्जुनः = अर्जुन, एवम् = इस प्रकार, उक्त्वा = कहकर,
सशरम् = बाण सहित, चापम् = धनुष को, विसृज्य = छोड़कर,
रथोपस्थे = रथ के पिछले भाग में, उपाविशत् = बैठ गया ।

रणभूमि में इस भांति कहकर पार्थ धनु-शर छोड़के ।
अति शोक से व्याकुल हुए बैठे वहीं मुंह मोड़के ॥

अर्थ—रणभूमि में शोक में डूबे हुए मनवाला अर्जुन इस प्रकार कह कर बाण सहित धनुष को छोड़कर रथके पिछले भाग में बैठ गया ।
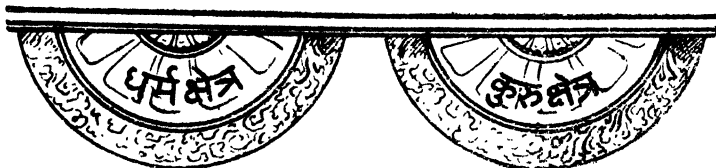
व्याख्या—अभिमान जनित मोह और ममता के सबसे भीषण परिणाम का दर्शन संजय ने धृतराष्ट्र को कराया। अपनी जन्म-जात स्वाभाविक विशेषता को छोड़ देना तथा बुद्धि और बल का सदुपयोग न करना, मनुष्य की सबसे बड़ी भूल है। इस भूल का सुधार करने के लिये परमेश्वर और उसका ज्ञान न होता तो मनुष्यता का लोप हो चुकता।

अर्जुन ने अपना गाण्डीव धनुष और कभी खाली न होनेवाला तरकश छोड़ दिया। परमेश्वर ने विषम परिस्थिति के लिये मनुष्य को कर्म का गाण्डीव, ज्ञान का तरकश और भक्ति के अचूक बाण दिये हैं। जो किसी मोह-ममता, अभिमान अथवा अज्ञान से परमेश्वर की इस देन को छोड़ देता है, वह दुःखों के भयंकर भंवर में घिर जाता है।

अर्जुन के हृदय में धर्म के प्रति विद्रोह हो उठा, इन्द्रियों और मन की क्रान्ति के वश में होकर उसने दुःखों से छूटने का जो रास्ता निकाला उसी में वह फंस गया। विषाद-ग्रस्त मनुष्य की यही अवस्था है। गीता इस विषम-अवस्था में भी व्यवस्था देकर मनुष्य को दुःखों से छुड़ाती है। गीता में बोलती हुई भगवान् की वाणी मानवमात्र को प्रत्येक स्थिति में अभिमान, मोह, अज्ञान, ममता, भय और मन की दुर्बलता से छुड़ाकर ज्ञान, कर्तव्य-पालन और आनन्द के धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्र में निर्भय खड़ा कर देती है।

श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य गीताज्ञान का प्रथम अध्याय
'अर्जुन का विषाद' सम्पूर्ण।
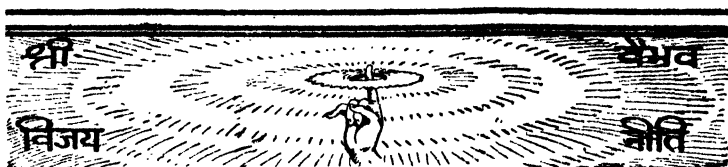
श्रीमद्भगवद्गीता

ज्ञानयोग

२
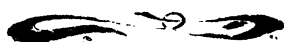
आत्मा की सत्य चेतना, आनन्द और पूर्णता की जननी है। मानव-तन में आत्मा के माधुर्य से भरे अमृत कुण्ड हैं। विषाद, अंधकार और अनृत इन कुण्डों को ढक लेते हैं। सत्य, आनन्द और प्रकाश के संस्पर्श से जीवन के धरातल पर अमृत रस प्रचुरता से प्रवाहित होने लगता है।

आत्मा जब प्रकाशमान होता है तब अपनी आध्यात्मिक रश्मियों से विषाद, अंधकार और निर्बलता के समस्त आक्रमणों को निराकृत करके छिन्न-भिन्न कर देता है।

आत्मा के प्रकाश का अवरोध होते ही मोह, विषाद और मलिनता का अंधकार जीवधारी को ढक लेता है।

विषाद आत्मानन्द के प्रवाह को रोक देता है, वह अचेतन का मूर्तरूप है। विषाद से उत्पन्न अन्धकार में कर्त्तव्य का मार्ग नहीं मिलता।

विषाद अन्तःकरण की चेतना को प्रकट नहीं होने देता। विषाद की चट्टानों और गुफाओं को तोड़नेवाला आत्मज्ञान है। मोह, विषाद और अंधकार से उन्मुक्त प्राणी के अन्तःकरण में आत्मा की वाणी गूंज उठती है। जब आत्मा मन, वचन और कर्मों का नेतृत्व करता है और

सत् के आधार पर स्वराज्य पा लेता है, तब उसके अनुशासन में कोई भूखा, नंगा, दुःखी और दरिद्री नहीं रहता।

आनन्द और विषाद का स्रोत मन से उमड़ता है। स्वस्थ मन से आनन्द की शत-शत धारायें प्रवाहित होती हैं। मोह में भूलने तथा भटकने वाला मन, विषाद में घिर जाता है। विषाद और भय में प्रवेश करते ही आनन्द की धारा से जीवन का सम्बन्ध टूट जाता है। मन की शक्ति को निर्बल करनेवाला विषाद है।

कल्प वृक्ष के समान वाञ्छित फल देनेवाले मन को जागृत और विराट् शक्तियों के सम्पर्क में रखना, उन्नत जीवन की पहली सीढ़ी है। इस सीढ़ी तक पहुँचानेवाला ज्ञान है।

उन्नत जीवन का आधार ज्ञान है। ज्ञान-रहित जीवन को विषाद दबा लेता है। विषाद अहंता और माया - ममता का परिणाम है। कर्त्तव्य-पथ से हटा हुआ प्राणी विषाद से घिरे बिना नहीं रहता।

संकुचित विचार, पक्षपात, ममता और मोह विषाद के उपलक्षण हैं। उदार विचार, समता, ज्ञान और आत्मभाव प्रसाद के प्रतीक हैं।

विषाद में पड़े हुए प्राणी को सारा संसार दुःखमय प्रतीत होता है। उसे अपने अथवा पराये किसी से सुख नहीं मिलता। ज्ञान और बल का सूर्य, विषाद के मंदराचल पर पहुँचते ही अस्त हो जाता है।

महाबाहु अर्जुन विषाद के भँवर में फँसकर धैर्य छोड़ बैठा। वह अपने परम पराक्रम पौरुष बल और स्वरूप को भूल गया, उसका मन बुझ गया और उत्साह धुंआ बनकर उड़ने लगा।

प्रसंगानुसार संजय ने धृतराष्ट्र से कहा—

१

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषोदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥

तम्, तथा, कृपया, आविष्टम्, अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्,
विषीदन्तम्, इदम्, वाक्यम्, उवाच, मधुसूदनः ।

तथा=ऐसे, कृपया=करुणा से, आविष्टम्=पूर्ण, अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्=आँसू भरे व्याकुल नेत्रोंवाले, विषीदन्तम्=दुःखी, तम्=उस (अर्जुन) से, मधुसूदनः=भगवान् मधुसूदन ने, इदम्=ऐसे, वाक्यम्=वचन, उवाच=कहे ।

ऐसे कृपायुत अश्रुपूरित दुःख से दहते हुए ।
कौन्तेय से इस भाँति मधुसूदन वचन कहते हुए ॥

अर्थ—ऐसे करुणा से पूर्ण, आँसू भरे व्याकुल नेत्रोंवाले दुःखी उस अर्जुन से भगवान् मधुसूदन ने ऐसे वचन कहे ।

व्याख्या—विषाद से अर्जुन का हृदय टूट गया था, उसके धीरज की आधार शिला खंडित हो गयी। मोहजन्य करुणा ने उसके वीरत्व को पछाड़ दिया। उसके अन्तःकरण में दुःखों की ज्वाला धधक उठी और उसकी शक्ति आँसू बनकर बह चली।

विषाद-ग्रस्त अर्जुन, मोह में फँसे जीव का उदाहरण है।

मृत्युलोक में विषाद स्वच्छन्द विचरता है और जिसे घेर लेता

है उसे जीते जी मृत्यु के मुख में झोंकने का प्रयत्न करता है। विषाद से छुड़ानेवाला परमेश्वर है। जगत् की ओर देखने से दुःख बढ़ता है— जगत्पति की ओर देखने से दुःखों से छुटकारा मिलता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

(मुण्डक ३ । १ । २)

जीव और ब्रह्म दोनों अभिन्न मित्र हैं और एक ही शरीर रूपी वृक्ष पर बैठते हैं। जीव शरीर की आसक्ति में डूबकर वृक्ष के कर्म रूप फलों को भोगता है और ब्रह्म, भोगों में लिप्त नहीं होता। जीव मोहित होकर अपनी दीनता अनुभव करता है और शोक में घिर जाता है। ब्रह्म को अपने सच्चिदानन्द स्वरूप का बोध रहता है। संयोग से जब जीव अपने मित्र आनन्द रूप परमेश्वर की ओर देखता है तो स्वयं भी उसके आनन्द में निमग्न हो जाता है। ब्रह्म की ओर दृष्टि जाते ही जीव शोक से छूट जाता है।

अर्जुन और श्रीकृष्ण एक ही रथ पर बैठे थे। अर्जुन आसक्ति के कारण शोक में पड़ गया। श्रीकृष्ण अनासक्ति से अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित रहे।

श्रीकृष्ण मधुसूदन हैं। प्रत्येक प्राणी के तन से मधु दैत्य प्रकट होता है और उसके रचनात्मक शुभ कर्मों का अन्त करना चाहता है। इन्द्रियों के रस-भोग से उत्पन्न सुख का नाम मधु है। अपने तप तथा आत्मबल से मधु का संहार करनेवाला मधुसूदन है। विकार रूपी दानवों को निर्मूल करना मधुसूदन का कार्य है।

अर्जुन के मोहजन्य विकारों और विषाद का अन्त करने के लिये मधुसूदन श्रीकृष्ण ने इस प्रकार कहा—

२

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

कुतः, त्वा, कश्मलम्, इदम्, विषमे, समुपस्थितम्, अनार्यजुष्टम्, अस्वर्ग्यम्, अकीर्तिकरम्, अर्जुन ।

अर्जुन = हे अर्जुन, त्वा = तुम्हें, विषमे = विषम स्थिति में, इदम् = यह, कश्मलम् = अज्ञान, कुतः = क्यों, समुपस्थितम् = हुआ है, अनार्यजुष्टम् = आर्य पुरुषों के योग्य नहीं है, अस्वर्ग्यम् = स्वर्ग देनेवाला नहीं है, अपकीर्तिकरम् = अपकीर्ति करनेवाला है ।

अर्जुन ! तुम्हें संकट समय में क्यों हुआ अज्ञान है ।
यह आर्य-अनुचित और नाशक स्वर्ग सुख सन्मान है ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! तुम्हें विषम स्थिति में यह अज्ञान क्यों हुआ है ? यह आर्य पुरुषों के योग्य नहीं है, स्वर्ग देनेवाला नहीं है, अपकीर्ति करनेवाला है ।

व्याख्या—घबराहट, विपाद और अज्ञान किसी भी परिस्थिति में श्रेष्ठ पुरुषों के योग्य नहीं होता ।

"कुतस्त्वा कश्मलमिदम्" तुम्हें ऐसा कश्मल क्यों हो रहा है ? श्रीकृष्ण का यह व्यापक प्रश्न विपाद-ग्रस्त प्राणी को पकड़कर एड़ी से चोटी तक हिला देता है और उस समय रोम-रोम से यही प्रश्न उठता है कि ऐसा अज्ञान क्यों ?

सुन्दर तन, मन और विशाल बुद्धिवाला मनुष्य, जिसकी सेवा

श्री भूत
विजय नीति

में दस शक्तिशाली इन्द्रियाँ अपलक तत्पर रहती हैं, विषाद में कैसे घिर जाता है? ज्ञान का अधिकारी मनुष्य अज्ञान में क्यों डूबता है? अर्जुन का विषाद इसी प्रश्न का उत्तर है।

'यह अज्ञान क्यों है?' यह प्रश्न मनुष्य के मस्तक से टकराकर जब हृदय तक पहुँचता है, तब उसे श्रीकृष्ण की भर्त्सना भरी वाणी आश्वासन के स्वर में सुन पड़ती है।

अज्ञान 'अनार्य जुष्टम्' है—यह आर्य पुरुषों के योग्य नहीं है। आर्य पुरुषों ने कभी ऐसा नहीं किया। गीता का यह प्रेरणात्मक वाक्य अपने अनन्त हाथों से मनुष्य को गिरने से बचाता है। 'आर्य पुरुषों की भांति कर्म करते चलो!' उन्नति के पथ पर चलनेवाले श्रेष्ठ पुरुष अयोग्य आचरण नहीं करते। इतना जिसे सूझ जाता है वह सावधान होकर उठ बैठता है।

संकट के समय में अयोग्य आचरण और भी अधिक बुरा है। अयोग्य कर्म करने के दो परिणाम अवश्यम्भावी हैं—

१—अयोग्य कर्मों से अपकीर्ति होती है (अपकीर्तिकरम्)।

२—अयोग्य कर्मों से स्वर्ग नहीं मिलता (अस्वर्ग्यम्)।

अपकीर्ति और मृत्यु में इतना ही अन्तर है कि मृत्यु शरीर को एक बार ही उठा ले जाती है परन्तु अपकीर्ति बारम्बार प्रहार करके रोम-रोम को बेंधती है और आमरण दुःख में जलाती है।

योग्य कर्म न करने से सुख नष्ट हो जाता है और पराधीनता बन्धन में बाँध लेती है। पराधीन को स्वर्ग नहीं मिलता। स्वर्ग मुक्तजनों का लोक है। स्वर्ग में कहीं अवसाद नहीं है।

अयोग्यता के हिंसक पञ्जों से छुड़ानेवाला आत्म-ज्ञान है। आत्म-ज्ञान का तोरण द्वार खोलते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

३

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

क्लैब्यम्, मा, स्म, गमः, पार्थ, न, एतत्, त्वयि, उपपद्यते,
क्षुद्रम्, हृदयदौर्बल्यम्, त्यक्त्वा, उत्तिष्ठ, परंतप ।

पार्थ=हे पार्थ, क्लैब्यम्=नपुंसकता को, मा स्म गमः=प्राप्त मत हो. एतत्=यह, त्वयि=तेरे, न=नहीं, उपपद्यते=योग्य है. परंतप=हे परंतप, क्षुद्रम्=तुच्छ, हृदयदौर्बल्यम्=हृदय की दुर्बलता को. त्यक्त्वा=छोड़कर, उत्तिष्ठ=खड़े हो जाओ !

अनुचित नपुंसकता तुम्हें हे पार्थ ! इसमें मत पड़ो ।
यह क्षुद्र कायरता परंतप ! छोड़कर आगे बढ़ो ॥

अर्थ—*हे पार्थ ! नपुंसकता को प्राप्त मत हो यह तेरे योग्य नहीं है । हे परंतप ! तुच्छ हृदय की दुर्बलता को छोड़कर खड़े हो जाओ !*

व्याख्या—मन की मलिनता और विषाद से दुर्बलता का जन्म होता है। दुर्बलता ही क्लीवता है।

क्लीव का साधारण अर्थ है—पौरुष-हीन अथवा नपुंसक। मन जब मलिन हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, कर्म में रुचि नहीं रहती और बुद्धि की दृढ़ता नष्ट हो जाती है, तब मनुष्य को क्लीवता घेरती है।

उच्च और गौरवशाली कुल में अथवा राज ऋषियों और श्रेष्ठजनों के वंश में जन्म लेनेवाले कभी आत्मग्लानि में नहीं डूबते। मान्धाता, पुरुषोत्तम श्रीराम, जनक आदि राज ऋषियों के चरित्र और आदर्श को सन्मुख रखनेवाला कुलकी कीर्ति पर धब्बा नहीं लगने देता।

अर्जुन पृथा का पुत्र था। उसकी उज्ज्वल वंश की स्मृति जागृत करते हुए श्रीकृष्ण ने आत्म-प्रेरक और हृदय को छू लेनेवाले शब्दों में कहा—"हे पृथा के पुत्र पार्थ! क्लीवता की कीचड़ में क्यों फँस रहे हो? तुम्हारे वंशधरों ने कभी धीरज नहीं छोड़ा! नपुंसक की भांति विलाप करने की यह नयी प्रथा तुम्हारे योग्य नहीं है। हृदय की दुर्बलता को खण्ड खण्ड कर दो और आगे बढ़ो!"

विचारों का प्रवाह आत्मा के अमृत-स्रोत से उमड़ना चाहिये। परिस्थितियों की दीनता और मानसिक निर्बलता से बहते हुए विचार, जीवन का पतन कर देते हैं। आत्म-विश्वास अदम्य विद्युत शक्ति है, उसमें अजेय मानसिक बल भरा रहता है। आत्म-ग्लानि निकृष्ट गँदली खाई है जिस पर क्लीवता की काई जम जाती है।

जीवन की सफलता का मूल मानसिक बल है। जिसके पास मनोबल, उच्च विचार और आत्म-सम्मान नहीं होता उसे संसार में मान नहीं मिलता।

कायरता और हृदय की दुर्बलता को छोड़कर उत्साह सहित आगे बढ़ने का नाम जीवन है। विषाद में डूबने का नाम मृत्यु है।

"विषादो दोषवत्तरः, विषादो हन्ति पुरुषम्।" —बाल्मीकि

विषाद बड़ा भारी पाप है, विषाद पुरुष को खा जाता है।

'निरुत्साहस्य दीनस्य शोकपर्याकुलात्मनः।
सर्वार्था व्यवसीदन्ति व्यसनं चाधिगच्छति॥' (लङ्का० २।६)

उत्साह-हीन, दीन तथा विषाद-ग्रस्त रहनेवाले के सब काम बिगड़ जाते हैं और वह जटिल संकटों में घिर जाता है।

विषाद और विकारों से उत्पन्न क्लीवता श्रेष्ठ और उन्नतशील पुरुषों के योग्य नहीं है। निरन्तर साधना और कुल-कीर्ति की यशस्विनी माता के उदर से जन्म लेनेवाले वीर पुत्र, तुच्छ हृदय की दुर्बलता को पास नहीं आने देते।

क्षुद्र हृदय की दुर्बलता को छोड़कर खड़ा हो जानेवाला अपना कर्त्तव्य पूरा करके अपने राम का काम करता है। जाम्बन्त के एक ही प्रेरणात्मक वाक्य ने हनुमान् को सिन्धु-पार करने के योग्य बना दिया था। उत्साह जगा देनेवाले वाक्य मन्त्र का कार्य करते हैं।

उत्साह से जिनके हृदय की दुर्बलता निर्मूल हो जाती है, उनके मन को विषाद के काले बादल नहीं ढक पाते। उत्साही पुरुष सूर्य की भांति निरन्तर आगे बढ़ता है। उसका कोई कर्म अपूर्ण नहीं रहता।

श्रीकृष्ण ने उत्साह जाग्रत करने के लिये यह महामन्त्र दिया है, 'पार्थ' कहकर अर्जुन को उसके मातृ वंश की वीर-स्मृति दी और 'परन्तप' कहकर उसके अदम्य, अजेय तथा अपराजित पुरुषत्व को जगाया।

क्यों और कैसे की उलझन में पड़े हुए मनुष्य हाथ-पैर हिलाने की अपेक्षा बौद्धिक युद्धों में ही अपने बल को तोला करते हैं। श्रीकृष्ण की उत्साहवर्द्धक और प्रेरणात्मक वाणी ने अर्जुन को सावधान किया, परन्तु उसके प्रज्ञावाद ने तर्क और शंकाओं की भरमार करदी—

४

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥

कथम्, भीष्मम्, अहम्, संख्ये, द्रोणम्, च, मधुसूदन, इषुभिः, प्रति, योत्स्यामि, पूजार्हौ, अरिसूदन् ।

मधुसूदन=हे मधुसूदन, अहम्=मैं, संख्ये=युद्ध भूमि में, भीष्मम्=भीष्म-पितामह, च=और, द्रोणम्=द्रोणाचार्य के, प्रति=प्रति, कथम्=किस प्रकार, इषुभिः=बाणों से, योत्स्यामि=युद्ध करूँगा, अरिसूदन=हे अरिसूदन, पूजार्हौ=(वे) पूजा करने योग्य हैं ।

किस भाँति मधुसूदन ! समर में भीष्म द्रोणाचार्य पर ।
मैं बाण अरिसूदन ! चलाऊँ वे हमारे पूज्यवर ॥

अर्थ—हे मधुसूदन ! मैं युद्धभूमि में भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य के प्रति किस प्रकार बाणों से युद्ध करूँगा ? हे अरिसूदन ! वे पूजा करने योग्य हैं ।

व्याख्या—ब्रह्माण्ड और पिण्ड में सर्वत्र दो शक्तियाँ निरन्तर कार्य करती हैं—एक जीव दूसरा ब्रह्म । जीव अपनी चेतना को विषय-भोगों के साथ जोड़कर असत्, अंधेरे और मृत्यु की ओर जाता है; ब्रह्म अपनी चेतन सत्ता से सत्, प्रकाश और अमृत प्रदान करता है । जीव गिरकर मृत्यु के मुख में पड़ता है, ब्रह्म एक-रस रहकर उसे बार-बार बचाता है ।

जीव अपने तर्क, संशय और मोह से अज्ञान का समर्थन करने में प्रवृत्त रहता है और ब्रह्म, ऋत तथा सत्य की प्रतिष्ठा करता है। मनुष्य का मन, इन दोनों शक्तियों के बीच में पड़कर खिंचता रहता है।

अर्जुन और कृष्ण इसी सत्य के रूप हैं। अर्जुन, भीष्म और द्रोणाचार्य को आगे रखकर युद्ध से पीछे हटना चाहता है, श्रीकृष्ण उसे स्वधर्म का बोध कराते हैं।

आध्यात्मिक दृष्टि से भीष्म मन का अहं बल है। वह तप और ब्रह्मचर्य से परम तेजस्वी तथा इच्छा मृत्यु भी हो सकता है और समर्थ होकर संग-दोष के कारण दुराग्रह भी कर सकता है। मनोबल से सत्याग्रह और दुराग्रह दोनों सम्भव हैं।

इसी प्रकार द्रोण, संस्कारों के समूह हैं। संस्कारों से विद्या, ज्ञान और बल मिलता है। जीव रूप अर्जुन अपने मन और संस्कारों से युद्ध नहीं करना चाहता।

गीता की ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार अर्जुन ने द्रोणाचार्य से शस्त्रविद्या सीखी थी और भीष्म उसके पितामह परम ज्ञानी एवं भक्त थे। अर्जुन ने सहज स्वभाव से कहा—

"हे मधुसूदन! आप असुर निकन्दन हैं—भीष्म और द्रोणाचार्य दोनों ही परम भक्त हैं। हे अरिसूदन! आप शत्रु संहारी हैं—भीष्म और द्रोणाचार्य तो पूजा करने के योग्य हैं।"

अर्जुन ने युक्ति और प्रमाण-सहित अपने मन की बात कह दी। भीष्म की भक्ति, साधना और ज्ञान की गाथा श्रीकृष्ण के सन्मुख खड़ी करके उसने अपनी ममता को ढकने का प्रयत्न किया और गुरुजनों के प्रति श्रद्धा दिखाते हुए कहा—

५

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥

गुरून्, अहत्वा, हि, महानुभावान्, श्रेयः, भोक्तुम्, भैक्ष्यम्, अपि, इह, लोके, हत्वा, अर्थकामान्, तु, गुरून्, इह, एव, भुञ्जीय, भोगान्, रुधिरप्रदिग्धान्।

महानुभावान्=महानुभाव, गुरून्=गुरुजनों को, अहत्वा=न मार कर, इह=इस, लोके=संसार में, भैक्ष्यम्=भिक्षा को, भोक्तुम्=भोगना, अपि=भी, श्रेयः=अच्छा है, हि=क्योंकि, अर्थकामान्=अर्थ की कामनावाले, गुरून्=गुरुजनों को, हत्वा=मार कर, इह=इस लोक में, रुधिरप्रदिग्धान्=रुधिर से सने हुए, भोगान्=भोगों को, एव=ही, तु=तो, भुञ्जीय=भोगूँगा।

भगवन्! महात्मा गुरुजनों का मारना न यथेष्ट है।
इससे जगत् में माँग भिक्षा पेट पालन श्रेष्ठ है॥
इन गुरुजनों को मारकर जो अर्थ - लोलुप हैं बने।
उनके रुधिर ही से सने सुख भोग होंगे भोगने॥

अर्थ—महानुभाव गुरुजनों को न मारकर इस संसार में भिक्षा को भोगना भी अच्छा है, क्योंकि अर्थ की कामनावाले गुरुजनों को मारकर इस लोक में रुधिर से सने हुए भोगों को ही तो भोगूँगा।

व्याख्या—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पदार्थों की प्राप्ति के लिये परम पुरुषार्थ करना प्रत्येक जीवधारी का कर्त्तव्य है। धर्म को छोड़कर केवल अर्थ और काम में प्रवृत्त होनेवाला स्वर्ग के सुख को खो देता है। अर्थ और काम में आसक्त होकर कर्म करनेवाला कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो जाता है।

सूक्ष्म दृष्टि से द्रोणाचार्य और भीष्म पितामह का युद्ध-कर्म केवल अर्थ और काम के लिये था। भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से अपने हृदय की बात बताते हुए कहा था—

"अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज! बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥"

हे युधिष्ठिर! मैं कौरवों के अर्थ में बँधा हुआ हूँ। यह सत्य है कि पुरुष अर्थ का दास होता है, अर्थ किसी का दास नहीं होता।

पितामह की स्पष्ट बात सुनकर भी अर्जुन ने मानव स्वभाव-जनित मोह और अंध श्रद्धा से अर्थ-लोलुप गुरुजनों को मारने की अपेक्षा भिक्षा माँगकर खाना श्रेष्ठ मान लिया।

अर्जुन को प्रगति-हीन अकर्मण्य वैराग्य ने घेर लिया था। कर्त्तव्य-पथ से हटकर, कुल की सनातन वृत्ति को छोड़कर और पुरुषार्थ-हीन दीन जीवन बिताकर उसे भिक्षा मांगकर खाने में शान्ति और सरलता जान पड़ती थी।

मनुष्य बिना संघर्ष किये सुख की इच्छा करता है, प्रायः चोट खा जाने पर विषाद की अवस्था में निकृष्ट वैराग्य हो आया करता है और निर्बल मन हार कर कह देता है—

"अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम्।
अक्लेशयित्वा चात्मनं यदल्पमपि तद्बहुः॥"
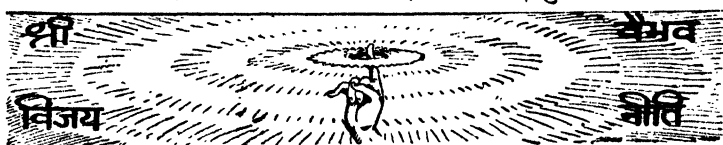
किसी को संताप न देना पड़े, दुर्जनों के द्वार पर न जाना पड़े, आत्मा को क्लेश न देकर जो थोड़ा-बहुत मिल जाय वही बहुत है।

अर्जुन इसी मिथ्या वैराग्य के फेर में पड़कर स्वधर्म से हटने का विचार कर रहा था। उसने इस सनातन सत्य की ओर से आँखें फेर ली थीं कि—

"गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥"

कार्य और अकार्य को न जाननेवाले, दोषों में लिप्त और निषिद्ध पथ पर चलनेवाले गुरु को त्याग देना ही धर्म है।

गोस्वामी तुलसीदास ने धर्म की व्यवस्था देते हुए कहा है—

'जाके प्रिय न राम वैदेही,
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।
तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलिगुरु तज्यो कन्त ब्रज बनिता भये सब मंगलकारी॥'

मोह और पक्षपात में पड़ा हुआ न्यायाधीश न्याय नहीं कर सकता। दोषी चाहे स्वजन, सखा, स्वामी, गुरू कोई क्यों न हो वह दण्ड का भागी है। अपराधी को दण्ड न देने से सत्य का मार्ग भ्रष्ट हो जाता है।

कर्त्तव्य का मार्ग, सत्य और सावधानी का मार्ग है। अपने-अपने पद और स्थान से निष्पक्ष होकर कर्त्तव्य-पालन करने में ही राष्ट्र का श्रेय है। मोह, अन्याय और पक्षपात व्यष्टि और समष्टि किसी के लिये हितकर नहीं है।

पक्षपात, ममता और मोह के कारण उच्चपदाधिकारी भी पद दलित होने के कर्म करते हैं।

अर्जुन ने इसी मोह में पड़कर रक्त में सने सुख-भोग भोगने की बात कह डाली। अपने मोह को ज्ञान से ढकने का प्रयत्न करते-करते वह किं कर्त्तव्य विमूढ होगया। उसने व्याकुल होकर कहा—

६

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥

न, च, एतत्, विद्मः, कतरत्, नः, गरीयः, यद्वा, जयेम, यदि, वा, नः, जयेयुः, यान्, एव, हत्वा, न जिजीविषामः, ते, अवस्थिताः, प्रमुखे, धार्तराष्ट्राः ।

नः=हमारे लिये, कतरत्=क्या (करना), गरीयः=अधिक श्रेष्ठ है, एतत्=यह, च=भी, न=नहीं, विद्मः=(हम) जानते, यद्वा=और (यह भी नहीं जानते कि), जयेम=हम जीतेंगे, यदि वा=या, नः=हमको, जयेयुः=वे जीतेंगे, यान्=जिन्हें, हत्वा=मारकर, न जिजीविषामः=हम जीना भी नहीं चाहते, ते=वे, एव=ही, धार्तराष्ट्राः=धृतराष्ट्र के पुत्र, प्रमुखे=हमारे सामने, अवस्थिताः खड़े हैं ।

जीतें उन्हें हम या हमें वे, यह न हमको ज्ञात है ।
यह भी नहीं हम जानते, हितकर हमें क्या बात है ॥
जीवित न रहना चाहते हम, मारकर रण में जिन्हें ।
धृतराष्ट्र-सुत कौरव वही, लड़ने खड़े हैं सामने ।

अर्थ—हमारे लिये क्या करना अधिक श्रेष्ठ है, यह भी हम नहीं जानते और यह भी नहीं जानते कि हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे । जिन्हें मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं ।

व्याख्या—बुद्धि कितनी ही बलवान हो उसका निश्चय डिगते ही उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। मनुष्य के सन्मुख जीवन के अनेक पथ खुले रहते हैं। अनिश्चित बुद्धि से वह किसी पथ पर चलने का निर्णय नहीं कर पाता। यह अच्छा है अथवा वह अच्छा है? क्या करूँ क्या न करूँ? इस द्विविधा का सुलझाव अकेली बुद्धि नहीं कर पाती।

मोह के कारण अर्जुन की बुद्धि में भेद के अंकुर फूट निकले। उसे तीन शंकाओं ने घेर लिया—

१—युद्ध करना श्रेष्ठ है अथवा भिक्षा माँगकर पेट भरना।

२—हमारी विजय होगी अथवा कौरवों की।

३—हमारा पक्ष प्रबल है अथवा कौरवों का।

इस जगत् का ऐसा नियम है कि यहाँ युद्ध के बिना जीवन के किसी क्षेत्र में विजय नहीं मिलती। जीवन भी एक युद्ध है। जड़ और चेतन शक्तियों के संघर्ष से जगत् चलता है। प्राणियों, अनेकों शक्तियों, भांति-भांति की प्रवृत्तियों और सिद्धान्तों के परस्पर संघर्ष में ही जीवन है। संघर्ष से ही सृष्टि का चक्र प्रगतिशील है। परिस्थितियों से युद्ध किये बिना किसी प्रकार की विजय नहीं मिलनी।

उदर-पूर्ति के लिये भिक्षा माँगना एक निकृष्ट पाप-कर्म है, जो जीवन की हिंसा कर देता है। अर्जुन के प्रश्न में मनुष्य के जीवन और कर्म का प्रश्न है।

प्राय: कर्म की कठिनाई देखकर मनुष्य का मन पीछे हटता है और एक प्रश्न उसके मस्तिष्क को भारी कर देता है—'परिणाम क्या होगा?'

विजय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से विचार-शक्ति घिर जाती है और कर्म-शक्ति के साथ जूझने लगती है।

क्या होगा ? कैसे होगा ? किस ओर जाऊँ ? क्या करूँ ? आदि प्रश्नों में उलझा हुआ प्राणी जीवन की किसी भी समस्या को सुलझाने के योग्य नहीं रहता।

द्वन्द्वों में फँसा हुआ मनुष्य, अपने ही अन्तः क्षेत्र में एकत्रित हुए दैवी और आसुरी भावों के बल को नहीं तोल पाता। सांसारिक प्रपञ्चों और आध्यात्मिक शक्तियों का भी उसे बोध नहीं रहता।

शंकाओं उलझनों और द्वन्द्वों में घिरकर जीव, जीवन से ऊब जाता है और मानसिक वृत्तियों के सन्मुख उसके पैर लड़खड़ा जाते हैं। वह उन्हें मारकर जीवित रहने में अपना भला नहीं देखता।

संसार का सामना करते समय उलझनों में पड़ जानेवाला अपने जीवन को खो देता है। इस अवस्था में अदम्य साहस, ज्ञान, बल और सहारा देनेवाला एकमात्र परमेश्वर है। संसार के भयंकर युद्धक्षेत्र में परमेश्वर से दीक्षा लेकर आगे बढ़नेवाले की नैतिक, आध्यात्मिक और जीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण कठिनाइयाँ सरलता से हल हो जाती हैं। मनुष्य का केवल इतना ही काम है कि वह कठिन से कठिन समय में भी परमेश्वर को न भूले।

अर्जुन, श्रीकृष्ण का अन्तरंग सखा था। प्रत्येक मनुष्य अर्जुन के समान विषाद में घिरकर अपने अनन्य साथी की ओर देखता है और जब वह शिष्य भाव से परमेश्वर की शरण लेता है तो परमेश्वर उसके साथ वैसा ही व्यवहार करता है, जैसा श्रीकृष्ण ने अर्जुन के साथ किया।

जीवन का कोई सहारा न देखकर मोह, अंधकार, विषाद, भ्रम और संशयों से घिरे हुए अर्जुन ने अपने सुहृद्, सहायक और अभिन्न सखा के सन्मुख आत्म-निवेदन किया—
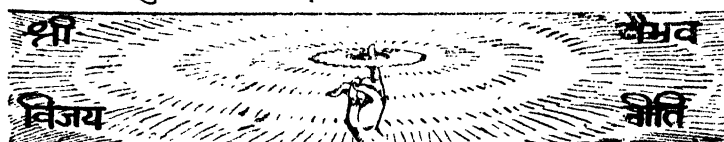
७

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः, पृच्छामि, त्वाम् , धर्मसंमूढचेताः, यत् , श्रेयः, स्यात् . निश्चितम् , ब्रूहि, तत्, मे, शिष्यः, ते, अहम् , शाधि, माम् , त्वाम् , प्रपन्नम् ।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः = कायरता के दोषों से दबे हुए स्वभाववाला, धर्मसंमूढचेताः=धर्म के विषय में मोहित हुए चित्तवाला (मैं), त्वाम्=आपसे, पृच्छामि=पूछता हूँ, यत्=(कि) जो कुछ, निश्चितम्=निश्चय किया हुआ, श्रेयः=कल्याण करनेवाला हो, तत्=वह, मे=मुझसे, ब्रूहि=कहो, अहम्=मैं, ते=आपका, शिष्यः=शिष्य हूँ, त्वाम्=आपकी, प्रपन्नम्=शरण में आये हुए, माम्=मुझको, शाधि=शिक्षा दीजिये ।

कायरपने से हो गया सब नष्ट सत्य-स्वभाव है ।
मोहित हुई मति ने भुलाया धर्म का भी भाव है ॥
आया शरण हूँ आपकी मैं शिष्य शिक्षा दीजिये ।
निश्चित कहो कल्याणकारी कर्म क्या मेरे लिये ॥

अर्थ—कायरता के दोषों से दबे हुए स्वभाववाला, धर्म के विषय में मोहित हुए चित्तवाला मैं आपसे पूछता हूँ कि जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याण करनेवाला हो वह मुझसे कहो मैं आपका शिष्य हूँ आपकी शरण में आये हुए मुझको शिक्षा दीजिये ।

व्याख्या—ममता से विचार शक्ति दब जाती है और कृपणता के दोष रावण की भांति सत्य स्वाभाविक वृत्ति रूपा सीता का हरण कर लेते हैं।

कार्पण्य दोष—

हृदय के दीनभाव को कृपणता कहते हैं। ज्ञान, बल, बुद्धि, धन आदि का सदुपयोग न करनेवाला भी कृपण कहलाता है। कृपणजन थोड़ा सा भी त्याग नहीं कर सकता। उसे कुछ भी देते हुए संकोच होता है। अदाता, विषादग्रस्त, दीन, क्षुद्र और दोषपूर्ण को कृपण कहते हैं।

'कृपणोऽजितेन्द्रियः।'

जो जितेन्द्रिय नहीं है वह भी कृपण है।

'यो वा एतदक्षरमविदित्वा स कृपणः।'

जो अक्षर आत्मा को नहीं जानता उसे कृपण कहते हैं।

अज्ञानीजन सुनने, समझने, कर्म करने और ध्यान देने में भी कृपणता करते हैं। कृपणता के दो भयंकर परिणाम होते हैं—

१—मानवीय सत्य स्वभाव दब जाता है।

२—धर्म के विषय में मोह हो जाता है।

मनुष्य के स्वभाव में आत्मा का सत्य और परमात्मा का प्रकाश रहता है। स्वभाव ही अध्यात्म है। स्वभाव का सम्बन्ध अन्तःकरण से है। स्वभाव से प्रत्येक प्राणी निर्मल, सरल, सत्यशील तथा आत्मवान् होता है।

संस्कार, सम्पर्क, संग और गुणों से स्वभाव में परिवर्तन होता है। बनावटी स्वभाव मनुष्य को सत्य और शक्ति से दूर कर देता है। स्वभाव पर सबसे बुरा प्रभाव डालनेवाला कृपणता का दोष है

श्री वैभव विजय नीति

कृपण मनुष्य स्वधर्म को नहीं जान पाता। धर्म मनुष्य के साथ ही जन्मता है। जो कर्म, नियम और आचार-विचार जीवन को खड़ा करने में सहायक होते हैं उन्हें 'धर्म' कहते हैं। अर्जुन की सम्पूर्ण चेतना अपहृत होगयी थी। उसे धारण करनेवाले धर्म का बोध नहीं रहा था। क्या करे? और क्या न करे? इसका निर्णय करने की बुद्धि अर्जुन को छोड़ गयी थी। अन्तःकरण के विद्रोह ने उसे संकट में डाल दिया था। उसकी इन्द्रियाँ, मन, प्राण, हृदय और बुद्धि में विषाद भर गया था। इस अवस्था में भी अपने प्रबल संस्कारों और सत्संग के प्रभाव से उसमें भागवत भाव शेष रह गया था। इसी भाव की प्रेरणा से उसने श्रीकृष्ण की शरण लेकर आत्म-समर्पण कर दिया। कर्त्तव्य का मार्ग अथवा धर्म को जानने की प्रबल अभिलाषा और व्याकुलता से शिष्य भाव का प्रभात होता है।

शिष्य भाव—

श्रीकृष्ण के अधिकाधिक समीप रहने से अर्जुन उनका अभिन्न मित्र था। जीव और ब्रह्म, शिष्य और गुरु सदा मित्र रहते हैं परन्तु गुरु के साथ मित्रों अथवा साथियों जैसा साधारण व्यवहार करनेवाला शिष्य ज्ञान की सम्पत्ति पाने योग्य नहीं होता। शिष्य में विनम्रता, जिज्ञासा, तत्परता और श्रद्धा की तेजस्वी किरणों का सूर्य भाव उदय होकर जीवन के कमल को खिला देता है।

केवल शिष्य हो जाने में भी कर्त्तव्य का ज्ञान नहीं होता। शिष्यभाव के साथ निश्चित मार्ग जानने की सच्ची अभिलाषा से ऋत और सत्य का मार्ग मिलता है। उस मार्ग पर चलने से जीवन सफल और मुक्त होता है।

अर्जुन ने शिष्य होकर अपने हृदय की एक बात कह दी—

"जो निश्चित और श्रेयस्कर हो वह मुझसे कहो ? एक सच्चा धर्म दीजिये, कर्म का एक निश्चित और स्पष्ट मार्ग मुझे बताइये जिस पर मैं चल सकूँ ।"

अपने प्रश्न का उत्तर पाने के लिये अर्जुन ने कहा कि मैं आपकी शरण लेता हूँ। शिष्यभाव के साथ शरणागति योग से ही ज्ञान की निधि हाथ लगती है।

शरणागति योग—

शरणागति का आधार सत्य और जिज्ञासा है। शरणागति जीवन-मुक्ति का मार्ग है। शरणागत अपने 'अहम्' को शरण्य के अर्पण कर देता है। अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों, वासनाओं और कामनाओं को प्रभु के चरणों में चढ़ाकर शरणागत मुक्त हो जाता है।

शरणागत वही है जो अपने भीतर और बाहर की प्रत्येक वस्तु, परमेश्वर के चरणों में चढ़ा देता है, जो अपनी किसी कुटेव, मूढ़ता और अभिमान से कहीं अड़ता नहीं वरन् ईश्वरीय आज्ञा से कर्म करता हुआ बढ़ता है और अपने-आपको प्रभु के हाथों से नहीं निकलने देता।

शरणागति की अवस्था में शब्दों से नहीं—हृदय से कर्म होता है। शरणागत की बुद्धि दैवी प्रकाश से जगमग रहती है।

गुरु—

नित्य निरंजन निराकार ब्रह्म, सर्वत्र व्याप्त रहकर भी सबको नहीं मिलता। उस गहन गम्भीर-विराट् और अनन्त तत्त्व को जानने और पाने की साधना में जिस धैर्य और तत्परता की आवश्यकता है वह दुर्लभ है। मनुष्य, स्वभाव से ही एक साकार पथ-प्रदर्शक चाहता है जिसके साथ वह बोल सके, जिसके सामने अपने

हृदय को खोलकर रख सके, जिसकी वाणी सुनकर कृतार्थ हो सके और जिसकी सेवा से कर्मशीलता, त्याग, स्नेह तथा परमार्थ की दीक्षा लेकर जीवन को सत्य, शिव और सुन्दर बना सके।

मनुष्य के हृदय में उसके पथ-प्रदर्शक अन्तर्यामी गुरु नित्य विराजमान रहते हैं। गुरु का कार्य इस अन्तर्यामी जगद्गुरु की ज्योति का दर्शन करा देना है। जीवन के इसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये मनुष्य ने देवता, अवतार, गुरु, मन्दिर आदि का निर्माण किया है।

जो श्रद्धा और तत्परता से चित्त की वृत्तियों और कर्मों को सद्गुरु के अर्पण करता है और आत्म समर्पण का दृढ़ व्रत लेकर पुरुषोत्तम के साथ सम्बन्ध जोड़े रहता है; उसके जीवन में ज्ञान, शक्ति, सुख, मधुरता, मंगल, मुक्ति और आनन्द का सुधा-सिन्धु लहराता है।

निष्कपट भाव से अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण को गुरु वरण किया और जीवन का मार्ग जानने की सात्त्विक जिज्ञासा की। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को शिष्य स्वीकार किया। गुरु की कृपा का वरद हस्त, ज्ञान का दिग्दर्शन कराके अभयदान देता है।

अर्जुन मानवमात्र का प्रतिनिधि है, उसमें मनुष्य के स्वभाव की निर्बलता और चञ्चलता है। प्रायः मनुष्य का मन डावांडोल रहता है और वह अपने ही मन की बात रखना चाहता है। स्वभाव की इस दीनता के कारण अर्जुन ने कहा—

८

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥

न, हि, प्रपश्यामि, मम, अपनुद्यात्, यत्, शोकम्, उच्छोषणम्, इन्द्रियाणाम्, अवाप्य, भूमौ, असपत्नम्, ऋद्धम्, राज्यम्, सुराणाम्, अपि, च, आधिपत्यम् ।

हि = क्योंकि, भूमौ = संसार में, ऋद्धम् = धन धान्य से भरे हुए, असपत्नम् = निष्कण्टक, राज्यम् = राज्य को, च = और, सुराणाम् = देवताओं के, आधिपत्यम् = स्वामित्व को, अवाप्य = प्राप्त करके, अपि = भी (मैं), तत् = उस (उपाय) को, न = नहीं, प्रपश्यामि = देखता, यत् = जो, मम = मेरी, इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों के, उच्छोषणम् = सुखानेवाले, शोकम् = शोक को, अपनुद्यात् = दूर कर सके ।

धन-धान्य-शाली राज्य निष्कंटक मिले संसार में ।
स्वामित्व सारे देवताओं का मिले विस्तार में ॥
कोई कहीं साधन मुझे फिर भी नहीं दिखता अहो ।
जिससे कि इन्द्रिय-तापकारी शोक सारा दूर हो ॥

अर्थ—क्योंकि संसार में धन-धान्य से भरे हुए निष्कण्टक राज्य को और देवताओं के स्वामित्व को प्राप्त करके भी मैं उस उपाय को नहीं देखता जो मेरी इन्द्रियों के सुखानेवाले शोक को दूर कर सके ।
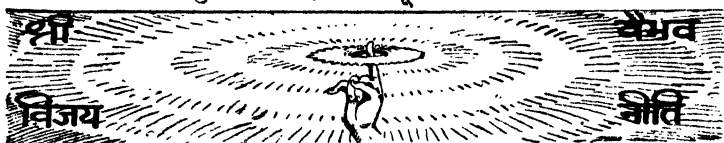
व्याख्या—संसार के दुःखों से पीड़ित जीव को विचारों का बवण्डर घेर लेता है, उसके अन्तःकरण में एक उथल-पुथल मच जाती है। ऐसी अवस्था में विषय-भोग, धन-धाम विष के समान जान पड़ते हैं। व्याकुलता जितनी अधिक होती है, जिज्ञासा उतनी ही बढ़ती है।

अर्जुन के मन, बुद्धि और इन्द्रियों में एक प्रचण्ड विप्लव हो रहा था। उसने व्याकुल होकर निश्चित मार्ग जानने के लिये श्रीकृष्ण की शरण ली थी। उसमें जानने की अदम्य अभिलाषा जाग उठी थी।

उपनिषदों में नचिकेता की कथा में ऐसी ही उत्कट जिज्ञासा का दर्शन है—यम ने नचिकेता को राज्य-सुख-भरे अनेक प्रलोभन दिये, परन्तु नचिकेता ने कहा कि संसार के क्षणभंगुर भोग, राग-सुख, धन-सम्पत्ति तो इन्द्रियों का तेज क्षीण करनेवाले हैं, आयु चाहे कितनी ही बड़ी हो वह भी सुख-भोग में छोटी पड़ जाती है। मरण निश्चित है तो अनित्य पदार्थों से सन्तोष नहीं मिल सकता—

'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।' (कठ० १।१।२६)

धन से कभी तृप्ति नहीं होती, मुझे आत्मज्ञान चाहिये।

जिज्ञासा की ऐसी जागृति, सम्पूर्ण ज्ञान की जननी है। अर्जुन में इसी जिज्ञासा की पवित्र अग्नि भड़क उठी थी। उसमें तपकर वह गीता के ज्ञान का पात्र बन चुका था। इसीलिये संसार का निष्कण्टक राज्य और देवताओं का स्वामित्व भी उसे तुच्छ लग रहा था। उसके सामने एकमात्र प्रश्न था—निश्चित और श्रेयस्कर धर्म का मार्ग जानने का। यही शरणागत भाव जीव को गीताज्ञान का अधिकारी बनाता है।

जिज्ञासा के प्रारम्भ में मन की अवस्था अस्थिर रहती है। मन और बुद्धि की खींचातानी में वह इधर-उधर भटकता रहता है। अर्जुन की इस अवस्था का वर्णन करते हुए संजय ने कहा—

९

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥

एवम्, उक्त्वा, हृषीकेशम्, गुडाकेशः परंतप,
न, योत्स्ये, इति, गोविन्दम्, उक्त्वा, तूष्णीम्, बभूव, ह ।

परंतप=हे राजन्, एवम्=इस प्रकार, उक्त्वा=कहकर, गुडाकेशः=गुडाकेश (अर्जुन), हृषीकेशम्=हृषिकेश, गोविन्दम्=श्रीकृष्ण से, इति=ऐसे, ह=स्पष्ट, उक्त्वा=कहकर, तूष्णीम्=चुप, बभूव=होगया (कि मैं), न योत्स्ये=युद्ध नहीं करूँगा ।

इस भाँति कहकर कृष्ण से राजन् ! लड़ूँगा मैं नहीं ।
ऐसे वचन कह गुडाकेश अवाच्य हो बैठे वहीं ॥

अर्थ—हे राजन् ! इस प्रकार कहकर गुडाकेश अर्जुन हृषीकेश श्रीकृष्ण से स्पष्ट यह कहकर चुप होगया कि मैं युद्ध नहीं करूँगा ।

व्याख्या—सम्पूर्ण मनोवेगों की समता का आधार तितिक्षा है। सत्संग अनुभव और तप से तितिक्षा दृढ़ होती है। शोक, क्लेश, अपमान, असुविधा, निन्दा, पराजय, दुर्भाग्य आदि के वेग सहिष्णुता को पीछे धकेल देते हैं और समता, मानसिक सुख तथा शान्ति की पंक्ति तोड़ देते हैं। ऐसी अवस्था में चिर अभ्यस्त संयमी और साधक भी विक्षोभों से दब जाते हैं। निराशा, ग्लानि, असन्तोष, विषाद और अरुचि से बुद्धि में संतुलन नहीं रहता और जीव भावावेगों को रोकने में असमर्थ होकर

श्री वैभव
विजय नीति

श्रेष्ठ पुरुषों की मुस्कान में जादू भरा रहता है। आकर्षण, उपहास, ताड़ना और उपदेश का कार्य महापुरुषों की मुस्कान से सहज में हो जाता है।

श्री आनन्दगिरि ने प्रहसन्निव का अर्थ—'उपहासं कुर्वन्निव' किया है। किसी के अनुचित आचरण का उपहास करने के लिये और उसे लज्जा के सिन्धु में डुबा देने के लिये एक मुस्कान अपना काम कर जाती है।

मुस्कान—ज्ञान और संयम का चिन्ह है। श्रेष्ठ पुरुषों की मुस्कान विजय-सूचक होती है। दुःख में, सुख में और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में श्रेष्ठजन मुस्कराते हुए आगे बढ़ते हैं।

मुस्कराते हुए कर्म करनेवाला सदा विजयी होता है। मुस्कान अन्तःशान्ति की सूचना देती है और कठोर तथा कड़ुवे कार्य को सरल एवं मधुर बना देती है। मुस्कान क्रोध को पी लेती है और उद्देश्य को पूर्ण करने का योग देती है।

श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण जीवन बाहरी घटनाओं के संयोगों से दुःख पूर्ण है। उन्हें सुखी, प्रतिभावान् और सफल बनानेवाली उनकी अन्तःशान्ति थी जिसकी ध्वनि वंशी के स्वरों में गूंजती थी और जिसकी आभा श्रीकृष्ण के अधरों पर थिरकती थी। दुःखों में भी महापुरुष मुस्कराते रहते हैं और अपनी मुस्कान से अपने तथा पराये कष्टों को दूर करते हैं।

परमेश्वर अपनी मुस्कान से मूढ़जनों को मोहित करते हैं, जिज्ञासु को ज्ञान देते हैं और नियति का कार्य करते हैं।

दुःखी अर्जुन को विषाद से छुड़ाने के लिये श्रीकृष्ण ने मुस्कराते हुए कहा—

११

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

अशोच्यान्, अन्वशोचः, त्वम्, प्रज्ञावादान्, च, भाषसे, गतासून्, अगतासून्, च, न, अनुशोचन्ति, पण्डिताः।

अशोच्यान्=जिसका शोक नहीं करना चाहिये, त्वम्=तू अन्वशोचः= उसका शोक करता है, च=और, प्रज्ञावादान्=प्रज्ञावाद की बातें (भी), भाषसे=कहता है, गतासून्=जिनके प्राण चले गये हैं, च=और, अगतासून्=जिनके प्राण नहीं गये (उनके लिये), पण्डिताः=पण्डितजन, न=नहीं, अनुशोचन्ति=शोक करते।

नि:शोच्य का कर शोक कहता बात प्रज्ञावाद की।
जीते मरे की विज्ञजन चिन्ता नहीं करते कभी॥

अर्थ--*जिसका शोक नहीं करना चाहिये तू उसका शोक करता है और प्रज्ञावाद की बातें भी कहता है। जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये उनके लिये पण्डितजन शोक नहीं करते।*

व्याख्या—अर्जुन ने अज्ञान और ज्ञान दोनों का एक साथ प्रदर्शन किया। यही मोहित मनुष्य का स्वरूप है। शोक का जन्म मोह से होता है। अज्ञान से पोषित होकर शोक, मनुष्य को स्वधर्म से दूर कर देता है।

शोक, अशान्ति, निराशा और आत्मग्लानि से मानसिक वृत्तियाँ दुर्बल हो जाती हैं और मनुष्य स्वधर्म को छोड़कर विधर्म अथवा

कुधर्म का आचरण करने लगता है। स्वधर्म का पालन करने की इच्छा होते हुए भी दुःखी जीव स्वधर्म को नहीं जान पाता—व्यर्थ के आडम्बरों में फँस जाता है, जो नहीं करना चाहिये वह करता है और जिसकी चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिये उसमें पड़ता है। जीव को इस स्थिति को देखकर ही श्रीकृष्ण ने कहा—

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्'

'जिसका शोक नहीं करना चाहिये उसका तू शोक करता है।' जीव की इसी भूल से संसार में पापों और तापों की उग्रता बढ़ती है। त्रयतापों से बचाने के लिये ही श्रीकृष्ण ने गीता का अक्षयवृक्ष खड़ा किया है। गीता रूपी वृक्ष का बीज श्रीकृष्ण का यही अनुभव है कि उनका अभिन्न सखा जीव, व्यर्थ के शोक और चिन्ता में घिर जाता है।

जीव अपने मोह और अज्ञान के कारण उधेड़बुन में पड़ा रहता है और अपने को ही कर्त्ता मानकर जगत् के साथ इस प्रकार नाता जोड़ता है मानो उसी के चलाने से संसार चलेगा।

अपने अज्ञान को ढकने के लिये प्राणी ज्ञानियों जैसी बातें करता है—

'प्रज्ञावादांश्च भाषसे।'

प्रज्ञावाद में ज्ञान और आचरण की भिन्नता रहती है। प्रायः प्राणी अपने दोषों और निर्बलताओं को प्रज्ञावाद से ढक कर अपने तथा दूसरों के गिरने के उपकरण बनाते हैं।

प्रज्ञावादी, ज्ञानी कहलाना चाहते हैं, परन्तु अज्ञान नहीं छोड़ते। उपदेश देते हैं परन्तु तदनुसार आचरण नहीं करते। अपने को न जानकर भी चतुराई दिखाते हुए दूसरों के विषय में बातें बनाते हैं। सत्य को सुनने और ग्रहण करने की शक्ति, उनके आचरण-हीन ज्ञान से दबी रहती है। ज्ञान के होते हुए भी प्रज्ञावादी

शोक से नहीं छूटते। अकर्मण्य ज्ञानियों की आँखें खोलने के लिये श्रीकृष्ण ने कहा—

'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।'

जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण हैं उनकी पण्डित-जन चिन्ता नहीं करते।

आत्म-विषयक बुद्धि का नाम पंडा है; जिसमें वह बुद्धि होती है वही पण्डित है। —शंकराचार्य

पण्डित जन विश्व की उत्पत्ति, पालन और प्रलय के रहस्य को जानते हैं। साधारण अर्थों के अनुसार इस श्लोक से ध्वनि उठती है कि भीष्म, द्रोण आदि का वध करने में अर्जुन चिन्तित और भयभीत था, उसका संताप दूर करने के लिये श्रीकृष्ण ने कहा कि मरने-जीने की चिन्ता व्यर्थ है।

प्रायः गीता की टीकाओं में आत्मा की अमरता और देह की नश्वरता दिखाकर मरने-जीने की चिन्ता से मुक्त रहना ही इस श्लोक का आशय प्रकट किया गया है। आदर्शवाद के लिये यह ज्ञान अच्छा है परन्तु व्यावहारिक जीवन में इसका आचरण उतना ही कठिन है जितना परमेश्वर को आँखों से देखना।

जिसके साथ जिसका जितना सम्बन्ध होता है उसे उसके योग और वियोग से उतना ही सुख-दुःख मिलता है—यह मृत्युलोक का स्वाभाविक नियम है।

श्रीराम को सीता का वियोग असह्य होगया था। लक्ष्मण बन्धु को शक्ति लगी देखकर श्रीराम का धैर्य छूट गया था। श्रीकृष्ण को पाण्डवों के जीवन और विजय की चिन्ता एक क्षण के लिये भी नहीं छोड़ती थी। भगवान भक्त के लिये सदा व्याकुल रहते हैं।
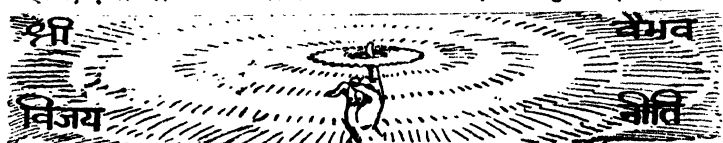
जिसे जीवन-मरण का शोक न हो, वह निस्सन्देह पण्डित है। परन्तु वास्तव में जीवन और मरण क्या है?

उपनिषदों में मृत्यु से छूटकर अमृतत्व की ओर जाने के लिये प्रार्थना की गई है। तदनुसार—

असत् मृत्यु है और सत् जीवन है।

तम मृत्यु है और ज्योति जीवन है।

मनीषी महामुनियों ने अनुभव किया है कि मृत्यु को लानेवाला काल नहीं है, दुःखों तथा अभावों से भी मृत्यु नहीं होती—मृत्यु होती है जीवन के पतन से।

महात्मा विदुर ने अपनी दिव्य दृष्टि से देखा था—

मृतास्त एवात्र यशो न येषां अन्धास्त एव श्रुति वर्जिता ये।
ये दानशीला न नपुंसकास्ते ये धर्मशीला न त एव शोच्या॥

जिन्होंने यश पाने का कोई काम नहीं किया वे मरे हुए हैं। जिन्होंने विद्या प्राप्त नहीं की उनके नेत्र बन्द हैं। जो दान शील नहीं हैं वे नपुंसक हैं और जो धर्मशील नहीं हैं उनकी दशा विचारणीय है।

जिनके धर्मरूप प्राण निकल जाते हैं वे मृत्यु से पहिले ही मर चुकते हैं। आत्मवान् अथवा धर्मशील कभी नहीं मरता। जो धर्मात्मा है वही प्राणवान् है।

धर्मात्मा सब प्रकार समर्थ होता है, उसकी चिन्ता व्यर्थ है। जो धर्म-हीन है वह निष्प्राण है, उसकी चिन्ता करके उसमें कोई प्राण नहीं डाल सकता।

कौरव अपने अधर्म के कारण मर चुके थे। रावण उसी दिन मर गया था जिस दिन उसने परनारी की ओर कुदृष्टि से देखा।

श्रीराम के अनन्य सेवक अंगद ने रावण और उसके साथियों को निष्प्राण देखकर कहा था—

कौल कामबश कृपन विमूढ़ा,
अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा।
सदा रोग बस संतत क्रोधी,
राम - विमुख श्रुति संत विरोधी।
तनु पोषक निंदक अघ-खानी,
जीवत सव सम चौदह प्राणी।

चौदह प्रकार के जीव जीते हुए भी मरे के समान हैं—नशे में मदमत्त रहनेवाले, कामी, कृपण, अत्यन्त अज्ञानी, अति दरिद्री, बदनाम, बुढ़ापे से मारे हुए, सदा रोगी, बात-बात में क्रोध करनेवाले, भगवान से विमुख रहनेवाले, स्वाध्याय और सत्संग से दूर रहनेवाले, पाप से धन कमाकर अपना ही पेट भरनेवाले, दूसरों की निंदा करनेवाले और पापों तथा विकारों से भरे हुए।

मृत्यु को दूर रखनेवाले प्राण हैं। प्राण ही परमेश्वर है—

'प्राणो ब्रह्म।' 'प्राणो ह्येष यः सर्व भूतैर्विभाति।'

यह प्राण रूप परमेश्वर है जो सब प्राणियों में प्रकाशित हो रहा है।

वेदों ने प्राणवान होकर जीवित रहने के लिये कहा है—

'परैतु मृत्युरमृतं न एतु।' (अथर्व १८।३।६२)

हम ऐसे कर्म करें कि मृत्यु दूर रहे और अमृत प्राप्त हो।

मिट्टी के तन रूप दीपक में प्राणों का प्रकाश है। परमेश्वर की कृपा के घृत और धर्म की बत्ती से जीवन की ज्योति जगमग रहती है। घृत अथवा बत्ती एक या दोनों के अभाव से ज्योति लुप्त हो जाती है और दीपक बुझ जाता है—इसी का नाम मृत्यु है। जिसमें परमेश्वर

और धर्म नहीं है, वह मृतक के समान है। धर्म-हीन अथवा निष्प्राण का शोक व्यर्थ है। जिनके प्राण नहीं गये (अगतासून्) उनके लिये भी शोक अथवा चिन्ता का कोई प्रयोजन नहीं।

मारीच मृग के पीछे गये हुए राम के लिये सीता को चिन्ता हुई थी। लक्ष्मण ने हँसते हुए केवल इतना ही कहा—

'सपनेहुँ संकट परै कि सोई।'

जिनमें प्राण हैं, जो धर्मशील, तेजस्वी तथा कर्त्तव्यनिष्ठ हैं उन पर स्वप्न में भी संकट नहीं पड़ते—उनकी चिन्ता व्यर्थ है।

धर्मात्मा जन को व्याधि नहीं घेरती, धर्मात्मा को ग्रहों की बाधा नहीं होती। जहां धर्म है वहां नित्य विजय रहती है।

गीताके इस बीज मंत्र में कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनोंका संगम है—

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्।"

जिसका शोक नहीं करना चाहिये उसका तू शोक करता है। यह पद सम्पूर्ण कर्म-शास्त्र का आधार है। मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है। कर्म-हीन होकर चिन्ताओं में घुलने के लिये मनुष्य-जन्म नहीं मिला है।

'प्रज्ञावादांश्च भाषसे।' प्रज्ञावाद की बातें भी कहता है।

व्यर्थ ज्ञान की बातें बनाने और ज्ञान के अभिमान में पड़े रहने की अपेक्षा परमेश्वर में मन लगाकर श्रद्धा और विश्वास सहित उसीकी सेवा में जीवन लगाना बहुत श्रेष्ठ है—यही गीता की भक्ति है।

'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।'

'जिनके प्राण निकल गये और जिनके प्राण हैं उनकी चिन्ता ज्ञानीजन नहीं करते'—यही गीता का सम्पूर्ण ज्ञान है। धार्मिक, शोक-रहित, तेजस्वी, समर्थ, स्वस्थ, गौरवशाली और ज्वलंत जीवन जीने के लिये सर्व प्रथम मनुष्य को आत्मा का बोध होना चाहिये।

आत्म-ज्ञान का प्रारम्भ करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

१२

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥

न, तु, एव, अहम्, जातु, न, आसम्, न, त्वम्, न, इमे, जनाधिपाः, न, च, एव, न, भविष्यामः, सर्वे, वयम्, अतः, परम् ।

न=न, तु=तो (ऐसा), एव=ही (है कि), अहम्=मैं, जातु=किसी काल में, न=नहीं, आसम्=था, त्वम्=तू, न=नहीं था, इमे=ये, जनाधिपाः=राजा लोग, न=नहीं थे, च=और, न=न (ऐसा), एव=ही (है कि), अतः=इससे, परम्=आगे, वयम्=हम, सर्वे=सब, न=नहीं, भविष्यामः=रहेंगे ।

मैं और तू राजा सभी देखो कभी क्या थे नहीं ।
यह भी असम्भव हम सभी अब फिर नहीं होंगे कहीं ॥

अर्थ—न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था तू नहीं था, ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ।

व्याख्या—आत्मा नित्य है । देह नश्वर है । अनित्य वस्तुओं में आसक्त रहना अज्ञान है । अज्ञान में पड़ा हुआ जीव ममता में बंध जाता है । ममता से शोक, चिन्ता तथा सम्पूर्ण व्याधियों का जन्म होता है । नित्य तत्त्व को जाननेवाला सदा सुखी रहता है ।
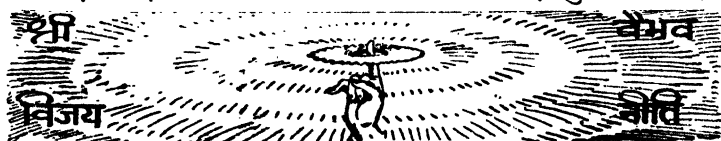
मनुष्य का आदि और अन्त अमृत भाव से युक्त है। आत्मा का ज्ञान होते ही अमृत की धारा से जीवन का सम्बन्ध जुड़ जाता है। भूत, भविष्य और वर्तमान किसी भी कालमें आत्मा का क्षय नहीं होता।

आत्मा किसी न किसी रूप में रहा है, रहता है और रहेगा। इसी सत्य को उदाहरण देकर समझाने के लिये श्रीकृष्ण ने कहा कि मैं, तू और ये सब राजा पहले भी थे, अब भी हैं और शरीर का नाश होने के पश्चात् भी रहेंगे।

शरीर में उत्पत्ति और विनाश के दोष लगे रहते हैं। आत्मा इन दोषों से मुक्त है। शरीर का जो साकार भाग है, उसे मृत्यु देखती है और एक न एक दिन खा लेती है, परन्तु जो निराकार भाग है उस पर कभी मृत्यु की छाया नहीं पड़ती, वह आत्मा नित्य रहता है। अतः जो आत्मवान् हैं उनकी चिन्ता व्यर्थ है और जो शरीर के मोह में डूबे हुए हैं उनकी भी चिन्ता व्यर्थ है क्योंकि मृत्यु उन्हें छोड़ नहीं सकती। मृत्यु के नाम से भयभीत होना सबसे बड़ी भूल है।

मृत्युवादी जगत् को क्षणभंगुर मानते हैं, सदा मृत्यु से डरे रहते हैं और कोई स्थायी कार्य नहीं कर पाते। मृत्युवादियों को निराशावाद तथा कर्म-हीनता घेरे रहती है।

धर्मशील पुरुष की मृत्यु आगे की अच्छाई के लिये जीवन है और अधर्मी का जीवन भी मृत्यु के समान है। काल, कर्म और संस्कारों के आधीन होकर मनुष्य बार बार जन्मता-मरता है।

मृत्यु से धीर पुरुष भयभीत अथवा मोहित नहीं होते। मृत्यु से भी अधिक दुःखदाई जीवन का पतन है। शरीर के क्षय और प्राण-शक्ति के ह्रास को ही मृत्यु कहा जाता है। मृत्यु में आत्मा को छूने की शक्ति नहीं है। देह के कठोर रूपान्तर का नाम मृत्यु है—

१३

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

देहिनः, अस्मिन्, यथा, देहे, कौमारम्, यौवनम्, जरा, तथा, देहान्तरप्राप्तिः, धीरः, तत्र, न, मुह्यति।

देहिनः=जीवात्मा की, अस्मिन्=इस, देहे=देह में, यथा=जैसे, कौमारम्=बालकपन, यौवनम्=जवानी (और), जरा=बुढ़ापा (आता है), तथा=वैसे (ही), देहान्तरप्राप्तिः=दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है, तत्र=इस विषय में, धीरः=धीरपुरुष, न=नहीं, मुह्यति=मोहित होता।

ज्यों बालपन, यौवन जरा इस देह में आते सभी।
त्यों जीव पाता देह और, न धीर मोहित हों कभी ॥

अर्थ—जीवात्मा की इस देह में जैसे बालकपन, जवानी और बुढ़ापा आता है, वैसे ही दूसरे शरीर की प्राप्ति होती है। इस विषय में धीरपुरुष मोहित नहीं होता।

व्याख्या—देह के क्रमिक विकास में तीन अवस्थायें आती हैं—प्रारम्भिक अवस्था में बालकपन, मध्य अवस्था में यौवन और अन्तिम अवस्था में बुढ़ापा।

देह की छः अवस्थाओं का भी वर्णन पाया जाता है—

१—जायते=उत्पन्न होना।

२—अस्ति=रहना।

३—वर्द्धते=बढ़ना।
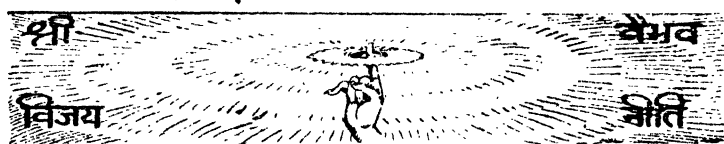
४—विपरिणमते=परिणाम होना।

५—अपक्षीयते=क्षीण होना।

६—नश्यति=नष्ट होना।

जिस प्रकार बालकपन के पश्चात् निश्चय पूर्वक यौवन आता है और यौवन के पश्चात् बुढ़ापा, उसी प्रकार इस जीवन के पश्चात् दूसरा जीवन मिलता है—मृत्यु केवल रूपान्तर है।

आत्मा जैसे शरीर की तीनों अवस्थाओं में एकरस रहता है, वैसे ही मृत्यु के पश्चात् भी उसमें कोई विकार नहीं आता।

मनुष्य केवल देह का नाम ही नहीं है वरन् देह और आत्मा का योग है। आत्मा को जाननेवाले देह का शोक नहीं करते क्योंकि देह नश्वर है। नश्वर तन की मिट्टी को परमार्थ के कर्मों में लगाने से उस पर रूप आजाता है और मनुष्य सत्य में स्थित होकर शोक-रहित आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है। जो तन की मिट्टी को नहीं सुधारते उनका जीवन शोक और चिन्ताओं के हाथों से रूँधा जाता है।

देह की अवस्थाओं का परिवर्तन देखकर विशेष दुःख और चिन्ता नहीं होती, देह के नष्ट होने पर धैर्य छूट जाता है और शोक घेर लेता है; परन्तु चिन्ता और शोक मृत्यु को रोकने में असमर्थ हैं।

मृत्यु अटल है, अतः धैर्य धरने के अतिरिक्त मनुष्य के वश में और कुछ नहीं। धार्मिक जीवन की परीक्षा मृत्यु के समय होती है। जीवन की सफलता और धर्म का प्रमाणपत्र धैर्य है।

धीरज धरने का अभ्यास एक-दो दिन में नहीं हो जाता। सुख और दुःख में सदा एक रस रहते-रहते जब अभ्यास पक जाता है, तब धैर्य की अटूट सम्पत्ति हाथ लगती है। इसीलिये गीता का आदेश है—

१४

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

मात्रास्पर्शाः, तु, कौन्तेय, शीतोष्णसुखदुःखदाः,
आगमापायिनः, अनित्याः, तान्, तितिक्षस्व, भारत ।

कौन्तेय=हे कौन्तेय, शीतोष्णसुखदुःखदाः=सर्दी गर्मी और सुख-दुःख देनेवाले, मात्रास्पर्शाः=इन्द्रिय और विषयों के संयोग, तु=तो, आगमापायिनः=आने-जानेवाले (और), अनित्याः=अनित्य हैं, भारत=हे भारत, तान्=उनको, तितिक्षस्व=सहन कर ।

शीतोष्ण या सुख-दुःख-प्रद कौन्तेय इन्द्रिय भोग हैं ।
आते व जाते हैं सहो सब नाशवत संयोग हैं ॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! सर्दी गर्मी और सुख-दुःख देनेवाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो आने-जानेवाले और अनित्य हैं, हे भारत ! उनको सहन कर ।

व्याख्या—जगत् में न कोई सदा सुखी रहता है और न कोई सदा दुःखी। सुख और दुःख, धूप और छाया के समान आते जाते हैं। सुख का दिन ढलकर दुःख की रात आती है और दुःख की रात्रि के पश्चात सुख का दिन निकलता है। सुख-दुःख, हानि-लाभ, प्रकाश-अंधकार और जन्म-मरण के टुकड़ों से संसार का चक्र जुड़ा हुआ है। संसार-

चक्र में चलनेवाले को कभी सुख का स्पर्श होता है और कभी दुःख का। सफलता पूर्वक जीवन-यात्रा करने का एकमात्र साधन तितिक्षा है। सुख और दुःख को सहना उन्नतशील नर-नारियों का प्रथम धर्म है।

सुख और दुःख की उत्पत्ति मात्रा के स्पर्श से होती है।

'मीयते एभिरिति मात्राः।'

जिनसे बाहरी पदार्थ नापे जाते हैं उन्हें 'मात्रा' कहते हैं।

शब्द आदि विषयों को जिनसे जाना जाय ऐसी श्रोत्रादि इन्द्रियाँ मात्रा हैं।

मात्रा शब्द का साधारण अर्थ है—इन्द्रियों से नापे जानेवाले अथवा ग्रहण किये जानेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि बाहरी विषय और पदार्थ।

मात्रा का अर्थ—मैटर (Matter) या माद्दा भी किया जाता है।

गीता में बाह्यस्पर्श को 'मात्रा स्पर्श' कहा है।

बाह्य जगत् के पदार्थ और विषय 'मात्रा' हैं। इनका इन्द्रियों से जो सम्बन्ध, संसर्ग या स्पर्श होता है उसे 'मात्रा स्पर्श' कहते हैं।

मात्रा स्पर्श—शीतोष्ण अथवा सुख-दुःख देनेवाला है। मधुर शब्द से सुख और कटु शब्द से दुःख होता है। इसी प्रकार मन के अनुकूल और वाञ्छित स्पर्श रूप, रस, गन्ध आदि से सुख और प्रतिकूल से दुःख की प्रतीति होती है।

सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि द्वन्द्व नाशवान् और अनित्य हैं। द्वन्द्वों की अनित्यता के मुख्य कारण हैं—

१—इन्द्रियों की अस्थिरता।

२—अन्तःकरण की स्थिति।

३—बाह्य परिस्थितियाँ।

१. इन्द्रियों की अस्थिरता—

एक ही शब्द का श्रवण, एक-सा स्पर्श, एक-से रूप का दर्शन, एक ही भोजन का स्वाद, एक ही प्रकार की गन्ध, बार-बार मिलने से उनकी प्राप्ति का सुख निरन्तर घटता है। इन्द्रियाँ नित्य नये-नये विषयों को भोगने में सुख मानती हैं। इन्द्रियों की अस्थिरता के कारण विषय भोगों में नित्यता नहीं रहती; आत्म भाव सदा समान रहता है।

२. अन्तःकरण की स्थिति—

सुख और दुःख अन्तःकरण की स्थिति पर निर्भर होते हैं। मन की प्रसन्नता में कठोर शब्द भी अच्छे लगते हैं और अप्रसन्नता में सरल शब्द भी कटु लगते हैं।

सीताजी के अन्तःकरण में विलय होने के कारण उन्हें राम की मधुर-सीख दाहक प्रतीत हुई—

सीतल सिख दाहक भइ कैसे।
चकविहि सरद चाँदनी जैसे॥

ज्वर के वेग में स्वादिष्ट से स्वादिष्ट भोजन करने की भी रुचि नहीं रहती। प्रायः अन्तःकरण की स्थिति—मूड (Mood) पर बाहरी सुख-दुःख निर्भर होते हैं।

३. बाह्य परिस्थितियाँ—

एक ही प्रतीति और पदार्थ से किसी को सुख और किसी को दुःख मिलता है। जैसी परिस्थितियों में मनुष्य रहता है धीरे-धीरे वह वैसा ही बन जाता है। एक निर्धन दरिद्री जिन वस्तुओं को ग्रहण करके सुखी होता है, उन्हीं को पाकर एक धनवान् को दुःख हो सकता है। परिस्थितियों के अनुसार विषय भोग सुख-दुःख देते हैं अतः नश्वर हैं।
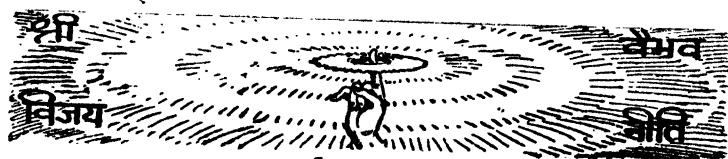
बाह्य जगत और पदार्थों को अनुकूल अथवा प्रतिकूल बनानेवाला अन्तःकरण है। अन्तर में शान्ति का संगीत छिड़ा रहे तो बाहरी कोलाहल में विचलित करने की सामर्थ्य नहीं होती और अन्तःकरण की अशान्ति में बाहरी संसर्गों से शान्ति नहीं मिलती। अन्तःकरण की शान्ति का एकमात्र उपाय तितिक्षा है।

द्वन्द्वों की अनित्यता जानकर उन्हें सहन करने में ही सच्चा सुख है। तितिक्षा सब सुखों की आधार शिला है।

तितिक्षा का अर्थ है—सहन करना! क्षण भंगुर सुख और दुःखों के आघातों को सहन करना श्रेष्ठता का लक्षण है।

सुख का अभिमान एक न एक दिन दुःख देता है। ऐसा कोई सुख नहीं है जिसका परिणाम दुःख न हो। संयोग का अन्त वियोग है, सौन्दर्य का अन्त कुरूपता है, भोग का अन्त रोग है और जीवन का अन्त मृत्यु है। जो सुख दूसरों को दुःख देता है उसका अन्त भयंकर दुःख होता है। जो दूसरों के दुःख मिटाने में अपने सुख का बलिदान करते हैं उनके पास कभी दुःख नहीं आता। दुःख का मूल कारण कोई न कोई भूल है। भूल के गर्भ में दुःख रहता है, समय पर वह अवश्य प्रकट होता है।

सुख हो या दुःख दोनों को विश्वनारायण की सेवा में अर्पित करने से ऐसा आनन्द मिलता है जो आकर नहीं जाता। सुख देने से सुख बढ़ता है और दुःख देने से दुःख। सुख-दुःख में तटस्थ रहने से अथवा सुख-दुःखों के वेगों को सहने से मुक्ति का आनन्द मिलता है।

जीव को ब्रह्म से मिलने की योग्यता अथवा दिव्य कर्म करके मुक्ति का अधिकार प्राप्त करने के लिये सुख-दुःखों से विचलित नहीं होना चाहिये।

१५

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

यम्, हि, न, व्यथयन्ति, एते, पुरुषम्, पुरुषर्षभ,
समदुःखसुखम्, धीरम्, सः, अमृतत्वाय, कल्पते।

हि=क्योंकि, पुरुषर्षभ=हे पुरुष श्रेष्ठ, समदुःखसुखम्=दुःख-सुख को समान समझनेवाले, यम्=जिस, धीरम्=धीर, पुरुषम्=पुरुष को, एते=ये (इन्द्रियों के विषय), न व्यथयन्ति=व्याकुल नहीं करते, सः=वह, अमृतत्वाय=मोक्ष पाने के, कल्पते=योग्य होता है।

नर श्रेष्ठ ! वह नर श्रेष्ठ है इनसे व्यथा जिसको नहीं।
वह मोक्ष पाने योग्य है सुख दुःख जिसे सम सब कहीं॥

अर्थ—क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुःख-सुख को समान समझनेवाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रियों के विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष पाने के योग्य होता है।

व्याख्या—समता सर्वोत्तम तप है। सुख और दुःखों से जो धीर पुरुष विचलित नहीं होता उसे ही मुक्ति का अधिकार मिलता है। विषय-भोगों से छूटे बिना बन्धन नहीं छूटते। दुःख और सुख में अनासक्त और सम रहनेवाला सदा मुक्त है—इस सत्य का दर्शन कराते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

१—सुख-दुख को समान समझनेवाला धीर पुरुष है।

२—धीर पुरुष को विषय-भोग व्याकुल नहीं करते।

३—वह मोक्ष का अधिकारी है।
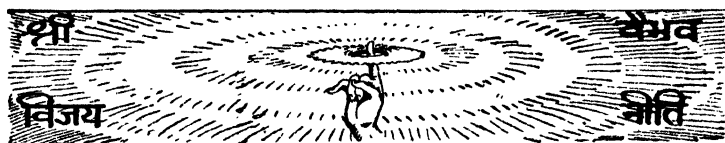
१. सुख-दुःख को समान समझनेवाला धीर पुरुष है—

जगत् के व्यवहार में सुख और दुःख को समान मानना दुष्कर है। प्रायः दुःख में जीव व्याकुल होता है और सुख में अपने स्वरूप को भूल जाता है। मनुष्य के इसी स्वभाव से संसार दुःखों का घर बना रहता है।

छोटी-छोटी बातों के लिये चिन्ता करनेवाला सुख और दुःख के आक्रमणों से नहीं बच सकता। ईश्वरीय विधान को समझनेवाले द्वन्द्वों के आघातों से विचलित नहीं होते। सुख या दुःख के प्रथम आघात को जो बलपूर्वक सह लेता है उसे साहस और धैर्य मिल जाता है, दूसरा आघात ऐसे पुरुष के लिये स्वयं हलका पड़ जाता है।

उत्तेजित न होना धैर्य है। उद्वेगों तथा आवेशों के वेगों में अपने आपको गिरने से बचाने की साधना तथा सावधानी धैर्य है।

धैर्य के साथ जिस कर्म और वस्तु को महत्त्व दिया जाता है उसमें तल्लीन हो जानेवाले पर सुख-दुःख का प्रभाव नहीं पड़ता। प्रत्येक कर्म को इतना महत्त्व देना चाहिये कि उसके आगे अहं और कष्टों का कोई मूल्य न रहे। धैर्य के साथ अपने ध्येय पर टिका रहनेवाला अनन्त मानसिक बल प्राप्त कर लेता है; उस पर सुख-दुःखों के आघातों का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता; वह साहस और प्रसन्नता से सब सह लेता है—ऐसे पुरुष को धीर कहते हैं।

२. धीर पुरुष को विषय-भोग व्याकुल नहीं करते—

साधारण विषय-भोग भी सुख या दुःख देकर भोगी मन को व्याकुल और अधीर कर देते हैं। विषय-भोगों में लिप्त जीव धैर्य के धन को खो देता है। धीर पुरुष भोग में सुख नहीं मानते क्योंकि वे जानते हैं कि यह सदा रहनेवाला नहीं है। भोगों के न मिलने पर वे दुःख नहीं

मानते क्योंकि भोगों का त्याग अनन्त आनन्द का मार्ग है।

धीर पुरुष घटनाओं से शिक्षा लेते हैं, विषय-भोगों का परिणाम घोर दुःख, रोग और पतन देखकर वे अपने को बचाने का संकल्प और यत्न करते हैं।

संसार के भारी-भारी विषय-भोग भी धीर पुरुष की गहनता और गम्भीरता के सामने हल्के पड़ जाते हैं। धीरजवान् को आकर्षित करने और डिगाने में भोग असमर्थ रहते हैं।

३. वह मोक्ष का अधिकारी है—

विषाद, विकार, अंधकार और द्वन्द्वों से दूर रहनेवाला पुरुष सदा मुक्त है। मुक्ति का अभिप्राय है सच्चिदानन्द रूप परमेश्वर को प्राप्त करना। जगत् से पृथक् किसी दूसरे लोक में मुक्ति नहीं है। इस लोक में ही ब्रह्म का स्पर्श कर लेने से जब विषय-भोगों में अरुचि हो जाती है तब द्वन्द्वों का अन्त हो जाता है और जीव विकारों से छूट कर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है।

इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके, चित्त को चैतन्य और असीम के ध्यान में तल्लीन करते ही दुःखों और द्वन्द्वों के मेघ छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, निर्मलता आकाश की भाँति सर्वत्र फैल जाती है, आसक्ति का अंधकार नष्ट हो जाता है और ज्ञान की अखण्ड ज्योति प्रज्वलित होती है, यही मुक्ति है—इसी का नाम स्वर्ग का आनन्द है। इस आनन्द का अनुभव न करनेवाले स्वर्ग की खोज में भटकते हैं। भ्रम, अशान्ति और जगत् के जंजाल ऐसे भटकनेवालों का पीछा करते हैं।

सम्पूर्ण असद्भावों से छूटकर सत् में स्थित होने से मुक्ति का सुख और अधिकार मिलता है।
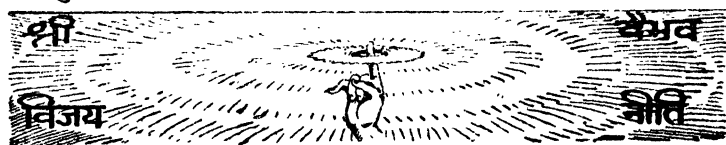
१६

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

न, असतः, विद्यते, भावः, न, अभावः, विद्यते, सतः, उभयोः, अपि, दृष्टः, अन्तः, तु, अनयोः, तत्त्वदर्शिभिः।

असतः=असत् का, भावः=अस्तित्व, न=नहीं, विद्यते=है, तु=और, सतः=सत् का, अभावः=अभाव, न=नहीं, विद्यते=है, अनयोः=इन, उभयोः=दोनों का, अपि=ही, अन्तः=अन्त, तत्त्वदर्शिभिः=तत्त्व ज्ञानियों ने, दृष्टः=देखा है।

जो है असत् रहता नहीं, सत् का न किन्तु अभाव है।
लखि अन्त इनका ज्ञानियों ने यों किया ठहराव है॥

अर्थ—असत् का अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है, इन दोनों का ही अन्त तत्त्व ज्ञानियों ने देखा है।

व्याख्या—असत् को त्यागकर सत् की ओर जाना धर्म का सर्वोपरि और सर्वमान्य ध्येय है। सत् धर्म की शक्ति है। सत् ब्रह्म का रूप है। सत् के आधार पर सम्पूर्ण सृष्टि का अस्तित्त्व है। सत् आत्मतत्त्व है। सत् नित्य है—सत् का कभी विनाश नहीं होता। देश, काल और वस्तु से सत् परिच्छिन्न नहीं होता। सत् निरन्तर एकरूप, एकरस और अव्यय रहता है। सत् असीम है, वह किसी बन्धन अथवा सीमा में नहीं बँधता। जो सत् है वही सत्य है। सत्य की महिमा अपार है।

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्॥

इस लोक में सत्य ही परमेश्वर है। सत्य की आधार शिला पर धर्म स्थित रहता है। सत्य सबका मूल है। सत्य से श्रेष्ठ कोई उत्तम गति नहीं है। सत्य से सूर्य का उदय होता है। सत्य से वायु चलती है। सत्य के व्रत से समुद्र अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता। भूमि, कीर्ति, यश, श्री सत्य के पीछे-पीछे चलकर सत्यवादी को प्राप्त करना चाहते हैं। सत्य से गिरनेवाला नरक में पड़ता है।

संसार के दुःखों से छूटने का एकमात्र सरल और निश्चित उपाय सत्य का आचरण है।

सुख-दुःख, लाभ-हानि, विजय-पराजय, आदि में स्थायित्त्व न होने के कारण वे असत् हैं। उनमें परिवर्तन और अनित्यता का दोष लगा रहता है। सुख-दुःख मिथ्या हैं—उनका अस्तित्त्व नहीं रहता। इन्द्रियों के भोग असत् हैं। वे आज जिस रूप में हैं, कल उस रूप में नहीं रहेंगे। मनुष्य का शरीर भी असत् है, परन्तु उसमें जो निर्विकार नित्य ज्योतिस्वरूप आत्मा है, उसका कभी अभाव नहीं होता।

सत् और असत् दोनों के परिणामों को तत्त्वदर्शी मनीषियों ने भली भांति देखा है।

तत्त्व अर्थात् यथार्थता और सार को देखनेवाले तत्त्वदर्शी कहलाते हैं। तत्त्वदर्शी सत्य की खोज करके उसका साक्षाद् दर्शन करते हैं और सत् को सर्वोपरि शिव और सुन्दर जानकर ग्रहण करते हैं तथा असत् को निकृष्ट विकारवान एवं दुःखप्रद जानकर छोड़ देते हैं।

कुछ आचार्यों के मत से यह भासमान जगत् भी असत् है।

श्री शंकराचार्य के मत से जगत् मायारूप और मिथ्या है। यह अज्ञान, दुःख तथा दैन्य का क्षेत्र है।

कुछ आचार्यों के मत से जगत् मूलतः दिव्य है क्योंकि इसमें सर्वत्र एक ब्रह्म व्याप्त है। जगत् का बाह्यरूप असत्, अंधकार पूर्ण अज्ञानमय और दुःखदायी है परन्तु आंतरिक स्वरूप चैतन्य में प्रतिष्ठित है। जगत् में स्थित परमेश्वर में रहना ही सत्-भाव में विचरना है।

सत्-भाव से जगत् आनन्दमय बनता है। जगत् के अंधकार और अज्ञान को नष्ट करनेवाला सत् है। सत् की अभिव्यक्ति से इस संपूर्ण जगत् की रचना हुई है। सत् को अङ्गीकार करके जगत् को दैवी चेतना से भरना, उसमें ज्ञान, प्रेम, सौंदर्य और शिवभाव की प्रतिष्ठा करना मनुष्य का धर्म है। सत्-रूप आत्मा के अविनाशी तत्त्व को जाननेवाले धीर पुरुष जीवन में ही मुक्ति का सुख पा जाते हैं।

सत् का अनुभव करने के लिये असत् का अन्त करना आवश्यक है। दुःख से छूटना है तो सुख की इच्छा न करो, रोगों से छूटने के लिये भोग छोड़ दो। सत्य का प्रभाव देखने के लिये विषयों का अभाव करदो। शरीर और विषय सुख नित्य रहनेवाले नहीं हैं। अन्त में सत्य की विजय होती है असत्य की नहीं—

'सत्यमेव जयते नानृतम्'

जगत् में प्रत्येक उलझन का सुलझाव है। प्रत्येक दुःख में सुख के अंकुर हैं, जो मनुष्य के सत्य-प्रयत्नों से फूट निकलते हैं। जीवन का सम्पूर्ण शास्त्र एक ही अनुभव पर टिका हुआ है, सत् में अनन्त आनन्द है और असत् में दुःख। सत् का कभी विनाश नहीं होता—यही आत्मतत्त्व है।

१७

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥

अविनाशि, तु, तत्, विद्धि, येन, सर्वम्, इदम्, ततम्, विनाशम्, अव्ययस्य, अस्य, न, कश्चित्, कर्तुम्, अर्हति ।

अविनाशि=नाशरहित, तु=तो, तत्=उसको, विद्धि=जान, येन=जिससे, इदम्=यह, सर्वम्=सारा (जगत्), ततम्=व्याप्त है, अस्य=इस, अव्ययस्य=अविनाशी का, विनाशम्=विनाश, कर्तुम्=करने में, कश्चित्=कोई भी, न अर्हति=समर्थ नहीं है ।

यह याद रख अविनाशि है जिसने किया जग व्याप्त है ।
अविनाशि का नाशक नहीं कोई कहीं पर्याप्त है ॥

अर्थ—नाश-रहित तो उसको जान जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है । इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है ।

व्याख्या—इस जगत् में सत् अथवा अविनाशी वह है जो सर्वत्र भरा हुआ है । सम्पूर्ण जगत् आत्मा से परिपूर्ण है । जगत् की प्रत्येक वस्तु नाशवान् है; आत्मा का कभी विनाश नहीं होता ।

मानव तन में आत्मा की अव्यय शक्ति का स्रोत है, परन्तु द्वन्द्व और विषाद, आत्म-स्रोत की सत्य रूप धारा से जीवन को दूर हटा देते हैं । आत्मा की शक्ति का कभी व्यय नहीं होता । सम्पूर्ण जगत् की रचना करके भी पूर्ण की पूर्णता ज्यों की त्यों रहती है ।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह पूर्ण है यह पूर्ण है वह पूर्ण है जो पूर्ण से बनता सभी ।
उत्पन्न करके पूर्ण को वह पूर्ण रहता पूर्ण कब घटता कभी ॥

वह परब्रह्म पूर्ण है, यह जगत् पूर्ण है क्योंकि पूर्ण से जो बनता है वह पूर्ण ही होता है। उस पूर्ण से इस पूर्ण जगत् की उत्पत्ति होने पर भी वह पूर्ण सदा परिपूर्ण ही रहता है। वह अव्यय है, अव्यय का कभी विनाश नहीं होता। अव्यय के सम्पर्क में जो जितना अधिक रहता है उसे उतने ही अंशों में पूर्णता की प्राप्ति होती है।

आत्मा अनन्त है। एक ही तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है और वह नाश-रहित तथा अखण्ड है। उस तत्त्व को खण्डित करने का प्रयत्न करनेवाले तत्त्व से गिर जाते हैं। अविनाशी आत्मतत्त्व के टुकड़े करके भेदभाव बढ़ाना, दलबंदी करना और वादों में उलझना अज्ञान है। जो सब घटों में एक ही आत्मज्योति के दर्शन करता है और सब ज्योतियों में अपनी ज्योति मिलाये रखता है, उसके लिये सर्वत्र महाप्रकाश है। उसकी दृष्टि कर्त्तव्य-पथ को स्पष्ट और दूर तक देखती है। वह अखण्ड से अखण्ड नाता जोड़ने में सफल होता है।

प्रकृति और परमेश्वर विराट् विश्व की एकता चाहते हैं। एकता में अनेकता उत्पन्न करने से अशान्ति के बादल बरसते है; प्रकृति का कोप फट पड़ता है; रोग, अकाल, भूचाल और विनाश कार्यों के मूल में अनेकता है। विनाश तब तक बढ़ता है, जब तक अनेकता का अन्त होकर एकता नहीं हो जाती। उस एक आत्मतत्त्व का विनाश करने में कोई समर्थ नहीं है।

१८

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥

अन्तवन्तः, इमे, देहाः, नित्यस्य, उक्ताः, शरीरिणः,
अनाशिनः, अप्रमेयस्य, तस्मात्, युध्यस्व, भारत ।

अनाशिनः=नाश न होनेवाले, अप्रमेयस्य=अचिन्त्य, नित्यस्य=नित्यस्वरूप, शरीरिणः=जीवात्मा के, इमे=ये, देहाः=शरीर, अन्तवन्तः=नाशवान्, उक्ताः=कहे गये हैं, तस्मात=इसलिये, भारत=हे भारत, युध्यस्व=(तू) युद्ध कर ।

इस देह में आत्मा अचिन्त्य सदैव अविनाशी अमर ।
पर देह उसकी नष्ट होती अस्तु अर्जुन युद्ध कर ॥

अर्थ—नाश न होनेवाले अचिन्त्य नित्य स्वरूप जीवात्मा के ये शरीर नाशवान् कहे गये हैं, इसलिये हे भारत ! तू युद्ध कर ।

व्याख्या—जगत् में जितने शरीर हैं सबका एक-न-एक दिन अन्त होना निश्चित है। जानने के योग्य केवल इतना है कि शरीरों का अन्त दुःखों का कारण नहीं होना चाहिये। दुःख का कारण है—शरीर में रहनेवाले सत्-रूप आत्मा का लोप अथवा आत्मज्ञान का अभाव।

आत्मा अशोच्य है, वह नित्य तत्त्व है। सब शरीरों में एक ही आत्मा व्याप्त है। शरीरों का मोह करके मनुष्य, अचिन्त्य आत्मा को भूल जाता है। वह असत् को सत् मान बैठता है इसी कारण उसे पाप और पुण्य में भेद नहीं सूझता।

सत् और असत् का योग रहस्यमय है। देह और आत्मा का योग करानेवाले सद्‌गुण हैं और वियोग करानेवाले संसार के द्वन्द्व तथा विकार हैं। द्वन्द्वों और विकारों का अत्यधिक बल बढ़ जाने पर आत्मा को शरीर छोड़ना पड़ता है। शरीर पर आत्मानुशासन अथवा स्वराज्य हो जाने पर द्वन्द्वों और विकारों को भागना पड़ता है।

स्व से पर की ओर जानेवाला अथवा आत्मा से हटकर अनात्म वस्तुओं के मोह में पड़नेवाला सदा पराधीन रहता है। पराधीनता में दुःख ही दुःख है। अतः स्वाधीनता के लिये धर्मनिष्ठ होकर युद्ध करना प्रत्येक विचारवान् प्राणीका कर्त्तव्य है। आत्मा की रक्षा के लिये युद्ध करने से जीवन का निर्माण और धर्मकी प्रतिष्ठा होती है।

'तस्माद्युध्यस्व भारत'—इसलिये हे भारत ! युद्ध कर।

निरन्तर प्रगतिशील जीवन बनाना एक प्रकार का युद्ध है। काम-क्रोधादि द्वेषों और द्वन्द्वों के विकारों से मुक्त होने के लिये जीवन में युद्ध अनिवार्य है। जीवन-युद्ध से भयभीत होनेवाले आत्मा के अविनाशी तत्त्व को नहीं जान पाते। देह का एक न एक दिन अन्त होना है, अतः कर्तव्य-पालन के युद्ध में लगा देने में ही उसकी सद्‌गति है। इस युद्ध में विजयी नर-नारियों के लिये परमेश्वर अपने वरदानों सहित सदा सुलभ रहता है। जीवन की सफलता इसी युद्ध में है। आत्मवान् होने के लिये आन्तरिक और बाह्य युद्धों में प्रवृत्त होनेवाले अमृत प्राप्त करते हैं।

सम्पूर्ण ज्ञान का रहस्य इतना जानने में है, कि आत्मा अविनाशी है और यह शरीर मिट जानेवाला है। काम, क्रोध, राग, द्वेष, भय आदि शत्रुओं से बचने और इस तन की मिट्टी को सुधारने के लिये जीवन-युद्ध में प्रवृत्त होना मनुष्य का परम धर्म है।

१९

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

यः, एनम्, वेत्ति, हन्तारम्, यः, च, एनम्, मन्यते, हतम्,
उभौ, तौ, न, विजानीतः, न, अयम्, हन्ति न, हन्यते।

यः = जो, एनम् = इस आत्मा को, हन्तारम् = मारनेवाला, वेत्ति = समझता है, च = और, यः = जो, एनम् = इसको, हतम्=मरा, मन्यते=मानता है, तौ=वे, उभौ=दोनों ही, न=नहीं, विजानीतः=जानते, अयम्=यह आत्मा, न=न, हन्ति=मारता है (और), न=न, हन्यते=मारा जाता है।

है जीव मरने मारने वाला यही जो मानते।
यह मारता मरता नहीं दोनों न वे जन जानते ॥

अर्थ—जो इस आत्मा को मारनेवाला समझता है और जो इसको मरा मानता है वे दोनों ही नहीं जानते, यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है।

व्याख्या—आत्मा परम प्रकाशक है। काष्ठ में अग्नि की भाँति वह सर्वत्र व्याप्त है। जैसे एक लकड़ी जल जाने पर आग समाप्त नहीं हो जाती, इसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा का विनाश नहीं होता।

जीवन-युद्ध में अथवा धर्म-युद्ध में हिंसा नहीं है। नित्यानित्य विवेक से स्वधर्म का आचरण करनेवाला किसी को मारता नहीं।

श्री वैभव
विजय नीति
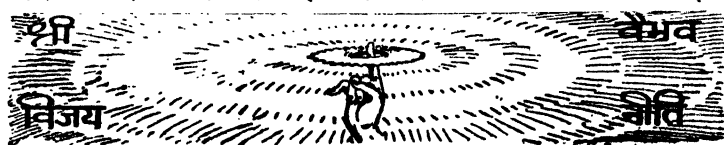
कर्त्तव्य-पालन में कभी दोष नहीं लगता, दोष और हिंसा के भागी वे होते हैं—जो सुख और स्वार्थवश अन्याय तथा असत्य से पेट-पालन के लिये आत्मा की घात करते हैं।

देह से आत्मा के निकल जाने का नाम मृत्यु है। आत्मा न मरता है और न मारता है। गीता के इस महा वाक्य से जगत् में सत्य और अहिंसा की प्रतिष्ठा है। निस्सन्देह आत्मवान किसी की हिंसा नहीं करता, वह अपने स्वार्थ के लिये किसी से द्वेष नहीं बाँधता और सुख के लिये किसी की घात नहीं करता। स्वार्थ—हिंसा का स्वरूप है। कर्त्तव्य-पालन—अहिंसा का प्रतीक है। सत्य से अहिंसा का बल बढ़ता है। सत्यशील किसी को न मारता है न किसी से मारा जाता है।

आत्मवान् को न यह भय होता है कि मैं मारा जाऊँगा और न यह अभिमान होता है कि मैं किसी को मारूँगा।

वास्तव में कोई किसी के मारने से मरता नहीं और कोई किसी को मारता नहीं। सम्पूर्ण विश्व तथा मानव जीवन सत्य के इसी नियम में गुथा हुआ है। आत्म भाव को छोड़कर देह भाव से कर्म करनेवाला निर्दोष कर्म न करके बन्धन में बँधता है।

अन्तःकरण में आत्मा का यह ज्ञान भर लेने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि, "मैं अमर अविनाशी अव्यय और आनन्दमय हूँ। मैं सर्वव्यापी प्रकाशमय, निर्विकार और महान् आत्मा हूँ। मेरे अंग-अंग में आत्मतत्त्व का तेज है। मेरे तन, मन, वचन और कर्म में आत्मा का ज्ञान और प्रकाश भरा हुआ है। मैं अपने कर्म से किसी को दुःख नहीं दूँगा, स्वार्थवश न किसी को मारूँगा और न मरूँगा।"

जो आत्मा को मरने या मारनेवाला मानता है, उसका भ्रम उसे भय और विषाद में डाले रहता है। आत्मा अमर है।

२०

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

न, जायते, म्रियते, वा, कदाचित्, न, अयम्, भूत्वा, भविता, वा, न, भूयः, अजः, नित्यः, शाश्वतः, अयम्, पुराणः, न, हन्यते, हन्यमाने, शरीरे ।

अयम्=यह आत्मा, न=न, कदाचित्=कभी, जायते=जन्मता है, वा=और, न=न, म्रियते=मरता है, वा=अथवा, न=न, भूत्वा=(यह) उत्पन्न होकर, भूयः=फिर, भविता=होनेवाला है, अयम्=यह, अजः=अजन्मा, नित्यः=नित्य शाश्वतः=शाश्वत (और) पुराणः=पुरातन है, शरीरे=शरीर के, हन्यमाने=नष्ट होने पर (भी), न हन्यते=(आत्मा का) नाश नहीं होता ।

मरता न लेता जन्म अब है, फिर यहीं होगा कहीं ।
शाश्वत, पुरातन, अज, अमर तन वध किये मरता नहीं ॥

अर्थ—यह आत्मा न कभी जन्मता है और न मरता है अथवा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला है । यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता ।

व्याख्या—गीता के आत्मज्ञान में न तो हिंसा, छल, कपट, स्वार्थ-भोगों की राजसी एवं तामसी प्रवृत्ति है और न कर्म त्यागने की घोर
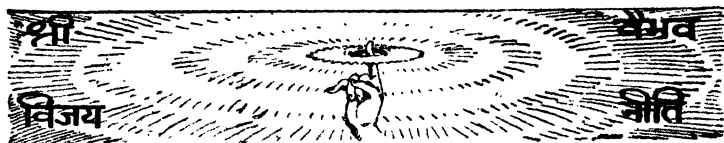
निवृत्ति है। निर्भयता, संयम, तप और त्याग-सहित आत्मवान होने की प्रेरणा देनेवाली गीता में व्यापक और उदार ज्ञान है।

आत्मा का विराट् दर्शन कराते हुए गीता अपना निश्चित सिद्धान्त स्थापित करती है—

१—आत्मा—जन्म और मृत्यु-रहित है।

२—आत्मा—नित्य, सनातन और पुरातन है।

३—शरीर के नष्ट होने से आत्मा का नाश नहीं होता।

१. आत्मा जन्म और मृत्यु-रहित है—

जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु भी होती है।

"जायतेऽस्ति वर्द्धते विपरिणमतेऽपक्षीयते नश्यति।" (यास्क)

जन्मना, रहना, बढ़ना, घटना, क्षय होना और नष्ट होना ये छः विकार जन्मने-मरनेवाले को घेरे रहते हैं। आत्मा इन विकारों से अलग सच्चिदानन्द रूप है। वह एकरस रहनेवाला ज्योतिर्मय और दिव्य है।

२. आत्मा नित्य सनातन और पुरातन है—

जिसका कभी विनाश नहीं होता उसे 'नित्य' कहते हैं। जो नित्य है, वह सदा नूतन बना रहता है। नित्य नूतन अखण्ड सत्तावाला सनातन कहलाता है। जो सनातन है, उसका क्षय और व्यय नहीं होता, चिरकाल तक एक रस रहने से उसे 'पुराण' कहते हैं।

आत्मा के इस महाभाव का मनन, मानव को उस अखण्ड स्रोत के साथ जोड़े रहता है, जिससे नित्य नूतन और अव्यय शक्ति मिलती है।

मनुष्य को भली प्रकार जान लेना चाहिये कि नित्य रहनेवाले

आत्मा में राग, रोग और शोक से उत्पन्न होनेवाली दुर्बलता नहीं होती। आत्मा का कहीं अभाव नहीं, भूत, भविष्य और वर्तमान प्रत्येक दशा में वह सम रहता है। आत्मवान् वही है जो आत्मा के इन गुणों को धारण करता है।

३. शरीर के नष्ट होने से आत्मा का नाश नहीं होता—

स्थूल शरीर में मरना-मारना, राग-द्वेष आदि विकार प्रकट होते हैं, काल उस पर सदा मँडराता रहता है। काल से कोई प्राणी नहीं बचता। यह जगत् काल के आधीन है। काल की कृपा से जीवन और काल के कोप से मृत्यु है।

धर्मराज ने यक्ष का समाधान करते हुए कहा था—

अस्मिन्महामोहमये कटाहे सूर्य्याग्निना रात्रि दिनेन्धनेन।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥

(वन पर्व ३१२।११६)

यह संसार महामोह रूपी कड़ाह है, इसमें सब प्राणी पड़े हुए हैं। सूर्य की आग और दिन-रात रूपी ईंधन लगाकर, महीने और ऋतुओं की करछी से चलाकर काल उन प्राणियों को पका रहा है—बस यही बात है।

अविवेकीजनों पर काल सदा सवार रहता है और उन्हें घोर दुःख देता है। आत्मा को काल नहीं खाता। आत्म-ज्ञानी काल से भयभीत नहीं होते। आत्मा का कभी क्षय, पतन और विनाश नहीं होता।

आत्मा के इस अविनाशी तत्त्व को जानकर धीर पुरुष विनाश की ओर नहीं जाते। आत्मा सत् है, देह असत्। असत् से सत् की ओर जानेवाले अमृत प्राप्त करते हैं।

जीते जी आत्मा को जान लेनेवाला मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है।

श्री वैभव
विजय नीति

२१

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥

वेद, अविनाशिनम्, नित्यम्, यः, एनम् , अजम् , अव्ययम् , कथम्, सः, पुरुषः, पार्थ, कम्, घातयति, हन्ति, कम् ।

पार्थ = हे पार्थ, यः = जो, एनम् = इस आत्मा को, अविनाशिनम् = नाश-रहित, नित्यम् = नित्य, अजम् = अजन्मा, अव्ययम् = अव्यय, वेद = जानता है, सः = वह, पुरुषः = पुरुष, कथम् = कैसे, कम् = किसकी, घातयति = घात करवाता है (और), कम् = किसको, हन्ति = मारता है ।

अव्यय, अजन्मा, नित्य, अविनाशी इसे जो जानता ।
कैसे किसी का वध कराता और करता है बता ॥

अर्थ—हे पार्थ ! जो इस आत्मा को नाश-रहित, नित्य, अजन्मा, अव्यय जानता है वह पुरुष कैसे किसकी घात करवाता है और किसको मारता है ।

व्याख्या—दीनता, मलिनता और सम्पूर्ण दुरितों से दूर रहना ही आत्मा का वास्तविक ज्ञान है। "मैं अजर हूँ, अमर हूँ, अविनाशी और निर्विकार हूँ, मुझे किसी प्रकार का भय और चिन्ता नहीं है, मैं सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से मुक्त हूँ"—ऐसा जानकर कर्म करनेवाला अखण्ड आत्म-विश्वास, आत्म-सम्मान, आत्म-संयम और

ज्ञान द्वारा नित्य निर्लेप रहता है। आत्मज्ञानी के कर्म, नियम और मर्यादा में बँधे रहने के कारण, वह न किसी की घात करवाता है और न स्वयं किसी को मारता है। निमित्तमात्र होकर प्रभु का कार्य करने के लिये वह इस संसार में रहता है।

आत्मा न हिंसा कराता है और न करता है—

अपनी निर्मलता, अनासक्ति और नित्यता के कारण आत्मा किसी से राग-द्वेष नहीं करता। राग-द्वेष के बिना हिंसा नहीं होती।

आत्मभाव जितना बढ़ता है, उतना ही जीवन पवित्र सधा हुआ और सम्पन्न बनता है। आत्मा के दर्शन से प्राण उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं जैसे चन्द्रमा से समुद्र और सूर्य से कमल।

आत्म ज्ञान के अभाव में हिंसा, छल, कपट और स्वार्थ की वृद्धि से संसार में विषमता की धारायें फूट निकलती हैं। विषमता से दुःख, दरिद्रता, निर्बलता और भांति-भांति के भेदों का पोषण होता है। पापों, तापों, पतन और हिंसा से बचने के लिये आत्मा के समान रहना चाहिये।

प्रेम और हिंसा, सेवा और स्वार्थ, सत्य और बनावट दोनों में से एक ही को मनुष्य वरण कर सकता है। ज्ञानी और अज्ञानी में इतना ही भेद है कि ज्ञानीजन—हिंसा, स्वार्थ और अनृत को असत् एवं अनात्म जानकर छोड़ देते हैं; अज्ञानी—हिंसा, स्वार्थ और दुरितों में आसक्त रहकर आत्मा से सम्बन्ध तोड़ देते हैं।

जगत् में जो जन्म और मरण होता है वह केवल परिवर्तन है। यह परिवर्तन किसी हिंसा का परिणाम नहीं वरन् काल और कर्म का प्रभाव है। एक शरीर के जर्जरित हो जाने पर आत्मा दूसरा शरीर ग्रहण कर लेता है—
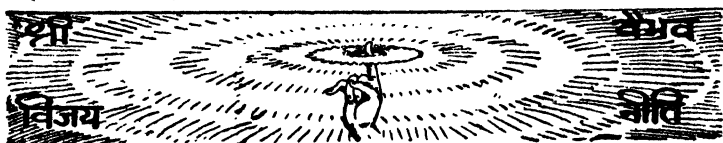
२२

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

वासांसि, जीर्णानि, यथा, विहाय, नवानि, गृह्णाति, नरः, अपराणि, तथा, शरीराणि, विहाय, जीर्णानि, अन्यानि, संयाति, नवानि, देही ।

यथा=जैसे, नरः=मनुष्य, जीर्णानि=पुराने, वासांसि=वस्त्रों को, विहाय=छोड़कर, अपराणि=दूसरे, नवानि=नये वस्त्रों को, गृह्णाति=ग्रहण करता है, तथा=इसी प्रकार, देही=जीवात्मा, जीर्णानि=पुराने, शरीराणि=शरीरों को, विहाय=छोड़कर, अन्यानि=दूसरे, नवानि=नये शरीरों को, संयाति=प्राप्त होता है ।

जैसे पुराने त्याग कर नर वस्त्र नव बदलें सभी ।
यों जीर्ण तन को त्याग नूतन देह धरता जीव भी ॥

अर्थ—जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है; इसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीरों को छोड़कर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है ।

व्याख्या—जगत् परिवर्तनशील है। प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होना निश्चित है। गगनचुम्बी, विशाल और सुन्दर भवनों का

निर्माण होता है और अन्त भी—एक भवन के गिर जाने पर दूसरा भवन खड़ा कर दिया जाता है। पुस्तक की जिल्द टूट जाने पर दूसरी बाँध ली जाती है, इसी प्रकार पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र धारण किये जाते हैं।

वस्त्रों का पुराना होना—

वस्त्रों का जीर्ण अथवा पुराना होना, उनके सदुपयोग और आयु पर निर्भर है। सावधानी से व्यवहार में लिये जानेवाले वस्त्र शीघ्र मैले और जीर्ण नहीं होते; इसीप्रकार शरीर का दूषित और जीर्ण होना उसके उपयोग और आयु पर निर्भर है। शरीर का सदुपयोग करने से, उसे अच्छे कर्मों में लगाये रखने से तथा दोषों से बचाने से वह स्वस्थ, शक्तिशाली एवं दीर्घजीवी बना रहता है और अपनी आयु समाप्त होने पर ही नष्ट होता है।

वस्त्र को धूप सुखाती है, पानी गलाता है, वायु फाड़ती है और वह धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार शरीर पर तत्त्वों का प्रभाव पड़ता है। शरीर एक न एक दिन जीर्ण होकर मिट्टी में मिल जाता है।

वस्त्रों को नित्य नूतन रखो !

नया या थोड़े ही दिन व्यवहार में आया हुआ वस्त्र यदि पुराना होने से पहले ही नष्ट हो जाता है तो उसका दुःख होता है पुराना पड़ने पर उसको बदलने में सुख मिलता है।

इसी प्रकार समय आने से पहले युवावस्था में ही असावधानी से शरीर पुराना हो जाने का दुःख होता है। अकाल अथवा कुसमय की मृत्यु शोचनीय है। अतः वस्त्र को सावधानी ज्ञान और सत्कर्मों से नित्य नूतन और स्वच्छ रखने का प्रयत्न करना चाहिये।

पुराना वस्त्र बदलने से पहले ही धन आदि द्वारा नया वस्त्र तैयार करा लिया जाता है, इसी प्रकार शरीर छोड़ने से पहले ही कर्मानुसार दूसरा शरीर निश्चित हो जाता है।

प्रकृति और परमेश्वर के निश्चित नियमों के अनुसार शरीर उसी समय छूटता है जब वर्तमान शरीर जीर्ण हो जाता है और आत्मा के ठहरने योग्य नहीं रहता।

शरीर सौ वर्षों के लिये मिला है—

सत्य की खोज करनेवाले महर्षियों का अनुभव है कि प्रत्येक नर-नारी को सौ वर्षों के लिये मनुष्य-शरीर मिलता है। तप, ब्रह्मचर्य, योग आदि द्वारा मनुष्य सौ वर्षों से भी अधिक जीवित रह सकता है और विषय-भोग, चाह-चिन्ता आदि कुयोग सौ वर्षों से पहले ही आयु को चाट जाते हैं।

वैदिक मन्त्रों में १०० वर्ष के विराट् जीवन की प्रार्थना है—

"पश्येम शरदः शतम्,
जीवेम शरदः शतम्,
शृणुयाम शरदः शतम्।"

ऐसा वर दो हे जगदीश्वर,
जीवन बने सत्य शिव सुन्दर!
निर्विकार आँखों से देखूँ सौ वर्षों पर्यन्त स्नेह से।
सरल मधुरतम वाणी बोलूँ कर्म करूँ सौ वर्ष देह से॥
सुनूं सुखद सौ वर्ष निरन्तर,
ऐसा वर दो हे जगदीश्वर!

सौ वर्षों से पहले मृत्यु उन्हें दबाती है जिनका संयम टूट जाता है और आकाश, वायु, जल, अग्नि तथा पृथिवी तत्त्व विकृत हो

जाने के कारण जिनका शरीर रूपी वस्त्र पुराना पड़कर फट जाता है। पंच तत्त्वों की घटा-बढ़ी से शरीर पर रोग, जरा और मृत्यु का आक्रमण होता है।

मृत्यु से बचने के लिये—

जीवन के स्थायी सिद्धान्तों पर न चलनेवाले को मृत्यु अपने पाशों में बाँधकर घसीट लेती है। ज्ञान, भक्ति अथवा योग की कोरी कथनी से मृत्यु को नहीं रोका जा सकता—

'का भयो योग कथनि के कथे। निकसे घिव न बिना दधि मथे ॥'

मृत्यु के आक्रमणों से बचने का एकमात्र उपाय जीवन और स्वाँस-स्वाँस का सदुपयोग करना है। मनुष्य को प्रकृति और परमेश्वर ने २१ हजार ६ सौ स्वांसें प्रतिदिन के प्रमाण से सौ वर्ष तक जीवित रहने के लिये प्राण-शक्ति प्रदान की है। सम्पूर्ण शरीर के अवयवों और फेफड़ों को इसी प्रमाण से स्वांसें पूर्ण करने की आयु मिली है।

एकविंशत्सहस्राणि षट्शतान्यधिकानि च।
अहोरात्रेण श्वासस्य गतिः सूक्ष्मा स्मृता बुधैः ॥ ग. पु. १२।७७

एक दिन में २१ हजार ६ सौ से अधिक स्वांसें व्यय करनेवाला प्राण शक्ति को क्षीण करता है और निश्चित समय से पहले ही जीर्ण-शीर्ण होकर मृत्यु के मुख में चला जाता है।

२१ हजार ६ सौ स्वाँसों से कम स्वाँस व्यय करनेवाला प्राण-शक्ति को बढ़ाता और बल देता है तथा अंगों को जीर्ण होने से बचाता है। उसके फेफड़े, नाड़ियाँ और स्नायु बलवान् रहते हैं और वह मृत्यु से लड़ने योग्य बना रहता है।

स्वाँसों पर नियन्त्रण रखने के लिये—संयम, प्रार्थना, प्राणायाम, शुद्ध वायु-सेवन, और सात्त्विक आहार-विहार का विधान है।

साधारणतः चिन्ता चाह से मुक्त, निश्चल, नीरव स्थिति में बैठकर प्रार्थना, जप, संध्या-वन्दन, भजन-पूजन आदि करते समय एक मिनिट में प्रायः छः से आठ स्वाँस तक चलते हैं। भोजन करने तथा साधारण बातचीत में आठ से बारह स्वाँस तक निकल जाते है। तेजी से चलने-फिरने और दौड़ने से बारह से बीस स्वाँस तक व्यय हो जाते हैं। क्रोध और काम-भोग में चौबीस से छत्तीस स्वाँस तक नष्ट होने का प्रमाण है। अधिक सोने में और रोगों में भी स्वाँसों का व्यय अधिक होता है।

मनुष्य न तो रात-दिन ध्यान और समाधि में बैठ सकता और न काम-क्रोध ही कर सकता, अतः शान्ति से नियमित और संयमित जीवन बनाकर रहनेवाले की आयु का प्रमाण सौ वर्ष है।

जितना अधिक संयम होता है, उतनी अधिक आयु मिलती है। संयम-हीन प्राणी स्वाँसों को पूरा करने के लिये जीता है।

परमार्थी भक्त अथवा आत्मज्ञानी की मृत्यु महत्तम रूपान्तर के लिये होती है। वह देह को इच्छानुसार उसी प्रकार बदलता है, जिस प्रकार सुख पूर्वक वस्त्र बदले जाते हैं। महापुरुष अपने श्रेष्ठ कर्मों द्वारा जन्म-मरण से छूट जाते हैं।

दुर्घटना, संस्कार अथवा किसी असामयिक कारण से मृत्यु हो जाने पर शेष स्वाँसों और संस्कारों को भोगने के लिये फिर जन्म होता है, परन्तु यह जन्म-मरण, बनना-बिगड़ना केवल शरीर का है।

शरीर में रहनेवाला आत्मा नित्य नूतन पूर्ण, निर्विकार और एकरस रहता है आत्मज्ञानी जन, जन्म और मृत्यु के रहस्य को जानकर शरीर को भोगों और रोगों से बचाते हैं और निर्भय होकर कर्म करते हैं क्योंकि—

२३

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

न, एनम् , छिन्दन्ति, शस्त्राणि, न, एनम् , दहति, पावकः,
न, च, एनम्, क्लेदयन्ति, आपः, न, शोषयति, मारुतः ।

एनम्=इस आत्मा को, शस्त्राणि=शस्त्र, न=नहीं,
छिन्दन्ति=काट सकते, एनम्=इसे, पावकः=आग, न=नहीं,
दहति=जला सकती, एनम्=इसको, आपः=जल, न=नहीं,
क्लेदयन्ति=गला सकते. च=और, मारुतः=वायु, न=नहीं,
शोषयति=सुखा सकता ।

आत्मा न कटता शस्त्र से है, आग से जलता नहीं ।
सूखे न आत्मा वायु से, जल से कभी गलता नहीं ॥

अर्थ—इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते । इसे आग नहीं जला सकती । इसको जल नहीं गला सकते और वायु नहीं सुखा सकता ।

व्याख्या—शरीर पर पञ्च महाभूतों का प्रभाव पड़ता है । वह जलता, कटता, गलता और सूखता है । इस निर्विकारी, अक्षर और अव्यय आत्मा पर विकारों का प्रभाव नहीं पड़ता ।

शस्त्र उसे काटते हैं जिसका कोई अवयव हो । आत्मा आकाश के समान निर्लेप और सर्वव्यापी है । अतः छेदन-भेद न गलन-जलन आदि विकारों का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

श्री वैभव
विजय नीति

आत्मा के इस विशुद्ध ज्ञान से धीर पुरुष लाभ उठाते हैं और निर्भय होकर कर्त्तव्य-पालन करते हैं। कर्त्तव्य-पालन करते-करते शरीर का काम आजाना सर्वोत्तम गति है।

आत्मवान् की पहचान निर्भयता पूर्वक कर्म-तत्परता है। आत्मवान् शस्त्रों से नहीं डरता। अग्नि, जल, वायु उसके मित्र बन जाते हैं। आत्मा की भांति विकारों से मुक्त सीता, प्रसन्नता से अग्नि को पार कर गई। आत्मवान् सब प्रकार की अग्नि-परीक्षाओं में सफल होता है। आत्मवान् प्रह्लाद को आग, पानी, पृथ्वी, वायु आदि कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर सके।

आत्मा को जाननेवाला संकटों से सर्वथा छूट जाता है।

> ''तरति शोकं तरति पाप्मानम्।
> गुहा ग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥' (मुण्ड० ३।२।९)

आत्मा को जाननेवाला शोक से पार हो जाता है। सम्पूर्ण पापों को लाँघ जाता है। हृदय की ग्रन्थियों से छूटकर विपर्यय, संशय देहाभिमान, विषयासक्ति से मुक्त—अमृत हो जाता है।

कायर, कुटिल, दुर्बल और दीन पुरुष आत्मा को नहीं जान पाते।

> नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो-
> न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्। (मुण्ड० ३।२।४)

आत्मा बल-हीन को नहीं मिलता, प्रमाद से और भक्ति-रहित तप से भी आत्मा नहीं मिलता।

बुरे आचरण, घृणा, अशान्ति और असंयम से भी आत्मा नहीं मिलता। आत्मा उसे मिलता है जो विशुद्ध अन्तःकरण से आत्मा की ओर बढ़ता है। आत्मा नित्य और सर्वत्र है—

२४

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

अच्छेद्यः, अयम्, अदाह्यः, अयम्, अक्लेद्यः, अशोष्यः, एव, च, नित्यः, सर्वगतः, स्थाणुः, अचलः, अयम्, सनातनः।

अयम्=यह आत्मा, अच्छेद्यः=न छिदनेवाला है, अयम्=यह आत्मा, अदाह्यः=न जलनेवाला है, अक्लेद्यः=न गलनेवाला, च=और अशोष्यः=न सूखनेवाला है, अयम्=यह, एव=निःसन्देह नित्यः=नित्य, सर्वगतः=सर्वव्यापी, अचलः=अचल, स्थाणुः=स्थिर (और), सनातनः=सनातन है।

छिदने न जलने और गलने सूखने वाला कभी।
यह नित्य, निश्चल, थिर, सनातन और है सर्वत्र भी॥

अर्थ—यह आत्मा न छिदनेवाला है न यह जलनेवाला है, न गलनेवाला और न सूखनेवाला है यह निःसन्देह नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर और सनातन है।

व्याख्या—आत्मा उपाधियों से रहित है। उस पर भौतिक पदार्थों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पृथिवी, अग्नि, जल, वायु आदि तत्त्व शरीर और इन्द्रियों पर अपना प्रभाव डालते और शक्ति दिखाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषय शरीर को घेरे रहते हैं; आत्मा किसी में आसक्त नहीं होता। आत्मा छिदने, जलने, गलने और सूखनेवाला नहीं है।
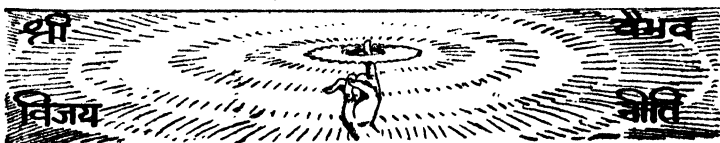
आत्मवान् पुरुष आत्मा के योग से विषयों के वशीभूत नहीं होता। विषयों की डोर से बँधा हुआ मनुष्य, पशु कहा जाता है और विषयों से मुक्त पशुपति (शिव) कहलाता है।

आत्मतत्त्व को जानकर शिव भाव जागृत करने के लिये श्री शङ्कराचार्य ने 'शिवोऽहम्' की ध्वनि गुँजाई थी—

मनो बुद्ध्यहंकार चित्तादि नाहं, न श्रोत्रं न जिह्वा न च घ्राणनेत्रम्।
न च व्योम भूमिर्न तेजो न वायुः, चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥

मैं मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त आदि नहीं हूँ। कान, जिह्वा, नाक और नेत्र भी नहीं हूँ। आकाश, भूमि, अग्नि, और वायु भी नहीं हूँ—मैं चिदानन्द रूप शिव हूँ, मैं शिव हूँ।

आत्मा नित्य है। राग, रोग, शोक, द्वेष आदि द्वन्द्वों और विकारों से उत्पन्न होनेवाली दुर्बलता आत्मा में नहीं होती। आत्मा का कभी अभाव नहीं होता। आत्मा की नित्यता मनुष्य को द्वन्द्वातीत और विमत्सर होकर सत्-भाव में रहने की प्रेरणा देती है।

आत्मा की सर्वव्यापकता मनुष्यमात्र को समानता के सूत्र में बाँधती है। सर्वत्र एक ही परम तत्त्व है। अपना ही आत्मा सबमें समाया हुआ है। इस आत्मतत्त्व के टुकड़े नहीं हो सकते। विश्वबन्धुत्व और 'वसुधैव कटुम्बकम्' का उदार और पवित्र भाव आत्मा की सर्वव्यापकता को जानने से ही सार्थक होता है।

जो सर्वव्यापी है, जिससे कोई स्थान रिक्त नहीं उसमें चलने-फिरने, हिलने-डोलने की क्रिया का आरोप नहीं होता। अपनी स्थिरता और अचलता से आत्मा, द्रष्टा और प्रकाशक है। किसी भी परिस्थिति में आत्मा घटता नहीं, कहीं हटता नहीं और सर्वत्र अविचल रूप में रहता है। अपने इसी गुण के कारण आत्मा सनातन है।

२५

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥

अव्यक्तः, अयम्, अचिन्त्यः, अयम्, अविकार्यः, अयम्, उच्यते,
तस्मात्, एवम्, विदित्वा, एनम् , न, अनुशोचितुम् , अर्हसि ।

अयम्=यह आत्मा, अव्यक्तः=अव्यक्त है, अयम्=यह आत्मा, अचिन्त्यः=अचिन्त्य है, अयम्=यह आत्मा, अविकार्यः=विकार-रहित, उच्यते=कहा जाता है, तस्मात्=अतः, एनम्=इसको, एवम्=ऐसा, विदित्वा=जानकर (तू), अनुशोचितुम्=शोक करने को, न अर्हसि=योग्य नहीं है ।

इन्द्रिय पहुँच से है परे, मन-चिन्तना से दूर है ।
अविकार इसको जान दुख में व्यर्थ रहना चूर है ॥

अर्थ—यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है, यह आत्मा विकार-रहित कहा जाता है । अतः इसको ऐसा जानकर (तू शोक करने के योग्य नहीं है) तुझे शोक करना उचित नहीं है ।

व्याख्या—आत्मा अव्यक्त है, उसका कोई आकार नहीं है अतः आत्मा तक इन्द्रियाँ नहीं पहुँचतीं । तर्क अथवा भौतिक सिद्धान्त से आत्मा का दर्शन सम्भव नहीं है । किसी प्रयोगशाला में आत्मा का अन्वेषण नहीं हो सकता ।

आत्मा अचिन्त्य है—मन उसकी चिन्ता नहीं कर सकता । मन और इन्द्रियाँ जब बाहरी दोषों से हटकर विशुद्ध हो जाते हैं और
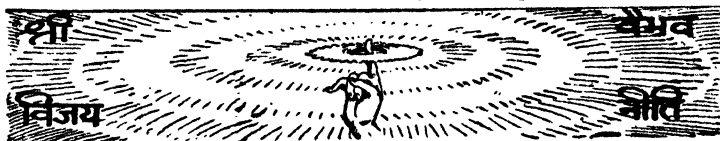
अन्तर्मुखी होकर अथवा आत्मसात् होकर विचार करते हैं तब आत्मा का अनुभव होता है।

बाहरी जड़वाद में उलझे हुए नर-नारी अपने अन्तःकरण में गोता नहीं लगाते। सत्य का साक्षात्कार अपने अन्तर में होता है। पवित्र मन और इन्द्रियों को आत्मा का ज्ञान मिलता है। आत्मा अविकारी है; विकार-हीन स्थिति में ही आत्मा से सम्बन्ध जुड़ता है।

आत्मा को अव्यक्त, अचिन्त्य और अविकारी जानकर शोक करना उचित नहीं है। दुःख, अशान्ति और चिन्ता का सम्बन्ध नाशवान् और विकारवान् वस्तुओं से है। जो नित्य है, उसकी चिन्ता निष्प्रयोजन है।

अपने को अव्यक्त में मिला देनेवाला जीव, आत्मा को देख लेता है। शरीर का मोह और अहंकार प्रत्यक्षको भी नहीं देखने देता फिर अव्यक्त के दर्शन का प्रश्न ही क्या ? नाना प्रकार की वृत्तियों में बँटा हुआ चित्त मनुष्य की शक्ति को खंडित कर देता है। मन और बुद्धि के विकार, अविकारी तक नहीं पहुँचने देते।

अहंकार को मार देनेवाला, मन को निर्मल रखनेवाला, विकारों से छूट जानेवाला और विवेक को धारण करनेवाला चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। शरीर और मन दोनों के दोष रहित होते ही आत्मा की ज्योति प्रकट होकर जीवन को प्रकाश से जगमगा देती है।

आत्मा को जाननेवाला मन, बुद्धि और इन्द्रियों में मल का संचय नहीं होने देता। वह मृत्यु के मित्रों शोक, विकार और विषाद से सदा सावधान रहता है। मन उतावला और चंचल होता है आत्मा गम्भीर और स्थिर। मन संकटों में पड़कर व्याकुल हो जाता है—धीरज खो देता है। आत्मा संकटों में भी प्रसन्न रहता है।

२६

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥

अथ, च, एनम्, नित्यजातम्, नित्यम्, वा, मन्यसे, मृतम्,
तथापि, त्वम्, महाबाहो, न, एवम्, शोचितुम्, अर्हसि ।

अथ च=और यदि, त्वम्=तुम एनम्=इसे, नित्यजातम्=सदा जन्मने, वा=और, नित्यम्=सदा, मृतम्=मरनेवाला, मन्यसे=मानते हो, तथापि=तो भी, महाबाहो=हे अर्जुन, एवम्=इस प्रकार, शोचितुम्=शोक करना, न अर्हसि=उचित नहीं है ।

यदि मानते हो नित्य मरता, जन्मता रहता यहीं ।
तो भी महाबाहो ! उचित ऐसी कभी चिन्ता नहीं ॥

अर्थ—और यदि तुम इसे सदा जन्मने और सदा मरनेवाला मानते हो तो भी हे अर्जुन ! इस प्रकार शोक करना उचित नहीं है ।

व्याख्या—आत्मा को नित्य व्यापक और सनातन जान लेने पर चिन्ता और शोक के लिये कहीं कोई स्थान नहीं रहता । आत्म-प्रेरणा से निर्मल और निर्भय बना हुआ जीवन निरन्तर आगे बढ़ता है । चिन्ता और चाह के संकुचित भाव उसे भयभीत और पराधीन करने में असमर्थ रहते हैं ।

प्रायः मनुष्य आत्मा के गम्भीर रहस्य तक नहीं पहुँचते और शरीर के जन्मने तथा मरने के प्रत्यक्ष प्रभाव से दब जाते हैं । अपने

प्रियजन अथवा परिजन को दुःखी, पीड़ित, रोगग्रस्त या व्याकुल देखकर मनुष्य, इतनी गहरी चिन्ता में फँस जाता है कि अचिन्त्य का उसे नाममात्र को भी ध्यान नहीं रहता। इस प्रकार जो सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण आदि को आत्मा के साथ जोड़ते हैं, उनके लिये भी गीता में स्थान है। श्रीकृष्ण ने गम्भीर और ओजस्विनी वाणी में कहा कि यदि जीव को मरने और जन्मनेवाला ही माना जाय तो भी चिन्ता से कोई लाभ नहीं है।

धैर्य सर्वश्रेष्ठ औषधि है। संसार जिस सत्ता से प्रगतिशील है, उसके नियम अटल हैं। मनुष्य की चिन्ता और कामना से दैवी नियम नहीं टूटते फिर चिन्ता से क्या लाभ ?

कर्मों द्वारा बने हुए संस्कारों की क्रियाशीलता से जन्म और मृत्यु का चक्र निरन्तर चलता है। कर्मों का फल किसी को नहीं छोड़ता। जिसका कोई उपाय नहीं, जो अपनी शक्ति से परे है, उसका शोक करके मनुष्य अपना समय और बल नष्ट करता है। मनुष्य की चिन्ता से सृष्टि का चलता हुआ चक्र नहीं रुकता।

चिन्ता में घुलनेवाला जीते जी मृतकों में अपना नाम लिखा लेता है। जीवन, चिन्ताओं में पड़े रहने के लिये नहीं है वह तो आगे बढ़ते रहने के लिये है।

जीवन का मार्ग उलझनों से भरा है। चलने से पहले उलझनों को सुलझाना सीख लेने में ही मुक्ति है; अन्यथा शोक, चिन्ता और चाह हमें चलने योग्य नहीं छोड़ते।

चिन्ताओं में उलझन को सुलझाने का बल नहीं है। महाबाहु—वीर पुरुष—जितेन्द्रिय जन ही आत्मा को जान कर चिन्ता -मुक्त होते हैं।

२७

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

जातस्य, हि, ध्रुवः, मृत्युः, ध्रुवम्, जन्म, मृतस्य, च, तस्मात्, अपरिहार्ये, अर्थे, न, त्वम्, शोचितुम्, अर्हसि।

हि=क्योंकि, जातस्य=जन्मनेवाले की, मृत्युः=मृत्यु, ध्रुवः=निश्चित है, च=और, मृतस्य=मरनेवाले का, जन्म=जन्म, ध्रुवम्=निश्चित है, तस्मात्=इसलिये, अपरिहार्ये=इस अटल, अर्थे=विषय में, त्वम्=तुझे, शोचितुम्=शोक करना, न अर्हसि=योग्य नहीं है।

जन्मे हुए मरते, मरे निश्चय जनम लेते कहीं।
ऐसी अटल जो बात है उसकी उचित चिन्ता नहीं॥

अर्थ—क्योंकि जन्मनेवाले की मृत्यु निश्चित है और मरनेवाले का जन्म निश्चित है इसलिये इस अटल विषय में तुझे शोक करना योग्य नहीं है।

व्याख्या—उदय होनेवाले सूर्य का अस्त होना निश्चित है। जन्म के साथ मृत्यु जुड़ी हुई है। युग बदल गये, अनेकों परिवर्तन हुए और जगत् में नित्य परिवर्तन होते रहे हैं और होते रहेंगे; परन्तु यह नियम न बदला है और न बदलेगा कि जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म होता है।

मृत्यु से छूट—

आत्मा को जन्म-मृत्यु से परे माननेवालों के लिये गीता में स्थान-स्थान पर मृत्यु से छूट जाने की चर्चा है।

ज्ञान और तप से शुद्ध होनेवाले परमेश्वर में मिल जाते हैं। (४।१०)

जो आत्मा में मन और बुद्धि को लगाते हैं वे ज्ञान से निष्पाप होकर फिर जन्म नहीं लेते। (गीता० ५।१७)

परमेश्वर को पाकर नश्वर जन्म नहीं लेना पड़ता। (गीता० ८।१५)

मुक्ति होती है तो मृत्यु के पश्चात् जन्म क्यों ?

मुक्ति उनके लिये है जो आत्मा को जानकर ज्ञान को आचरण में लाते हैं और चिन्ताओं को छोड़ देते हैं। परन्तु जो यही मानते हैं कि आत्मा मरने और जन्मनेवाला है उन्हें भी किसी प्रकार चिन्ता नहीं करनी चाहिये क्योंकि जन्म और मरण निश्चित है।

"गीता का यह सच्चा सिद्धान्त पहले ही बता चुके हैं कि आत्मा सत्, नित्य, अज, अविकार्य, अचिन्त्य तथा निर्गुण है और देह अनित्य है अतएव शोक करना उचित नहीं। ऊपर के दो श्लोकों में बतलायी हुई उपपत्ति सिद्धान्त पक्ष की नहीं है यह अथ च=अथवा शब्द से बीच में ही उपस्थित किये हुए पूर्व पक्ष का उत्तर है। आत्मा को नित्य मानो चाहे अनित्य, दिखलाना इतना ही है कि दोनों पक्षों में शोक करने का प्रयोजन नहीं है।" —लोकमान्य तिलक

दिन और रात की भाँति जन्म और मृत्यु का चक्र चलता है। कौन, कब और क्यों जन्मता या मरता है—यह एक रहस्य है, जिसका सम्बन्ध प्रभु की इच्छा और जीव के संस्कारों से है। मनुष्य के लिये इतना जानना आवश्यक है कि मृत्यु अनिवार्य है, उसके लिये शोक करना व्यर्थ है।

शरीर मुक्ति का द्वार है—

'*साधन धाम मोक्ष कर द्वारा।*' —तुलसीदास

यह शरीर मुक्ति का द्वार है। केवल द्वार की सेवा से अथवा द्वार पर पड़े रहने से मुक्ति नहीं मिलती। द्वार का सदुपयोग, उसमें प्रवेश करके मुक्तिधाम तक पहुँच जाने में है। अतः जब तक शरीर है, उससे सत्कर्म करके उसका लाभ उठाना चाहिये। एक न एक दिन उसे छोड़ना पड़ेगा। शरीर मृत्यु के हाथ का खिलौना है।

मुक्त पुरुष कभी मरते नहीं—

श्रेष्ठ पुरुष मृत्यु से छूटकर अमृत प्राप्त करते हैं। वे जीवन में भी मुक्त रहते हैं और नश्वर देह को त्यागकर भी मुक्ति पाते हैं। मुक्त पुरुष कभी मरते नहीं, देह त्यागकर अखण्ड सत्ता में मिल जाते हैं, महाप्रयाण करते हैं और संकुचित सीमा को तोड़ कर विराट् व्यापक और पूर्ण पुरुष में मिल जाते हैं।

मरनेवाला जन्म लेता और जन्मनेवाला मरता है—

मृत्यु शब्द भयंकर है, उसमें क्रूरता है, परन्तु वह अवश्यम्भावी है।

मृत्यु को देखकर भयभीत होनेवाले को मृत्यु बलात् पकड़ लेती है, वरुण के पाशों में बाँधकर घसीटती है और घोर यातनायें देती है। मृत्यु द्वारा घसीटा गया मनुष्य जन्मता और मरता है।

जो दुःखों में घुट-घुटकर व्याधियों में घिरकर मरता है उसे निश्चय-पूर्वक जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेकर मरना निश्चित है

आत्मज्ञानी मृत्यु का मार्ग पार करके मुक्त हो जाते हैं, मरते नहीं। अविवेकीजन मृत्यु के मार्ग में फँसकर जन्म-मरण में बँध जाते हैं। यह सिद्धान्त अटल है अतः इसकी चिन्ता निष्प्रयोजन है।

२८

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

अव्यक्तादीनि, भूतानि, व्यक्तमध्यानि, भारत,
अव्यक्तनिधनानि, एव, तत्र, का, परिदेवना।

भारत=हे भारत, भूतानि=सब प्राणी, अव्यक्तादीनि=जन्म से पहले अव्यक्त हैं, व्यक्तमध्यानि=बीच में व्यक्त होते हैं, अव्यक्तनिधनानि एव=मृत्यु के पश्चात् फिर अव्यक्त ही है, तत्र=इस विषय में, का=क्या, परिदेवना=चिन्ता है।

अव्यक्त प्राणी आदि में, हैं मध्य में दिखते सभी।
फिर अन्त में अव्यक्त, क्या इसकी उचित चिन्ता कभी॥

अर्थ—हे भारत! सब प्राणी जन्म से पहले अव्यक्त हैं, बीच में व्यक्त होते हैं, मृत्यु के पश्चात् फिर अव्यक्त ही हैं इस विषय में क्या चिन्ता है।

व्याख्या—जगत् में जो कुछ हो रहा है उसके लिये शोक और चिन्ता न करके कर्त्तव्य-पालन करना मानव-धर्म है। इस सत्य और धर्म को जानते हुए भी धैर्य और विश्वास का वह सूत्र टूट जाता है, जिसमें प्रगति और विकास के दाने गुथे हुए हैं। साधारण प्रश्न यह उठता है कि जिसे हम अभी-अभी अपने सामने देख रहे हैं, जिसके साथ उठते-बैठते और बोलते-चालते हैं वह मृत्यु के पश्चात्

नहीं दिखता। उसके अभाव में स्वभावतः चिन्ता और शोक की वृद्धि होती है। इसका एक ही समाधान है—उत्पन्न होने से पहले किसी भी पदार्थ अथवा प्राणी का स्वरूप नहीं दिखता। जन्म के पश्चात् आकृति बन जाती है और उसे संसार देखता है। इस आकृति का बिगड़ना और निराकार होना निश्चित है। जिस स्वरूप में वह है, वह सदा रहनेवाला नहीं है। अतः मनुष्य-जीवन में ज्ञान की दृष्टि से चिन्ता का कोई स्थान नहीं है।

संसार के मोह और अनेक प्रकार की आसक्ति में बँधकर नर-नारी अनेक प्रकार की कल्पनायें करते हैं। एक पल की न जानते हुए भी विकल होकर वर्षों के सुख का संग्रह करना चाहते हैं। आशा, संग्रह और विलास में छोटा-सा जीवन व्यर्थ नष्ट हो जाता है।

महाकवि कालीदासके शब्दों में—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं,
भास्वानुदिष्यति हसिष्यति पङ्कज श्रीः,
इत्थं विचारयति कोशगते द्विरेफे,
हा ! हन्त !! हन्त !! नलिनीं गजमुज्जहार।

रात बीतेगी, सुन्दर प्रभात होगा, सूर्य निकलेगा, कमल की शोभा हँसेगी, भँवरा कमल में सुख से बैठा इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि हाथी ने कमल को तोड़ लिया।

कवि ने मानवीय आशा का सफल चित्र उतार लिया है। प्राणी सुख से संसार रूपी कमल के बन्धन में बँध जाता है। इस बन्धन में भी उसकी आशायें नहीं टूटतीं। वह दुःख की रात बीतने पर सुख के प्रभात की कल्पना करता है, वह नहीं जानता कि कल उसे काल अपना कौर बना लेगा।
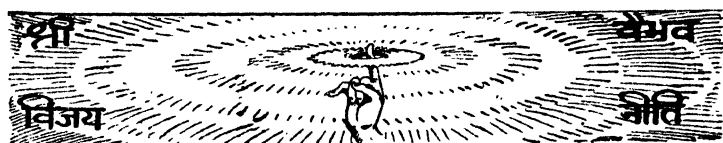
अल्प जीवन में महान् वे होते हैं जो देह की नश्वरता और आत्मा की नित्यता को जानकर सदा सजग, सावधान, सत्यशील और कर्म-तत्पर रहते हैं। रूप-रंग, माया-ममता और मोह से तृष्णा और चिन्ता का परिवार बढ़ता है। मनुष्य का शरीर कुछ समय पहले नहीं था और कुछ समय पीछे नहीं रहेगा—यह सब कुछ ही समय का दर्शन मेला है। अतः जीवन उसी का धन्य है जो वर्तमान का अच्छे से अच्छा उपयोग करता है।

ज्ञानीजन संसार को स्वप्नवत् कहते हैं जैसे सोने से पहले स्वप्न का कोई रूप नहीं होता और जागने पर भी स्वप्न का कोई आकार नहीं रहता, केवल स्वप्न देखते समय ही वह रहता है, वैसे ही यह संसार और शरीर है।

> अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः।
> नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना ॥ (महा० स्त्री० २।१३)

यह सम्पूर्ण प्राणी समुदाय अदृश्य से आया और अदृश्य होगया। न वह तेरा है और न तू उसका, व्यर्थ शोक किस लिये।

यह ज्ञान रूखे और निष्ठुर बनाने के लिये नहीं है, वरन् ममता और मोह की सीमा को तोड़कर जीवन को विराट्, सर्व हितकारी यज्ञमय और सावधान बनाने के लिये है।

त्रिकाल में एकरस रहनेवाले आत्मा को जाननेवाला भली भांति जानता है कि यह व्यक्त शरीर मृत्यु को जीतने की एक तैयारी है। जो जितना तैयार होता है वह उतना ही अधिक पूर्ण आनन्दमय और सम्पन्न जीवन जीता है। जीवन जब आत्मशक्ति से भर जाता है तो निःसन्देह उसे अव्यक्त शक्ति का बोध हो जाता है। आत्मा जानने योग्य है, विश्व का सबसे बड़ा आश्चर्य आत्मा है—

२९

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

आश्चर्यवत्, पश्यति, कश्चित्, एनम्, आश्चर्यवत्, वदति, तथा, एव, च, अन्यः, आश्चर्यवत्, च, एनम्, अन्यः, शृणोति, श्रुत्वा, अपि, एनम्, वेद, न, च, एव, कश्चित् ।

कश्चित=कोई, एनम्=इस आत्मा को, आश्चर्यवत्=आश्चर्य की भांति, पश्यति=देखता है, च=और, तथा=वैसे, एव=ही, अन्यः=कोई, आश्चर्यवत्=आश्चर्यवत्, वदति=कहता है, च=और, अन्यः=कोई, एनम्=इस आत्मा को, आश्चर्यवत्=आश्चर्य की तरह, शृणोति=सुनता है, च=और, कश्चित्=कोई, श्रुत्वा=सुनकर, अपि=भी, एनम्=इसे, न एव=नहीं, वेद=जानता ।

कुछ देखते आश्चर्य से, आश्चर्यवत कहते कहीं ।
कोई सुने आश्चर्यवत, पहिचानता फिर भी नहीं ॥

अर्थ—कोई इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है और वैसे ही कोई आश्चर्यवत् कहता है और कोई इस आत्मा को आश्चर्यवत् सुनता है और कोई सुनकर भी इसे नहीं जानता ।

व्याख्या—जगत् में अनेक प्रकार के जीव हैं और अनेक विचारधारायें हैं । ज्ञान-शक्ति, बुद्धि और अनुभव के आधार पर प्रायः सब अपनी-अपनी बात कहते हैं ।
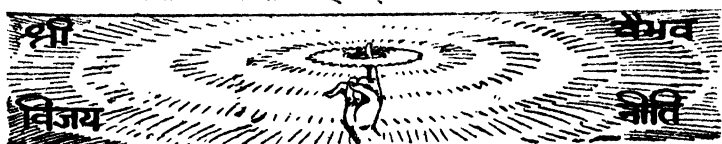
कुछ ऐसे हैं जो आत्मा को बड़े आश्चर्य से देखते ही रह जाते हैं।

मनुष्य का व्यक्त होना और फिर अव्यक्त होना, सूर्य का उदय और अस्त, नदियों का समुद्र में मिल जाना और फिर जल लेकर आना, बीज से वृक्ष बनना और फिर बीज बन जाना आदि-आदि में आत्मा के अद्भुत सामर्थ्य को देखनेवाला आश्चर्य से देखता है।

सूर्य क्यों निकलता है? फूल क्यों खिलते हैं? ऋतुएँ समय पर क्यों आती हैं? यह जगत् क्यों है? मनुष्य क्यों जन्मता है? वरुण के व्रत क्यों नहीं टूटते? प्रकृति का नियम अटल है, नियति के विधान को कोई नहीं बदल सकता, आदि-आदि ऐसे आश्चर्य हैं जिनसे आत्मा को जानने की जिज्ञासा उठती है।

विराट् और सर्वव्यापी आत्मा का दर्शन अन्तर्दृष्टि से होता है।

करते हैं दर्शन योगी संयम-समाधि में सोकर।
अनुभवी मनीषी उसको पाते हैं उसके होकर॥
आँखें मूंदे ही मूंदे देखा करती थी मीरा।
जाने कितने सूरों ने देखा है आँखें खोकर॥

अध्यात्म का स्रोत अन्तस्तल से उमड़ता है, भौतिकता और जड़ता अपने से बाहर देखी जाती है। अन्तःकरण की शुद्धि, विशालता और अनुभव के अनुसार आत्मतत्त्व का दर्शन होता है।

इन्द्रियों से देखा हुआ भ्रम-पूर्ण भी हो सकता है। वेदान्त में दृष्टिभ्रम के अनेक उदाहरण हैं। आँखों के साथ जैसा मन मिलता है उसी प्रकार का दर्शन होता है। प्रत्यक्षवादी, प्रज्ञावादी, प्रकृतिवादी सबकी दृष्टि के पीछे उनका अन्तःकरण रहता है। वह अन्तःकरण जैसा दिखाना चाहता है वैसा ही देखनेवाला आश्चर्य से देखता है।

कुछ ऐसे महानुभाव हैं जो बड़े आश्चर्य से आत्मा का वर्णन करते हैं।

शास्त्र-चर्चा, कथा-वार्ता आदि की प्रथा आत्मा के वर्णन के लिये है, परन्तु केवल कहने और सुनने से आत्मा का ज्ञान नहीं होता। एक ऋषि ने जीव-जगत् के लाभार्थ अपने अनुभव को सुन्दर शब्दों में कहा है—

'उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कञ्चन।'

उपदेश किसी को मैं न दिया करता हूँ।
जो कुछ कहना है आप किया करता हूँ॥

आत्मज्ञानी के कर्म और वचन में अभिन्नता होती है। वाणी को कर्म का रूप देनेवाले महापुरुष ही रहस्यों का उद्घाटन करके जीवन के पथ खोलते हैं।

कुछ श्रद्धालुजन बड़े आश्चर्य से आत्मा की चर्चा सुनते हैं।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन से ज्ञान की निधि मिल जाती है परन्तु केवल श्रवण और वह भी व्यसन के लिये, आत्मा तक पहुँचाने में समर्थ नहीं होता।

सुनकर भी प्रायः नर-नारी आत्मा को नहीं जान पाते।

"अपूर्व वस्तु समझकर बड़े-बड़े लोग आत्मा के विषय में कितना ही विचार क्यों न करें, पर उसके सच्चे स्वरूप को जाननेवाले लोग बहुत थोड़े हैं।" —तिलक

जो देखते हैं वे तन्मय हो जाने के कारण कह नहीं पाते और जो कहते हैं वे कथनी के फेर में पड़कर देख नहीं पाते। जो सुनते हैं वे आश्चर्य से सुनते ही रहते हैं। ऐसे आश्चर्यमय आत्मा का ज्ञान, शोक और चिन्ता को छोड़कर कर्त्तव्य-पालन करने से होता है।

श्री वैभव
विजय नीति

३०

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

देही, नित्यम्, अवध्यः, अयम्, देहे, सर्वस्य, भारत, तस्मात्, सर्वाणि, भूतानि, न, त्वम्, शोचितुम्, अर्हसि।

भारत = हे भारत, अयम् = यह, देही = आत्मा, सर्वस्य = सबके, देहे = शरीर में, नित्यम् = नित्य ही, अवध्यः = अमर है, तस्मात् = इसलिये, सर्वाणि = सब, भूतानि = प्राणियों का, शोचितुम् = शोक करना, त्वम् = तुम्हें, न अर्हसि = उचित नहीं है।

सारे शरीरों में अमर आत्मा न वध होता किये।
फिर प्राणियों का शोक यों तुमको न करना चाहिये ॥

अर्थ—हे भारत ! यह आत्मा सबके शरीर में नित्य ही अमर है इसलिये सब प्राणियों का शोक करना तुम्हें उचित नहीं है।

व्याख्या—आत्मा सर्वव्यापी है। जीव चराचर में आत्मा समाया हुआ है। देह के अथवा कलेवर के नष्ट होने से आत्मा का विनाश नहीं होता। जो आत्मवान् है वह महान, सनातन, अविकारी और शोक-रहित रहता है। आत्मा की अपार शक्ति आत्मवान् में भर जाती है, वह स्वयं ही राग-द्वेष, रोग-शोक आदि विकारों से छूट जाता है।

आत्मा का ज्ञान केवल वाणी-विलास के लिये नहीं है, जीवन-व्यापी निर्भयता और आनन्द देने के लिये है। आत्मा की अमरता को जानकर भी जो चेतना-हीन, दीन और मलीन रहते हैं वे मृतक के समान हैं। आत्मा अमर है अतः उसके अमृतत्व को लेकर जीवन सत्य से जगमग हो जाना चाहिये। आत्म-ज्ञान के स्पर्श से जड़ में भी उसी प्रकार चेतना भर जाती है जैसे राम के स्पर्श से पत्थर की शिला में।

अविनाशी आत्मा के स्पर्श से नाशवान् शरीर भी चलता-फिरता और बोलता है। उसी के सत्संग से मनुष्य तन महान् है। जो आत्मा की ओर देखता है, उसका शरीर स्वयं ही सत्यं, शिवं और सुन्दरम् से पूर्ण हो जाता है। जो केवल शरीर की चिन्ता और पोषण में लगे रहते हैं, उनका जीवन संसार के अंधेरे में लुप्त हो जाता है।

आत्मवान्, मुक्त अथवा सत्यशील मनुष्य का शरीर परिश्रमी होता है; मन निर्मल होता है; बुद्धि विवेकवान होती है; अहंकार अव्यक्त होता है और चित्त चिन्ताहीन रहता है।

चिन्ता से मुक्त प्राणी आन्तरिक वाणी को सुनता है और उसके प्रति सजग रहने की चेष्टा करता है।

प्राणियों का शोक करने की अपेक्षा प्राणियों के शोक निवारण का प्रयत्न करना आत्मा को पाने का सरल मार्ग है।

आत्मा का ज्ञान, कर्त्तव्य-पालन और स्वधर्म का बोध कराने के लिये होना चाहिये। स्वधर्म का आचरण, जीवन का प्रधान ध्येय है। आत्मा का दर्शन कराने के लिये गीता स्वधर्म की ओर लाती है—
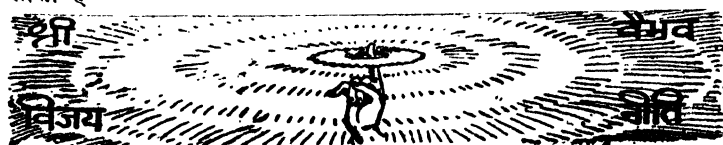
३१

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥

स्वधर्मम्, अपि, च, अवेक्ष्य, न, विकम्पितुम्, अर्हसि, धर्म्यात्, हि, युद्धात्, श्रेयः, अन्यत्, क्षत्रियस्य, न, विद्यते।

च=फिर, स्वधर्मम्=अपने धर्म को, अवेक्ष्य=देखकर, अपि=भी (तुम्हें), विकम्पितुम्=भय करना, न अर्हसि=उचित नहीं है, हि=क्योंकि, धर्म्यात्=धर्मयुक्त, युद्धात्=युद्ध से बढ़कर, क्षत्रियस्य=क्षत्रिय के लिये, अन्यत्=दूसरा (कोई), श्रेयः=श्रेष्ठ कर्म, न=नहीं, विद्यते=है।

फिर देखकर निज धर्म, हिम्मत हारना अपकर्म है।
इस धर्म-रण से बढ़ न क्षत्रिय का कहीं कुछ धर्म है॥

अर्थ—फिर अपने धर्म को देखकर भी तुम्हें भय करना उचित नहीं है क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिये दूसरा कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं है।

व्याख्या—आत्मा का सम्पूर्ण ज्ञान और देह की नश्वरता का बोध निर्भय होकर कर्त्तव्य-पालन करने की प्रेरणा देता है। स्वधर्म का आचरण करके ही देह का सदुपयोग हो सकता है। धर्म और कर्म के बिना आत्मा का ज्ञान व्यर्थ है।

स्वधर्म की श्रेष्ठता—

सीमित धर्म, अधर्म और परधर्म इन तीनों से स्वधर्म अत्यन्त

श्रेष्ठ है। धर्म-हीन का जीवन व्यर्थ है क्योंकि वह हीनताओं से घिरा रहता है। परधर्म की ओर दौड़नेवाले को कोई निश्चित पथ नहीं मिलता और वह निरन्तर भटकता है। सीमित धर्म में घिरे रहनेवाले एक पक्षीय हो जाते हैं और अपने-आपको धर्मवाद की संकुचित सीमाओं में बाँध लेते हैं। अतः अधर्म, परधर्म और एक देशीय धार्मिक हठ को छोड़कर गीता स्वधर्म के आचरण का आदेश देती है।

स्वधर्म का साधारण अर्थ है—अपना कर्त्तव्य। धर्म एक व्यापक पवित्र और सारगर्भित शब्द है। शास्त्रीय भाषा में धर्म सारे ब्रह्माण्ड को धारण करता है—

'धर्मो धारयति प्रजाः।'

धर्म प्रजाओं को धारण करता है।

राष्ट्र, समाज, संस्था और व्यक्ति सबको जीवित रखनेवाला धर्म है। धर्म कोई जंजाल नहीं है, कोई जीर्ण-शीर्ण परिपाटी नहीं है, किसी व्यक्ति अथवा ग्रन्थ विशेष की आज्ञा नहीं है। धर्म प्रज्ञावाद भी नहीं है, दिखने-दिखाने और कहने-सुनने की वस्तु भी नहीं है। धर्म उन्नति और प्रगति का बाधक नहीं है। धर्म सर्वतोमुखी विकास का साधक है।

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

बोलचाल की भाषा में जीवित रहने के नियमों को 'धर्म' कहते हैं। जिन कर्मों से राष्ट्र की उन्नति होती है, आध्यात्मिक चेतना जागती है और व्यक्तित्व का विकास होता है उन्हें 'धर्म' कहते हैं।

धर्म का अर्थ संकुचित करने से उसकी धारण करने की शक्ति का लोप हो जाता है और वह सम्प्रदायों के रूप में खड़ा होकर अनर्थों का कारण बन जाता है।

बन्धनों को तोड़कर मनुष्य को विराट् शक्ति के सम्पर्क में लानेवाला धर्म है। सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि धर्म के मूल नियम अथवा स्थायी सिद्धान्त, सनातन, सर्वमान्य और सर्व-हितकारी होते हैं।

धर्म के अनुसार जो कुछ कर्त्तव्य कर्म उपस्थित होता है उसे 'स्वधर्म' कहते हैं। स्वधर्म का पालन करना मनुष्यता का सर्वश्रेष्ठ लक्षण है। स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार जो भी निश्चित कर्त्तव्य बन जाता है वही स्वधर्म है। प्रत्येक प्राणी धरती माता की गोद में जन्म लेता है, माता-पिता उसका पालन करते हैं, देवताओं और ऋषियों की कृपा से उसे ज्ञान मिलता है, परस्पर आदान-प्रदान से प्रेम और सद्भावों की वृद्धि होती है और समाज तथा व्यक्तियों से उसे किसी न किसी रूप में सहयोग मिलता है—इन सबके प्रति मनुष्य का कुछ न कुछ कर्त्तव्य बन जाता है यही स्वधर्म है। किसी भी परिस्थिति में स्वधर्म का आचरण नहीं छोड़ना चाहिये।

महर्षि वेदव्यास ने सम्पूर्ण वेद शास्त्रों का एक ही निष्कर्ष निकाला है—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्,
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

किसी कामना से, भय से, लोभ से यहाँ तक की प्राणों के मोह से भी धर्म नहीं छोड़ना चाहिये। सुख-दुःख तो आने-जानेवाले हैं परन्तु धर्म नित्य रहता है, जन्म और मृत्यु भी नित्य नहीं है।

स्वधर्म को देखकर तथा कर्त्तव्य की पुकार सुनकर हिम्मत

हारनेवाला, जन समाज, प्रकृति और परमेश्वर की दृष्टि में गिर जाता है। स्वधर्म को भली-भांति जानकर उसके अनुसार कर्म करना जीवन की सफलता का सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

धर्मयुद्ध से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है—

अपना कर्त्तव्य कर्म पूरा करने के लिये मनुष्य को बड़े-बड़े कष्ट सहन करने पड़ते हैं और परिस्थितियों से युद्ध करना पड़ता है। दुरित, भय, विकार और अनृत आदि जीवन पर आक्रमण करते हैं। उनके आक्रमणों को रोकने के लिये साहस सहित कर्म करने का नाम धर्मयुद्ध है। जीवन की रक्षा करनेवाले वीर और साहसी पुरुष धर्म-युद्ध से पीछे नहीं हटते। जीवन-संग्राम में विचार-पूर्वक युद्ध करने से श्रेष्ठ दूसरा कोई कर्त्तव्य नहीं है।

स्वार्थ के लिये किये गये भौतिक युद्धों में बर्बरता, हिंसा और दानवता का नग्न नृत्य होता है। विश्व-शान्ति, परमार्थ और सत्य की प्रतिष्ठा के लिये होनेवाले कर्म-युद्धों में अहिंसा, प्रेम, दया और मनुष्यता के गुणों का प्रकाश होता है।

क्षत्रिय का अभिप्राय—

क्षत्रियों के जीवन की सार्थकता धर्म-युद्ध से होती है। क्षत्रिय का साधारण अर्थ—क्षत्रिय जाति का योधा किया जा सकता है। गीता की दृष्टि से क्षत्रिय, अर्थ और बल का अधिष्ठाता है, उसकी क्रिया-शक्ति सदा जागृत रहती है। धर्म तथा स्वराज्य की रक्षा और विस्तार क्षत्रिय के जीवन का ध्येय है। क्षत्रिय अपनी और अपने देश की शक्ति बढ़ाता है, पतन के पैर उखाड़ देता है और संकटों के सामने झुकना नहीं जानता—वह निर्भय होकर परिस्थितियों का सामना करता है। युद्ध, क्षत्रिय के लिये स्वर्ग का द्वार है।

३२
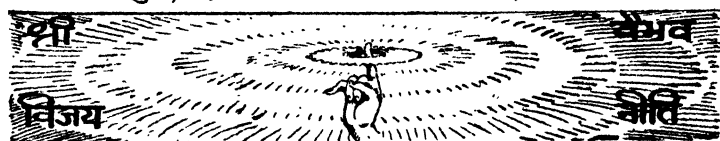
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥

यदृच्छया, च, उपपन्नम्, स्वर्गद्वारम्, अपावृतम्, सुखिनः, क्षत्रियाः, पार्थ, लभन्ते, युद्धम्, ईदृशम्।

पार्थ = हे पार्थ, यदृच्छया = अपने-आपही, उपपन्नम् = मिले हुए, च = और, अपावृतम् = खुले हुए, स्वर्गद्वारम् = स्वर्ग के द्वार रूप, ईदृशम् = इस प्रकार के, युद्धम् = युद्ध को, सुखिनः = भाग्यवान्, क्षत्रियाः = क्षत्रिय, लभन्ते = पाते हैं।

रण स्वर्गरूपी द्वार देखो खुल रहा है आप से।
यह प्राप्त होता क्षत्रियों को युद्ध भाग्य-प्रताप से॥

अर्थ—हे पार्थ! अपने-आपही मिले हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय पाते हैं।

व्याख्या—संसार में कहीं दीनता की प्रशंसा नहीं होती। 'कार्पण्यं न प्रशस्यते' उद्योग करके आगे बढ़नेवाला जीवन सदा श्रेष्ठ माना जाता है। गीता उनके लिये स्वर्ग का द्वार खोलती है जो आपत्तियों से युद्ध करने के लिये नित्य तत्पर रहते हैं। संकटों के सन्मुख आने पर ही स्वर्ग का द्वार खुलता है। आपत्तियों और उलझनों से भयभीत होकर भागनेवाला अथवा उनका बन्दी बन जानेवाला स्वर्ग के द्वार तक नहीं पहुँच पाता। आगे बढ़ने के लिये

युद्ध अनिवार्य है। संघर्ष, आपत्ति और दुःखों का आना भी शुभ और मंगल सूचक है। संकटों का आक्रमण होते ही प्राणी को उन्नति करने का अवसर मिलता है। अकर्मण्य होकर बैठ जानेवाली शान्ति में अशान्ति के अंकुर छिपे रहते हैं। वह भाग्यवान् है जिसे संकटों को पराजित करने का सौभाग्य मिलता है।

युद्ध स्वर्ग का द्वार है। जिसके सामने यह द्वार स्वयं ही खुल जाता है उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है।

व्यावहारिक दृष्टि से जिस राष्ट्र और समाज में मनुष्य जन्मता-पलता और रहता है उसकी रक्षा तथा सेवा के लिये युद्ध करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। जिस योग, संयोग अथवा दैवी कृपा से यह कर्त्तव्य पूरा होता है वही मुक्तिदायक है।

श्रेष्ठ पुरुष को स्वधर्म का आचरण करते हुए सदा उन्नति के अवसरों की खोज में रहना चाहिये। वह समय और परिस्थिति सर्वश्रेष्ठ है जिसमें मनुष्य को कर्त्तव्य-पालन करने के योग मिलते हैं। उन्नति के योगों को पानेवाला स्वयं ही धीर, साहसी और निपुण हो जाता है।

मनुष्य के स्वभाव में राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं। जो अनृत, दुरित और सुख-भोगों से द्वेष करता है, उसे सत्य, धर्म तथा त्याग से राग हो जाता है और जो दुरितों से राग करता है उसे सद्गुणों से द्वेष हो जाता है। राग और द्वेष को प्रभाव-हीन करने का एकमात्र उपाय विषय-विकारों के प्रति द्वेष-बुद्धि जागृत कर देना है—यही असहयोग है। सद्भावों के प्रति राग होते ही सत्याग्रह में रुचि उत्पन्न होती है।

धर्मयुद्ध से भयभीत होने अथवा पीछे हटनेवाले को कुछ नहीं मिलता।

३३

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

अथ, चेत्, त्वम्, इमम्, धर्म्यम्, संग्रामम्, न, करिष्यसि, ततः, स्वधर्मम्, कीर्तिम्, च, हित्वा, पापम्, अवाप्स्यसि।

अथचेत=यदि, त्वम्=तुम, इमम्=इस, धर्म्यम्=धर्ममय, संग्रामम्=संग्राम को, न=नहीं, करिष्यसि=करोगे, ततः=तो स्वधर्मम्=स्वधर्म को, च=और, कीर्तिम्=कीर्ति को, हित्वा=खोकर, पापम्=पाप को, अवाप्स्यसि=प्राप्त होगे।

तुम धर्म के अनुकूल रण से जो हटे पीछे कभी।
निज धर्म खो अपकीर्ति लोगे और लोगे पाप भी॥

अर्थ—यदि तुम इस धर्ममय संग्राम को नहीं करोगे तो स्वधर्म को और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगे।

व्याख्या—यज्ञ, धर्म, तप, योग आदि धर्मयुद्ध के अंग हैं। इनमें विजय और सफलता पानेवाला निरन्तर आगे बढ़ता है। धर्म-युद्ध से पीछे हटने में कहीं सुख नहीं है। साहस छोड़कर कर्त्तव्य से विमुख होना अथवा स्वधर्म का त्याग करना विनाश का चिह्न है।

कोई जीव संघर्षों और संकटों से निवृत्त नहीं होता। संकटों को सहन करने में और साहस के साथ उनसे युद्ध करने में जीवन का सच्चा सुख है।

जो नहीं चलता उसे समय का वेग धक्का देकर गिरा देता है। जीवन-युद्ध में अकर्मण्यता सबसे बड़ा पाप है। आगे बढ़नेवाला सदा सुखी रहता है और पीछे हटनेवाला—

१—स्वधर्म का आचरण नहीं करता।

२—कीर्ति को खो देता है।

३—पाप का भागी बनता है।

१. स्वधर्म का आचरण नहीं करता—

संसार के संग्राम में भयभीत होकर पीछे हटनेवाला दूसरों के हाथों से मारा जाता है। जीवन की उन्नति के लिये जो भी संघर्ष करना पड़े, उसे साहस सावधानी और कुशलता से करते रहना प्रत्येक मनुष्य का परम धर्म है। सेवा, रक्षा, व्यवस्था, सत्य की खोज, सद्भाव, परस्पर विशुद्ध व्यवहार, आदान-प्रदान आदि में प्रायः बाधायें उपस्थित होती हैं। इन बाधाओं से युद्ध करनेवाला स्वधर्म का पालन करता है। बाधाओं को देखकर पीछे हट जानेवाला स्वधर्म से गिर जाता है।

जगन्नियन्ता ने प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी निश्चित कार्य की पूर्ति के लिये बनाया है। जो जिस कार्य के लिये है वही उसका स्वधर्म है। दैवी योजना के अनुसार जो अपने कार्य को पूरा नहीं कर पाता वह स्वधर्म से गिर जाता है।

२. कीर्ति को खो देता है—

कीर्ति सत्कर्मों का फल है। मनुष्य के गुणों की नाप उसकी कीर्ति से होती है। लोक में केवल यश-मान प्राप्त करने की इच्छा से किये गये कर्मों द्वारा अभिमान और दम्भ फैलता है। स्वधर्म के
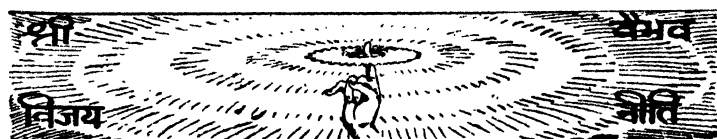
लिये किये गये कर्मों से लोक-दृष्टि में मनुष्य का मूल्य बढ़ जाता है और अनायास ही उसे कीर्ति मिलती है।

प्रत्येक मनुष्य के साथ उसका अपना संसार है। राष्ट्र, जाति, समाज, नगर, परिवार आदि के प्रति उसका कुछ न कुछ कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य को पूरा करनेवाला कीर्ति प्राप्त करता है और कर्त्तव्य की कसौटी पर खरा न उतरनेवाला अथवा कर्त्तव्य से विमुख हो जानेवाला अपनी कीर्ति को खोदेता है।

३. पाप का भागी बनता है—

स्वधर्म से पीछे हटना पाप है। भूमि, जन और संस्कृति के नियमों का उलङ्घन करना पाप है। राष्ट्र में, धर्म में, समाज में, परिवार में और स्वयं अपने में अव्यवस्था उत्पन्न करना पाप है। ऋत और सत् के नियमों का उलङ्घन करना पाप है। आत्मा के प्रतिकूल आचरण करना पाप है। मन, वचन, कर्म और बुद्धि में भेद तथा विषमता रखना और विषमता को दूर करने के लिये कर्म न करना महापाप है।

पाप से मनुष्य स्वयं अपनी ही हिंसा करता है। पाप का फल घोर दुःख विषमता और अज्ञान है।

सृजन और संरक्षण के नियमों को तोड़नेवाला पाप का भागी होता है। धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, बौद्धिक, मानसिक और नैतिक उन्नति की बाधाओं से युद्ध न करनेवाला पाप का भागी बनता है। कर्म के सभी क्षेत्रों में विजयी होने के लिये युद्ध अनिवार्य है। सत्य, न्याय और संरक्षण के लिये होनेवाले धर्मयुद्ध से पीछे हटनेवाला घोर पाप करता है।

पाप-कर्म से सर्वत्र अपकीर्ति होती है। अपकीर्ति मृत्यु के समान दुःखदायी है—

३४

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥

अकीर्तिम्, च अपि, भूतानि, कथयिष्यन्ति, ते, अव्ययाम्,
संभावितस्य, च, अकीर्तिः, मरणात्, अतिरिच्यते ।

च = और, भूतानि = सबलोग, ते = तेरी, अव्ययाम् = बहुत काल तक रहनेवाली, अकीर्तिम् = अपकीर्ति को, अपि = भी, कथयिष्यन्ति = कहते रहेंगे, च = और, अकीर्तिः = अपकीर्ति, संभावितस्य = माननीय पुरुष के लिये, मरणात् = मरने से (भी), अतिरिच्यते = अधिक होती है ।

अपकीर्ति गायेंगे सभी फिर इस अमिट अपमान से ।
अपकीर्ति, सम्मानित पुरुष को अधिक प्राण-पयान से ॥

अर्थ—और सब लोग तेरी बहुत काल तक रहनेवाली अपकीर्ति को भी कहते रहेंगे और अपकीर्ति माननीय पुरुष के लिये मरने से भी अधिक होती है ।

व्याख्या—सत्य के प्रयोग, युग पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं । सन्मान देनेवाले सत्कर्मों से जीवन का स्तर ऊँचा और मूल्यवान् बन जाता है । निन्दनीय कर्मों से राष्ट्र, समाज और व्यक्ति का पतन होता है । जिस राष्ट्र का शरीर धर्मयुद्ध से पीछे हट जाता है, स्वधर्म का त्याग कर देता है और इन्द्रिय-सुख-भोगों तथा स्वार्थों के पीछे पड़ा रहता है वह अपाहिज बन जाता है । उसके शरीर को दोष और

श्री वैभव
विजय नीति
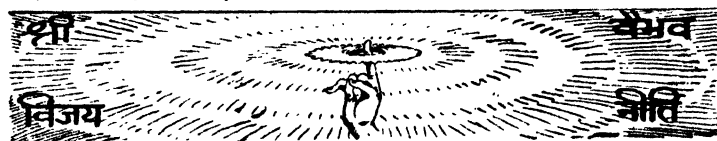
अकर्मण्यता का पक्षाघात मार जाता है। कर्म-शक्ति से हीन राष्ट्र का कोई स्थान नहीं बनता और सर्वत्र उसकी निन्दा होती है।

सैंकड़ों वर्षों तक अपमानित और निर्लज्ज होकर जीने से एक क्षण गौरवपूर्ण और तेजोमय जीवन जीकर मर जाना बहुत श्रेष्ठ है। शुभ-कर्म से युग-युग तक मनुष्य का यशोगान होता है और दुष्कर्म से सर्वत्र निन्दा हो जाती है। युग बीत जाने पर भी रावण, कंस, दुर्योधन आदि की निन्दा ज्यों-की-त्यों फैली हुई है। माता-पिता अपने बालकों का राम, कृष्ण, अर्जुन आदि नाम रख कर प्रसन्न होते हैं क्योंकि उनकी यश की धारावती में आज भी उतना ही प्रवाह पवित्रता और प्रेरणा है। कर्मशील की कीर्ति का अन्त नहीं होता और कर्म हीन की कीर्ति सदा के लिये अस्त हो जाती है।

वास्तव में कीर्ति ही जीवन का चिह्न है। अपयश, मृत्यु के समान है। दुर्योधन का प्रसंग लेकर श्रीकृष्ण ने धर्मराज से कहा था—

"तदैव निहतो राजन् यदैव निरपत्रपः।
निन्दितश्च महाराज पृथिव्यां सर्वराजभिः॥"

(महा० उद्यो० ७३।२५)

हे राजन! दुर्योधन उसी समय मर गया था, जब पृथिवी के राजाओं ने उसकी निन्दा की थी और वह लज्जा के काम करके भी निर्लज्ज बना रहा।

जिस राष्ट्र में पाप और अपकीर्ति के कर्म करनेवाले भी निर्लज्ज होकर उच्च स्थानों पर बैठते हैं उसका पतन अवश्यम्भावी है।

"कुलीनस्य च या निन्दा वधो वाऽमित्रकर्शन।
महागुणो वधो राजन् न तु निन्दा कुजीविका॥"

(महाभा० उद्यो० ७३।२४)

कुलीन पुरुष की निन्दा और मृत्यु, दोनों में से मृत्यु उत्तम है, जीवन को कलंकित कर देनेवाली निन्दा किसी प्रकार अच्छी नहीं है।

"संभावित कहँ अपयस लाहू। मरण कोटि सम दारुण दाहू॥"

भौतिक शरीर से अधिक श्रेष्ठ यशरूपी शरीर है।

एक धर्मशील श्रेष्ठपुरुष ने कहा था—

"न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यशः।
विशुद्धस्य हि मे मृत्युः पुत्रजन्मसमः किल॥"

मुझे मृत्यु का भय नहीं है, भय केवल यह है कि मेरी कीर्ति कलंकित होगयी। यदि कीर्ति शुद्ध रहे और मृत्यु आजाये तो मैं मृत्यु को जन्मोत्सव के समान सुखदायक मानूंगा।

दानी कर्ण ने कवच और कुण्डल देते हुए कहा था—

जीवितेनापि मे रक्ष्या कीर्तिस्तद्विद्धि मे व्रतम्। (वन पर्व २९९।३८)

जीते जी कीर्ति की रक्षा करना मेरा व्रत है।

"अपकीर्ति से मृत्यु बहुत श्रेष्ठ है" गीता का यह महावाक्य मानवमात्र को प्रशस्त पथ पर पैर धरने की प्रेरणा देता है। अपकीर्ति से बचने के लिये जब कीर्ति-संग्रह के हेतु कर्म किये जाते हैं तभी सुख, सम्पन्नता और धर्म का मार्ग प्रत्यक्ष होता है। यशस्वी पुरुष, लोक में सुख और स्वराज्य के द्वार खोल देते हैं। यश देनेवाले कर्मों से आत्म-सम्मान, आत्म-विश्वास, आत्म-ज्ञान और आत्म-संयम की प्रतिष्ठा होती है। अपयश देनेवाले कर्म मनुष्य के गुणों को दबोच देते हैं। निन्दा आत्म-सम्मान को निगल जाती है और आत्म-ग्लानि के अंधे कुएँ में गिरा देती है। अपकीर्ति का एक भी कर्म हो जाने से जनसमाज भांति-भांति की बातें बनाता है और सामर्थ्य की निन्दा करके नीचे धकेल देता है।

श्री वैभव
विजय नीति

३६

**भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥**

भयात्, रणात्, उपरतम्, मंस्यन्ते, त्वाम्, महारथाः, येषाम्, च, त्वम् बहुमतः, भूत्वा, यास्यसि, लाघवम्।

च=और येषाम्=जिनका, त्वम्=तू, बहुमतः=बहुत माननीय, भूत्वा=होकर, लाघवम्=तुच्छता को, यास्यसि=प्राप्त होगा, महारथाः=(वे) महारथी लोग, त्वाम्=तुझे, भयात्=भय के कारण, रणात्=युद्ध से, उपरतम्=भागा हुआ, मंस्यन्ते=मानेंगे।

**"रण छोड़कर डर से भगा अर्जुन" कहेंगे सब यही।
सन्मान करते वीरवर जो तुच्छ जानेंगे वही ॥**

अर्थ—और जिनका तू बहुत माननीय होकर तुच्छता को प्राप्त होगा वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से भागा हुआ मानेंगे।

व्याख्या—सत्य को सब नहीं जान पाते। प्रायः संसार में तिल का ताड़ बना दिया जाता है। किसने कौनसा कर्म किस विचार से किया है? इसे बिना जाने-समझे छिद्रान्वेषी जन कुछ की कुछ बात बना देते हैं। संसार कच्चे कुएँ के समान है, बड़ी सावधानी से पैर रखते-रखते भी पैर के नीचे से भूमि खिसक जाती है। धर्माचार्य, नेता, वीर, धीर, संयमी, दाता और ज्ञानी पुरुष को भी छोटे-से-छोटा लोक-निन्दा का कर्म हो जाने पर जनता नहीं छोड़ती और फिर श्रेष्ठ-

पुरुषों की ओर जनसमाज देखता है। उनकी तनिक-सी असावधानी से बड़ा भारी अनर्थ हो सकता है।

कर्त्तव्य से पीछे हटते ही मनुष्य का मूल्य गिर जाता है। सन्मान करनेवालों की दृष्टि में वह तुच्छ हो जाता है और बुद्धिमान भी उसे अयोग्य तथा भयभीत समझने लगते हैं।

किसी भी प्रकार काम, क्रोध, राग, द्वेष, भय, प्रलोभन आदि में पड़ कर कर्त्तव्य-कर्म से पीछे हटने में हानि है। जिस दया और धर्म से स्वधर्म के आचरण में बाधा पड़ती है उसमें अवश्य ही ममता, मोह, आसक्ति अथवा भ्रम होता है।

अर्जुन करुणा के कारण प्रियजनों और परिजनों से युद्ध नहीं करना चाहता था परन्तु उसके हृदय का भाव न समझ कर लोक उसे युद्ध से भागा हुआ ही मानता।

संसार में बहुत से नर-नारी किसी स्वार्थ, भय अथवा दुःख से धर्म का मार्ग छोड़ते हैं; कुछ ऐसे होते हैं जो अज्ञान के कारण कर्त्तव्य-पथ से पीछे हट जाते हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें कर्त्तव्य का ज्ञान ही नहीं होता, इनमें से किसी को भी कीर्ति नहीं मिलती। बुद्धिमान पराक्रमी, धर्माचार्य, नेता कोई भी हो कर्त्तव्य से पीछे हटनेवाला अपकीर्ति का पात्र बन जाता है और बहुमत से उसकी निन्दा होती है।

सामर्थ्य की निन्दा सुनकर तेज क्षीण हो जाता है, मुख की कान्ति मुरझा जाती है और असह्य वेदना हृदय को विदीर्ण करने लगती है। प्रायः अपकीर्ति सुनकर जगत् के जीव अप्रसन्न होते हैं और कीर्ति सुनकर प्रसन्न। सामर्थ्य की निन्दा से बड़ा दुःख दूसरा नहीं होता।

इसीलिये श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सावधान करते हुए कहा—

श्री वैभव
विजय कीर्ति

३६

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥

अवाच्यवादान्, च, बहून्, वदिष्यन्ति, तव, अहिताः,
निन्दन्तः, तव, सामर्थ्यम्, ततः, दुःखतरम्, नु, किम्।

च=और, तव=तेरे, अहिताः=वैरी लोग तव=तेरे,
सामर्थ्यम्=सामर्थ्य की, निन्दन्तः=निन्दा करते हुए (तुझसे),
बहून्=बहुत-सी, अवाच्यवादान्=न कहने योग्य बातें वदिष्यन्ति=कहेंगे,
नु=उस समय, ततः=उससे, दुःखतरम्=अधिक दुःख,
किम्=(और) क्या होगा।

कहने न कहने की खरी खोटी कहेंगे रिपु सभी।
सामर्थ्य-निन्दा से घना दुख और क्या होगा कभी॥

अर्थ—और तेरे वैरी लोग तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तुझसे बहुत-सी न कहने योग्य बातें कहेंगे उस समय उससे अधिक दुःख और क्या होगा।

व्याख्या—मित्र और शत्रु में इतना ही भेद है कि मित्र संकट समय में काम आता है और शत्रु संकट समय में कहने न कहने की कहकर सामर्थ्य की निन्दा करता है। मित्र और शत्रु द्वारा की गयी निन्दा में भी भेद होता है—मित्र सावधान करने के लिये मुँह पर खरी-खोटी कहता है, शत्रु अपकीर्ति करने के लिये निन्दा करता है। मित्र का लक्ष्य उठाना और शत्रु का ध्येय गिराना होता है।

कीर्तिध्वज की स्थापना करने के लिये मनुष्य का शरीर मिला है। मनुष्य-तन को पाकर जो दूसरों को अपनी निन्दा करने का अवसर देते हैं वे अपने में स्थित परमेश्वर का स्वयं अपमान कराते हैं। जो अपने सामर्थ्य की निन्दा नहीं सुनना चाहता, अपकीर्ति की विषैली फुंकारों से बचना चाहता है उसे प्रत्येक अवस्था में सावधान रहकर स्वधर्म का आचरण करना चाहिये।

व्यावहारिक जगत् में किसी की सामर्थ्य की निन्दा करना अत्यन्त नीच कर्म माना जाता है। सभ्य और सुसंस्कृत देशों के नर-नारी मिलने-जुलने के समय एक दूसरे के तेज, रूप, चरित्र और गुणों की प्रशंसा करते हैं। अशिक्षित और असभ्य जन आपस में मिलते ही हीन, निन्दाजनक, अयोग्य, अप्रिय, कठोर, अहितकर और अस्वस्थ बातचीत करते हैं। अस्वस्थ वार्ता से उठता हुआ हृदय भी बैठ जाता है और धैर्य छुड़ा देनेवाली जीवन की काली रूपरेखा की छाया सन्मुख खड़ी हो जाती है।

महर्षि जन इस सत्य को जानकर शुभ सुनने और देखने के लिये प्रार्थना करते थे—

'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः।
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः॥'

शुभ ही सुनें हम कान से, शुभ आँख से देखा करें।
शुभ कर्म करने को जियें, शुभ कर्म करने में मरें॥

मनुष्य को अपना जीवन सफल करने के लिये निरन्तर स्वधर्म में तत्पर रहना चाहिये। कर्त्तव्य-मार्ग पर चलनेवाला सदा निर्भय और मुक्त रहता है।

कीर्ति, मान, मर्यादा और गौरव को सुरक्षित रखने का एकमात्र उपाय कर्त्तव्य-पालन है।
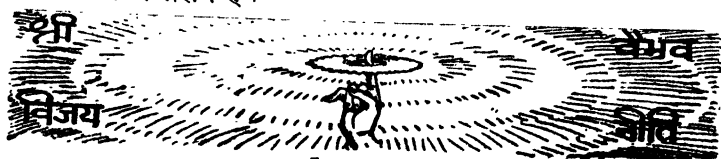
३७

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥

हतः, वा, प्राप्स्यसि, स्वर्गम्, जित्वा, वा, भोक्ष्यसे, महीम्, तस्मात्, उत्तिष्ठ, कौन्तेय, युद्धाय, कृतनिश्चयः ।

वा=यदि, हतः=मारे गये, (तो) स्वर्गम्=स्वर्ग, प्राप्स्यसि=मिलेगा, वा=अथवा, जित्वा=जीतकर, महीम्=पृथिवी को (राज्य को), भोक्ष्यसे=भोगेगा, तस्मात्=अतः, कौन्तेय=हे कौन्तेय, कृतनिश्चयः=निश्चय करके, युद्धाय=युद्ध के लिये, उत्तिष्ठ=खड़ा हो जा ।

जीते रहे तो राज्य लोगे, मर गये तो स्वर्ग में ।
इस हेतु निश्चय युद्ध का करके उठो अरिवर्ग में ॥

अर्थ—यदि मारे गये तो स्वर्ग मिलेगा अथवा जीतकर पृथिवी को भोगेगा अतः हे कौन्तेय ! निश्चय करके युद्ध के लिये खड़ा हो जा ।

व्याख्या—जीवन के स्रोत में विवेक और प्राणों का प्रवाह उमड़ता है । यह प्रवाह अपने मार्ग की कठिन चट्टानों को तोड़ता हुआ निरन्तर आगे बढ़ता है । छोटे और बड़े गड्हे भी इस प्रवाह को समाप्त नहीं कर पाते । यदि किसी गड्हे को भरने में जल-जीवन समाप्त हो जाता है तो भी मुक्ति है और जीवन-यात्रा सम्पूर्ण करके प्राण और विवेक, अनन्त और अगाध सिन्धु में मिल जाते हैं तो भी

मुक्ति है। प्रगतिशील कर्मयोगी पुरुष को प्रत्येक अवस्था में आनन्द और मुक्ति का लाभ मिलता है।

संकटों में घिर जानेवाले निराश और दुःखी नर-नारी, संघर्षों से बचकर भागने का प्रयत्न करते हैं। जब विवेक साथ नहीं देता और प्राणों में बल नहीं रहता, उस समय संघर्षों से भागकर जीवन को बचाने की इच्छा प्रबल हो जाती है। प्राणी प्रायः विचार करता है कि पीछे हटकर भी किसी प्रकार जीवित रहेंगे तो केवल निन्दा ही होगी, परन्तु हारकर मारे जाने पर प्राण भी नहीं बचेंगे और निन्दा भी होगी। ऐसा विचार मनुष्य को पराधीन, अकर्मण्य, भयभीत और दुःखी बना देता है। जीवित रहने के लिये वह स्वधर्म को छोड़ देता है, पापों का सहारा लेता है और पथ-भ्रष्ट होकर संसार में दुःखियों की संख्या बढ़ाता है।

गीता के अनुसार निराश, दुःखी, पराधीन और तुच्छ होकर जीना मरने से भी अधिक दुःखदायी है। अतः सदा सुखी और मुक्त रहकर जीने के लिये श्रीकृष्ण ने तीन आदेश दिये—

१—कर्म करते-करते मर जाने से स्वर्ग मिलता है।

२—कर्म में सफल होने पर पृथिवी के सुख मिलते हैं।

३—युद्ध का निश्चय करके खड़ा हो जाना चाहिये।

१. कर्म करते-करते मर जाने से स्वर्ग मिलता है—

कर्मयोगी कभी मरता नहीं अथवा मरकर अमर हो जाता है। जो बढ़ता है उसके लिये विजय और स्वर्ग के द्वार खुल जाते हैं। कर्मयोगी का स्वर्ग और सुख, न जंगलों में है और न भोग भरे मंगलों में। केवल योग, जप, तप, दान और ध्यान से भी स्वर्ग नहीं मिलता—तप दान आदि की सहायता से कर्त्तव्य-पालन के पथ
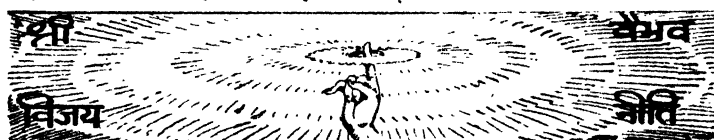
पर जीवन उत्सर्ग कर देने से स्वर्ग मिलता है। कर्म करते-करते मृत्यु का आना ही स्वर्ग को पाना है।

जो कर्म से कभी नहीं हारता, संस्कारों से नहीं दबता, भाग्य से भयभीत नहीं होता और स्वधर्म का आचरण नहीं छोड़ता; उसके लिये आनन्द और मुक्ति सदा सुलभ है। जीवन के अन्तिम समय तक साहस उत्साह और प्रसन्नता से कर्म करनेवाला कभी दुःख नहीं भोगता। रोग, राग, द्वेष, भय, बाधा और अशान्ति में घुट-घुटकर मरना नरक का प्रत्यक्ष दर्शन करना है।

अकर्मण्यता, दीनता, शंका, भ्रम और चिन्ताओं में पड़कर जीना मरने के ही समान है। स्वधर्म का आचरण करते-करते मर जाने में मुक्ति है। कर्त्तव्य-पालन, देश-सेवा और धर्माचरण की वेदी पर जीवन अर्पण कर देनेवाले महापुरुषों को पाकर मुक्ति भी कृतकृत्य हो जाती है।

२. कर्म में सफल होने पर पृथिवी के सुख मिलते हैं—

संसार के सुख और स्वर्ग पाने की इच्छा से जीव प्रायः हतबुद्धि होकर भटकता है, उसे समय और कर्म की शक्ति का ज्ञान नहीं रहता। वह कर्म-क्षेत्र से हटकर आडम्बरपूर्ण धर्म-क्षेत्र की ओर चलता है और लोकैषणा वित्तैषणा सुखैषणा आदि से प्रेरित होकर देवता, गुरु, मन्दिर, शास्त्र, यज्ञ, जप तप, दान आदि का सहारा लेता है। वह कर्मों द्वारा अपने चारों ओर के वातावरण को स्वर्ग के समान सुखमय न बनाकर भ्रांति में ही भूला रहता है।

विजयी पुरुष ही संसार के सुख और स्वराज्य को भोगता है। कर्मशील जीव की विजय सदा निश्चित रहती है। मृत्यु भी उसे विजय देने आती है और जीवन भी उसे विजय देता है। 'कुछ करो

या मरो' का महाव्रत लेकर आगे बढ़नेवाले को विजय अपने हाथों से वरमाला पहनाती है।

कायर, शंकाशील और किंकर्त्तव्यविमूढ़ नर-नारियों को संसार दबाता है। संसार उनसे दबता है जो कर्म का अलख जगाते हैं, विजय के गीत गाते हैं और देखते-देखते आगे बढ़ जाते हैं।

'धीर भोग्या वसुन्धरा।'

धीर वीर पुरुष ही पृथ्वी का राज्य भोगते हैं।

तदलं प्रतिपक्ष समुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायबन्ध्यताम्।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः॥

परम पराक्रम के आश्रय में,
रिद्धि सिद्धि समृद्धि समस्त—
रहती उदित कर्म के पथ पर,
होती हैं विषाद में अस्त॥
अकर्त्तव्य आलस्य रोकते रहते हैं,
उन्नति का द्वार।
उन्हें लाँघनेवाला मानव,
बाधाओं से होता पार॥

हारे हुए को संसार डराता है जीते हुए की संसार सेवा करता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विजय पानेवाला महापुरुष संसार के सुख-भोगों को अनायास ही प्राप्त कर लेता है। इसलिये—

३. युद्ध का निश्चय करके खड़ा हो जाना चाहिये—

किसी शान्तिमय आश्रम, मन्दिर, निर्जनस्थान अथवा गुफा में भगवान् मिलें या न मिलें परन्तु कर्म के मार्ग में, कोलाहल में, युद्ध में उनका प्रकाश कर्मयोगी का पथ-प्रदर्शन अवश्य करता है।
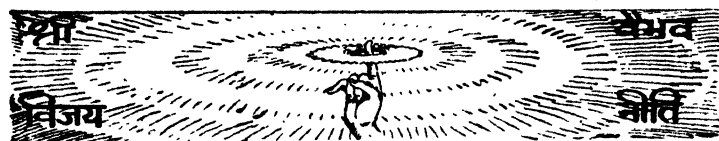
हनुमान् ने कर्म-क्षेत्र में श्रीराम को पाया। अर्जुन ने कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में श्रीकृष्ण का विराट् दर्शन किया। जीवन-संग्राम में निर्विकार होकर प्रसन्नता से बढ़नेवाले अध्यात्मवादी, प्रगतिवादी, प्रकृतिवादी और भौतिकवादी सब प्रकार के पुरुषों के साथ विजयरूप परमेश्वर रहता है।

अत्यन्त निराशाजनक परिस्थिति में जब असह्य पीड़ायें घेर लेती हैं, नित्य नयी-नयी आपत्तियों के काले मेघ मंडराते हैं, चिन्तायें रक्त चूसती हैं, चाहें अपने विषैले डंक छेदकर सावधानी का अन्त कर देती हैं और बुद्धि मूर्च्छित होकर गिर जाती है, उस समय भी गीता की वाणी से आशा की किरण चमक उठती है—

'उत्तिष्ठ युद्धाय कृत निश्चयः!'

उठो, आगे बढ़ने का निश्चय करो, साहस बटोर कर आपत्तियों के सिर पर पैर रखते हुए बढ़े चलो! परमेश्वर का वरदान प्राप्त करो! प्रकृति तुम्हारे लिये अनुकूल हो जायगी, विष अमृत हो जायगा, शत्रु, मित्र बन जायेंगे, संसार की आग शीतल पड़ जायेगी और वह सब होगा जो तुम्हारे लिये आवश्यक और हितकर है. केवल उठने की देर है।

उपनिषदों के ऋषियों ने प्राणिमात्र को उठा देने के लिये 'चरैवेति' सूक्त दिया है—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा॥
चरैवेति, चरैवेति।

ध्यान से सुनो! जो परिश्रम से कभी नहीं थकता, ऐसे पुरुष को ही लक्ष्मी मिलती है, आलस्य और प्रमाद में बैठे रहनेवाले को पाप धर

दबाता है। परमेश्वर उसीका मित्र होता है जो बराबर कर्म करता है। इसलिये चलते रहो! चलते रहो!!

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥
चरैवेति, चरैवेति।

चलनेवाले की जांघों में सुन्दर फूल फूलते हैं, उसका आत्मा विभूषित होकर फल प्राप्त करता है, चलनेवाले के पाप थक कर सोये रहते हैं। इसलिये चलते रहो! चलते रहो!!

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥
चरैवेति, चरैवेति।

बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है, खड़े होनेवाले का सौभाग्य खड़ा हो जाता है, पड़े रहनेवाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलनेवाले का सौभाग्य चल पड़ता है। इसलिये चलते रहो! चलते रहो!!

कुछ मनुष्य ऐसे भी हैं जो समय की बाट देखते हैं और कहते हैं कि अच्छा समय आयेगा तो बनने में देर नहीं लगेगी, परन्तु समय का लानेवाला मनुष्य का कर्म है—

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥
चरैवेति, चरैवेति।

सोनेवाले के लिये कलियुग है, अंगड़ाई लेनेवाले के लिये द्वापर है, जो उठकर खड़ा हो जाता है उसके लिये त्रेता है और चलनेवाला सदा सतयुगी है। इसलिये चलते रहो! चलते रहो!!

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति, चरैवेति।

चलता हुआ मनुष्य ही अमृत पाता है, चलता हुआ ही स्वादिष्ट फल चखता है। सूर्य का परिश्रम देखो जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता। इसलिये चलते रहो! चलते रहो!!

नाममात्र को धर्म की दुहाई देने से, संस्कृति के गीत गाने से, स्वर्ग पाने की कर्महीन-प्रार्थना करने से, भाग्य के भरोसे बैठने से आज तक कोई इस अगम और अपार, दुःख के आगार संसार-सागर को पार नहीं कर सका है।

परिस्थितियों से युद्ध करने से अधिकाधिक शक्ति मिलती है। एक बाधा को पराजित कर देने से उससे भीषण दूसरी बाधा को दूर करने की शक्ति आती है। पुरुषार्थ के बिना भाग्य और बल मांदा पड़ जाता है।

'न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।'

सोये हुए सिंह के मुख में मृग अपने-आप प्रवेश नहीं कर जाते।

महापुरुषों की धीरता, वीरता और जीवन-संघर्षों की गाथायें पढ़कर साहस मिलता है, परन्तु ज्ञान और कुशलता संघर्षों में पड़कर निकलने से ही प्राप्त होती है।

अतः उठो! संसार के समराङ्गण में जीवन की बाजी लगा दो! हार और निराशा का शब्द विजयी पुरुषों के कर्म-कोष में नहीं होता। मृत्यु में मुक्ति और जीवन में विजय को लेकर ही कर्त्तव्य पूर्ण होता है। पुण्य-पाप, विजय-पराजय, सुख-दुःख, लाभ-हानि उसके लिये हैं जो कर्त्तव्य का मार्ग नहीं जानता अथवा जानकर भी उससे पीछे हटता है। मननशील मनुष्य के लिये गीता ने स्पष्ट घोषणा कर दी है—

३८

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥

सुखदुःखे, समे, कृत्वा, लाभालाभौ, जयाजयौ, ततः, युद्धाय, युज्यस्व, न, एवम्, पापम्, अवाप्स्यसि।

सुखदुःखे = सुख-दुःख, लाभालाभौ = लाभ-हानि, जयाजयौ = जय-पराजय को, समे = समान, कृत्वा = करके, ततः = फिर, युद्धाय = युद्ध के लिये, युज्यस्व = तैयार हो जा, एवम् = इस प्रकार, पापम् = पाप को, न अवाप्स्यसि = प्राप्त नहीं होगा।

जय-हार लाभालाभ, सुख-दुख सम समझकर सब कहीं।
फिर युद्ध कर तुझको धनुर्धर! पाप यों होगा नहीं ॥

अर्थ—सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान करके फिर युद्ध के लिये तैयार हो जा। इस प्रकार पाप को प्राप्त नहीं होगा।

व्याख्या—पाप से बचे रहने में ही जीवन की सफलता है। प्रायः पुण्य-कर्म करते-करते भी पाप हो जाते हैं। भूल और भ्रम से सांसारिक पुरुष पापों के परिणाम को प्रकृति और परमेश्वर के माथे मढ़ देते हैं। गीता पापों से छूटने का निश्चित मार्ग दिखा देती है—

सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझना चाहिये।
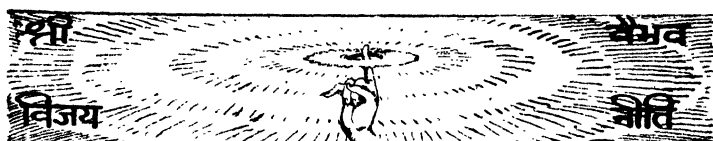
जगत् में लाभ मिलने से सुख होता है, हानि होने से दुःख। सुख और दुःख मनुष्य के बनाये भोग हैं। ऐसा कोई कर्म नहीं जिससे सुख अथवा दुःख न मिलता हो।

परमेश्वर ने सुख और दुःख से छूटने के लिये मनुष्य को भाव और बुद्धि प्रदान की है। कर्त्तव्य कर्म पूरा करने से पहले यदि जीव फल की चिन्ता में पड़ जाता है, लाभ और हानि से भयभीत होता है, किसी स्वार्थ की पूर्ति अथवा सुख की इच्छा से निकृष्ट कर्म करता है; तो सांसारिक दृष्टि हो जाने के कारण वह दुःख और पाप का भागी अवश्य बनता है।

मुझे राज्य मिलेगा, विजय मिलेगी, सुख-भोग भोगूँगा, यश प्राप्त करूँगा आदि-आदि सांसारिक स्वार्थ प्रधानभाव प्रपञ्च-बन्धन में बाँध कर जीव को राग-द्वेष की ओर घसीट ले जाते हैं और कभी सुखी नहीं होने देते।

जब तें जीव भयो संसारी। ग्रन्थि न छूटि न होई सुखारी॥

— तुलसी

सांसारिक दृष्टि से ऊँची आध्यात्मिक, धार्मिक अथवा पारमार्थिक दृष्टि है। धार्मिक भाव जीव का पतन नहीं होने देता। धर्मनिष्ठ अपना कर्त्तव्य पूरा करने से प्रयोजन रखता है। सुख मिले या दुःख, लाभ हो या हानि, जय मिले या पराजय, व्यर्थ के सोच-विचार, शंका और चिन्ताओं में पड़कर धार्मिक प्राणी अपनी शक्ति नहीं छीजने देता। वह कर्त्तव्य कर्म करने की चिन्ता करता है, परन्तु चिन्ता में पड़कर कर्म-मार्ग से विचलित नहीं होता। कर्त्तव्य-पालन करना अथवा धर्म ऋण चुकाना उसके जीवन का एकमात्र ध्येय बन जाता है। जिसका ऐसा ध्येय है उसे किसी भी दशा में पाप नहीं लगता।

प्रायः सुख और दुःख को समान समझना कठिन है। अच्छा और बुरा अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहते। सुख अपनी छाप लगाकर प्राणी के मुख को खिला देता है, शरीर को सुन्दर और सुडौल बना देता है। दुःख की छाया पड़ते ही मुख कुम्हलाकर पीला पड़ जाता है, शरीर शिथिल हो जाता है और प्रज्ञा साथ छोड़ देती है। लाभ-हानि, जय-पराजय आदि अपना-अपना प्रभाव अवश्य दिखाते हैं। अतः सुख-दुःख मिलने पर उन्हें समान समझना सम्भव नहीं है। कर्त्तव्य-पालन करते समय, सुख या दुःख की स्थिति में समान रहकर दृढ़ता और धैर्य से कर्त्तव्य-विमुख न होना ही सुख-दुःख को समान समझने का ध्येय है। कर्म करने से पहले और कर्म करते समय बुद्धि को दृढ़ करके जो समत्व मे स्थित हो जाता है वही मुक्त पुरुष है। उसके लिये सर्वत्र सफलता के द्वार खुले रहते हैं। उसके अन्तर में प्रसन्नता की ज्योति जागी रहती है, वह सदा अन्तर्नाद सुनकर बाह्य जगत् के संघर्ष और कोलाहल में भी सुख से रह सकता है।

स्वधर्म-पालन करने में उत्साह और तत्परता से सुख दुःख का वेग हलका पड़ जाता है।

हनुमान् ने अपने मनोबल और कर्त्तव्य-पूर्ति की उत्कृष्ट भावना से दुःखों को निष्प्राण कर दिया था। आकाश, वायु, जल, थल अग्नि कोई भी उन्हें अपने कर्त्तव्य-पालन से नहीं रोक सके। इस समता ने उन्हें विश्व-वन्दनीय और अमर कर दिया परन्तु इसके मूल में स्वधर्माचरण के साथ-साथ प्रभु का अनन्य प्रेम और निरन्तर स्मरण भी कार्य कर रहा था। श्रीराम ने जब हनुमान की सेवाओं को सराहा और उनसे कुशल प्रश्न किया तो हनुमान् ने अपने अन्तःकरण को खोलकर रख दिया—
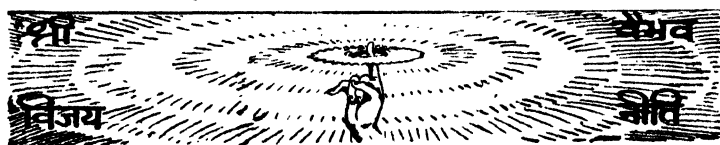
कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई । जब तव सुमरण भजन न होई ॥

मनुष्य जब हृदय से स्वधर्माचरण में लग जाता है तब प्रकृति और परमेश्वर स्वयं अनुकूल हो जाते हैं। नंगे पैरों राम से मिलने के लिए जाते हुए भरत की व्याकुलता ने सम्पूर्ण सुखों और दुःखों को निगल लिया था। फल यह हुआ कि—

किएँ जाहिं छाया जलद सुखद बहइ बर बात ।
तस मगु भयउ न राम कहँ जस भा भरतहिं जात ॥

प्रह्लाद के दुःख सहन की गाथायें प्रसिद्ध हैं। सुख-दुःखों से ऊपर उठकर उसने अपना सत्याग्रह नहीं छोड़ा। उससे प्रसन्न होकर भगवान ने वरदान माँगने के लिये कहा।

प्रह्लाद ने कहा—"हे प्रभो ! तुम्हारी महिमा के गान रूपी अमृत में मेरा मन निमग्न रहे तो मैं नरक की दुस्तर वैतरणी से भी नहीं डरता। तुम्हारी कृपा के अतिरिक्त मुझे और कुछ नहीं चाहिये।"

संसार में जप, तप, यज्ञ, दान सब अपना-अपना फल देकर समाप्त हो जाते हैं परन्तु जो परमेश्वर के साथ रहकर कर्म करते हैं उनके पुण्य सदा हरे रहते हैं। उनके लिये सुख-दुःख, लाभ-हानि, विजय-पराजय की बाधा नहीं रहती।

सुख और दुःख को समान समझना निष्काम कर्मयोग की भूमिका है। आत्मज्ञान देकर गीता में श्रीकृष्ण ने स्वधर्म के आचरण पर बल दिया। स्वधर्म-पालन के लिये जिस देह-धर्म, निष्ठा एवं पवित्रता की आवश्यकता है वह सुख-दुःख को समान समझने से ही आती है। तितिक्षा से और भविष्य की चिन्ता छोड़कर कर्म करने से मनुष्य सम्पूर्ण पापों और बन्धनों से छूट जाता है। इसी महान ज्ञान को योगमार्ग द्वारा समझाने के लिये श्रीकृष्ण ने कहा—

३९

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

एषा, ते, अभिहिता, सांख्ये, बुद्धिः, योगे, तु, इमाम्, शृणु,
बुद्ध्या, युक्तः, यया, पार्थ, कर्मबन्धम्, प्रहास्यसि ।

पार्थ=हे पार्थ, एषा=यह, बुद्धिः=बुद्धि, ते=तेरे लिये, सांख्ये=ज्ञान योग के विषय में, अभिहिता=कही गयी है, तु=और, इमाम्=इसी को (अब), योगे=निष्काम कर्मयोग के विषय में, शृणु=सुन, यया=जिस, बुद्ध्या=बुद्धि से, युक्तः=युक्त होकर (तुम), कर्मबन्धम्=कर्मबन्धन को, प्रहास्यसि=नष्ट करोगे ।

है सांख्य का यह ज्ञान अब सुन योग का शुभ ज्ञान भी ।
हो युक्त जिससे कर्म-बन्धन पार्थ छूटेंगे सभी ॥

अर्थ—हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोग के विषय में कही गयी है और इसी को अब निष्काम कर्मयोग के विषय में सुन, जिस बुद्धि से युक्त होकर तुम कर्म-बन्धन को नष्ट करोगे ।

व्याख्या—सांसारिक प्रपञ्चों में घिरकर युद्ध करनेवाला भी सम-बुद्धि प्राप्त कर लेने पर पापों से छूट सकता है। आत्मज्ञान, स्वधर्माचरण और देहधर्म का अन्तिम लक्ष्य पापों से छुड़ाना है ।

श्रीकृष्ण ने यहाँ तक जो कुछ कहा वह सब सांख्य का ज्ञान है । सांख्य उसे कहते हैं जिसके द्वारा परम तत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है—महर्षि व्यास के मत से—

"शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते।"

शुद्ध आत्मतत्त्व विज्ञान को सांख्य कहते हैं।

साधारण भाषा में सांख्य का अर्थ ज्ञान है। दूसरे अध्याय के ११ वें श्लोक से ३० वें श्लोक तक आत्मज्ञान की चर्चा है। आत्मज्ञान से शोक की सर्वथा निवृत्ति करके समत्व बुद्धि से स्वधर्म का आचरण करना सांख्य है।

सांख्य दर्शन के अनुसार ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है—

'ज्ञानान्मुक्तिः।' (सांख्य ३।२३)

बद्धात्मा को मुक्तात्मा बनाना जीव का परम पुरुषार्थ है। संसार के समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति सांख्य शास्त्र का ध्येय है।

गीता की विशेषता सांख्य के ज्ञान को कर्म के साथ जोड़ देने में है। अकेला ज्ञान पंगु के समान है और ज्ञान-हीन कर्म अंधा होता है। ज्ञान और कर्म का मेल गीता का कर्मयोग है। कर्म का मार्ग ज्ञान के प्रकाश में मिलता है और परमेश्वर उस पर चलने की शक्ति देता है।

योग गीता के ज्ञान का आधार है। योग शब्द के अर्थ—जोड़, मेल, उपाय, स्थिरता आदि हैं। आत्मा की शक्ति का विकास करने के लिये जो कुछ किया जाता है उसे योग कहते हैं—

"संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।"

जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहते हैं।

व्यास जी ने योग की अपूर्व व्याख्या की है—

यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते।"

योग वह है जो चित्त को एकाग्र करके जीव को नित्य सत्य में स्थित करता है, अविद्या आदि क्लेशों को काटता है और कर्म-बन्धनों से छुड़ाकर पवित्रता, प्रकाश तथा आयुष्य देता है।

चित्त को नाना प्रकार की खंडित वृत्तियों में न बांटकर एक कार्य में लगा देने से विवेक-शक्ति की आश्चर्यजनक वृद्धि होती है।

संसार में रहता हुआ जीव, परमेश्वर के सुख का अनुभव कर सके और सब दुःखों से उसका वियोग हो जाय---यही योग का परम लक्ष्य है। योग बारह प्रकार का प्रसिद्ध है।

१—अष्टाङ्ग योग,	२—राज योग,	३—हठ योग,
४—लय योग,	५—ध्यान योग,	६—भक्ति योग,
७—नाम योग,	८—क्रिया योग,	९—भेषज योग,
१०—मन्त्र योग,	११—कर्म योग और	१२—ज्ञान योग।

गीता में प्रसङ्गानुसार अनेक प्रकार के योगों का वर्णन है। यहां ज्ञानयोग को व्यवहार में लाने के लिये श्रीकृष्ण ने बुद्धियोग का प्रारम्भ किया है।

बुद्धियोग के बिना सांख्य का ज्ञान, बन्धन काटने में असमर्थ रहता है। बुद्धियोग की प्राप्ति जीवन का परम पुरुषार्थ है।

मन को विशुद्ध और चित्त को एकाग्र करके कर्म में कुशलता और पूर्णता देना बुद्धि-योग का प्रधान ध्येय है। कर्म-बन्धन से मुक्ति, बुद्धि-योग का प्रयोजन है, मुक्ति का फल है—दुःखों का अन्त।

बुद्धियोग गीता की सर्वोत्तम देन है, गीता ऐसी बुद्धि देती है जो कहीं क्षीण, मलीन और कुंठित नहीं होती। बुद्धियोग से किया हुआ कर्म ही गीता का निष्काम कर्मयोग है। कर्मयोग की महिमा का अन्त नहीं है—

४०

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

न, इह, अभिक्रमनाशः, अस्ति, प्रत्यवायः, न, विद्यते, स्वल्पम्, अपि, अस्य, धर्मस्य, त्रायते, महतः, भयात् ।

इह=इस कर्मयोग में, अभिक्रमनाशः=आरम्भ का नाश, न=नहीं, अस्ति=है, प्रत्यवायः=विपरीत फल (भी), न=नहीं, विद्यते=होता, अस्य=इस, धर्मस्य=धर्म का, स्वल्पम्=थोड़ा आचरण, अपि=भी, महतः=महान्, भयात्=भय से, त्रायते=उद्धार कर देता है ।

आरम्भ इसमें है अमिट यह विघ्न बाधा से परे ।
इस धर्म का पालन तनिक भी सर्व संकट को हरे ॥

अर्थ—इस कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं है, विपरीत फल भी नहीं होता, इस धर्म का थोड़ा आचरण भी महाभय से उद्धार कर देता है ।

व्याख्या—ज्ञान सहित कर्म करने से विजय, सफलता, आनन्द और मुक्ति स्वयं सुलभ हो जाती है। 'योगबुद्धि', 'पुरुषार्थबुद्धि', 'निष्कामबुद्धि', 'पवित्र बुद्धि' अथवा प्रज्ञा के द्वारा होनेवाले कर्म, बन्धन में नहीं बांधते । ज्ञान सहित किया गया कण भर आचरण मन भर ज्ञान से बहुत श्रेष्ठ है । ज्ञान सहित कर्म करना गीता का कर्मयोग मार्ग है । कर्मयोग के मार्ग की विशेषताओं का स्पष्ट दर्शन कराते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

१—इस मार्ग में आरम्भ किये हुए कर्म का नाश नहीं होता।

२—इस मार्ग में विघ्न-बाधा या विपरीत फल नहीं होता।

३—धर्म का थोड़ा-सा भी आचरण भारी भय से बचाता है।

१. इस मार्ग में आरम्भ किये हुए कर्म का नाश नहीं होता—

ज्ञान-रहित कर्म नष्ट हो जाता है, उसमें दैवी बल नहीं होता। ज्ञान-सहित कर्म में दैवी बल रहता है, वह कभी नष्ट नहीं होता।

कर्मयोग का प्रारम्भ सहज में ही अन्तिम ध्येय तक पहुँचा देता है। कर्मयोग का प्रारम्भ होते ही ऐसा सुख मिलता है जिसे छोड़ा नहीं जा सकता। एक बार किया गया कर्मयोग अनन्त संस्कार जगा कर जीवन को जागरूकता, सावधानी और स्फूर्ति से भर देता है।

कर्मयोग का आरम्भ ही मंगलमय है। कर्मयोगी को तत्काल ही शांति मिलती है। मनुष्य को एक बार परमेश्वर का सहारा लेकर बुद्धि के प्रकाश में ज्ञान के नेत्र खोल कर बढ़ जाना है; उसके पश्चात् जो कुछ होता है वह ठीक ही होता है।

वर्षा न होने पर अथवा किसी अन्य कारण से खेती नष्ट हो सकती है, बोया हुआ बीज निष्फल हो जाता है, पर कर्मयोग का बीज कभी नष्ट नहीं होता। एक बार किया हुआ कर्म बार-बार अपनी उत्तमता की ओर खींच कर मनुष्य को पूर्ण और मुक्त कर देता है।

अच्छा कर्म करने से चित्त बार-बार शुभ की ओर जाता है और बुरा कर्म करने से अशुभ की ओर।

उत्तम कर्म करते-करते मृत्यु होजाने पर भी कर्म का प्रभाव बना रहता है और लोक तथा परलोक में शान्ति देता है।

२. इस मार्ग में विघ्न-बाधा या विपरीत फल नहीं होते—

सांसारिक कर्मों का मार्ग बाधाओं से भरा पड़ा है, पग-पग पर
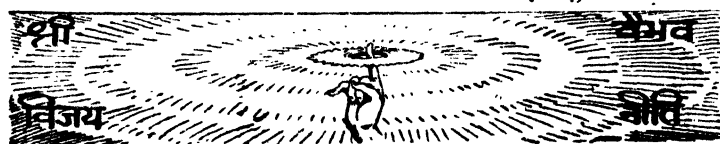
दुःख, शंकायें, निराशा, भय और रोग मनुष्य को निगल जाने के लिये मिलते हैं। ऐसी दशा में मनुष्य दुःखी हो जाता है और या तो विरक्त होकर झूठे वैराग्य की ओर दौड़ता है—अकर्मण्य होकर जीवन खो देता है या नास्तिक दुर्विचारों में फँसकर न करने के कर्म करता है।

कर्म में बाधा उस समय आती है जब अज्ञान, संकुचित भाव, साम्प्रदायिक हठ, स्वार्थपूर्ण प्रपञ्च आदि-आदि विकार मिल कर प्रगति को रोकते हैं अथवा पथ-भ्रष्ट करते हैं। कर्मयोग के मार्ग में ज्ञान का सहारा लेने के कारण अज्ञान का अन्त हो जाता है; उदार और विशाल हृदय हो जाने से संकीर्ण और तुच्छ, भाव नहीं रहते और चरित्र तथा गुणों का विकास करनेवाले कर्म का आरम्भ हो जाता है।

काम्य कर्मों का फल विपरीत भी हो जाता है, अनुष्ठानों और विधि-विधानों में भूल या असावधानी से लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है परन्तु निष्काम कर्मयोग में कभी ऐसी सम्भावना नहीं होती। अहिंसा, सत्य, त्याग, तप, ब्रह्मचर्य आदि स्थायी और सर्वमान्य सिद्धान्तों ने कर्मयोग के मार्ग को निष्कंटक बना दिया है।

३. धर्म का थोड़ा-सा भी आचरण भारी भय से बचाता है—

गीता ने निष्काम कर्मयोग को अर्थात् ज्ञान-सहित कर्म को 'धर्म' कहा है। इस धर्म से प्राणिमात्र का उत्थान होता है। कर्मयोग में आत्मा का प्रकाश, पवित्रता और प्रज्ञा की शक्ति रहती है, इसी कारण कर्म में दुःखों के भारी-भारी पहाड़ ढहा देने की सामर्थ्य है।

दुष्कर्मों तथा दुरितों से भय और चिन्ता का जन्म होता है। बुद्धि-सहित परम पुरुषार्थ करनेवाला कर्मयोगी, भय से छूटकर सदा सुखी रहता है। कर्मयोग के मार्ग पर चलने के लिये सर्वप्रथम बुद्धि की दृढ़ता चाहिये।

४१

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

व्यवसायात्मिका, बुद्धिः, एका, इह, कुरुनन्दन,
बहुशाखाः, हि, अनन्ताः, च, बुद्धयः, अव्यवसायिनाम्।

कुरुनन्दन=हे कुरुनन्दन, इह=इस (कर्मयोग में), व्यवसायात्मिका=निश्चयात्मिका, बुद्धिः=बुद्धि, एका हि=एक ही होती है, च=परन्तु, अव्यवसायिनाम्=अस्थिर विचारवाले विवेक हीनों की, बुद्धयः=बुद्धियाँ, बहुशाखा=बहुत शाखावाली, अनन्ताः=अनन्त होती हैं।

इस मार्ग में नित निश्चयात्मक-बुद्धि अर्जुन एक है।
बहु बुद्धियां बहु भेद-युत उनकी जिन्हें अविवेक है॥

अर्थ—हे कुरुनन्दन! इस कर्मयोग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है परन्तु अस्थिर विचारवाले विवेक हीनों की बुद्धियाँ बहुत शाखावाली अनन्त होती हैं।

व्याख्या—बुद्धि की दृढ़ता और सत्य-संकल्पों से कठिन से कठिन कर्म भी सरल हो जाते हैं। कामनाओं और विषय-भोगों के आधीन रहने वाली बुद्धि में निश्चलता नहीं रहती। पाप, दुःख, भय, चिन्ता, प्रलोभन आदि से घिरी हुई बुद्धि किसी एक साधना पर नहीं टिकती

गीता में दो प्रकार की बुद्धि कही गयी है—

श्री वैभव
विजय नीति

१—एकाग्र, सत्य में स्थित, संतुलित, सम अथवा निश्चयात्मिका।

२—बहुत भेदोंवाली, कामनाओं के पीछे दौड़नेवाली, दीन, चंचल और संशयात्मिका।

एकनिष्ठ बुद्धि, आत्मा में स्थित होकर कर्म करती है, उसके संकल्प और ज्ञान से बल तथा पवित्रता का स्रोत उमड़ता है।

जैसे हिलते हुए जल में अपना स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं दिखता वैसे ही अस्थिर बुद्धिवाले को सफलता का मार्ग नहीं सूझता। बुद्धि जितनी अधिक दृढ़ होती है—मनुष्य उतना ही निश्चित, स्पष्ट और शक्तिवान् होता है। बुद्धि के बिखर जाने से जीवन शिथिल पड़ जाता है, कर्म में मन नहीं लगता, मनुष्य दूसरे का सहारा खोजता है और अपने पैरों पर खड़ा नहीं रह पाता।

कर्मयोगी की बुद्धि भटकती नहीं है। वह जिस कार्य में लगता है उसमें अपने मन और बुद्धि को इस प्रकार लगा देता है कि कर्त्तव्य-कर्म के अतिरिक्त उसे कहीं कुछ नहीं दीखता।

गीता के सांचे में जीवन ढालने के लिये बुद्धि की दृढ़ता अनिवार्य है। दृढ़ और पवित्र बुद्धि सब साधनाओं की मूल है। गुरु-मन्त्र गायत्री द्वारा साधक, इसी बुद्धि का वरदान प्राप्त करता है।

दृढ़ बुद्धिवाला मनुष्य किसी भी परिस्थिति में पुरुषार्थ किये बिना नहीं रह सकता। भय, बाधा, असफलता और भार में भी उसकी बुद्धि का व्यवहार विकार-रहित और निश्चित रहता है।

चञ्चल, अस्थिर और भटकनेवाली बुद्धि साधारण कष्ट में भी विचलित हो जाती है। विचलित बुद्धि में विवेक नहीं होता, विवेक-हीन प्राणी सुख और सफलता से वञ्चित रह जाता है। अविवेक और अस्थिरता का कारण बताते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—

४२, ४३, ४४,

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

याम्, इमाम्, पुष्पिताम्, वाचम्, प्रवदन्ति, अविपश्चितः,
वेदवादरताः, पार्थ, न, अन्यत्, अस्ति, इति, वादिनः ।

कामात्मानः, स्वर्गपरा, जन्मकर्मफलप्रदाम्,
क्रियाविशेषबहुलाम्, भोगैश्वर्यगतिम्, प्रति ।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्, तया, अपहृतचेतसाम्,
व्यवसायात्मिका, बुद्धिः, समाधौ, न, विधीयते ।

पार्थ=हे पार्थ, वेदवादरताः=वेदवाद में रत रहनेवाले, कामात्मानः=सकामी पुरुष, स्वर्गपराः=स्वर्ग को ही श्रेष्ठ माननेवाले, अविपश्चितः=अविवेकीजन, इति=(जो) ऐसा, वादिनः=कहनेवाले हैं, अन्यत्=(कि) और कुछ, अस्ति=है ही, न=नहीं, (वे) भोगैश्वर्यगतिम्=भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के, प्रति=लिये,

जन्मकर्मफलप्रदाम्=जन्म रूप कर्म-फलदायिनी, क्रियाविशेषबहुलाम्=बहुत-सी क्रियाओं के विस्तारवाली, याम्=जिस, इमाम्=इस प्रकार की, पुष्पिताम्=फूली-फूली दिखावटी, वाचम्=वाणी को, प्रवदन्ति=कहते हैं, तया=उससे, अपहृतचेतसाम्=मोहित हुए चित्तवालों की (तथा) भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्=भोग और ऐश्वर्य में आसक्त रहनेवालों की, व्यवसायात्मिका बुद्धिः=निश्चयात्मिका बुद्धि, समाधौ=समाधि में, (स्थिर) न=नहीं, विधीयते=होती।

जो वेदवादी, कामनाप्रिय, स्वर्गइच्छुक, मूढ़ हैं।
'अतिरिक्त इसके कुछ नहीं' बातें बढ़ा कर यों कहें॥
नाना क्रिया विस्तारयुत, सुख भोग के हित सर्वदा।
जिस जन्मरूपी कर्म-फल-प्रद बात को कहते सदा॥
उस बात से मोहित हुए जो भोग-वैभव-रत सभी।
व्यवसाय बुद्धि न पार्थ! उनकी हो समाधिस्थित कभी॥

अर्थ—हे पार्थ! वेदवाद में रत रहनेवाले सकामी पुरुष स्वर्ग को ही श्रेष्ठ माननेवाले अविवेकीजन जो ऐसा कहनेवाले हैं कि और कुछ है ही नहीं, वे भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये जन्म रूप कर्म फलदायिनी बहुत-सी क्रियाओं के विस्तार वाली जिस इस प्रकार की फूली-फूली दिखावटी वाणी को कहते हैं, उससे मोहित हुए चित्तवालों तथा भोग और ऐश्वर्य में आसक्त रहनेवालों की निश्चयात्मिका बुद्धि समाधि में स्थिर नहीं होती।

व्याख्या—संसार में दो वाद प्रचलित हैं—एक भोगवाद और दूसरा त्यागवाद।

गीता के इन तीनों श्लोकों में भोगवादियों का स्पष्ट वर्णन किया गया है—

१—वेदवादरताः=वेदवाद में रत रहनेवाले।

२—कामात्मानः=सकामी पुरुष।

३—स्वर्गपराः=स्वर्ग को ही श्रेष्ठ माननेवाले।

४—अविपश्चितः=अविवेकी जन।

५—नान्यदस्तीतिवादिनः=और कुछ नहीं है ऐसा कहनेवाले।

१. वेदवाद में रत रहनेवाले—

जो निष्काम कर्म न करके केवल फलश्रुति में आसक्त रहते हैं और पुरुषार्थ से हटकर कामनापूर्ति के लिये अनेक प्रकार की क्रियाओं में उलझ जाते हैं उन्हें वेदवादी कहते हैं।

वाद में केवल आदर्श रह जाता है और व्यवहार दब जाता है। प्रज्ञावादी का जो अभिप्राय है वही वेदवादी का है। वेद से जीवन का विकास होता है, कर्म के मार्ग मिलते हैं और कठिनाइयाँ सरल हो जाती हैं। वेदवाद से जीवन उलझन में पड़ जाता है, कर्म का पथ नहीं सूझता और कठिनाइयां बढ़ जाती हैं। वादों में सर्वत्र उलझन है। वेदवादी, वेदों के कर्म, ज्ञान और उपासना को छोड़कर केवल अर्थवाद में डूबा रहता है।

२. सकामी पुरुष—

जो अपनी इच्छाओं, वासनाओं अथवा कामनाओं के लिये कर्म करता है उसे 'सकामी' पुरुष कहते हैं। सकामी पुरुष ज्ञान और सत्य से सम्बन्ध न जोड़कर कामना के पीछे चलता है, स्वधर्म के आचरण में उसका मन नहीं लगता। नित्य नयी-नयी कामनाओं की पूर्ति करने में सकामी पुरुष, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदि का विचार नहीं करता, वह असत्य, अन्याय और दुरितों का सहारा लेता है; उसके शुभ कर्मों में भी अशुभ भावना बलवती होती है।
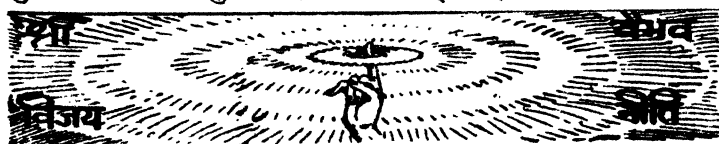
सकामी जन एक को न देखकर अनेक को देखते हैं, अतः उन्हें एकाग्रता नहीं मिलती। वे अनेक प्रकार की बातें कहते और सुनते हैं, इसी कारण उनकी बुद्धि एक तत्त्व अथवा सत्य पर नहीं ठहरती।

३. स्वर्ग को ही श्रेष्ठ माननेवाले—

सकामी जन इस लोक का विचार न करके परलोक को बनाना चाहते हैं। स्वर्ग के भोगों को प्राप्त करने के लिये वे सामाजिक, राजनीतिक और व्यावहारिक जीवन को अव्यवस्थित बना देते हैं; अपने सात्त्विक कर्मों द्वारा इस लोक को स्वर्ग न बनाकर काल्पनिक स्वर्ग के सुख देखते हैं। स्वर्ग-परायण नर-नारी, अज्ञान और अंध-विश्वास के माया जाल में फँसे रहते हैं; उन्हें केवल व्यक्तिगत सुख की इच्छा होती है; अतः उनका जीवन दुःखी बन जाता है।

४. अविवेकी जन—

अविवेकी अथवा अविपश्चित वह है जो वाद-विवाद और स्वार्थ-कामनाओं में डूबा रहता है और जो आँखों से देखता हुआ भी मन से नहीं देख पाता। वैदिक ऋषियों का अनुभव है—

'पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः।'

आँखों से तो सभी देखते हैं परन्तु सब मन से नहीं जानते।

आत्मा की आँखों से न देखनेवाले को 'अविपश्चित' कहते हैं। अविवेकी जन देख और समझकर भी कर्त्तव्य का ठीक-ठीक चुनाव नहीं कर पाते। अविपश्चित जन आसक्त और असावधान होते हैं; वे अपने ज्ञान के भार से ही दबे रहते हैं।

५. और कुछ नहीं है ऐसा कहनेवाले—

अधूरे ज्ञानी का मोह अधिक भयानक होता है। वह अपने ज्ञान, मत और इच्छा से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं मानता। स्वर्ग और

भोगों को ही सर्वोपरि मान लेनेवाला सदा अशान्त रहता है।

जगत् में सर्वश्रेष्ठ तो एकमात्र परमेश्वर ही है। परमेश्वर और उसकी अनन्त-शक्ति को न जाननेवाले के मुख से ही ऐसे वचन निकलते हैं कि इससे अच्छा कुछ नहीं है।

ऐसे नर-नारी, स्वयं भ्रम में पड़े रहते हैं और दूसरों को भी भ्रम में डालते हैं—

१—उनकी वाणी पुष्पित होती है।

२—भोग तथा ऐश्वर्य पाने के लिये वे बड़ी-बड़ी क्रियाओं की बात करते हैं।

३—उनसे मोहित होनेवालों की निश्चयात्मिका बुद्धि समाधि में स्थिर नहीं होती।

१. उनकी वाणी पुष्पित होती है—

अपने-आपको पण्डित माननेवाले जिन नर-नारियों का स्वभाव काम-परायण बन जाता है, वे पुष्पित वृक्षों जैसी शोभित –सुनने में मधुर और प्रिय बातें कहा करते हैं। उनके वचन जन साधारण को भ्रम में डाल देते हैं। पुष्पित वाणी में वास्तविकता नहीं होती; उससे बुद्धि विचलित हो जाती है; चित्त में कर्त्तव्य-पालन करने की रुचि नहीं रहती और मन, आशा तथा तृष्णा में फँसकर भविष्य के स्वप्न देखा करता है।

जिन्हें पुष्पित वाणी सुनने का व्यसन हो जाता है वे प्रायः मिथ्याचार और अंध-विश्वास में पड़े रहते हैं। उनसे धर्म-कर्म की रचनात्मक साधना नहीं बन पड़ती।

२. भोग तथा ऐश्वर्य पाने के लिये वे बड़ी-बड़ी क्रियाओं की बातें करते हैं—

वेदवाद में आसक्त, पुष्पित वाणी बोलनेवाले, भोग और ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिये अनेक क्रियायें करते हैं। स्वर्ग, धन, पुत्र आदि की प्राप्ति के लिये स्वधर्म अथवा कर्त्तव्य-पालन को छोड़कर क्रिया-भेदों में पड़ने से धर्म का मार्ग लुप्त हो जाता है।

भक्ति, दान, यज्ञ, देव-दर्शन, तीर्थ-यात्रा, जप, तप, आदि क्रियाओं तथा भांति-भांति के अनुष्ठानों से तन, मन और बुद्धि को पवित्र करके कर्म करने का बल अवश्य मिलता है, परन्तु केवल इन्हीं के सहारे बैठकर कर्त्तव्य छोड़ देनेवाला आलसी, आसक्त, भ्रांत तथा निस्तेज होकर जीवन खो देता है।

भोग और ऐश्वर्य के लिये विधि-विधान और भांति-भांति की क्रियाओं से धार्मिक जगत् में अविवेक, रूढ़िवाद, मिथ्याचार, अंध-विश्वास और अकर्मण्यता को स्थान मिल जाता है।

३. उनसे मोहित होनेवालों की निश्चयात्मिका बुद्धि समाधि में स्थिर नहीं होती --

पुष्पित वाणी फलश्रुति और भांति-भांति की क्रियाओं के फेर में पड़े रहनेवाले भोगवादी अपनी कामनाप्रिय, अस्थिर, विवेकहीन और अकर्मण्य वृत्ति के कारण सदा भटकते रहते हैं।

बुद्धिहीन और आसक्त पुरुषों का कर्म, जीवन को कठोर बन्धन में बाँध लेता है। बुद्धि में दृढ़ता न होने से कर्म का स्वर बैठ जाता है। बुद्धि को मोहमय बनाने वाले प्रज्ञावाद, वेदवाद, भोगवाद, सम्प्रदायवाद और समस्त वादों से हटकर उन्नतिशील मनुष्य को जिस मार्ग का अनुसरण करना चाहिये, उसका दर्शन कराते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

४६

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

त्रैगुण्यविषयाः, वेदाः, निस्त्रैगुण्यः, भव, अर्जुन,
निर्द्वन्द्वः, नित्यसत्त्वस्थः, निर्योगक्षेमः, आत्मवान् ।

अर्जुन=हे अर्जुन, वेदाः=सब वेद, त्रैगुण्यविषयाः=तीनों गुणों के विषयवाले हैं, निस्त्रैगुण्यः=(तुम) तीनों गुणों से रहित, निर्द्वन्द्वः=निर्द्वन्द्व, नित्यसत्त्वस्थः=नित्य सत्त्व में स्थित, निर्योगक्षेमः=योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त (और), आत्मवान्=आत्मवान् भव=हो जाओ।

हैं वेद त्रिगुणों के विषय, तू गुणातीत महान् हो।
तज योग क्षेम व द्वन्द्व नित, सत्वस्थ आत्मावान् हो ॥

अर्थ—हे अर्जुन! वेद तीनों गुणों के विषयवाले हैं, तुम तीनों गुणों से रहित निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्व में स्थित योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त और आत्मवान् हो जाओ।

व्याख्या—कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निश्चय दृढ़ बुद्धि से होता है। किसी एक कार्य में स्थिरता से लग जाने को गीता में 'समाधि' कहा है। समाधि की अवस्था तक पहुँचने के लिये गीता के निम्न आदेशों को समझना आवश्यक है—

१—वेदों में तीनों गुणों का विषय है।

२—तू तीनों गुणों से रहित हो जा।

३—निर्द्वन्द्व हो जा।

४—नित्य सत्त्व में स्थित हो जा।

५—योगक्षेम की चिन्ता न कर।

६—आत्मवान् हो जा।

१. वेदों में तीनों गुणों का विषय है—

वेद सम्पूर्ण ज्ञान के भण्डार हैं। वेदों का ज्ञान अनन्त है। वेदों में ज्ञान, उपासना और कर्मकाण्ड का समग्र दर्शन है, वेदों से लोक और परलोक प्रकाशमान हैं। वेदों में तीनों गुणों के विषयों का वर्णन है। वेदों में मानवधर्म का सारतत्त्व है। वेद मनुष्यमात्र के लिये उपयोगी ज्ञान और धर्म का निर्देश करते हैं। वेदों की सहायता से तीनों गुणों का स्वरूप जानकर मनुष्य को गुणातीत होने का बल मिलता है।

२. तू तीनों गुणों से रहित हो जा—

ज्ञान की सफलता, सत्य शिव और सुन्दर कर्म करा लेने में है। सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों का ज्ञान प्राप्त करके, गुणों से पार होने का प्रयत्न करनेवाला मनुष्य ही सच्चा ज्ञानी कहा जाता है। ज्ञान और उपासना को छोड़कर केवल कर्म-काण्ड में आसक्त रहनेवाला त्रिगुणों में बंध जाता है।

तीनों गुणों से पार कराना गीता का परम ध्येय है। गुणातीत, स्थितप्रज्ञ, कर्मयोगी और भक्त के लक्षणों का गीता में प्रायः एक-सा ही वर्णन है।

त्रिगुणों में फँसा हुआ मनुष्य, माया-ममता से नहीं छूटता। ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि जब तक तीनों गुणों से ढके रहते हैं तब तक उनका प्रकाश नहीं फैलता।

श्री शङ्कराचार्य के अनुसार निस्त्रैगुण्य का अर्थ—निष्काम होना है। निष्काम होकर ज्ञान, उपासना, कर्म आदि का अनुष्ठान करने से प्रज्ञा जाग जाती है और कर्त्तव्य-कर्म का स्पष्ट बोध होता है। यद्यपि संसार गुणमय है परन्तु जल में रहकर जैसे मछली नहीं डूबती, इसी प्रकार त्रिगुणमय संसार रहकर जो गुणों में आसक्त नहीं होता, जिसे अपने सात्त्विक कर्मों का भी अभिमान नहीं छूता, उस गुणातीत अथवा निष्काम पुरुष को पुरुषोत्तम का पद मिलता है।

३. निर्द्वन्द्व हो जा—

गुणों में फंसानेवाले द्वन्द्व हैं। जो सुख चाहता है वह दुःख से नहीं छूट सकता। केवल विजय ही विजय चाहनेवाले को पराजित होना पड़ता है। अतः गीता सुख-दुःख, लाभ-हानि, विजय-पराजय आदि द्वन्द्वों की उलझन से निकलने का मार्ग दिखाती है। वह मार्ग मनुष्य के अन्तःकरण में ही है। जो द्वन्द्व भरे जगत् में निर्द्वन्द्व होकर रहता है, वही सच्चा सुखी है। बाहरी राग-द्वेष और क्लेश जब अन्तर्जगत् की शान्ति नष्ट करने में असमर्थ रह जाते हैं तभी जीव समर्थ होता है।

निर्द्वन्द्व होने का अभिप्राय भय और बाधा को दूर कर देना है। क्या होगा, कैसे होगा, क्या करूँ ? आदि संकल्प-विकल्प मनुष्य को चिन्तित और शक्तिहीन कर देते हैं। जो चिन्ताओं से मुक्त होकर लाभ-हानि, सुख-दुःख आदि की परवाह न करके तत्परता से स्वधर्म का आचरण करता है उसी को 'निर्द्वन्द्व' कहा जाता है।

४. नित्य सत्त्व में स्थित हो जा—

तीनों गुणों से पार और निर्द्वन्द्व होने के लिये सत्त्व में स्थित होना चाहिये। सत्त्व में प्रकाश, निर्मलता और सुख का सुयोग रहता

है जिसकी ज्ञान की आँखें खुली रहती हैं और दूर तक देखती हैं; जो कभी अंधेरे में नहीं घिरता, जिसके अन्तःकरण पर दुरितों की छाया नहीं पड़ती और जिसकी शक्ति को चाह तथा चिन्ताओं के क्रूर-ग्रह नहीं पकड़ते उसीको सत्त्व में स्थित कहा जाता है।

नित्य सत्त्व में स्थित रहनेवाला एक क्षण के लिये भी कुपथ पर पैर नहीं धरता; तमोगुण जनित प्रमाद और आलस्य आदि दोषों को वह निकाल फेंकता है; रजोगुण जनित चाह-चिन्ता उसे विचलित नहीं करती; निर्दोष और पवित्र भाव से तन्मय होकर वह ऐसे कर्म करता है जिनसे सम्पूर्ण जीवन प्रकाश, प्रतिभा, सावधानी और सन्तोष से भरा रहता है।

सात्त्विक ज्ञान, सात्त्विक बुद्धि, सात्त्विक कर्म, सात्त्विक आहार-विहार और सात्त्विक जीवन द्वारा जो आनन्द और पद मिलता है वह भी सात्त्विक होता है।

सत्त्व-रहित जीवन और कर्म का कोई मूल्य नहीं होता। सत्त्व में स्थिरता और सामर्थ्य है। सत्त्व में टिकनेवाला ही गुणातीत होता है।

५. योगक्षेम की चिन्ता न कर

सत्त्व का आधार सत्य है। जहां सत्य है वहां कोई अभाव नहीं रहता। सात्त्विक बुद्धि के निर्मल दर्पण में जीव अपना शक्ति-सम्पन्न स्वरूप देख लेता है। चारों ओर सात्त्विक वातावरण बन जाने से असत अथवा असात्त्विक कृत्यों का अन्त हो जाता है, उस समय किसी प्रकार की हीन वासना और चिन्ता जीवन को भ्रष्ट नहीं करती और मनुष्य ऐसे पद पर पहुंच जाता है जहां उसका योगक्षेम अनायास ही होता रहता है।

संसार में योगक्षेम की चिन्ता सब से बड़ी है। मनुष्य को

कुछ न कुछ चाहिये; जब तक जीवन है तब तक आवश्यकतायें रहती हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य पाप और पुण्य करता है, जिसकी जितनी आवश्यकतायें होती हैं, वह उतना ही दुःखी, चिन्तित और उदास रहता है। चिन्ता और उदासी में बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती।

बुद्धि की स्थिरता के लिये गीता योगक्षेम की चिन्ताओं से मुक्त होने का आदेश देती है। मनुष्य को जो कुछ चाहिये उसकी चिन्ता न करके कर्त्तव्य-पालन की चिन्ता करना उचित है।

जो कुछ चाहिये उसे देनेवाला और जो कुछ है उसकी रक्षा करनेवाला परमेश्वर है। परमेश्वर कर्म से प्रसन्न होता है। कर्मयोगी, अप्राप्त को प्राप्त करने की चिन्ता नहीं करता—उसके लिये सत्य-प्रयत्न करता है और प्राप्त की रक्षा करने में अपना कर्त्तव्य नहीं भूल जाता, क्योंकि कर्मशील का रक्षक परमेश्वर है।

६. आत्मवान् हो जा—

जो गुणातीत है, निर्द्वन्द्व है, नित्य सत्त्व में स्थित है, योगक्षेम की चिन्ताओं से रहित है वही 'आत्मवान्' है। आत्मवान्, आत्मा अथवा परमात्मा से सदा युक्त रहता है। आत्मवान्—आत्मा की भांति निर्विकारी, निर्भय, ज्योतिर्मय और सावधान रहता है। आत्मवान् के लिये संसार में स्वर्ग है, जीवन में ही मुक्ति है और कर्म में ही ब्रह्म है। वह अपने प्रत्येक कर्म से ब्रह्म की उपासना करता है। आत्मवान् की बुद्धि पवित्र, जागृत और स्थिर रहती है, अंग-अंग और रोम-रोम चेतना से भरा रहता है। आत्मवान् होना ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है।

आत्मबल, आत्मविश्वास और आत्मसंयम के बिना जीवन निस्तेज रहता है। सर्वत्र आत्मा के दर्शन होने से जो अखण्ड आनन्द प्राप्त होता है वह न किसी विषय-भोग में है और न किसी सकाम कर्म में—

श्री वैभव विजय नीति

४६

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

यावान्, अर्थः, उदपाने, सर्वतः, संप्लुतोदके,
तावान्, सर्वेषु, वेदेषु, ब्राह्मणस्य, विजानतः।

सर्वतः=सब ओर से, संप्लुतोदके=भरे हुए जलाशय (प्राप्त होने पर) उदपाने=छोटे जलाशय में, यावान्=जितना, अर्थः=प्रयोजन (रह जाता है), तावान्=उतना ही, विजानतः=ज्ञानवान्, ब्राह्मणस्य=ब्राह्मण का, सर्वेषु=सम्पूर्ण, वेदेषु=वेदों में (रहता है)।

सब ओर करके प्राप्त जल, जितना प्रयोजन कूप का।
उतना प्रयोजन वेद से, विद्वान् ब्राह्मण का सदा॥

अर्थ—सब ओर से भरे हुए जलाशय प्राप्त होने पर छोटे जलाशय में जितना प्रयोजन रह जाता है, उतना ही ज्ञानवान् ब्राह्मण का सम्पूर्ण वेदों में रहता है।

व्याख्या—ब्रह्म को जाननेवाला ब्राह्मण कहलाता है। वेदों का अनन्त ज्ञान, विद्वान ब्राह्मण को अनायास ही मिल जाता है। विद्वान ब्राह्मण वह है—जो निष्काम, निर्द्वन्द्व, सत्त्व में स्थित, चाह-चिन्ता से रहित और आत्मवान है।

विधि और कला को साथ लेकर निरन्तर आगे बढ़नेवाले के चारों ओर ज्ञान का स्रोत उमड़ता है; उसे स्वधर्म अथवा कर्त्तव्य का

निर्णय करने के लिये किसी परावलम्बन की आवश्यकता नहीं रहती और कहीं भटकना अथवा अटकना भी नहीं पड़ता।

गीता, ज्ञान-प्रधान माधुर्य से भरे पुरुषार्थ की शिक्षा देती है। सम्पूर्ण वेदों का ज्ञान आत्मवान् पुरुष को स्वयं सुलभ हो जाता है अथवा आत्मवान् पुरुष का ज्ञान वेदों से पृथक् नहीं होता। आत्मवान् की वाणी में शास्त्र, कर्म में कुशलता और बुद्धि में योग उसी प्रकार रहता है जैसे जगत् में ब्रह्म। उसे स्वार्थ-पूर्ति के लिये किसी काम्य कर्म का सहारा नहीं लेना पड़ता।

जब प्यास लगे तभी कुएँ के पास जाँय और जल भरकर पीयें, ऐसी स्थिति में आत्मज्ञानी नहीं रहता। साधारण मनुष्य, धर्म को जानने अथवा कर्म-मार्ग पर चलने के लिये, संकट के समय शास्त्रों का सहारा ढूँढते हैं, आत्मवान् मनुष्य के सन्मुख प्रत्येक परिस्थिति में सम्पूर्ण ज्ञान रहता है। वह अपने कर्त्तव्य को भली भाँति जानता और पूरा करता है। गीता इसी सत्य को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करती है—

तत्त्ववेत्ता ब्राह्मण का वेदों में उतना ही प्रयोजन है जितना सब ओर से उमड़ते हुए जलवाले जलाशय में।

जल कितना ही बहता रहे अत्यन्त शीतल और मधुर हो परन्तु विद्वान् उसमें से अपनी आवश्यकता के अनुसार ही ग्रहण करता है—उसमें डूब नहीं जाता; इसी प्रकार ज्ञानी जन, वैदिक कर्मकाण्ड, उपासना और ज्ञान से यथोचित लाभ उठाते हैं, किसी भ्रम, मोह अथवा अज्ञान से उसमें नहीं पड़ते।

इस सम्बन्ध में सन्त ज्ञानेश्वर ने लिखा है—

"यद्यपि वेदों ने बहुत कुछ कहा हो अनेक भेदों की सूचना की हो तथापि हमको वही लेना चाहिये जो अपना हित हो। सूर्य का

श्री वैभव विजय नीति

उदय होते ही सभी रास्ते साफ़ दिखाई देने लगते हैं, परन्तु कहो भला, मनुष्य क्या एकदम उन सभी रास्तों से चलता है ? अथवा यद्यपि सारा का सारा पृथ्वीतल जलमय हो जाय, तथापि जैसे उसमें से मनुष्य अपनी इच्छानुसार ही ग्रहण करता है, वैसे ही जो ज्ञानी होते हैं वे वेदार्थ का विचार करते हैं और उस इष्ट वस्तु को स्वीकार करते हैं जो शाश्वत है ।"

श्री शङ्कराचार्य ने लिखा है—

"जैसे जगत् में कूप, तालाब आदि अनेक छोटे-छोटे जलाशयों में जितना स्नान-पान आदि प्रयोजन सिद्ध होता है वह सब प्रयोजन सब ओर से परिपूर्ण महान् जलाशय में उतने ही परिमाण में सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण वेदों से (वेदोक्त कर्मों से) जो कर्मों का फल मिलता है, वह समस्त प्रयोजन परमार्थ-तत्त्व को जाननेवाले ब्राह्मण अर्थात् संन्यासी को सिद्ध हो जाता है।"

लोकमान्य तिलक ने लिखा है—

"चारों ओर पानी की बाढ़ आजाने पर कुएँ का जितना अर्थ या प्रयोजन रह जाता है अर्थात् कुछ भी काम नहीं रहता, उतना ही प्रयोजन ज्ञान प्राप्त ब्राह्मण को सब कर्मकाण्डात्मक वेद का रहता है अर्थात् सिर्फ काम्य कर्म रूपी वैदिक कर्मकाण्ड की उसे कुछ आवश्यकता नहीं रहती।"

सारांश यह कि अनन्त ज्ञान और आनन्द, अस्थिर होकर इधर-उधर भटकने से नहीं मिलता। हमारे आस-पास चारों ओर ज्ञान है। ज्ञानवान् होने का एक ही राजमार्ग है—दृढ़ बुद्धि से कर्त्तव्य का पालन करना और क्रियाशील रहकर भी कर्म के दोषों से बचे रहना। इस महाभाव की पूर्ति के लिये गीता ने कर्म का सूत्र दिया है—

४७

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

कर्मणि, एव, अधिकारः, ते, मा, फलेषु, कदाचन,
मा, कर्मफलहेतुः, भूः, मा, ते, सङ्गः, अस्तु, अकर्मणि।

कर्मणि=कर्म करने में, एव=ही, ते=तेरा, अधिकारः=अधिकार है, फलेषु=फल में, कदाचन=कभी, मा=नहीं, कर्मफलहेतुः=कर्मों के फल की वासनावाला, मा=मत, भूः=हो, अकर्मणि=कर्म न करने में (भी), ते=तेरी, सङ्गः=आसक्ति, मा=न, अस्तु=हो।

अधिकार केवल कर्म करने का, नहीं फल में कभी।
होना न तू फल-हेतु भी, मत छोड़ देना कर्म भी॥

अर्थ—कर्म करने में ही तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं। कर्मों के फल की वासनावाला मत हो, कर्म न करने में भी तेरी आसक्ति न हो।

व्याख्या—प्रकृति और परमेश्वर ने मनुष्य को जीवन के साथ-साथ कर्म की महाशक्ति प्रदान की है। मनुष्य के सुन्दर ललाट पर कर्म का तिलक लगा कर प्रजापति ने उसे विजय का वरदान दिया है। जो कुछ हितकर, योग्य और वाञ्छित है उसे प्राप्त करना मनुष्य का अधिकार है। ऐसा कहीं कुछ नहीं है, जिसे मनुष्य कर्म के द्वारा प्राप्त न कर सके। जीवन-मुक्ति, विजय, आनन्द और सम्पूर्ण लौकिक तथा

श्री वैभव
विजय नीति

पारलौकिक सिद्धियों का देने वाला कर्म है। कर्म की शक्ति से चराचर जगत् में चेतना और प्रगति है।

'यः प्रथमः कर्मकृत्याय जातः।'

(अथर्व० ४।२४।६)

सर्व प्रथम आत्मा कर्म करने के लिये प्रकट हुआ है।

कर्म ही जीवन है। मनुष्य को मनुष्य बनानेवाला कर्म है।

कर्म की गति गहन है। कर्म के रहस्यों को जान लेने वाला सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी कहा जाता है।

आत्मा-परमात्मा, प्रकृति-जगत्, दृश्य और अदृश्य सबका ज्ञान कर्म से होता है। कर्मयोग के परमतत्त्व को गीता ने चार सूत्रों में सुबोध कर दिया है—

१—कर्म करने में ही तेरा अधिकार है।

२—फल में कभी नहीं।

३—कर्मों के फल की वासनावाला न हो।

४—कर्म न करने में तेरी आसक्ति न हो।

१. कर्म करने में ही तेरा अधिकार है—

मनुष्य का सनातन अधिकार कर्म है; वह किसी भी अवस्था में अपने इस अधिकार से वंचित नहीं होता—कर्म करने में सदा स्वतन्त्र है। अज्ञान और आलस्य से अपने इस अधिकार को न जानने और इसका सदुपयोग न करनेवाले की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है और उसे प्रकृति, स्वभाव, इन्द्रियों और परिस्थितियों के आधीन होकर बलात् कर्म करना पड़ता है, कारण—

'कर्म कृण्वन्ति मानुषाः।' (अथर्व ६।२३।३)

मनुष्य कर्म करते हैं। कर्म मनुष्य का लक्षण है।

कर्म का अलख जगानेवाले आत्मा की ज्योति को प्रत्यक्ष देखते हैं। जो कर्मों पर अधिकार रखते हैं उनके कर्म श्रीकृष्ण के सुदर्शन की भांति सदा उनके संकेत पर चलते हैं। कर्म के अधिकार का दुरुपयोग करनेवाला बुरी तरह गिर जाता है। उसके कर्म ही उसका विनाश कर देते हैं।

जगत् के सम्पूर्ण व्यवहारों को कर्म कहते हैं। उठना-बैठना, चलना-फिरना, स्वाँस लेना भी कर्म है। मनुष्य अच्छा और बुरा दोनो प्रकार का कर्म करने में स्वतन्त्र है। अच्छा कर्म करके वह अपने अधिकार की प्रतिष्ठा करता है, उससे लाभ उठाता है। बुरा कर्म करके वह धीरे-धीरे अपने अधिकारों को खो देता है और परिस्थितियों का दास बन जाता है।

उपनिषद् में केवल पवित्र, उन्नत और शास्त्रोक्त कर्मों को ही कर्म कहा है।

सभी जगत-व्यवहार कर्म हैं,
किन्तु एक है मर्म।
शास्त्र-विहित कर्त्तव्य कर्म ही
कहलाते हैं कर्म॥

गीता में मनुष्य को जिन कर्मों के करने का अधिकार दिया है वे पवित्र, उन्नत, दैवी, सात्त्विक, शास्त्र-विहित श्रेष्ठ कर्म हैं। सत्य, शिव और सुन्दर कर्म करने के लिये ही मनुष्य-जीवन है।

राक्षस और मनुष्य में केवल इतना ही अन्तर है कि मनुष्य कुकर्म नहीं करता, यदि करता है तो वह मनुष्य नहीं है। राक्षस श्रेष्ठ कर्म नहीं करता, यदि करता है तो वह राक्षस नहीं है।

जो अपने कर्मों को जगत् और जगत्पति की प्राप्ति करने का

साधन बनाते हैं, वे ही कर्म करने के अधिकार का सदुपयोग करते हैं। मनुष्य को जीवन के उत्थान और चरित्र का निर्माण करने के लिये कर्म करने की सब प्रकार स्वतन्त्रता है परन्तु भोगों, विकारों, स्वार्थों और वासनाओं में पड़कर मनुष्य स्वयं ही अपने अधिकारों को भूल जाता है। सत्य, सेवा, त्याग और यज्ञ-कर्मों के पीछे इच्छा, अहंकार, आवेश, वाद, हठ, आसक्ति और अभिमान रहने पर भी कर्म विशुद्ध नहीं होता। कर्म की पवित्रता और महानता के लिये उसे दैवी सत्ता के आधीन कर देना चाहिये। उसका एकमात्र साधन यह जान लेना है कि—

२. फल में तेरा अधिकार कभी नहीं है—

कर्म का फल मनुष्य के हाथ में नहीं है। निःसन्देह वह जितना करता है उतना पाता है परन्तु पाने का दावा या हठ नहीं कर सकता। कर्म के फल की इच्छा में आसक्ति और अहंकार की गांठ पड़ी रहती है। यह गांठ जितनी दृढ़ होती है, कर्म उतने ही भद्दे, अधूरे और बन्धन-कारक होते हैं।

मनुष्य नहीं जानता कि उसे कौनसे कर्म का क्या फल मिलेगा? और कब मिलेगा? मनुष्य जो कुछ चाहता है वह सब उसे मिल जाय तो लोक भ्रष्ट हो जाय। कर्मों के फल देनेवाली कोई पर-शक्ति है जो स्वयं समर्थ है, सदा सावधान है, किसी दबाव, छल अथवा धोखे में नहीं आती और सब पर शासन करती है।

मनुष्य जब कर्म करता है तो उसकी यह प्रबल धारणा रहती है कि मैं कर्म कर रहा हूँ अतः इसके फल का भोग भी मुझे ही मिलेगा। यह धारणा अनुचित और असत्य नहीं है। भूल वहाँ होती है जहाँ मनुष्य शुभ कर्मों का कर्त्ता अपने को मान कर परम

शक्ति को भूल जाता है और अशुभ होने पर किसी दूसरे के माथे दोष मढ़ देता है अथवा हार कर कहता है कि करनेवाला तो परमेश्वर है।

जहाँ शुभ और अशुभ सब का कर्त्ता परमेश्वर माना जाता है, वहाँ भोक्ता भी परमेश्वर होता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य अपने-आपको परमेश्वर के हाथों में सौंप देता है। वह किसी आशा, अभिलाषा, स्वार्थ और सुख के लिये कर्म नहीं करता—स्वधर्माचरण अथवा कर्त्तव्य-पालन के लिये करता है।

जहां केवल फल की इच्छा के लिये कर्म होता है वहां राग, द्वेष, द्वन्द्व और दुरित मनुष्य के पीछे पड़ जाते हैं। भोगों और स्वार्थों के पीछे पड़नेवाले जीव का जीवन अज्ञानमय, मिथ्या, इन्द्रिय-परायण और बहिरङ्ग हो जाता है।

कर्म के फल की चिन्ता न होने से शक्ति और तन्मयता को निर्बाध-कर्म करने का अवसर मिलता है। अतः सुख, शान्ति और निपुणता पाने का एक ही निश्चित मार्ग है—

३. कर्म के फल की वासनावाला न हो—

कर्मों में अमृत है और वासना में मृत्यु।

'कर्मसु चामृतम्।' (मुण्ड० १।१।८)

पुरुष को पुरुषोत्तम तक पहुँचानेवाला कर्म है, कर्म के फल की चाह और चिन्ता मनुष्य को गिरा देती है। कर्म दूर-दूर तक अपनी सुगन्धि फैलाता है और जनता-जनार्दन को आकर्षित करता है। वासना अपनी दुर्गन्धि से नाक-भौंह सिकोड़ने का अवसर देती है और मनुष्य को मनुष्य से दूर करती है। स्वार्थी मनुष्य से मनुष्य भी प्रसन्न नहीं होता, परमेश्वर तो दूर है ?

संसार के अनर्थों की जड़ वासना है, फल-वासना के लिये

श्री वैभव विजय भूति

कर्म करनेवाला सबसे बड़ा अनर्थ करता है। कर्म करने के अधिकार का लाभ वही उठाता है जो कर्मों में कामना-जनित लोभ भय, राग, द्वेष आदि विकारों को नहीं आने देता। कर्म में जो सुख है वह कामना में नहीं है। निर्दोष और सात्त्विक कर्म को कामना-रहित कहते हैं।

सकाम कर्मों से ज्ञान ऐसे ढक जाता है जैसे बादलों से सूर्य। विषयों का सुख सच्चिदानन्द तक नहीं पहुँचने देता।

"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।"

आनन्द अनन्त है, जीव सकाम कर्मों के द्वारा उस असीम आनन्द को सीमा में बांधने का प्रयत्न करता है अतः उसके अंशमात्र का उपभोग कर पाता है।

कामना-सहित कर्म में रजोगुण रहता है। कर्म-रहित कामना से तमोगुण फैलता है।

सतोगुणी मनुष्य कर्म करता है, परमेश्वर के लिये—स्वधर्म के आचरण और कर्त्तव्य-पालन के लिये। वह फल रूप दैवी प्रसाद को भोगकर सन्तुष्ट, सुखी, प्रसन्न और चिन्ता-रहित रहता है। जो कुछ मिलता है उसे परमेश्वर की देन मानता है।

रजोगुणी स्वभाववाला फल की कामना करता है। पाप-पुण्य, राग-द्वेष से छूटना उसके लिये सम्भव नहीं है। जितना वह करता है उतना माँगता है, बल्कि उससे भी अधिक की इच्छा करता है। अतः वह दैवी कृपा से वंचित रह जाता है, उसे जनता-जनार्दन का पवित्र प्रेम नहीं मिलता। निष्कामी पुरुष कर्म का फल भी पाता है और परमेश्वर की कृपा भी।

तमोगुणी कर्म न करके सुख चाहता है अथवा कर्म ही नहीं करना चाहता। तमोगुण अत्यन्त भयंकर है अतः गीता का आदेश है—

४. कर्म न करने में तेरी आसक्ति न हो—

कर्म हीन के लिये कहीं स्थान नहीं है। जो कर्म को छोड़ देता है उसे धर्म, समृद्धि, सुख, शक्ति, परमेश्वर और जगत् सब छोड़ जाते हैं। कर्म छोड़ बैठना जीवन की हत्या है। इस महापाप का दण्ड असम्य और भयंकर है। कर्म छोड़ने का विचार भी पाप है।

कर्म हमारे जीवन का स्वाँस है। कर्म की धौंकनी से प्राण-शक्ति को बल मिलता है। नदी निरन्तर बहती है, वायु बराबर चलता है, सूर्य-चन्द्र सतत कर्म करते हैं, परमेश्वर पल भर के लिये भी कर्म नहीं छोड़ता, फिर मनुष्य कर्म क्यों छोड़े ?

कर्मयोग का इतना ही सार है कि—

१. मनुष्य को कर्म करने का अधिकार है। इस अधिकार का लाभ उठाकर नित्य निरन्तर उच्चतम कर्म करते हुए अनन्त आनन्द की ओर बढ़ना चाहिये।

२. फल पर कर्ता का अधिकार नहीं है अतः मनचाहे फल पाने के लिये अधीर नहीं होना चाहिये।

३. केवल फल पाने के लिये कर्म करनेवाला दैवी और मानुषी शक्तियों से अनभिज्ञ रहकर संकुचित तथा संकीर्ण स्वार्थों में बँधा रहता है—उसके लिये कहीं मुक्ति नहीं है।

४. अकर्मण्य होकर बैठना, अपने और समाज के प्रति घोर अपराध है। अकर्मण्य पुरुष, ईश्वरीय देन की अवहेलना करता है।

प्रकृति अधूरे और भद्दे कर्मों को देखकर केवल ताड़ना देती है, परन्तु कर्म हीन को वह शाप देकर घोर नरक में डालती है।

मनुष्य वह है जो अपनी कर्म-कुशलता और अनासक्ति से प्रकृति को असन्तुष्ट होने का अवसर नहीं देता। ऐसा कर्म करने के लिये गीता समत्व योग देती है —

४८

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

योगस्थः, कुरु, कर्माणि, सङ्गम्, त्यक्त्वा, धनंजय, सिद्ध्यसिद्ध्योः, समः, भूत्वा, समत्वम्, योगः, उच्यते।

धनंजय=हे धनंजय, सङ्गम्=आसक्ति को, त्यक्त्वा=छोड़कर, सिद्ध्यसिद्ध्योः=सिद्धि और असिद्धि में, समः=समान, भूत्वा=होकर, योगस्थः=योग में स्थित हुआ, कर्माणि=कर्मों को, कुरु = कर, समत्वम्=समता ही, योगः = योग, उच्यते = कहा जाता है।

आसक्ति सब तज सिद्धि और असिद्धि मान समान ही।
योगस्थ होकर कर्म कर है योग समता ज्ञानही॥

अर्थ—हे धनञ्जय! आसक्ति को छोड़कर सिद्धि और असिद्धि में समान होकर योग में स्थित हुआ कर्मों को कर—समता ही योग कहा जाता है।

व्याख्या—कामनामय जीवन में इन्द्रियाँ विषयों से उत्तेजित होकर अशांत रहती हैं। इन्द्रिय-सुखों के पीछे दौड़नेवाले अपने विचारों, संकल्पों और वृत्तियों को निम्नगामी बना लेते हैं। द्वन्द्व उनके निश्चय को दृढ़ नहीं होने देते, चाह और चिन्ता उन्हें आत्मतत्त्व की ओर जाने के योग्य नहीं छोड़ती और उनके कर्म, केवल कामनाओं, आवेशों और अज्ञान की प्रेरणा से होने के कारण कभी पूर्ण नहीं होते।

कर्म में पूर्णता, शान्ति और स्थिरता लाने के तीन साधन हैं—

१—योग में स्थित होकर कर्म करना।

२—आसक्ति छोड़कर कर्म करना

३—सिद्धि और असिद्धि में समान रहकर कर्म करना।

१. योग मे स्थित होकर कर्म करना—

योग के दिव्य मन्दिर में कर्म की सुन्दर मूर्ति स्थापित करके उसमें तन्मय होते ही सम्पूर्ण साधनायें सफल हो जाती हैं। योग में पवित्रता, चेतना, शान्ति, शिवभाव, सुन्दरता, आकर्षण, आनन्द, आत्मतृप्ति और आत्मसंयम आदि का सजीव वातावरण मिल जाता है। योग में स्थित होकर कर्म करने के चार प्रधान भाव हैं—

क—चित्तवृत्तियों को एकाग्र करके कर्म करना।

ख—युक्ति से कर्म करना।

ग—अन्तर और बाह्य का मेल करके कर्म करना।

घ—जीव और ब्रह्म के परस्पर सहयोग और सद्भावना से कर्म करना।

क—चित्तवृत्तियों को एकाग्र करके कर्म करना—

बिखरी हुई और चंचल चित्त की वृत्तियाँ किसी कर्म में तन्मयता और पूर्णता नहीं आने देतीं। कर्म में सफल होने का सर्वोत्तम उपाय एकाग्रता है। चित्त की समस्त वृत्तियों को एक स्थान पर केन्द्रित करते ही कठिन से कठिन कर्म, सरलता पूर्वक पूर्ण हो जाते हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने चित्त वृत्तियों के निरोध को 'योग' कहा है—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'
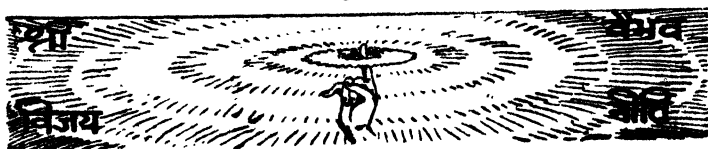
एकाग्रता एक कला है, जिसके आते ही सफलता निश्चित हो जाती है। कर्म, भक्ति, ज्ञान, योग और सम्पूर्ण साधनों की सिद्धि का मूलमन्त्र एकाग्रता है। व्यापार, नौकरी, खेती, सेवा, श्रम आदि में सफलता देनेवाली एकाग्रता है।

हनुमान ने एकाग्र होकर ही दुःसाध्य कर्म किये। श्रीकृष्ण के वंशी-वादन, धेनु-चारण, दुष्ट-दलन, और सारथित्व में उनका योग अर्थात् चित्त वृत्तियों का निरोध कार्य करता था।

कबीर, रैदास, मीरा, नानक, सूर, तुलसी और अनेक संत-महात्माओं ने चित्त-वृत्तियों का निरोध करके ही महान् कार्य किये हैं।

चित्त-वृत्तियों का संयम होते ही कर्म में मधुरता, कुशलता और पूर्णता मिल जाती है।

(ख) युक्ति से कर्म करना—

कर्म का बीज काम है और उसका फल बन्धन है। प्रायः कहा जाता है कि कर्म का त्याग किये बिना मुक्ति नहीं मिलती, परन्तु कर्म के बिना इस जगत में जीवन भी नहीं रहता। जगत् में रहना भी एक कर्म है।

गीता के मत से असावधानी, अविवेक, आलस्य, प्रमाद और अवहेलना के साथ कर्म करने से कर्म अवश्य बन्धन कारक हो जाता है। परन्तु युक्ति, विवेक, सावधानी, तत्परता और तन्मयता से किया हुआ कर्म सदा मुक्तिदाता है।

युक्ति से कर्म करने का अभिप्राय है—विचारपूर्वक कर्म करना, योजना बनाकर कर्म करना, शास्त्रों और महापुरुषों के अनुभवों से लाभ उठाकर कर्म करना और ज्ञान सहित कर्म करना। युक्ति के बिना

कर्म निष्प्राण रहता है। निष्प्राण, हीन और अविवेक पूर्ण कर्म जीवन को बांधकर घसीटते हैं और मुक्ति के प्रशस्त पथ पर नहीं जाने देते।

(ग) अन्तर और बाह्य का मेल करके कर्म करना—

अन्तःस्थित भाव-कुभाव, शान्ति-अशान्ति और गुण-दोष बाहरी जगत पर अपना प्रभाव डालते हैं और बाह्य जगत् के दृश्य-पदार्थ, गुण-दोष अन्तःकरण पर प्रभाव डालते हैं। केवल अन्तर में स्थिर रहकर बाहर कुछ न देखने से अथवा बाह्य जगत् से पाठ न पढ़ने से भी अधूरापन रहता है और केवल भौतिक जगत् का आश्रय लेने से भी शान्ति और परिपूर्णता नहीं मिलती। योग वह है जिसके द्वारा मनुष्य अन्तर और बाहर का समन्वय करके बाहरी कर्मों को अन्तःकरण के पवित्र, सत्य और सरल भाव से करता है।

योग ऐसी शक्ति देता है जिससे भीतर तथा बाहर की एकता हो जाती है और मन, वचन एवं कर्म में भेदभाव नहीं रहता। वासनाओं पर अन्तःकरण की पवित्रता का प्रभाव पड़ने से उनका मैल धुल जाता है। बाहरी जगत् के दुःख, अन्तःकरण के योग से शान्त हो जाते हैं। अन्तरात्मा का उच्चतम भाव जगत् के पापों, तापों, विकारों और विक्षेपों को धो-धोकर पवित्र कर देता है और इस योग से होनेवाले कर्म निष्पाप और मुक्त होते हैं।

(घ). जीव और ब्रह्म के परस्पर सहयोग और सद्भावना से कर्म करना—

योग का अन्तिम कार्य पुरुष को पुरुषोत्तम से मिला देना है। जीव और ब्रह्म का योग ही मुक्ति है। एक पत्थर की शिला, चट्टान अथवा भूमिखण्ड के बीच में आ जाने से जैसे सम धारा के खण्ड हो जाते हैं और अलग-अलग धारायें बहने लगती हैं; इसी प्रकार जीव
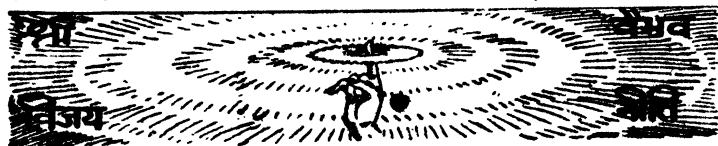
और ब्रह्म वास्तव में एक हैं—माया, ममता और विकारों ने उन्हें दो कर दिया है। योग का कार्य है, बीच की बाधा को निकालकर जीव और ब्रह्म को एक कर देना।

दैवी आदेशों, भावों और योजनाओं के अनुसार कर्म करनेवाला विभु-शक्तियों से मिलकर रहता है। दैवी भावों के विपरीत कर्म से जीव और ब्रह्म का योग नहीं हो सकता।

प्रार्थना, सन्ध्या-वन्दन, उपासना आदि साधनों से जीव, अपने को पवित्र करके ब्रह्म से मिलता है और जब वह उसे साथ रखकर कर्म करता है तो मनुष्य के कर्म, देवता के कर्म बन जाते हैं। कर्मों को दैवी सम्पर्क से पवित्र बनाना योग का लक्ष्य है।

इस प्रकार योग में स्थित होने से कर्म निर्दोष, निर्द्वन्द्व और मुक्त हो जाता है।

२. आसक्ति छोड़कर कर्म करना—

आसक्ति रखनेवाला कर्मों में फँस जाता है। मोह, ममता और वासना के कारण आसक्त पुरुष दुःखी होकर घिसटता हुआ कर्म करता है। उमंगें मर जाने पर भी उसकी आसक्ति नहीं छूटती, स्वार्थ उसे जकड़कर अपने ही रास्ते पर चलाता है। अतः आसक्ति के छोड़े बिना किसी प्रकार का योग नहीं होता।

संग का त्याग गीता का अनासक्त योग है। अनासक्त योग ही गीता की परम देन और सर्वश्रेष्ठ साधना है। पवित्र बुद्धि त्याग, सदाचार और दैवीभाव के आधार पर अनासक्त योग खड़ा होता है।

संग रहित होकर कर्म करने के मुख्य-मुख्य अभिप्राय इस प्रकार हैं—

(अ) परमेश्वर के लिये कर्म करना।

(ब) आध्यात्मिक चेतना में प्रतिष्ठित होकर कर्म करना।

(स) विषयात्मिका बुद्धि को छोड़कर निश्चयात्मिका बुद्धि से कर्म करना।

(अ) परमेश्वर के लिये कर्म करना—

कर्म का सबसे बड़ा दोष अपने-आपको कर्त्ता मानना है। मनुष्य प्रायः कहता है कि जो कुछ हो रहा है उसका करनेवाला परमेश्वर है—

'केनापि देवेन हृदिस्थितेन,
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।'

हृदय में बैठे हुए किसी देवता द्वारा मैं जिस काम में लगाया जाता हूँ, वही करता हूँ।

इस सर्वोच्च और पवित्रभाव की सत्यता अत्यन्त कठिन है; प्रायः ऐसा कहने में भी एक प्रकार का अहंभाव और इच्छा काम करती है। ऐसा कहनेवाले अपनी वासनाओं और अपने प्राकृतिक स्वभाव को ही भगवान् के आसन पर बैठाते हैं।

दूसरी ओर मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं स्वयं शक्तिवान हूँ, मैं ही कर्त्ता हूँ—ऐसी अहं बुद्धि से भी रजोगुण के साथ आसुरी भाव पैर पसारते हैं। अभिमान रूप असुर का 'संग' मनुष्यता का घोर शत्रु है।

नीति की एक वाणी है—

बुढ़ापा रूप को हर लेता है, निराशा में धीरज नहीं बँधता, मृत्यु प्राणों को खा लेती है, निन्दा से धर्म का पतन होता है, क्रोध से लक्ष्मी नहीं ठहरती, कुसंग से सदाचार नहीं रहता, काम निर्लज्ज बना देता है और अभिमान कुछ नहीं छोड़ता।

दुर्योधन की भांति-धर्म और अधर्म को जानकर भी हृदय में बैठ

श्री वैभव विजय श्री

हुए कामना के देवता की प्रेरणा से कर्म करना अनासक्त कर्म नहीं है और अहंभाव को प्रधान रखकर कर्म करना भी अनासक्ति नहीं है। जब हृदय में भगवान् का आभास होता है, तामसी और राजसी भावों के वेगों से कर्म न करके पवित्र इच्छा-शक्ति, सत्य और सावधानी से कर्म होता है, दैवी सत्ता और तप शक्ति के प्रभाव में रहकर जब सम्पूर्ण कर्म होते हैं तभी ईश्वर-अर्पण-बुद्धि से कर्म संचालित होता है। निसंग होकर परमेश्वर के लिये कर्म करने का यही भाव है।

(व) आध्यात्मिक चेतना में प्रतिष्ठित होकर कर्म करना—

वासना-रहित अथवा अनासक्त होना, उसी समय सम्भव है जब नीचे दर्जे के निकृष्ट मानसिक संकल्प, अंधकार, अज्ञान, प्रमाद और विषाद से बच कर कर्म किया जाता है। साँसारिक प्रपञ्चों, स्वार्थ-प्रेरणाओं और अनन्त वासनाओं में शान्ति नहीं है। तप, सहिष्णुता, पवित्रता और सत्य में स्थित होते ही आध्यात्मिक चेतना का सत्संग मिलता है। उस समय मन की सम्पूर्ण क्रियायें शान्त और स्थिर हो जाती हैं, विचार और बुद्धि निखर आती है, दिव्य जीवन की प्रतिमूर्त्ति सन्मुख खड़ी हो जाती है और मनुष्य जो कुछ करता है वह आत्मा से करता है—ऊपरी मन अथवा बाहरी प्रभाव से नहीं। संग त्याग कर कर्म करने का यही परम भाव है।

(स) विषयात्मिका बुद्धि को छोड़कर निश्चयात्मिका बुद्धि से कर्म करना—

विषयों का विष मनुष्य को मूर्च्छित कर देता है। विषयों के स्पर्श से चित्त में उसी प्रकार अनन्त तरंगे उठती हैं जैसे शान्त जल में पत्थर डालने से। विषय, प्राणों में चंचलता और बुद्धि में भेद उत्पन्न कर देते हैं।

विषयों से बचने के लिये कहीं दूर नहीं भागना पड़ता, केवल निश्चयात्मिका बुद्धि बनाने की आवश्यकता है। अचल, शान्त, गम्भीर, पवित्र और प्रसन्न बुद्धि, पुरुष को विषयों से हटाकर अनासक्त कर्म में लगा देती है।

इस प्रकार योग में स्थित होकर अथवा आसक्ति को छोड़कर कर्म करने के लिये समता की सबसे अधिक आवश्यकता है—

३. सिद्धि और असिद्धि में समान रहकर कर्म करना—

जो कुछ मिले उसे छोड़ देना अथवा किसी को दे देना फल का त्याग नहीं है। फल का त्याग वह करता है जो सिद्धि और असिद्धि से विचलित नहीं होता। चित्त की समता बड़ी भारी कुशलता है, इस कुशलता से कर्म अधिकाधिक सुन्दर बनते हैं। कर्म के फल की कामना से चिन्ता, भय, राग आदि विकार उठते हैं वे कर्म की तरफ से ध्यान हटा देते हैं। ध्यान हटते ही कर्म में कमी और दोष आने लगते हैं। सम रहने का मुख्य अभिप्राय यही है कि कर्म के फल की चिन्ता न करके कर्म में तन्मयता बढ़ती जाय।

अच्छे और बुरे, विजय और पराजय, सुख और दुःख अथवा लाभ और हानि एक न एक की प्राप्ति अवश्य होती है। जो अच्छे के मोह में नहीं पड़ता और बुरे से डरकर निराश तथा दुःखी नहीं होता, उसे समता मिलती है।

'समत्वं योगमुच्यते।'

समता को ही योग कहते हैं। योग में क्षणभंगुर सुख और दुःख से परे नित्य और पुष्ट आनन्द रहता है। समता श्रेष्ठ पुरुष का लक्षण है। कर्मयोगी के व्यवहार में विषमता नहीं आती। जहाँ समता है वहाँ सत्य और ज्ञान है, समबुद्धिवाला पाप और पुण्य में नहीं पड़ता—

४९

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥

दूरेण, हि, अवरम्, कर्म, बुद्धियोगात्, धनंजय,
बुद्धौ, शरणम्, अन्विच्छ, कृपणाः, फलहेतवः।

धनंजय=हे धनंजय, बुद्धियोगात्=बुद्धियोग से, कर्म=कर्म, दूरेण=अत्यन्त, अवरम्=तुच्छ है, बुद्धौ=बुद्धि योग का, शरणम्=आश्रय, अन्विच्छ=ग्रहण कर, हि=क्योंकि, फलहेतवः=फल की वासनावाले, कृपणाः=कृपण होते हैं।

इस बुद्धियोग महान से सब कर्म अतिशय हीन हैं।
इस बुद्धि की अर्जुन शरण लो चाहते फल दीन हैं॥

अर्थ—*हे धनंजय! बुद्धि-योग से कर्म अत्यन्त तुच्छ है बुद्धियोग का आश्रय ग्रहण कर, क्योंकि फल की वासनावाले कृपण होते हैं।*

व्याख्या—बुद्धियोग गीता की अनुपम देन है। ममता को त्याग कर समता पूर्वक कर्म करना बुद्धि योग का अभिप्राय है। विषय, कामना, आसक्ति और दीनता से दूर रह कर कर्म करना बुद्धि-योग का ध्येय है। सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वों में सम रहकर कर्म में युक्त होने का नाम बुद्धियोग है। जहाँ मन और बुद्धि में एकता होती है और चित्त समता से भरा रहता है वहीं बुद्धियोग का उदय होता है।

कर्म में बुद्धि का योग होने से बल, साहस, सफलता, कुशलता, प्रसन्नता और शुभ का समावेश हो जाता है। बुद्धि का योग छोटे से कर्म को भी महान् बना देता है। बुद्धियोग में शास्त्र-ज्ञान और पुरुषार्थ-कर्म का सत्य, शिव और सुन्दर योग होता है।

मनुष्य के लिये यह एक पहेली है कि किस समय, कौनसा कर्म किस प्रकार किया जाय ? बुद्धियोग इस पहेली को सरलता से हल कर देता है। परिस्थिति पर अनुशासन, इन्द्रियों पर संयम, शम, यम-नियम, त्याग, वैराग्य, अभ्यास आदि सम्पूर्ण साधनों में बुद्धियोग की सहायता बिना सिद्धि नहीं मिलती।

बुद्धियोग-रहित कर्म अत्यन्त तुच्छ है —

राग-द्वेष, विकार, चाह-चिन्ता आदि से घिरा हुआ कर्म महान होने पर भी अत्यन्त तुच्छ होता है। दोषमय कर्मों का फल भी सदोष होता है, उससे संसार में दुःख, विषमता और दरिद्रता फैलती है। दोषपूर्ण, वासनामय अथवा निकृष्ट कर्म मस्तिष्क की स्वच्छता नष्ट कर देता है। बुद्धियोग-हीन कर्मों से विचार स्पष्ट नहीं रहते, उलझनें बढ़ जाती हैं, कर्म सिर पर सवार होकर भार बन जाता है और हृदय विशुद्ध नहीं रहता।

हे धनंजय ! बुद्धियोग की शरण लो—

जब तक संसार है तब तक व्यवहार है। जीवन पर्यन्त कर्म करना है फिर तुच्छ कर्म क्यों किये जांय ? बुद्धियोग का आश्रय लेकर कर्म करने में जो सुख, शान्ति और सरलता है वह किसी वासनामय स्वार्थ-कर्म से नहीं मिलती। बुद्धियोग का आश्रय लेकर कर्म करना गीता का सर्वोपरि आदेश है। कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों का योगफल बुद्धियोग है। सम्पूर्ण साधनायें बुद्धियोग के लिये होनी
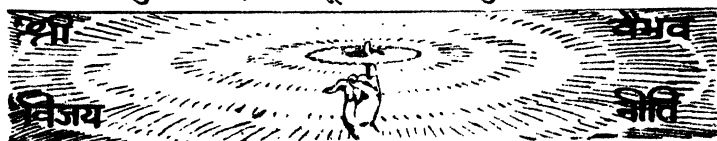
चाहियें। बुद्धियोग को आधार बनाकर कर्म करनेवाले के लिये गिरने और दुःखी होने का भय नहीं होता।

मुक्त आत्मा के लिये बन्धन का कोई कारण नहीं है परन्तु अज्ञानपूर्वक अशुद्ध बुद्धि से कर्म करनेवाला स्वयं बन्धन में बंध जाता है। अशुद्ध बुद्धि के संकल्प भी अशुद्ध होते हैं। राग, द्वेष, भय, क्रोध सब अशुद्ध बुद्धि के परिणाम हैं। संकल्प और ज्ञान शुद्ध बुद्धि के कर्म हैं। मेधा शक्ति, संकल्प शक्ति, और विशुद्ध इच्छा-शक्ति का विकास केवल बुद्धियोग से होता है।

संसार में धन, यश, विजय आदि पाकर तेजोमय और गौरवशाली जीवन जीना प्राणिमात्र का ध्येय होना चाहिये। अर्जुन धनंजय था—शुभ कर्मों की पूर्ति के लिये धन जीत कर लाना, उसका कर्म था। श्रीकृष्ण ने धनंजय को पार्थिव भार और बन्धनों से मुक्त होने के लिये बुद्धि-योग का उपदेश दिया है।

बुद्धि में दोष न हो तो धन मुक्तिदाता बन जाता है, बुद्धि के दोष धनी को बन्धन में बांधते हैं।

धन वही सफल है जो दिव्य भावों और कर्मों का साथ देता है। जिस धन का सदुपयोग हो जाता है वही मुक्तिदायक है; उससे निःसन्देह मुक्ति के दर्शन होते हैं परन्तु जो धन—धर्म, चरित्र, जन, भूमि, संस्कृति की सेवा में काम नहीं आता है वह बन्धनकारी है।

प्रत्येक धनंजय अर्थात् धन-उपार्जन करनेवाले पुरुष को गीता, बुद्धि-योग की शरण में लाना चाहती है, क्योंकि—

कृपणाः फल हेतवः—

फल की वासनावाले कृपण होते हैं।

ज्ञान-विज्ञान, अन्न और धन के भण्डार भरे रहें परन्तु किसी

के काम न आयें तो वे व्यर्थ हैं। वे कृपण कहलाते हैं जो धन, बल और विद्या को व्यर्थ रखे रहते हैं; कृपण जन परमार्थ को छोड़कर स्वार्थ में डूबे रहते हैं और मुक्ति को न लेकर प्रपञ्चों को ग्रहण करते हैं। कृपण जनों की सम्पत्ति अपने या पराये किसी के काम नहीं आती।

परमेश्वर ने समान रूप से सबके लिये धन, बल, ज्ञान, विद्या और आनन्द के कोष खोले हैं। कृपण पुरुष फल की इच्छा में उलझ कर इन कोषों तक नहीं पहुँचता, उसकी तृष्णा ही उसे दीन और दरिद्री बनाये रखती है।

'को वा दरिद्रोऽहि विशाल तृष्णाः।'

जिसकी तृष्णा बड़ी है वही दरिद्री है।

धन के सुमेरु खड़े रहने पर भी कृपण पुरुष उनसे लाभ नहीं उठा पाते, इसीलिये उन्हें दीन कहा जाता है। सकाम कर्म करनेवाले कृपण पुरुष सदा दीन और पराधीन रहते हैं।

आध्यात्मिक अर्थों में कृपण उसे कहते हैं जो परब्रह्म को न जानकर स्वयं ही मृत्यु के मुख में जाता है—

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः।'

हे गार्गी! जो अक्षर ब्रह्म को जाने बिना ही मर जाता है वह कृपण है।

कामनाओं में घिरे रहनेवाले, इच्छाओं के दास—विषय-भोगों के अतिरिक्त और किसी को नहीं जान पाते, अतः वे कृपण हैं।

कृपण पुरुष पाप में पड़े रहते हैं। परन्तु बुद्धि-योग का आश्रय लेकर कर्म करनेवाला पाप से छूट जाता है, वह पुण्यों को भी छोड़कर और आगे बढ़ता है, पुण्य उसके पीछे-पीछे दौड़ते हैं—

श्री वैभव विजय भूति

५०

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

बुद्धियुक्तः, जहाति, इह, उभे, सुकृतदुष्कृते,
तस्मात्, योगाय, युज्यस्व, योगः, कर्मसु, कौशलम् ।

बुद्धियुक्तः = बुद्धियुक्त जन, इह = इस लोक में, सुकृतदुष्कृते = पुण्य-पाप, उभे = दोनों को, जहाति = छोड़ देता है, तस्मात् = अतः, योगाय = बुद्धियोग के लिये, युज्यस्व = प्रयत्नशील रहो, कर्मसु = कर्म में, कौशलम् = कुशलता ही, योगः = योग है ।

जो बुद्धि-युत है पाप-पुण्यों में न पड़ता है कभी।
बन योग-युत, है योग ही यह कर्म में कौशल सभी ॥

अर्थ—बुद्धियुक्त जन इस लोक में पुण्य-पाप दोनों को छोड़ देता है अतः बुद्धियोग के लिये प्रयत्नशील रहो, कर्म में कुशलता ही योग है ।

व्याख्या—कृपण पुरुष का मन दुर्बल होता है। अज्ञान और लाचारी उसे पाप-पुण्य के पाटों में पीस देती है। कृपण पुरुष में कर्म-कुशलता नहीं होती। कर्मों के दोषों से छूटने की कला को वह नहीं जानता।

गीता ने पुण्य-कर्मों से अधिक महत्त्व बुद्धियोग को दिया है। बुद्धियोग पुण्य कर्मों में भी आसक्ति नहीं होने देता।

पुण्यात्मा पुरुष, पुण्यों के फल से सुख-भोग भोगते हैं परन्तु भोग का फल रोग और बन्धन है। बुद्धियोग से कर्म करनेवाले फल को जनता-जनार्दन के अर्पण कर देते हैं और भोगों को अनासक्त होकर भोगते हैं।

पुण्य कर्मों का राग भी एक बन्धन है और पापों को छोड़ देने का अभिमान स्वयं एक पाप है। बुद्धियोग मनुष्य को पाप और पुण्य दोनों से परे ले जाता है।

प्रत्येक प्राणी को बुद्धियोग प्राप्त करना चाहिये। बुद्धियोग से कर्म में कुशलता आजाती है। कर्म करने की चतुराई को गीता ने योग कहा है। योगी पुरुष, ऐसी युक्ति और कुशलता से कर्म करता है कि उसके कर्म, बन्धन न बनकर बन्धन काटनेवाले तथा मोक्षदायक हो जाते हैं।

दुर्बुद्धि के योग से किये गये कर्मों में पाप होता है और सद्‌बुद्धि के योग से किये गये कर्मों में पुण्य। मनुष्य को चाहिये कि पाप और पुण्य के पचड़े में न पड़ कर केवल कर्म करने से प्रयोजन रखे। कर्मयोगी की यही विशेषता है कि वह सुख, स्वर्ग और धर्म को भी अपने कर्त्तव्य-पालन से श्रेष्ठ नहीं मानता।

एक पुरातन कथा है—

एक बार श्रीकृष्ण के सिर में दर्द हुआ। बहुत उपचार करने पर भी पीड़ा शान्त नहीं हुई। अश्विनीकुमार, नारद तथा अन्य भक्तों ने प्रार्थना की कि हे श्रीकृष्ण! आप-अपनी पीड़ा की शान्ति का उपाय स्वयं ही बताने की कृपा करें।

श्रीकृष्ण ने गम्भीरता से कहा कि कोई भक्त अपने चरणों की रज मेरे माथे पर लगा दे तो मुझे शान्ति मिल सकती है।
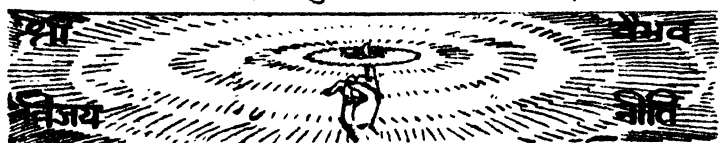
नारद आदि उपस्थित नर-नारी सभी श्रीकृष्ण के परम भक्त थे। परन्तु उनका विचार था कि भगवान् के माथे पर अपने पैरों की धूल लगाने से सारा पुण्य समाप्त हो जायगा और बड़ा भारी पाप होगा।

इस प्रकार अपने पाप और पुण्य की उलझन में पड़ा हुआ कोई भी भक्त, भगवान् को शान्ति न दे सका। पुण्य और स्वर्ग का त्याग किसी से न बन पड़ा। दिन पर दिन बीत गये। नारद ने बड़े-बड़े भक्तों से याचना की परन्तु उन्हें निराश लौटना पड़ा।

अन्त में श्रीकृष्ण ने नारद को व्रज भूमि में जाने का आदेश दिया। नारद के पहुँचने से पहले ही व्रज में यह समाचार पहुँच गया था और व्रजवासी, चरण-रज की पोटलियाँ बांधे द्वारका की ओर दौड़े चले आ रहे थे।

नारद से उन्होंने इतना ही कहा कि हमें अपने सुख, स्वर्ग और मुक्ति की कोई चिन्ता नहीं है; हमें वही कर्म प्रिय है, जिससे विश्वरूप भगवान् सब प्रकार प्रसन्न और स्वस्थ रहें।

इस प्रकार पाप-पुण्यों के पचड़े में न पड़कर बुद्धियोग द्वारा किये गये कर्म का फल अखण्ड आनन्द है। जो कर्म करने में कुशल है वह नित्य परमेश्वर की पूजा करता है। बुद्धियोग से किया हुआ कर्म अमृत के समान है—

मानव के हित है यही अमृत का निर्झर।
वह बुद्धियोग से कर्म करे जीवन भर॥

बुद्धि और भाव है जो मनुष्य के कर्मों को देवताओं का कर्म बना देता है। जिसकी बुद्धि स्थिर है, भूलों और भ्रमों को काट देती है, चंचलता के साथ नहीं खेलती, विकारों में नहीं बहती, वही जीवन-मुक्त है।

५१

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

कर्मजम्, बुद्धियुक्ताः, हि, फलम्, त्यक्त्वा, मनीषिणः, जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः, पदम्, गच्छन्ति, अनामयम् ।

बुद्धियुक्ताः=बुद्धियोग से युक्त, मनीषिणः=ज्ञानीजन, कर्मजम्=कर्मों से उत्पन्न होनेवाले, फलम्=फल को, त्यक्त्वा=छोड़कर, हि=निःसन्देह, जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः=जन्म-बन्धन से छूटकर, अनामयम्=निर्दोष, पदम्=परम पद को, गच्छन्ति=प्राप्त होते हैं ।

नित बुद्धि-युत हो कर्म के फल त्यागते मतिमान् हैं ।
वे जन्म-बन्धन तोड़, पद पाते सदैव महान् हैं ॥

अर्थ—बुद्धियोग से युक्त ज्ञानी जन, कर्मों से उत्पन्न होनेवाले फल को छोड़कर निःसन्देह जन्म-बन्धन से छूट कर निर्दोष परम पद को प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या—फल की इच्छा न रखकर कर्म करने से दोहरा लाभ है—उत्तम गति भी मिलती है और संसार भी सुखमय बनता है । दो प्रकार के नर-नारी कर्म के फल को छोड़ते हैं—

१—जो बुद्धियुक्त हैं ।
२—जो मनीषी हैं ।
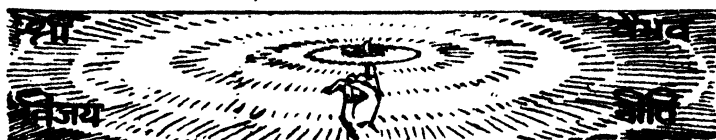
१. जो बुद्धि-युक्त हैं—

जिनकी बुद्धि सम हो जाती है अर्थात् सुख-दुःख, लाभ-हानि जिन्हें कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं कर पाते और जो समत्वभाव के कारण पाप और पुण्यों से नहीं दबते, उन सबको बुद्धि-युक्त कर्मयोगी कहा जाता है। बुद्धियुक्त की बुद्धि प्रत्येक कर्म में तीव्र और विकार-रहित होती है।

२. जो मनीषी हैं--

मनीषी का अर्थ है—बुद्धिवान, मननशील।

'मनस् ईषी—चित्त शुद्धि क्रमेण मनसो वशीकर्त्ता।'

चित्त शुद्धि के क्रम से जो मन को वश में करता है, वह मनीषी है।

'अकृत फलाभिसन्धौ।'

जो फल की इच्छा नहीं करता वह मनीषी है।

समत्व बुद्धि से युक्त मनीषी विचार पूर्वक कर्म करते हैं।

मनीषी जनों को कर्म-फल छोड़ने से दो लाभ होते हैं—

१—जन्म-बन्धन से मुक्त हो जाते हैं।

२—निर्दोष परम पद को प्राप्त करते हैं।

जन्म-बन्धन से मुक्ति का अभिप्राय है—पाप, ताप, अज्ञान, दुःख, अहंकार, अशान्ति आदि बन्धनों से छूटकर सच्चिदानन्द में विचरना।

निर्दोष वही है जो राग-द्वेष, शोक, चिन्ता, चाह आदि विकारों से छूट जाता है। जहां कोई विकार नहीं है, केवल आनन्द ही आनन्द है, वहीं निर्दोष परमपद है। सांसारिक अधिकार और पद सदोष हो सकते हैं परन्तु सेवा और त्याग द्वारा प्राप्त पद सदा निर्दोष होता है।

निर्दोष रहने के लिये निश्चल बुद्धि चाहिये, निश्चलता की प्राप्ति में सहायक साधनों का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

५१

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

यदा, ते, मोहकलिलम्, बुद्धिः, व्यतितरिष्यति,
तदा, गन्तासि, निर्वेदम्, श्रोतव्यस्य, श्रुतस्य, च।

यदा=जब, ते=तेरी, बुद्धिः=बुद्धि, मोहकलिलम्=मोह रूप दलदल को, व्यतितरिष्यति=बिलकुल पार कर जायगी, तदा=तब (तू), श्रोतव्यस्य=सुनने योग्य, च=और, श्रुतस्य=सुने हुए के, निर्वेदम्=वैराग्य को, गन्तासि=प्राप्त होगा।

इस मोह के गंदले सलिल से पार मति होगी जभी।
वैराग्य होगा सब विषय में जो सुना सुनना अभी॥

अर्थ—जब तेरी बुद्धि मोह रूप दलदल को बिल्कुल पार कर जायगी, तब तू सुनने योग्य और सुने हुए के वैराग्य को प्राप्त होगा।

व्याख्या—निर्मल बुद्धि में सूझ और कुशलता रहती है। निर्मल बुद्धि के विचार पवित्र और कल्याणकारी होते हैं। इसके विपरीत मोह की कीचड़ में फँसी रहनेवाली बुद्धि में पार जाने का बल नहीं रहता। मोह की दल-दल को पार करनेवाली बुद्धि ही जगत् में कुछ करने योग्य बनती है।

मोह में फँसी हुई बुद्धि रोग, शोक तथा विकारों से घिरकर क्षीण हो जाती है। उसमें विषयों के आक्रमण रोकने की शक्ति नहीं रहती। मोह के साथ अनृत, दुरित और विषय-विकारों की सेना रहती

श्री वैभव विजय नीति

है। मोह के दबते ही दुर्गुणों की सेना दब जाती है। बुद्धियोगी पुरुष, मोहमय संसार में रहता है परन्तु मोह को अपने में नहीं रहने देता। जल में नाव रहती है; परन्तु नाव में जल नहीं रहना चाहिये।

दोषपूर्ण और अंधेरे में रहनेवाली बुद्धि, मोह की कीचड़ में फँस जाती है और निकलने का जितना प्रयत्न करती है उतनी ही अधिक फँसती है। मोह में पड़े हुए मनुष्य के प्रयत्न भी मोहमय होते हैं; वह स्वयं अपना पथ देख नहीं पाता और दूसरों की सुनता नहीं।

मोह से पार होते ही कहने-सुनने का कोई महत्त्व नहीं रहता, कर्म करने की कुशलता स्वयं प्रस्फुटित हो जाती है; वेद, वाणी में उतर आते हैं और जिस समय जैसे ज्ञान की आवश्यकता होती है वैसा मिल जाता है।

मोह की कीचड़ से निकालनेवाला एकमात्र आत्मा अथवा परमात्मा है। हृदय से प्रयत्न करनेवाला कीचड़ में से कमल की भांति ऊपर उठ आता है। जिसमें सत्प्रयत्नों और दैवी कृपा से कर्त्तव्य-बुद्धि जागृत हो जाती है वह आश्चर्यजनक ढंग से मोह को पार कर जाता है, फल की कामना से भटकता नहीं फिरता।

लोक-कल्याण और मुक्ति की साधना करनेवाले ऋषियों ने सबसे पहले मोह-जन्य कामनाओं का अन्त किया है। बहुत कुछ कहने और सुनने से जो नहीं होता, वह दृढ़ बुद्धि होकर कर्म करने से हो जाता है।

अनेक प्रकार के सिद्धान्त सुनकर भूल और भ्रम में पड़ा हुआ मनुष्य सदा भटकता है—उसकी बुद्धि कहीं भी नहीं टिकती—

५३

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना, ते, यदा, स्थास्यति निश्चला,
समाधौ, अचला, बुद्धिः, तदा, योगम्, अवाप्स्यसि।

श्रुतिविप्रतिपन्ना=अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को सुनकर विचलित हुई, ते=तेरी, बुद्धिः=बुद्धि, यदा=जब, समाधौ=समाधि में, अचला=अचल (और), निश्चला=स्थिर, स्थास्यति=ठहर जायगी, तदा=तब (तू), योगम्=समत्व योग को, अवाप्स्यसि=प्राप्त होगा।

श्रुति-भ्रान्त-बुद्धि समाधि में निश्चल अचल, होगी जभी।
हे पार्थ! योग समत्व होगा प्राप्त यह तुझको तभी॥

अर्थ—अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को सुनकर विचलित हुई तेरी बुद्धि जब समाधि में अचल और स्थिर ठहर जायगी तब तू समत्व योग को प्राप्त होगा।

व्याख्या—कर्म की सफलता के लिये पवित्र और निश्चल बुद्धि की आवश्यकता है। बुद्धिपूर्वक कर्म करने से चित्त शान्त, मस्तिष्क हल्का, हृदय विशाल और मन निर्विकार बन जाता है। बुद्धि के बल को बढ़ाना ही प्रज्ञा प्राप्त करना अथवा कुण्डलिनी शक्ति को जगाना है।

गीता में किसी एक कर्म अथवा धर्म का निर्देश नहीं है। गीता बुद्धि का सर्वतोमुखी विकास चाहती है। बौद्धिक विकास के दो साधन हैं—

श्री भव
विजय नीति

१—अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को सुनकर विचलित न होना।

२—समाधि में अचल और स्थिर हो जाना।

१. अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को सुनकर विचलित न होना—

शारीरिक रोगों की जिस प्रकार अनेक औषधियाँ हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन के लिये श्रुतियों में अनेक मार्ग हैं। जिसके लिये जो उपयुक्त हो उसे वही ग्रहण करना चाहिये। भांति-भांति के मन-मोहनेवाले सिद्धान्त, भेदवाक्य, परस्पर विरोधी भाव सुनने से बुद्धि कहीं स्थिर नहीं होती। ऐसी दशा में संशय और भ्रम खड़े हो जाते हैं और बुद्धि की खींचातानी करके इधर-उधर भटकाते हैं।

शास्त्रों का स्वाध्याय और श्रवण, जब मनन और ग्रहण करने के लिये न होकर केवल व्यसन और बौद्धिक विलास के लिये रह जाता है तब बुद्धि को भटकना पड़ता है।

२. समाधि में अचल और स्थिर हो जाना—

तन की अचलता और मन की निश्चलता को 'समाधि' कहते हैं। बुद्धि निश्चल अर्थात् अविवेक-रहित और अचल अर्थात् विकल्प-रहित होकर जब आत्मा में टिकती है तो 'समाधि' लग जाती है।

'समाधीयते चित्तम् अस्मिन् इति समाधिः।' —शङ्कराचार्य

जिसमें चित्त का समाधान किया जाय वह 'समाधि' है।

आत्मा में लीन होकर कर्म करना समाधि का अभिप्राय है।

समाधि से ज्ञान की आँखें खुल जाती हैं; गिरने का भय नहीं रहता; मन, बुद्धि और आत्मा की एकता हो जाती है। संयम, सावधानी और शान्तिमय सम-व्यवहार समाधिस्थ पुरुष के लक्षण हैं।

समाधि में स्थित कर्मयोगी की रहन-सहन और बोलचाल को जानने के लिये अर्जुन ने प्रश्न किया—

५४

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

स्थितप्रज्ञस्य, का, भाषा, समाधिस्थस्य, केशव, स्थितधीः, किम्, प्रभाषेत, किम्, आसीत, व्रजेत, किम् ।

केशव = हे केशव, समाधिस्थस्य = समाधि में स्थित, स्थितप्रज्ञस्य = स्थितप्रज्ञ की, का = क्या, भाषा = परिभाषा है, स्थितधीः = स्थिरबुद्धि, किम् = कैसे, प्रभाषेत = बोलता है, किम् = कैसे, आसीत = बैठता है (और), किम् = कैसे, व्रजेत = चलता है ।

केशव ! किसे दृढ़प्रज्ञजन अथवा समाधिस्थित कहें ।
थिर-बुद्धि कैसे बोलते, बैठें, चलें, कैसे रहें ॥

अर्थ—हे केशव ! समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ की क्या परिभाषा है, स्थिर बुद्धि कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? और कैसे चलता है ?

व्याख्या—स्थितप्रज्ञ भारतीय संस्कृति का आदर्श पुरुष है, वह साधारण नर-नारियों से बहुत अधिक श्रेष्ठ सावधान, कर्मशील, अनासक्त और आनन्दमय है। जिस प्रकार नदियाँ, समुद्र में मिलने के लिये विघ्न-बाधाओं के गड्ढों को पार करती हुई निरन्तर दौड़ती हैं, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ दैवी जीवन में मिल जाने के लिये निरन्तर कर्म करता है।

स्थिरबुद्धि की आभा मुख पर स्पष्ट दीखती है। समाधिस्थ

श्री वैभव
विजय नीति

पुरुष के अंग-अंग में एक विलक्षण स्फूर्ति तथा कर्म-शक्ति भर जाती है। स्थितप्रज्ञ के बोलने, उठने-बैठने, चलने-फिरने और कर्म करने में एक महाभाव रहता है। स्थितप्रज्ञ सच्चा धर्मात्मा है।

प्रायः संसारी पुरुष, सत्यमय, पवित्र और विकार-रहित जीवन बना कर जगत् के व्यापार में लगे रहना सम्भव नहीं मानते। सच्चा और धार्मिक जीवन बनाने के लिये संसार को छोड़कर वनस्थ हो जाना ही एकमात्र मार्ग कहा जाता है।

गीता इस भ्रम से निकाल कर ऐसे जीवन की प्रतिष्ठा करती है, जो भोग में त्याग सिखाकर संसार में मुक्ति दिलाता है।

अर्जुन का प्रश्न मानव मात्र का प्रश्न है, उसमें जिज्ञासा, सत्य और श्रद्धा है। श्रीकृष्ण का उत्तर भी वैसा ही गम्भीर और उपयोगी है।

समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है? और कैसे व्यवहार करता है? इसका रहस्य समझने से पहले समाधि का अभिप्राय भली भांति समझ लेना चाहिये।

योग-ग्रन्थों के आधार पर समाधि का अर्थ—ध्यान-समाधि किया जाता है। गीता की समाधि योग-समाधि से भिन्न है। गीता की समाधि में पुरुष बोलता, चलता, फिरता और कर्म करता है। कैसे करता है? यही अर्जुन का प्रश्न है। गीता में जिस समाधि की चर्चा है वह कभी चढ़ती-उतरती नहीं—उसमें ज्ञान और कर्म का अद्भुत योग, बुद्धि की दृढ़ता तथा चित्त की तल्लीनता है; वह एक स्थिति है, वृत्ति नहीं; चेतन्य है जड़ नहीं।

समाधि की स्थिति में जाग्रत प्रज्ञा से कर्म करनेवाले स्थितप्रज्ञ के लक्षण बतलाते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

५५

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

प्रजहाति, यदा, कामान्, सर्वान्, पार्थ, मनोगतान्, आत्मनि, एव, आत्मना, तुष्टः, स्थितप्रज्ञः, तदा, उच्यते ।

पार्थ = हे पार्थ, यदा = जब (मनुष्य), मनोगतान् = मन में स्थित, सर्वान् = समस्त, कामान् = कामनाओं को, प्रजहाति = छोड़ देता है, तदा = तब, आत्मनः = आत्मा से, एव = ही, आत्मनि = आत्मा में, तुष्टः = सन्तुष्ट हुआ, स्थितप्रज्ञः = स्थितप्रज्ञ, उच्यते = कहा जाता है ।

हे पार्थ ! मन की कामना जब छोड़ता है जन सभी ।
हो आप आपे में मगन दृढ़-प्रज्ञ होता है तभी ॥

अर्थ—हे पार्थ ! जब मनुष्य मन में स्थित समस्त कामनाओं को छोड़ देता है तब आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट हुआ स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।

व्याख्या—जगत् में अनेक प्रकार के विचार और भाव बाहर से आकर मन में घुसने का प्रयत्न करते हैं। जीवन की ज्योति को अंधेरे से ढक कर बुझा देने के लिये प्राणमय लोक की अनेक कामनायें और आसक्तियाँ उठती हैं। मनुष्य की एकमात्र बुद्धिमानी और तपस्या यही है कि वह सच्चे हृदय से तुच्छ और बाधक विचारों को अपने हृदय-देश में न घुसने दे और मन को विशुद्ध बनाकर समत्वयोग में टिका रहे ।

सरल और तीव्र बुद्धि स्वयं ही विकार-रहित हो जाती है; वह संसार के संग्राम में सीधी तन कर खड़ी रहती है। किसी भी अवस्था में विचलित न होनेवाली सूक्ष्म, तीव्र और सरल बुद्धि की शक्ति अनन्त है; उसकी एक किरण भी जीवन को प्रकाशमान कर देती है। ऐसी दृढ़ बुद्धिवाले अथवा स्थितप्रज्ञ के लक्षण इस प्रकार हैं—

१—मन की सब कामनायें छोड़नेवाले को 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं।

२—आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट रहनेवाले को 'स्थितप्रज्ञ' कहते हैं।

कामनायें मनोगत होती हैं। मनुष्य स्वभावतः ही यश, मान, सुख, भोग, प्रभाव, अधिकार आदि पाने की कामना करता है, इन्द्रियों के विषय-भोग उसे अपनी ओर खींचते हैं, वह किसी न किसी प्रयोजन से कर्म करता है। बिना उद्देश्य के कोई कर्म होता भी नहीं। ज्ञानी और अज्ञानी किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही कर्म प्रारम्भ करते हैं। जहाँ कर्म है, वहाँ कामना अवश्य होती है।

कामनाओं के रहते हुए भी ज्ञानी और अज्ञानी अथवा अनासक्त और आसक्त पुरुष के कर्मों में अत्यधिक अन्तर होता है—

ज्ञानी—अनासक्त	अज्ञानी—आसक्त
योजना बनाकर विचारपूर्वक उद्देश्य-पूर्ति के लिये कर्म करता है।	बिना किसी योजना के, बिना विचारे उद्देश्य-पूर्ति के लिये कर्म करता है।
उद्देश्य-पूर्ति के लिये हीन और अनुचित कर्म नहीं करता।	उद्देश्य-पूर्ति के लिये हीन और अनुचित कर्म करता है।

ज्ञान, शक्ति, प्रेम, आनन्द, उत्साह, सत्य और परमेश्वर के योग से कर्म करता है।

सेवा, परमार्थ और दिव्य-जीवन की प्राप्ति के लिये कर्म करता है।

शान्त, समाहित चित्त होकर ऋत् और सत् के नियमों के अनुसार कर्म करता है।

अपने समग्र मन, प्राण और चेतना को एकाग्र तथा संगठित करके कर्म करता है।

विपत्ति, शोक, पराजय, अपमान आदि में भी दृढ़ रहकर कर्त्तव्य को नहीं छोड़ता।

पापों, भूलों, अपराधों अथवा त्रुटियों को जानकर उन्हें छोड़ने का प्रयत्न करता है।

सदा आत्मा में निमग्न रहकर पवित्र और दृढ़ बुद्धि से कर्म करता है।

अज्ञान, निर्बलता, द्वेष, विषाद, निराशा, असत्य और अनीश्वरीय कुयोग से कर्म करता है।

वासनामय जीवन बनाकर केवल स्वार्थ और विषय-भोगों के लिये कर्म करता है।

अशान्त और चंचल होकर ईश्वरीय और प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करके कर्म करता है।

विकृत मन, अशुद्ध प्राण और असावधानी से मोह-ग्रस्त होकर कर्म करता है।

विपत्ति, शोक, पराजय, अपमान आदि में विचलित होकर कर्त्तव्य-कर्म से पीछे हट जाता है।

पापों, भूलों, अपराधों अथवा त्रुटियों को न जानता है, न मानता है और न छोड़ना चाहता है।

आलस्य, प्रमाद तथा अनात्म पदार्थों में डूबा रहकर अपवित्र और अस्थिर बुद्धि से कर्म करता है।

ज्ञानी अथवा अनासक्त पुरुष के कर्मों को कामना-रहित कहा जाता है और आसक्त पुरुष के कर्मों को सकाम कहा जाता है।

सकाम कर्म मनुष्य को कर्त्तव्य-भ्रष्ट करता है, सकामी पुरुष का ज्ञान अपनी कर्म-शक्ति से जगत् को विध्वंस करता है। रावण, कंस, दुर्योधन आदि ने अपनी फलाकांक्षा से घोर कर्म किये। उनके ज्ञान से जगत् में दुःख और विनाश आया।

कामना में कहीं शान्ति नहीं है, सकामी पुरुष को आध्यात्मिक चेतना छोड़ जाती है, प्रमाद और विषाद से उसकी बुद्धि घिरी रहती है। वासना, तृष्णा, इच्छा और कामना के पाश मन को पकड़ कर बांध देते हैं।

कामना का जन्म सूक्ष्म वासना से होता है। इच्छित वस्तुओं के अभाव को पूरा करने के लिये और इन्द्रिय-सुखों को भोगने के लिये कामना उठती है।

लोक-संग्रह, सेवा, सत्य, प्रेम, आनन्द और परमेश्वर के लिये होनेवाली कामना, अन्त में निष्काम हो जाती है क्योंकि उससे आत्मा का सन्तोष होता है।

भोग-विलास, इन्द्रिय-सुख और स्वार्थ के लिये होनेवाली कामना से तृष्णा की वृद्धि होती है। तृष्णा बुद्धि को ढक देती है।

मन की समस्त कामनाओं को त्यागने से गीता का यह प्रयोजन कदापि नहीं है कि दरिद्री धनवान होने की कामना न करे, विषयी भक्त होने की इच्छा न करे, पराधीन स्वाधीन होने की अभिलाषा न करे और जगत् जड़वत् जहां का तहां पड़ा रहे।

कामनाओं के त्याग का अभिप्राय मन को आत्मा में टिकाकर निर्भय, स्वावलम्बी, जाग्रत और शुद्ध होकर कर्म करना है। संसार

में रहकर संयम और व्यवस्था में रहना, संसार के झंझावात में न उड़ना, प्रवाह में न बहना और आग में न जलना कामना-त्याग का वास्तविक अभिप्राय है।

कामना त्याग का अर्थ कर्म-त्याग अथवा संसार का त्याग नहीं है। संसार के संघर्षों से डरकर कर्म छोड़ देने वाला जड़ और निर्जीव हो जाता है। निर्जीव अथवा जड़ का संयम और असंयम कोई अर्थ नहीं रखता। कर्म के द्वारा प्रतिष्ठा, सम्मान, वैभव और सुख मिलने पर ही त्याग, संयम, अनासक्ति आदि की अवश्यकता होती है।

परमेश्वर पर विश्वास हो, कर्म में सचाई हो, सावधानी, कुशलता, समता और चरित्र हो तो कामनाओं का विष निकल जाता है और कर्म निष्काम हो जाता है।

कर्म करते हुए जो सावधान, संयमी, निष्पाप और सम रहता है वही मन की सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करता है।

यह स्थित प्रज्ञ का पहला लक्षण है। दूसरा लक्षण है—

२. आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट रहना—

निष्काम होने के लिये अशुभ वासनाओं का त्याग और शुभ कामनाओं की पूर्ति करनी चाहिये। शुभ करते-करते मन को निर्मल तथा शुद्ध रहने का अभ्यास पड़ जाता है। ऐसी अवस्था में वह वासना-रहित होकर आत्मा में टिकता है और सब प्रकार सन्तुष्ट रहता है।

मन की सम्पूर्ण कामनाओं को छोड़ने के लिये। आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट होना अत्यन्त आवश्यक है। कामना का त्याग और आत्मा का ग्रहण दोनों मिल कर एक कार्य करते हैं।

आत्मा में आत्मा से सन्तुष्ट होने का अभिप्राय है विशुद्ध मन
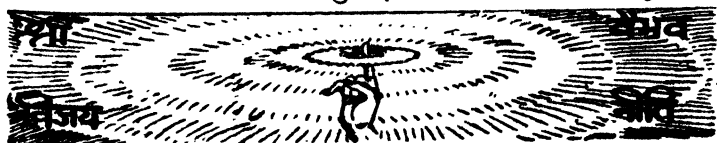
और इन्द्रियों से आत्मा में निमग्न होना। मन में जब बाहरी जगत् की तुच्छ कामना नहीं रहती तब वह आत्मा का दिव्य दर्शन करता है। आत्म-सुख में निमग्न हो जाने पर ही आत्मा कर्मों में प्रकट होता है।

मन और इन्द्रियों को आत्मा में सन्तुष्ट रखने का उपाय है उन्हें विषयों के संग से उत्पन्न होनेवाली कामना से बचाना। ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और अन्तःकरण के रहते हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—विषयों का नितान्त अभाव सम्भव नहीं है और विषयों के रहते हुए आत्म-तृप्ति नहीं हो सकती।

इस पहेली को सुलझाने के लिये योग दर्शन में निश्चित उपाय है—

'विषयवती प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी।' (योग० १।३५)

विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन को आत्मा में स्थिर करती है।

इन्द्रियों को विषयवती बनाने का अभिप्राय है तुच्छ, अयोग्य, अशुभ और निम्नगामी विषयों को छोड़कर शुभ, मङ्गलमय, उन्नत विषयों में मन लगाना। दूसरे शब्दों में अशुभ वासनाओं को छोड़ना और शुभ वासनाओं को ग्रहण करना। इस प्रकार की प्रवृत्ति से मन और इन्द्रियों को आत्मा के दिव्य विषयों में निमग्न रहने का अभ्यास पड़ जाता है। इस अभ्यास की दृढ़ता के साथ-साथ आत्म-सन्तोष मिलता है। आत्म-सन्तोष से जो कर्म किये जाते हैं वे दिव्य होते हैं, उनसे चित्त में सन्तुलन रहता है, बुद्धि अचल और शान्त हो जाती है और आत्मिक शक्ति का विकास होता है। आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट होने का यही भाव है।

स्थितप्रज्ञ के प्रथम दो लक्षण कामना-त्याग और अपने स्वरूप में सन्तोष एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों की साधना के लिये स्थितप्रज्ञ की तितिक्षा उभरी रहती है वह सुख-दुःख में समान रहता है—

५६

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

दुःखेषु, अनुद्विग्नमनाः, सुखेषु, विगतस्पृहः,
वीतरागभयक्रोधः, स्थितधीः, मुनिः, उच्यते ।

दुःखेषु=दुःखों में, अनुद्विग्नमनाः=जिसका मन उद्वेग रहित है, सुखेषु=सुखों में, विगतस्पृहः=जिसकी स्पृहा दूर हो गयी है, वीतरागभयक्रोधः=जिसके राग भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, मुनिः=(वह) मुनि, स्थितधीः=स्थितप्रज्ञ, उच्यते=कहा जाता है ।

सुख में न चाह, न खेद जो दुख में कभी अनुभव करे ।
थिर-बुद्धि वह मुनि, राग एवं क्रोध भय से जो परे ॥

अर्थ—दुःखों में जिसका मन उद्वेग रहित है, सुखों में जिसकी स्पृहा दूर होगयी है, जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट होगये हैं, वह मुनि स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।

व्याख्या—जो निष्काम है, वही आत्म-तृप्त है । आत्म-तृप्त को दुःख और सुख की बाधा नहीं होती । इस जगत् में—

'सुखस्यान्तरं दुःखं दुःखस्यान्तरं सुखम् ।'

सुख के पीछे दुःख और दुःख के पीछे सुख लगा रहता है ; न कोई सदा सुखी है और न कोई सदा दुःखी, इस सत्य को जानकर स्थितप्रज्ञ अपने मन को विचलित नहीं होने देता और—

१—दुःखों में उद्वेग-रहित रहता है।

२—सुख में स्पृहा नहीं करता।

३—राग, भय और क्रोध से दूर रहता है।

१. स्थितप्रज्ञ दुःखों में उद्वेग-रहित रहता है—

मन के अनुकूल न मिलने पर दुःख होता है, दुःख से उद्वेग होना स्वाभाविक है। दुःख पड़ते ही प्राणी घबरा जाते हैं, विषाद में घिर जाते हैं, निराश होकर धीरज खो देते हैं और घुटने टेक देते हैं। ऐसा करने से मन की शक्तियां निर्बल पड़ जाती हैं, सत्य और शील का अन्त हो जाता है। अतः स्थितप्रज्ञ दुःखों में साहस नहीं छोड़ता; वह सावधानी से परमेश्वर का सहारा लेकर कर्त्तव्य-पालन करता है।

२. स्थितप्रज्ञ सुख में स्पृहा नहीं करता—

मनुष्य सदा सुख चाहता है, जितना सुख मिलता है, उतने ही अधिक सुख की कामना भड़कती है। कामना का परिणाम दुःख है, अतः सुख में मन की वृत्तियों को रोकना चाहिये। सुखी नर-नारियों के गिरने का अधिक भय रहता है। प्रायः सुखी, धनी और सम्पन्न घरों में उन्नति के द्वार बन्द हो जाते हैं और विषय-भोगों के द्वार खुले रहते हैं। सुख में मन की वृत्तियाँ प्रायः आलसी और निम्नगामिनी हो जाती हैं। सुख में पड़ा रहनेवाला प्राणी अभिमान से अपना शृङ्गार करता है, अपने दोषों को गुण मानता है और कर्त्तव्य-पथ से हटकर आसुरी जीवन की ओर बढ़ता है।

सुखों की लालसा जीवन को दुःखी बनाये बिना नहीं रहती। सुख और दुःख दोनों क्षण-भंगुर हैं। जिसका मन निर्बल होता है, उसे सुख और दुःख बन्धन में जकड़ लेते हैं। सन्त जनों का अनुभव है—

"ऐसा कोई सुख नहीं जिसका जन्म दुःख मे न हो और ऐसा कोई दुःख नहीं है जो सुख से न निकला हो।

दुःख में अपने से अधिक दुःखी को देख कर धीरज और साहस के साथ स्वधर्म का आचरण करना चाहिये। सुखमें सबके काम आने का प्रयत्न करना चाहिये।

जो सुखी होकर अपने सुख से सेवा करते हैं अथवा अपने सुख को बाँटते हैं उनका दुःख भी दूसरे लोग बाँट कर हलका कर देते हैं। सुख की सफलता, शील और संयम में है।"

सुख और दुःख की प्रत्येक अवस्था में कर्त्तव्य पालन करनेवाले नर-नारी स्थितप्रज्ञ होकर रहते हैं।

३. राग, भय और क्रोध से दूर रहता है—

सुख और दुःख की वृत्तियों से ऊपर उठने के लिये स्थितप्रज्ञ राग, भय और क्रोध से दूर रहता है।

पिछले सुखों को बार-बार याद करने का नाम 'राग' है। आसक्ति को भी 'राग' कहते हैं, अपने दोषों को जानकर उन्हें न छोड़ना भी 'राग' है। सुख में राग की वृद्धि होती है। राग कभी शान्ति से नहीं बैठने देता।

राग से रजोगुण और रजोगुण से दुःख, तृष्णा तथा अशांति का परिवार बढ़ता है।

राग का साथी भय है। प्रतिकूल वेदना से भय का जन्म होता है। भय अन्तःकरण का घोर शत्रु है। भय से मन मर जाता है, चित्त में क्लेश रहता है, बुद्धि में योग्यता नहीं रहती और आत्म-सम्मान खण्डित हो जाता है।

भयभीत में आत्म-बल नहीं रहता। वह दूसरों का दास होकर उनके संकेतों पर चलता है। डरनेवाला अच्छे और बुरे कर्मों का साहस पूर्वक चुनाव नहीं कर सकता। जो डरता है वह सत्य को नहीं जानता जान भी जाय तो उसका पालन नहीं कर सकता। भय, मनुष्य का भयंकर शत्रु है जो मार-मार कर मृत्यु के मुख में धक्का देता है। भय तो केवल परमेश्वर का होना चाहिये। जिसे परमेश्वर का भय होता है वह दुष्कर्मों से बचा रहता है।

आसक्ति, तृष्णा, कामना, वासना, इच्छा आदि के साथ भय रहता है और भय के साथ क्रोध। कामना और भय से क्रोध का जन्म होता है।

क्रोध हलके विष के समान है। क्रोध, मन और बुद्धि को बिगाड़ देता है, रूप को खा जाता है और अपनी आग से जीव को जलाता है।

राग, भय और क्रोध को छोड़ देनेवाला स्थितप्रज्ञ कहलाता है।

राग को सेवा, सत्य और परमेश्वर में लगाने से उसका अन्त होता है। ऋत और सत्य के नियमों का पालन करने से, विकारों से डरते रहने से, धार्मिक और राजनीतिक अनुशासन में रहने से भय का अन्त होता है। जो अपने कर्म पूरे करता है और अधर्म से दूर रहता है उसे भय नहीं होता।

राग और भय के छूट जाने पर क्रोध का अन्त स्वयं होजाता है, जो रहता है वह केवल अन्याय और दुर्व्यवहार पर अनुशासन करने के लिये।

राग, भय और क्रोध का विष निकाल फेंकने के लिये स्थितप्रज्ञ के आचरण का दर्शन इस प्रकार है—

५७

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

यः, सर्वत्र, अनभिस्नेहः, तत्, तत्, प्राप्य, शुभाशुभम्,
न, अभिनन्दति, न, द्वेष्टि, तस्य, प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।

यः=जो पुरुष, सर्वत्र=सर्वत्र, अनभिस्नेहः=स्नेह-रहित है, तत् तत्=उस-उस, शुभाशुभम्=शुभ और अशुभ को, प्राप्य=प्राप्त होकर, न=न, अभिनन्दति=प्रसन्न होता, न=न, द्वेष्टि=द्वेष करता है, तस्य=उसकी, प्रज्ञा=बुद्धि, प्रतिष्ठिता=स्थिर है ।

शुभ या अशुभ जो भी मिले, उसमें न हर्ष न शोक हो ।
निःस्नेह जो सर्वत्र है, थिर-बुद्धि होता है वही ॥

अर्थ—जो पुरुष सर्वत्र स्नेह-रहित है उस उस शुभ और अशुभ को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है ।

व्याख्या—आत्मा से बल प्राप्त करनेवाली इन्द्रियाँ नित्य सन्तुष्ट और अनासक्त रहती हैं । आत्म-निष्ठ पुरुष राग, भय और क्रोध से विचलित नहीं होता । अनासक्त होकर आत्मा में निमग्न रहना; सुख-दुःख में समता को न छोड़ना; राग, भय और क्रोध से विचलित न होना, स्थितप्रज्ञ के लक्षण हैं; इन लक्षणों से युक्त होनेवाले की प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो जाती है ।
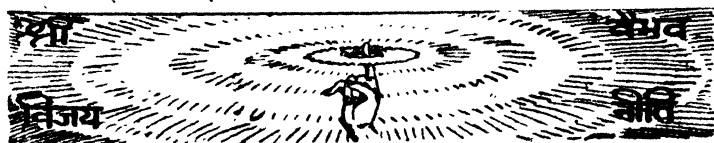
बुद्धि की विकसित अवस्था को 'प्रज्ञा' कहते हैं। प्रज्ञा की प्रतिष्ठा करना अथवा बुद्धि को जागृत, पवित्र, तीव्र और उन्नत बनाकर किसी एक ध्येय पर लगा देना सफलता और समाधि का सर्वोत्तम मार्ग है। प्रतिष्ठित प्रज्ञा में भ्रांति, अशान्ति, भूल, और अज्ञान को स्थान नहीं मिलता।

प्रज्ञा उसकी प्रतिष्ठित होती है—

१—जो सर्वत्र स्नेह-रहित रहता है।

२—जो शुभ प्राप्ति का अभिनन्दन नहीं करता।

३—जो अशुभ प्राप्ति का द्वेष नहीं करता।

१. जो सर्वत्र स्नेह-रहित रहता है—

मनुष्य का स्वभाव स्नेहमय है। प्रत्येक प्राणी में प्रेम और स्नेह का बीज है, यह बीज जब दैवी भूमि पर पड़ता है तो दिव्य कर्मों के अंकुर फूट निकलते हैं; महाभाव की खेती लहराती है और ज्ञान, उपासना, योग आदि के सत्य, शिव और सुन्दर फूल फूलकर अमृत-फल देते हैं।

आसक्ति, प्रेम का मल है, यह सर्वथा त्याज्य है। सर्वत्र स्नेह-रहित होने का अभिप्राय है मोह, ममता और आसक्ति-रहित होना। अपने शरीर, स्थान, स्त्री, पुत्र, बन्धु-बान्धवों में ममता, मोह और आसक्ति रखने से बुद्धि में न्याय, पवित्रता तथा उदारता नहीं रहती। मन जहाँ लिप्त हो जाता है वहाँ से आगे बढ़ने की शक्ति को खो देता है। जो मन को कहीं आसक्त नहीं होने देता, उसीकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

मन कहीं न कहीं लगता अवश्य है। अविवेकी जन उसे सांसारिक प्रपञ्चों में लगा देते हैं और बुद्धिमान् उसे आत्मा,

परमात्मा, सेवा, सत्संग आदि में लगा कर सत्कर्म करते हैं।

गीता के अनुसार उसी की प्रज्ञा जागती है जो असत् भावों और कर्मों में स्नेह न रख कर सत् से नाता जोड़ता है। असत् से सम्बन्ध स्थापित करने का नाम ममता, मोह और आसक्ति है। सत् से सम्बन्ध जोड़ने का नाम प्रेम है। जो सबका मित्र है, सबसे स्नेह करता है, वह किसी में आसक्त नहीं होता और जो किसी में आसक्त हो जाता है वह किसी का मित्र नहीं रहता—किसी से प्रेम नहीं करता। सर्वत्र निःस्नेह होने का अभिप्राय है किसी में आसक्त न होना।

आसक्ति, मोह और राग, बुद्धि को चाट जाते हैं, मनुष्य को कर्म करने योग्य नहीं छोड़ते, कर्त्तव्य के पथ से हटा देते हैं और अपने माया जाल में फँसा कर दास बना लेते हैं।

माता, पिता, बन्धु-बांधव, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि सब से स्नेह और न्याय का व्यवहार करना उचित है। मोहमय व्यवहार से घोर पतन होता है।

प्रेम कभी अन्याय नहीं होने देता। सहयोगी बनाता है, पवित्र और निःस्वार्थ भावों की वृद्धि करता है, त्याग और सेवा का पाठ पढ़ाता है, संकट में धैर्य धराता है और कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा देता है।

देह, गेह, धन, स्त्री, पुत्र, परिवार और संसार से विरक्त होकर उन्हें त्याग देने में जीवन की सफलता नहीं है—सफलता है सर्वत्र आसक्ति-रहित होकर व्यवहार करने में।

२. जो शुभ प्राप्ति का अभिनन्दन नहीं करता—

विचारशील व्यर्थ के चिन्तन में समय नहीं खोता। वह जानता है कि संसार में सदा शुभ ही शुभ नहीं मिलता। यद्यपि
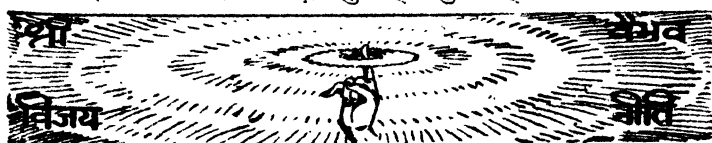
अच्छा सबको अच्छा लगता है परन्तु अच्छे का अभिनन्दन करने में समय, शक्ति और धन नष्ट करने से अहंकार और प्रमाद बढ़ता है।

सुख का अभिनन्दन करनेवाले को दुःख देखना पड़ता है। संसार में सदा सब दिन समान नहीं होते। सुख और दुःख साथ-साथ चलते हैं। जो सुख को बहुत नहीं मानता उस पर दुःख का भी प्रभाव नहीं पड़ता। सुख चाहनेवाले को दुःखी होना पड़ता है; दुःख सहन करनेवाला सदा सुखी रहता है।

सुख में फूल जाने और हर्ष मनाने से सुख छीजता है। सुख और सम्पन्नता को पचा लेने से बुद्धि में समता रहती है।

३. जो अशुभ प्राप्ति का द्वेष नहीं करता—

दुःख न हो तो सुख का मूल्य ही क्या? प्रायः अशुभ मिलने पर बुरा लगता है और उससे द्वेष हो जाता है। अशुभ को कोई नहीं चाहता, फिर भी द्वेष करने से वह पीछा नहीं छोड़ता। जो कुछ मिलता है वह अच्छा लगे या न लगे, भोगना अवश्य पड़ता है। द्वेष-बुद्धि से अपनी ही शक्ति का पतन होता है।

दुःखों को सहन करना ही सच्चा सुख है। निराशा, आलस्य और द्वेष को छोड़कर कर्म करने से बुद्धि की दृढ़ता मिलती है।

जो शुभ में अपने स्वरूप और कर्त्तव्य को नहीं भूलता उसे अशुभ मिलता ही नहीं और जो अशुभ में व्याकुल तथा पथ-भ्रष्ट नहीं होता उसे शीघ्र ही सुख मिलता है।

जो यह चाहता है कि अशुभ का मुंह न देखना पड़े उसे सदा द्वेष-रहित होकर शुभ देखना, सुनना और बोलना चाहिये।

द्वेष-रहित और सम रहने के लिये स्थितप्रज्ञ अपने रहन-सहन पर विशेष संयम रखता है—

६८

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

यदा, संहरते, च अयम्, कूर्मः, अङ्गानि, इव, सर्वशः,
इन्द्रियाणि, इन्द्रियार्थेभ्यः, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता।

च=और, अयम्=यह पुरुष, यदा=जब सर्वशः=सब ओर से, इन्द्रियाणि=इन्द्रियों को, इन्द्रियार्थेभ्यः=इन्द्रियों के विषयों से, संहरते=समेट लेता है, इव=जैसे, कूर्मः=कछुआ, अङ्गानि=अङ्गों को (तब), तस्य=उसकी, प्रज्ञा=बुद्धि, प्रतिष्ठिता=स्थिर होती है।

हे पार्थ ! ज्यों कछुआ समेटे अङ्ग चारों ओर से।
थिर-बुद्धि जब यों इन्द्रियां सिमटें विषय की ओर से॥

अर्थ—और यह पुरुष जब सब ओर से इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है, जैसे कछुआ अंगों को, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

व्याख्या—संयम सम्पूर्ण साधनाओं का आधार है। शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास के लिये सबसे पहले संयम की आवश्यकता है। संयम दो प्रकार से हो सकता है—

१—नियमित जीवन बनाकर,

२—निग्रह द्वारा।

१. नियमित जीवन बनाकर—

किसी योजना अथवा रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा जीवन को नियमित बना लेना सरल योग है। बिना किसी योजना के अनियमित रहकर कर्म करने से जीवन व्यवस्थित नहीं रहता और समय तथा शक्ति का व्यर्थ विनाश होता है।

व्रतों और नियमों में बँधा हुआ जीवन सदा सधा रहता है। नियम से साधना, आराधना और धर्माचरण की कठिनाइयाँ सरल हो जाती हैं।

नियम से रहनेवाले को इन्द्रियों, मन और बुद्धि के साथ जबर्दस्ती नहीं करनी पड़ती। स्वभाव से ही उनके कर्म सत्य, शिव एवं सुन्दर बन जाते हैं और बुद्धि की प्रतिष्ठा हो जाती है।

नियम से जो अभ्यास बनता है उसका टूटना कठिन है। नियम में रहनेवाले का मन कुपथ पर पैर नहीं धरता—श्रीराम की भांति उसे अपने मन पर संयम और विश्वास होता है—

"रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ।
मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥"

सन्त ज्ञानेश्वर बड़े विश्वास से कहा करते थे—

"मेरी इन्द्रियों का स्वभाव ही ऐसा होगया है कि जो न देखना चाहिये उसकी तरफ आँख ही नहीं जाती, जो सुनने योग्य नहीं है उसे कान सुनते ही नहीं।"

ऐसे स्वभाव का उदाहरण कछुआ है। जहाँ भय अथवा आशंका जान पड़ती है वहाँ कछुआ बिना प्रयास सहज भाव से अपने अङ्गों को समेट लेता है।

२. निग्रह द्वारा संयम—

निग्रह उस समय करना पड़ता है जब नियम में न रहने के कारण मन, बुद्धि और इन्द्रियों की प्रवृत्ति मनुष्य-स्वभाव के विरुद्ध कर्मों में होती है।

कभी-कभी निग्रह सफल हो जाता है और कभी निग्रह से कुछ नहीं होता। जीवन को नियमित बनाने के लिये किये गये निग्रह से सफलता मिलती है। किसी हठ, मिथ्याचार अथवा अज्ञान से किया गया निग्रह व्यर्थ है। निग्रह कभी-कभी हो सकता है; नियमित जीवन किसी भी समय बनाया जा सकता है।

जिस प्रकार भी हो, मनुष्य को कछुए की भांति इन्द्रियों को विषयों की ओर से सिकोड़ लेना चाहिये।

मन बुद्धि इन्द्रियां साधे जो नित्य कर्म करते हैं।
सुख मान बुद्धि वैभव से उनके जीवन भरते हैं॥

इन्द्रियों को कुटिल, चंचल, हठी, चिड़चिड़ा, नखरेला, असहिष्णु होने की कुटेव डालने से संयम किसी प्रकार नहीं हो सकता। इन्द्रियों को वश में करलेने से प्रज्ञा जाग जाती है और कर्म-समाधि सरलता से लग जाती है। इन्द्रियों पर विजय पाये बिना कोई शक्ति नहीं मिलती—

सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत आत्म-संयम है।
संयम में जीवन के विकास का क्रम है॥

मन, बुद्धि और इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर आत्मा की ओर लाने के रचनात्मक साधनों का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—
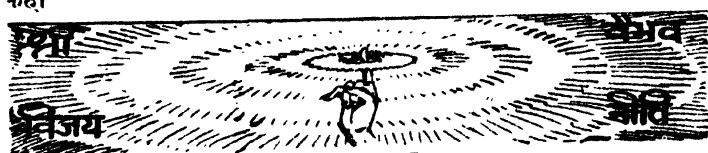
५९

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

विषयाः, विनिवर्तन्ते, निराहारस्य, देहिनः,
रसवर्जम्, रसः, अपि, अस्य, परम्, दृष्ट्वा, निवर्तते ।

निराहारस्य=निराहारी देहिनः=पुरुष के, विषयाः=विषय, विनिवर्तन्ते=छूट जाते हैं, रसवर्जम्=रस नहीं (छूटता), अस्य=इसका, रसः=रस, अपि=भी, परम्=परमात्मा का, दृष्ट्वा=साक्षात्कार करके, निवर्तते=निवृत्त हो जाता है ।

होते विषय सब दूर हैं आहार जब जन त्यागता ।
रस किन्तु रहता, ब्रह्म को कर प्राप्त वह भी भागता ॥

अर्थ—निराहारी पुरुष के विषय छूट जाते हैं—रस नहीं छूटता इसका रस भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाता है ।

व्याख्या—विषय-वासनाओं की ओर से मन और इन्द्रियों को हटाते ही अन्तःकरण का प्रकाश अथवा आत्म-ज्योति प्रकट हो जाती है । उस समय आत्मा का भव्य दर्शन मिलता है, अन्तः शब्द सुन पड़ता है और अनन्त आनन्द का अनुभव होता है । ऐसी अवस्था में बुद्धि स्थिर रहती है ।

विषयों की ओर से इन्द्रियों को हटाने के लिये स्थितप्रज्ञ आहार को छोड़ देता है ।

निराहारी के विषय छूट जाते हैं—

आहार छोड़देने का साधारण अर्थ—रसना का आहार छोड़देना अथवा भोजन त्याग देना किया जाता है। भोजन छोड़देने से रसना पर सम्भवतः संयम होजाय, परन्तु विषयों की रुचि मूलतः नहीं जाती। सदा के लिये भोजन छूटता भी नहीं; संसार की यात्रा पूर्ण करने और जीवन-निर्वाह के लिये शरीर को भोजन देना अत्यन्त आवश्यक है—

'अन्नाद् भवन्ति भूतानि।'

सारे प्राणी अन्न से हैं, अन्न जीवन का आधार है। सदा के लिये निराहारी होना सम्भव नहीं है। अतः निराहार का व्यापक अर्थ है—इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों का आहार न देना। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँचों विषयों में से जिस इन्द्रिय का जो विषय है, वही उसका आहार है।

इन्द्रियों को विषयों की ओर से सम्पूर्णतः हटालेना भी सम्भव नहीं है। कान सुनना नहीं छोड़ते, त्वचा स्पर्श नहीं छोड़ती, आँख देखना नहीं छोड़ती, जिह्वा रस नहीं छोड़ती और नासिका गन्ध लेना नहीं छोड़ती।

अतः इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से दूर हटाने का अभिप्राय है—भोगों को विशुद्ध करके भोगना। मित भाषण, सत्य और सधी हुई बोल-चाल के लिये मौन, स्पर्श का मोह त्यागने के लिये वयोवृद्धों के चरण-स्पर्श, रूप की ज्वाला से बचने के लिये सब में परमेश्वर का दर्शन, रस का विषय छोड़ने के लिये नियमित नपा तुला सात्त्विक भोजन और गन्ध के मोह से छूटने के लिये दिव्य-गन्धों का सेवन, मनुष्य को धीरे-धीरे निराहार की अवस्था में ले आता है।
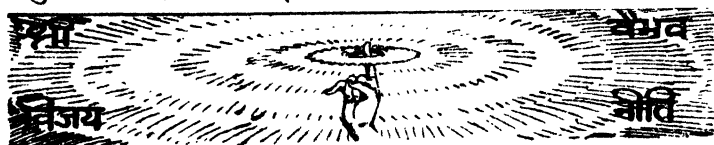
भूखे न रहो, पर स्वाद के लिये राल न टपकाओ। सात्त्विक भोजन पेट भरने के लिये करना उचित है, परन्तु भांति-भांति के राजसी और तामसी भोजनों में आसक्ति सर्वथा अनुचित है। जीवित रहने और शरीर को शक्तिशाली रखने के लिये विषयों का आवश्यकतानुसार धर्मानुकूल सेवन करने से संयम दृढ़ होजाता है। संयम करते-करते भी आसक्ति रह जाती है।

परमात्मा के साक्षात्कार से आसक्ति भी छूट जाती है—

परमेश्वर सुख रूप है, उससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है, परमेश्वर का भाव और प्रभाव जन्म और कर्मों को दिव्य बना देता है। परमेश्वर का वास्तविक ज्ञान जब कर्मों में प्रकट होने लगता है तभी उसका साक्षात्कार होता है।

सन्त कवियों ने परमेश्वर को सामने रखकर बड़ी ऊँची कल्पना की है—

जहँ जहँ जाऊँ सोई परकम्मा,
जोइ जोइ करूं सो पूजा।
सहज समाधि सदा उर राखूं,
भाव मिटादूँ दूजा॥

इतना होने पर ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, ब्रह्म-दर्शन सतत अभ्यास और सद्भावना का फल है। निर्विकार और अनासक्त प्राणी, अपने आत्मा को ही परमात्मा जान लेता है और प्रार्थना करते हुए एक ही हृदय की बात कहता है—

तुम हो मेरे आत्मा भगवन्!
मेरे प्राण तुम्हारे सहचर, यह तन मेरा तेरा है घर।
मेरी नींद समाधि तुम्हारी, मेरे भोग तुम्हारा पूजन॥

तुम हो मेरे आत्मा भगवन् !
मेरी चाल तुम्हारी फेरी, मेरी वाणी स्तुति है तेरी।
प्रियतम जो भी मैं करता हूँ, वह सब है तेरा आराधन ॥
तुम हो मेरे आत्मा भगवन् !

इन्द्रियों को स्वधर्माचरण अथवा कर्त्तव्य-पालन में लगाए रखना, किसी भी समय आलस्य और प्रमाद में न पड़ना, अशुभ न विचारना, विकारी कर्म न करना, असत और दुरितों से दूर रहना और प्रत्येक कर्म से विश्वरूप परमेश्वर की सेवा करना परम तत्त्व के साक्षात्कार का साधन है।

इस महाभाव के आने पर अन्तःकरण के किसी भी कोने में छुपी हुई वासना निकल जाती है। परमेश्वर को पा जाना इतना कठिन नहीं है जितना परमेश्वर की ओर चलना। भक्त, योगी, ज्ञानी और तपस्वीजनों का अनुभव है कि परमेश्वर का नाम लेकर उसकी ओर मुख करने मात्र से जीव सब दुःखों से छूट जाता है क्योंकि उसे एक रास्ता मिल जाता है जो अन्तिम ध्येय तक पहुँचानेवाला है।

महर्षि नारद की वीणा के पवित्र स्वरों की झंकार आज भी सुन पड़ती है—

ईहायस्य हरेर्दास्ये. कर्मणा मनसा गिरा।
निखिला स्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

जो मन, वचन और कर्म से परम पुरुष परमेश्वर की सेवा करने की इच्छा करता है वह सदा जीवन्मुक्त है।

परमेश्वर का साक्षात्कार किये बिना विषयों का रस नहीं सूखता। मनुष्य का शरीर देवताओं के रहने का पवित्र मन्दिर है, यहाँ श्रीकृष्ण का गोकुल, वृन्दावन और श्रीराम की अयोध्या नगरी है। इन्द्रियां

जब विषयों से हटकर अभ्यास करते-करते अन्तर्मुखी हो जाती हैं तब शरीर में स्थित देवताओं का दर्शन होता है; उनके सत्संग में बैठने का अवसर मिलता है; उनकी प्रेरणा से कर्म करने की रुचि जागती है; उनके दिये हुए प्रकाश पर चलने से निर्भयता, आशा, आश्वासन और दृढ़ता मिलती है और उनकी सहायता से जीवन सत्य, पवित्र तथा सेवामय बन जाता है।

परमेश्वर की कृपा के बिना सुख और मुक्ति की कल्पना स्वप्न में पाए हुए राज्य को भोगने के समान है।

सत्य और सेवा से प्रसन्न होकर परमेश्वर जिसे अपने जानने का ज्ञान देता है वही उसे जान पाता है। जो परमेश्वर को जान लेता है वह उसका स्वरूप बन जाता है।

परमेश्वर का दर्शन परम दृष्टि से होता है, विकारी आँखों से परमेश्वर नहीं दिखता। परमेश्वर सत्यरूप है, सत्यशील ही उसे देखने के योग्य होता है। सत्य के सन्मुख इन्द्रियां सिर झुका देती हैं और मनुष्य को इन्द्रियों की ओट में खड़े परमात्मा का दर्शन मिल जाता है।

इन्द्रियों से दबे हुए मन पर ज्ञान और संयम का प्रभाव नहीं पड़ता। अतः गीता संयम करते हुए परमेश्वर की सहायता लेने का आदेश देती है। वृत्तियां जब ब्रह्ममय हो जाती हैं तभी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।

विषयों के रस को सुखा देना अथवा परमेश्वर का दर्शन कर लेना इसलिये कठिन है कि इन्द्रियां बड़ी बलवान हैं। इन्द्रियों के बल का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण ने मनुष्य को सावधान किया है—

६०

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥

यततः, हि, अपि, कौन्तेय, पुरुषस्य, विपश्चितः,
इन्द्रियाणि, प्रमाथीनि, हरन्ति, प्रसभम्, मनः, ।

कौन्तेय = हे कौन्तेय, यततः = यत्न में लगे हुए, विपश्चितः = बुद्धिमान्, पुरुषस्य = पुरुष के, मनः = मन को, अपि = भी, हि = निश्चय ही, प्रमाथीनि = प्रमथन करनेवाली, इन्द्रियाणि = इन्द्रियां, प्रसभम् = बलात्, हरन्ति = हर लेती हैं ।

कौन्तेय ! करते यत्न इन्द्रिय-दमन हित विद्वान् हैं ।
मन किन्तु बल से खेंच लेती इन्द्रियां बलवान् हैं ॥

अर्थ—हे कौन्तेय ! यत्न में लगे हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी निश्चय ही प्रमथन करनेवाली इन्द्रियां बलात् हर लेती हैं ।

व्याख्या—मनुष्य के पास दो महान शक्तियां हैं—बुद्धि और प्रयत्न। बुद्धि द्वारा निग्रह और साधनों के मार्ग मिलते हैं । प्रयत्न इन मार्गों पर चलने की शक्ति देता है। बुद्धि और प्रयत्न दोनों के योग से जीवन का विकास होता है। केवल बुद्धि अथवा अकेला प्रयत्न सफलता तक नहीं पहुँचाता ।

बुद्धि और प्रयत्न दोनों के मिलने पर भी पूर्णता कठिनाई से प्राप्त होती है क्योंकि—

१—इन्द्रियां बलात् मन को हर लेती हैं।

२—इन्द्रियां प्रबल हैं।

१. इन्द्रियाँ बलात् मन को हर लेती हैं—

इन्द्रियों पर संयम न रखने में दुःख और संयम रखने में सुख है, इस सत्य को जानते हुए भी मनुष्य इन्द्रियों के आधीन रहता है। विषयों को भोगनेवाली इन्द्रियां मन को अपनी ओर खींच लेती हैं, मन के हारते ही मनुष्य लाचार होकर वासनाओं के बन्धन में बँध जाता है। थोड़ी-सी भी असावधानी होते ही इन्द्रियाँ मन को खींचकर पुरुष को पछाड़ देती हैं।

२. इन्द्रियाँ प्रबल हैं—

जैसे उद्दण्ड घोड़े सारथी को घसीट कर गिरा देते हैं उसी प्रकार वश में न रहनेवाली इन्द्रियाँ मनुष्य का विनाश कर देती हैं—

अविधेयानि हीमानि व्यापादयितुमप्यलम्।
अविधेया इवाऽदान्ता हयाः पथि कुसारथिम्॥

(महा० उद्यो० १२६।२७)

इन्द्रियों के बल को जानकर जो उन्हें श्रेष्ठ कर्मों में लगा देता है वही उत्तम पुरुष है। इन्द्रियाँ जिस कर्म में लग जाती हैं वह अधूरा नहीं रहता। इन्द्रियों का संयम होते ही बुद्धि इस प्रकार उठती है जैसे रात्रि का अन्त होते ही सूर्य।

इन्द्रियों का दास सबका दास बन कर रहता है और इन्द्रियों का स्वामी जगत् का स्वामी बन जाता है। महाबलशाली इन्द्रियों को वश में रखने के लिये बुद्धि और प्रयत्न के साथ-साथ परमेश्वर की सहायता प्राप्त करनी अनिवार्य है।

६१

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

तानि, सर्वाणि, संयम्य, युक्तः, आसीत, मत्परः,
वशे, हि, यस्य, इन्द्रियाणि, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता।

तानि = उन, सर्वाणि = सब (इन्द्रियों) को, संयम्य = वश में करके, युक्तः = योग युक्त हुआ, मत्परः = मेरे परायण होकर, आसीत = बैठे, हि = क्योंकि, इन्द्रियाणि = इन्द्रियाँ, यस्य = जिस पुरुष के, वशे = वश में होती हैं, तस्य = उसी की, प्रज्ञा = बुद्धि, प्रतिष्ठिता = स्थिर होती है।

उन इन्द्रियों को रोक, बैठे योग-युत मत्पर हुआ।
आधीन जिसके इन्द्रियाँ, दृढ़-प्रज्ञ वह नित नर हुआ ॥

अर्थ—उन सब इन्द्रियों को वश में करके योग युक्त हुआ मेरे परायण होकर बैठे क्योंकि इन्द्रियाँ जिस पुरुष के वश में होती हैं उसी की बुद्धि स्थिर होती है।

व्याख्या—संसार में सभी प्राणी रहते और जीते हैं; परन्तु रहना और जीना उन्हीं का सार्थक है जो कुछ कर जाते हैं। कुछ करने में सहायता देनेवाली इन्द्रियाँ हैं। पवित्र ध्येय की पूर्ति के लिये इन्द्रियों से कर्म करानेवाले का जीवन कृतकृत्य हो जाता है। इन्द्रिय-सुखों के लिये इन्द्रियों के पीछे-पीछे चलनेवाला कहीं का नहीं रहता।

श्री वैभव विजय नीति

इन्द्रियों को वश में रखनेवाले की प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो जाती है। समाधि में स्थित होने के लिये अथवा बुद्धि को स्थिर करने के लिये—

१—सब इन्द्रियों का संयम करना चाहिये।

२—युक्त होना चाहिये।

३—भगवत्परायण होकर बैठना चाहिये।

१. सब इन्द्रियों का संयम करना चाहिये—

जो इन्द्रियाँ संयम में न रह कर दूर-दूर भागती हैं, शुभ कर्मों में साथ न देकर बाधा डालती हैं, उन सबको संयम में लाना चाहिये। धारणा, ध्यान और समाधि तीनों के योग-फल का नाम संयम है (योग दर्शन)। जैसी धारणा होती है वैसा ही ध्यान लग जाता है। जितना ध्यान होता है उतनी कर्म में तल्लीनता आती है। कर्म में तल्लीन हो जाने का नाम समाधि है। समाधि-अवस्था में संयम स्वयं होजाता है।

संयम में कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों का योग होता है। कर्म मे तत्परता, भक्ति से प्रेम तथा तल्लीनता और ज्ञान से विधि मिलती है।

नियम और निरोध दोनों से संयम होता है। नियमपूर्वक कर्म होने से समय का सदुपयोग हो जाता है और विषयों को मन में प्रवेश करने का अवसर नहीं मिलता। निरोध से इन्द्रियां वश में रहती हैं।

२. युक्त होना चाहिये—

युक्त का अर्थ है—परिपूर्ण होना; युक्ति पूर्वक कर्म करना।

लोकमान्य तिलक के अनुसार युक्त का अर्थ है—'योग से तैयार या बना हुआ।' युक्त शब्द का अर्थ नियमित भी है। सम-बुद्धि से सुख-दुःखों को शान्ति पूर्वक सहन करते हुए कुशलता से व्यवहार करनेवाले विवेकी पुरुष को भी युक्त कहते हैं।

नित्य परमेश्वर में टिका रहनेवाला भी युक्त कहलाता है। जो प्रत्येक समय सावधान तथा कर्म-तत्पर रहता है उसे भी युक्त कहते हैं।

संयमी और युक्त होने के लिये इन्द्रियों को सब ओर से हटाना और मन को कुमार्ग पर न जाने देना एक निषेधात्मक साधन है। केवल निषेध एकांगी है। निषेध के साथ विधेय हुए बिना पूर्णता नहीं मिलती। अतः मन और इन्द्रियों को संयम में लाकर उन्हें परमेश्वर में लगा देना विधायक साधना है।

३. भगवत्परायण होकर बैठना चाहिये—

जब मनुष्य अपना पूरा बल लगा कर भी मन और इन्द्रियों का संयम नहीं कर पाता, तब उसे अपने से बड़ी एक परम शक्ति की सहायता लेनी पड़ती है। सबसे परे परमेश्वर है, उसे बड़ा मान कर उसमें लीन हो जाने का नाम तत्परायण होना है।

इन्द्रियों को कहाँ बाँधा जाय? निग्रह करके मन को कहां लगाया जाय? युक्त होकर किसके सहारे बैठा जाय? इन प्रश्नों का श्रीकृष्ण ने एक ही उत्तर दिया—'मेरे परायण होकर बैठो।'

'मत्पर' शब्द से गीता के भक्ति योग का प्रारम्भ होता है। परमेश्वर की सहायता मिलने पर ही नियम, निरोध और संयम सफल होते हैं।

'मत्पर' कह कर श्रीकृष्ण ने अपने साकार रूप में परायण होने का आदेश दिया है—ऐसा कुछ विद्वानों का कथन है। परन्तु गीता में श्रीकृष्ण गुरुभाव, आत्मभाव और ब्रह्मभाव से बोलते हैं। अतः 'मत्पर' का अर्थ—आत्म-परायण अथवा ब्रह्म-परायण होना है।

निराकार और साकार दोनों प्रकार की उपासनाओं का ध्येय एक ही ब्रह्म से मिलाना है। वृत्ति को ब्रह्ममय बनाने से उपासना पूर्ण होती है। अतः साकार या निराकार जिस उपासना से विरोधी चिन्तन
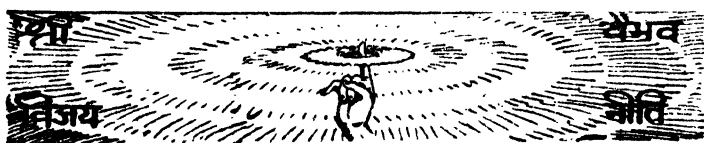
और विकार दब जाएँ उसीमें मनुष्य को बिना किसी पक्ष, हठ या वाद-विवाद के लग जाना चाहिये।

भक्ति के बिना पुरुषार्थ सार्थक नहीं होता। पुरुषार्थ के पीछे काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि अनेकों शत्रु लगे रहते हैं। विरोधी गुणों के दमन करने की शक्ति, भक्ति से मिलती है। जैसी और जितनी भक्ति होती है वैसी और उतनी ही शक्ति मिलती है।

परमेश्वर और प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी को बुद्धि और शक्ति दी है। मनुष्य में परमेश्वर की ही शक्ति है अतः अहंकार छोड़कर प्रत्येक कर्म में अपनी शक्ति को लगा देना चाहिये। जब वह शक्ति पूरी न पड़े तो परमेश्वर से और शक्ति ले लेनी चाहिये। लेनेवाले को परमेश्वर अवश्य देता है परन्तु अपने पास की शक्ति लगाए बिना जो परमेश्वर से माँगता है उसे कुछ नहीं मिलता।

जो अपनी शक्ति का अहंकार करता है उसे भी विजय नहीं मिलती और जो अपने बल को काम में न लाकर परमेश्वर से सहायता माँगता है उसे भी विजय नहीं मिलती। जो अपने धन, बल, विद्या और सम्पूर्ण गुणों को ईश्वरीय देन मानकर उनसे कर्म करता है और अपनी सारी शक्ति लगा देने पर थक कर परमेश्वर को पुकारता है उसे परमेश्वर का महाबल मिलता है।

प्रयत्न और परमेश्वर की सहायता से इन्द्रियां वश में हो जाती हैं, इन्द्रियों को वश में करनेवाले की प्रज्ञा जाग जाती है—

स्थितप्रज्ञ होने का यह निश्चित, निष्कण्टक और पवित्र मार्ग है। इस मार्ग पर कहीं दुःख, निराशा और विनाश नहीं है। परमेश्वर की ओर चलनेवाला सदा सुखी रहता है, विषयों की ओर जानेवाला नष्टभ्रष्ट हो जाता है—

६२

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

ध्यायतः, विषयान्, पुंसः, सङ्गः, तेषु, उपजायते, सङ्गात्, संजायते, कामः, कामात्, क्रोधः, अभिजायते ।

विषयान् = विषयों को, ध्यायतः = चिन्तन करनेवाले, पुंसः = पुरुष की, सङ्गः = आसक्ति, तेषु = उन विषयों में, उपजायते = हो जाती है, सङ्गात् = आसक्ति से, कामः = कामना, संजायते = उत्पन्न होती है, कामात् = कामना से, क्रोधः=क्रोध, अभिजायते=उत्पन्न होता है ।

चिन्तन विषय का सङ्ग विषयों में बढ़ाता है तभी ।
फिर संग से हो कामना, हो कामना से क्रोध भी ॥

अर्थ—विषयों का चिन्तन करनेवाले पुरुष की आसक्ति उन विषयों में हो जाती है । आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है, कामना से क्रोध उत्पन्न होता है ।

व्याख्या—जिनका चित्त परमात्मा के भाव में नहीं ठहरता और मन उसमें निमग्न नहीं होता, उन्हें साँसारिक विषय अपनी ओर खींच लेते हैं । मनुष्य के चारों ओर विषयों की अनन्त लहरें उठती हैं । उनमें घिरा हुआ मनुष्य जगत् में और कुछ नहीं देख पाता; वह विषयों का चिन्तन करता है, परिणाम स्वरूप—

१—विषयों के चिन्तन से संग उत्पन्न होता है।

२—संग से काम उपजता है।

३—काम से क्रोध उत्पन्न होता है।

१—विषयों के चिन्तन से संग उत्पन्न होता है—

संग अपना प्रभाव डालता है। सत्संग का प्रभाव अच्छा पड़ता है और कुसंग विषयों के गर्त्त में गिरा देता है। जो नियम और संयम द्वारा इन्द्रियों का निरोध नहीं कर पाते, जिनकी इन्द्रियां आत्मा, परमात्मा और परमार्थ-तत्त्व को छोड़कर विषयों की ओर दौड़ती हैं उन्हें विषयों में रमण करने का अभ्यास पड़ जाता है। उनका मन सत्संग, भजन, पूजन करते-करते भी विषयों में उलझा रहता है। संग-दोष के कारण उनका स्वभाव रागमय बन जाता है।

मनुष्य जिसका चिन्तन करता है उसका मन उसी में लगता है। आत्मा, परमात्मा, सत्य, सेवा, परमार्थ आदि का चिन्तन करनेवाले पवित्र तथा उच्च स्थिति में रहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की ओर जिनका ध्यान बार-बार जाता है, वे उनमें आसक्त होकर उन्हीं में रचे-पचे रहते हैं।

२. संग से काम उपजता है—

विषयों के चिन्तन से संग और संग से काम उत्पन्न होता है। ध्यान के पवित्र होने से संग-दोष नहीं लगते। संग का दोष एक बार लग जाने पर बड़ी कठिनाई से पीछा छोड़ता है।

चिन्तन, मनुष्य को विषयों का परिचय करा देता है। परिचय होने से उन्हें प्राप्त करने की कामना बलवती होती है। मनुष्य का स्वभाव कामना-प्रिय है। वह जिसमें सुन्दरता, रस और मनोरञ्जन देखता है उसीमें आसक्त हो जाता है और उसे पाने की कामना करता है।

३. काम से क्रोध उत्पन्न होता है—

काम के कारण मनुष्य अपने ही मन की सुनना और करना चाहता है। सम्पूर्ण जगत् को—पदार्थों, विषयों और परिस्थितियों को वह अपने अनुकूल बनाना चाहता है। ऐसा करने में प्रायः असफलता हाथ लगती है और नहुष की भाँति विजयी मनुष्य भी काम के फेर में पड़ कर स्वर्ग-सौभाग्य से नीचे गिर जाता है।

कामना की पूर्ति के लिये आसक्त पुरुष आँखें बन्द करके चलता है। विषयों के पीछे दौड़ना उसके मन का स्वभाव बन जाता है। इस दौड़ में बाधा पड़ने पर, हारने या थक जाने पर क्रोध भड़क उठता है। अपनी ही असमर्थता के कारण स्वभाव में चिड़चिड़ापन और उत्तेजना आ जाती है। मन की सम्पूर्ण इच्छायें कभी पूरी नहीं होतीं, एक के पीछे दूसरी कामना अवश्य उठती है। एक कामना पूरी हो जाने पर नयी कामना उत्पन्न होती है और अधूरी रहने पर क्रोध भड़क उठता है। इच्छा पूरी न होने पर कामना-प्रिय मनुष्य, छोटी-छोटी-सी बातों पर भी क्रोध करने लगता है।

आसक्त पुरुष क्रोध के समय बड़े-छोटे किसी को नहीं देखता; वह स्वयं जलता है और दूसरों को जलाता है।

तेज, स्वास्थ्य, कान्ति, बल और आयु को खानेवाला क्रोध है। क्रोधी के रक्त में उबाल आता रहता है, उसके जीवन तत्त्व ओज और रेत में बल नहीं रहता। सद्बुद्धि क्रोधी का साथ छोड़ देती है।

क्रोध नरक का द्वार है। क्रोधी मनुष्य से कोई प्रसन्न नहीं होता। क्रोध से उठी हुई उत्तेजना रग-रग में डंक मार कर अपना विष फैला देती है, मनुष्य को उन्मत्त कर देती है और धीरे-धीरे जलाकर सुखा देती है। क्रोधी मनुष्य मोह में घिर जाता है—

६३

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

क्रोधात्, भवति, संमोहः, संमोहात्, स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात्, बुद्धिनाशः, बुद्धिनाशात्, प्रणश्यति ॥

क्रोधात्=क्रोध से, संमोहः=मोह, भवति=होता है, संमोहात=मोह से, स्मृतिविभ्रमः=स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृतिभ्रंशात=स्मृति के भ्रमित हो जाने से, बुद्धिनाशः=बुद्धि का नाश होता है, बुद्धिनाशात=बुद्धि का नाश होने से (प्राणी), प्रणश्यति=नष्ट हो जाता है।

फिर क्रोध से है मोह, सुधि को मोह करता भ्रष्ट है।
यह सुधि गए फिर बुद्धि विनशे, बुद्धि-विनशे नष्ट है ॥

अर्थ—क्रोध से मोह होता है। मोह से स्मृति में भ्रम हो जाता है; स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि का नाश होने से प्राणी नष्ट हो जाता है।

व्याख्या—प्रकृति और परमेश्वर ने पुरुष को सुन्दर, निपुण, बुद्धिमान् और बलवान् बनाया है। आसक्ति-अनासक्ति, क्रोध-क्षमा, सुबुद्धि-कुबुद्धि, भला-बुरा आदि सब कुछ परमेश्वर की सृष्टि में है। प्राणी अपनी रुचि के अनुसार जो चाहता है ग्रहण कर लेता है।

बुराई की ओर जानेवाला अपने हाथों से अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारकर परमेश्वर की देन को नष्ट करता है—

१—क्रोध से मोह होता है।

२—मोह से स्मृति में भ्रम हो जाता है।

३—स्मृति के भ्रम से बुद्धि का नाश होता है।

४—बुद्धि का विनाश हो जाने से सर्वस्व नष्ट हो जाता है।

१. क्रोध से मोह होता है—

क्रोध में विवेक नहीं रहता और एक प्रकार का संमोह हो जाता है। संमोह में पड़ा हुआ मनुष्य भ्रान्त, भूला हुआ, संसार में खोया हुआ और मोह-ममता में डूबा रहता है।

मोह के कारण क्रोधी पुरुष को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। मोह, मन को मूढ़ बना देता है। मोह से समता नष्ट हो जाती है और बुद्धि ठिकाने नहीं रहती।

२. मोह से स्मृति में भ्रम हो जाता है—

मनुष्य कौन है? कहाँ से आया है? क्यों आया है? उसे क्या करना है? इन प्रश्नों का उत्तर न जानने पर स्मृति में भ्रम हुआ समझना चाहिये। स्मृति का सम्बन्ध विवेक से है। जो उचित है उसको याद रखना और जो अनुचित है उसे भूल जाना तथा आत्मा और परमात्मा का स्मरण रखना, विशुद्ध स्मृति का कार्य है।

स्मृति पुरुष को प्रतिभा देती है। स्मृति में भ्रम हो जाने से मनुष्य निस्तेज और जड़ के समान हो जाता है।

स्मृति भ्रष्ट हो जाने से विवेक साथ नहीं देता, परमेश्वर का विस्मरण हो जाता है और मनुष्य अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाता है—वह पूर्णता की ओर चलने योग्य नहीं रहता।

३. स्मृति के भ्रम से बुद्धि का नाश होता है—

बुद्धि के विनाश का अभिप्राय है—ज्ञान-शक्ति का घोर पतन।
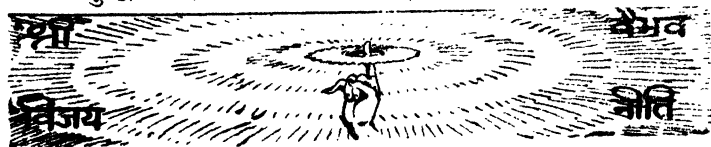
आत्मा और परमात्मा का ज्ञान करानेवाली बुद्धि होती है। बुद्धि मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। सर्वतोमुखी बुद्धि परमेश्वर की सबसे बड़ी देन है। बुद्धि को काम, क्रोध और मोह में लगा देने से वह नष्ट हो जाती है।

स्मरण-शक्ति के नष्ट हो जाने से बुद्धि का बल दब जाता है।

४—बुद्धि का विनाश हो जाने से सर्वस्व नष्ट हो जाता है—

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नरेषु कृतबुद्धयः॥ (महाभारत)

पंच महाभूतों से बनी हुई वस्तुओं में प्राणी श्रेष्ठ हैं। प्राणियों में बुद्धिजीवी उत्तम हैं, बुद्धि से काम करनेवालों में मनुष्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों में भी वे श्रेष्ठ हैं जिनकी बुद्धि जागृत है और जो उसका सदुपयोग करते हैं।

जिसके पास बुद्धि नहीं उसे सब प्रकार दीन और हीन जानना चाहिये। जगत में सर्वत्र बुद्धि का खेल है। बुद्धि के बल से मनुष्य, लोक और परलोक दोनों को सुधार लेता है। बुद्धि के बिना कर्म अधूरा और निष्प्रयोजन रहता है। बुद्धि, जीवन की ज्योति है। जिसमें यह ज्योति नहीं है उसके लिये चारों ओर अंधेरा है। बुद्धि का विनाश हो जाने से जीवन अंधेरे में खो जाता है, कहीं कुछ नहीं सूझता और सर्वस्व नष्ट हो जाता है।

विषयों का ध्यान, संग-दोष, कामना, क्रोध, मोह, स्मृति-भ्रम और बुद्धिनाश ये क्रमशः विनाश मार्ग । आठवें अध्याय में इसी मार्ग को दक्षिणायन मार्ग कहा है। इस मार्ग में न सुख है और न मुक्ति।

दूसरा उत्तरायन का मार्ग है, जिसमें नित्य प्रसन्नता और मुक्ति मिलती है। उसकी ओर ले जाने के लिये श्रीकृष्ण ने कहा—

६४

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥

रागद्वेषवियुक्तैः, तु, विषयान्, इन्द्रियैः, चरन्,
आत्मवश्यैः, विधेयात्मा, प्रसादम्, अधिगच्छति ।

तु=परन्तु, आत्मवश्यैः=अपने वश में की हुई, रागद्वेषवियुक्तैः=राग-द्वेष-रहित इन्द्रियैः=इन्द्रियों से, विषयान्=विषयों को, चरन्=भोगता हुआ (भी), विधेयात्मा=स्वाधीन अन्तःकरणवाला (पुरुष), प्रसादम्=प्रसन्नता को, अधिगच्छति=प्राप्त होता है ।

पर राग-द्वेष-विहीन सारी इन्द्रियां आधीन कर ।
फिर भोग करके भी विषय, रहता सदैव प्रसन्न कर ॥

अर्थ—परन्तु अपने वश में की हुई राग-द्वेष-रहित इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआ भी स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष प्रसन्नता को प्राप्त होता है ।

व्याख्या—जो विषयों का ध्यान छोड़ देते हैं और कुसंग से दूर रहते हैं, उन महापुरुषों का जीवन निर्मल, अनासक्त, उदार, स्पष्ट और खुला हुआ होता है । ऐसे पुरुष नित्यतृप्त और प्रसन्न रहते हैं, परमेश्वर उन्हें प्रसाद देता है । प्रसाद अथवा प्रसन्नता प्राप्त करने के तीन साधन हैं—
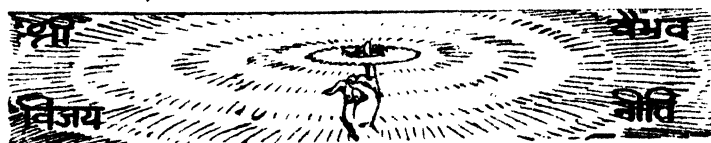
१—इन्द्रियों को अपने वश में रखना।

२—राग-द्वेष रहित होकर विषयों को भोगना।

३—अन्तःकरण को स्वाधीन रखना।

१ — इन्द्रियों को अपने वश में रखना—

इन्द्रियां विषयों के पीछे दौड़ती हैं, नित्य नये-नये भोगों की इच्छा करती हैं। भोगों के बिना इन्द्रियां छटपटाने लगती हैं, उनकी इस आसक्ति से प्राणी रात-दिन व्याकुल रहता है और दुःख, चिन्ता, राग, द्वेष, तृष्णा तथा अशान्ति से एक पल के लिये भी नहीं छूटता।

इन्द्रियां जब बहिर्मुखी होकर विषयों को स्वतन्त्रता से भोगती हैं तब अन्तःकरण दूषित हो जाता है। अन्तःकरण की पवित्रता के लिये इन्द्रियों का संयम उतना ही आवश्यक है जितना स्वस्थ जीवन के लिये नपा-तुला आहार-विहार।

संसार के जिन पदार्थों और विषयों में इन्द्रियां उलझती हैं उनमें सुख समझना अज्ञान है। इन्द्रियों को आत्मा के आधीन रखने का अभ्यास करने से अपने अन्तर में भरे हुए अक्षय आनन्द का सुधा-सिन्धु मिलता है; उसमें गोता लगाने से सारा जीवन आनन्दमय बन जाता है।

जब तक प्राणी इन्द्रियों के आधीन रहता है और आसक्ति से नहीं छूटता तब तक उसका जीवन तुच्छ, नाशवान और मिथ्या-सुखों में बँधा रहता है। विषयों का सुख प्राप्त करने में दुःख होता है, उनके भोगने में दुःख होता है और उनको भोगकर भी दुःख होता है। क्षणिक सुख के पीछे सारे जीवन को दुःख में डालना एक ऐसा पाप है जो मनुष्य को किसी भी समय चैन से नहीं बैठने देता।

इन्द्रियों को स्वाधीन रखना ही इस पाप से बचने का साधन है।

इन्द्रियों को स्वाधीन रखने का अभिप्राय है, आत्मा के आधीन रहना। इन्द्रियों की इच्छा, उत्तेजना और प्रेरणा से भोगे हुए विषय बन्धन में बाँधते हैं परन्तु आत्म-प्रेरणा और अनासक्ति से भोगे हुए विषय जीव को बन्धन में नहीं बाँधते।

२—राग-द्वेष रहित होकर विषयों को भोगना—

जहां राग है वहां त्याग नहीं होता और जहां द्वेष है वहां प्रेम नहीं होता। त्याग से राग का और प्रेम से द्वेष का अन्त हो जाने पर इन्द्रियों का निग्रह हो जाता है। सम्पूर्ण दोषों का जन्म राग और द्वेष से होता है और सम्पूर्ण श्रेय के कर्म, त्याग और प्रेम से होते हैं।

स्थितप्रज्ञ जीवन के किसी व्यापार अथवा व्यवहार को बन्द नहीं करता; वह भोगों को त्याग से भोगता है।

भोगों में त्याग उपनिषदों की सर्वश्रेष्ठ साधना है—

'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।'

त्याग पूर्वक भोग भोगो! भोगों में आसक्ति से दुःख होता है। निःस्पृह होकर भोग भोगने से इन्द्रियां पवित्र और आत्ममुखी रहती हैं। इसी का नाम है भोग में योग—'भोगो योगायते सम्यक्।'

इन्द्रियों के व्यवहार से राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं परन्तु जब इन्द्रियां आत्मा के अनुशासन में रहती हैं और इन्द्रियों की तृप्ति के लिये कर्म न होकर दैवी भावना से होते हैं तब राग-द्वेष का अन्त हो जाता है।

इन्द्रियों को अपने विषयों में राग और द्वेष रहता ही है। राग और द्वेष का सर्वतः अन्त कर देना दुष्कर है। अच्छाई के प्रति राग होने से बुराई से द्वेष हो जाता है और बुराई से राग रखने से अच्छाई

से द्वेष हो जाता है। राग-द्वेष-रहित होकर विषय भोगने का अभिप्राय है—सब प्रकार की भूलों, बुराइयों और असत पदार्थों को छोड़ कर सावधानी से अच्छाई और सत पदार्थों को ग्रहण करना। असत में लिप्त होकर कोई राग-द्वेष-रहित नहीं हो सकता। विषयों में लिप्त रह कर जो राग-द्वेष-रहित होने का दावा करता है वह अपने-आपको धोखा देता है और अपने दोषों को छुपाने के लिये ज्ञान का सहारा लेता है।

राग-द्वेष को छोड़ कर जो कुछ व्यवहार किया जाता है उससे सुख तो मिलता ही है साथ ही दैवी शक्ति, ईश्वरीय कृपा और सौभाग्य की निरन्तर वृद्धि होती है।

राग-द्वेष विहीन होकर विषयों को भोगना, गीता का योगशास्त्र है। प्रायः भोग और योग साथ-साथ नहीं चलते। सुख, वैभव और ऐश्वर्य प्राप्त करके उनमें अनासक्त रहना अत्यन्त दुष्कर है परन्तु गीता अपने व्यावहारिक ज्ञान से भोगों में संयम, नियम और निरोध द्वारा अनासक्ति का अपूर्व सन्देश देती है।

राग और आसक्ति प्रायः समान अर्थ-वाचक हैं। विषयों के चिन्तन से राग उत्पन्न होता है और विषयों में रचेपचे रहने का नाम आसक्ति है। आसक्ति, राग और द्वेष को बढ़ाती है। राग अपने दुर्गुणों को दुर्गुण जानकर भी नहीं छोड़ता। द्वेष दूसरों के सद्गुणों को सद्गुण जानकर भी ग्रहण नहीं करता। राग और द्वेष साथ-साथ रहते हैं। विषयों का ध्यान करनेवाला राग और द्वेष से कभी नहीं छूट सकता। राग-द्वेष के रहते हुए प्रसन्नता अथवा आत्मानन्द स्वप्न में भी नहीं मिलता।

दुःखी वह रहता है जो भाँति-भाँति के भोगों की अभिलाषा करता है और भोगों के बिना रह नहीं सकता। सुखी वह है जो भोगों में आसक्त नहीं होता और जो अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है।

इन्द्रियों के दमन से इन्द्रियाँ पवित्र और धर्मनिष्ठ होती हैं। इन्द्रियों की धर्मनिष्ठा से भोगों की इच्छा नहीं रहती। भोगों की इच्छा न रहने से राग-द्वेष छूट जाता है। राग-द्वेष को छोड़ कर जो कर्म किया जाता है उससे नित्य सुख और प्रसन्नता की प्राप्ति होती है। प्रसन्न रहने के लिये अन्तःकरण को स्वाधीन रखना अत्यन्त आवश्यक है।

३. अन्तःकरण को स्वाधीन रखना--

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को अन्तःकरण कहते हैं। इन्द्रियों के तन्त्र में न रह कर स्वतन्त्र रहने से अन्तःकरण स्वाधीन हो जाता है।

स्वाधीन अन्तःकरणवाले पुरुष की प्रत्येक भावना, चेष्टा और प्रवृत्ति में दृढ़ता और दिव्य क्रियाएँ भर जाती हैं। ऐसा तभी होता है जब अन्तःकरण के चारों घोड़ों की बागडोर आत्मा रूप परमात्मा के हाथ में हो। आत्मा के आधीन रहनेवाला अन्तःकरण बलवान और स्वस्थ रहता है। 'स्व' में अर्थात् आत्मा में स्थित रहनेवाला स्वस्थ पुरुष किसी प्रकार के रोग, राग और विकार का दास नहीं बनता; उसकी बुद्धि में समता और सत्य-चेतना का प्रकाश रहता है; उसका चित्त नित्य संयत, सावधान और संतुलित रहता है; उसका मन इन्द्रियों के पीछे नहीं दौड़ता; उसमें उदार और विराट् विचारों का स्रोत उमड़ता है और उसका अहंकार दैवी सत्ता में विलीन हो जाता है।

जो विशुद्ध आत्मभाव में रहता है, जिसके लिये सब कुछ ही आत्मा होगया है, जिसे किसी से राग और द्वेष नहीं रहता, जो विषय सुख के लिये नहीं—आवश्यकता की पूर्ति के लिये संयम से भोग भोगता है, उसे प्रसाद मिलता है। प्रसाद में सब दुःखों को दूर करने की शक्ति है।

६६

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥

प्रसादे, सर्वदुःखानाम्, हानिः, अस्य, उपजायते ।
प्रसन्नचेतसः, हि, आशु, बुद्धिः, पर्यवतिष्ठते ।

प्रसादे=प्रसन्नता प्राप्त होने पर, अस्य=इस (स्वाधीन मनुष्य) के, सर्वदुःखानाम्=सब दुःखों का, हानिः=अन्त, उपजायते=हो जाता है, प्रसन्नचेतसः=प्रसन्न चित्तवाले पुरुष की, बुद्धिः=बुद्धि, आशु=शीघ्र, हि=ही, पर्यवतिष्ठते=स्थिर हो जाती है ।

पाकर प्रसाद पवित्र जन के, दुःख कट जाते सभी ।
जब चित्त नित्य प्रसन्न रहता, बुद्धि दृढ़ होती तभी ॥

अर्थ—प्रसन्नता प्राप्त होने पर इस स्वाधीन मनुष्य के सब दुःखों का अन्त हो जाता है । प्रसन्न चित्तवाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है ।

व्याख्या—विधेयात्मा में सम्पूर्ण सुख, ऐश्वर्य और माधुर्य निवास करते हैं । जिसका अन्तःकरण स्वाधीन है वह न दुःखों से घृणा करता है और न सुखों से स्नेह । शुकदेव ज्ञान लेने के लिये जनक के पास गये । जनक के स्वागत सन्मान में आसक्त होकर वे ध्येय से नहीं हटे और रूखे व्यवहार से उन्हें असन्तोष नहीं हुआ: उन्हें ज्ञान का प्रसाद मिल गया ।

प्रसाद का साधारण अर्थ—प्रसन्नता है, ऐसी प्रसन्नता जो हर्ष-विषाद में एकरस बनी रहती है, कठिन से कठिन दुःख में जिस पर उदासी की छाया नहीं पड़ती, जो सदा निर्मल रहती है, जो राग एवं द्वेष के प्रहारों से जर्जरित नहीं होती और जो सदा स्वस्थ रखकर मानसिक शान्ति प्रदान करती है।

जिसके अन्तर में प्रसन्नता अथवा आनन्द का संगीत छिड़ा रहता है उस पर बाहरी सुख-दुःखों का प्रभाव नहीं पड़ता।

प्रसन्नता में परमेश्वर निवास करता है, प्रसन्नता से प्राप्त आनन्द ही ब्रह्मरूप है—

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।'

ब्रह्म आनन्दमय है, आनन्द रूप ब्रह्म को जान लेनेवाला कभी किसी प्रकार के दुःखों से भयभीत नहीं होता। (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्म० २)

प्रसन्नता परमेश्वर का प्रसाद है, प्रसाद का फल अमृत है।

१—प्रसन्नता प्राप्त होते ही सब दुःख दूर हो जाते हैं।

२—प्रसन्न चित्तवाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है।

१. प्रसन्नता प्राप्त होते ही सब दुःख दूर हो जाते हैं—

योग में ज्योतिर्मय रूप के विकास को प्रसाद कहा गया है। धारणा, ध्यान, समाधि अथवा संयम द्वारा अन्तःकरण में निर्मल ज्योति प्रकट हो जाती है और उसके परिणाम स्वरूप अंधकार कट जाता है। अंधकार कटते ही विकारों, दोषों और दुःखों से प्राणी छूट जाता है।

परमेश्वर का दिया हुआ परमेश्वर को अर्पण करने से जो परम सुख मिलता है उसी को भक्तजन प्रसाद कहते हैं। प्रसाद परमेश्वर की परम कृपा का फल है, अतः प्रसाद से सब दुःखों का अन्त हो जाता है।

सदा प्रसन्न, सौम्य, शान्त और निर्मल रहना मन का सर्वोत्तम तप है। इस तप की साधना, साधक के नियम-संयम से प्रारम्भ होती है। मन के तप का फल प्रसाद है।

अन्तःकरण को पवित्र कर लेने के पश्चात् अन्तर में एक विलक्षण आनन्द और शान्ति भर जाती है, यही प्रसाद है। बिना चित्त-शुद्धि के प्रसाद नहीं मिलता। जिसका चित्त नित्य शुद्ध है उस पर दुःखों का आक्रमण नहीं होता।

दुःख, अज्ञान से उत्पन्न होते हैं, अन्तःकरण पर आवरण डालनेवाले विषय जब ज्ञान को ढक लेते हैं तब जो अज्ञान और आवरण होता है उसे दुःख कहते हैं। प्रसाद से सब प्रकार के दैहिक दैविक और भौतिक दुःखों का अन्त हो जाता है।

२. प्रसन्न चित्तवाले की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है—

प्रसन्नता के अभाव में व्याकुलता, अशान्ति और घबराहट रहती है। प्रसन्नता से शान्ति और स्थिरता मिलती है। प्रसन्नता में बुद्धि को कोई क्लेश, अभाव, राग, द्वेष अथवा विकार अशान्त नहीं कर पाते, इसी कारण बुद्धि प्रतिष्ठित हो जाती है।

प्रसन्न चित्तवाला सदा आनन्द के समुद्र में हिलोरें लेता है, कठिन से कठिन संकट में भी उसके मुख पर मुस्कराहट खेलती है, वह अपनी प्रसन्नता से स्वयं सुखी रहता है और दूसरों को सुख देता है।

प्रसन्नता के निर्मल प्रवाह में जीवन के मैल धुल जाते हैं। विचार और कर्मों में मधुरता भर कर सदा प्रसन्न रहने से बुद्धि स्वयं ही प्रतिष्ठित हो जाती है। इसके विपरीत उदास रहने से मन रोगी बन जाता है, उमंगे दब जाती हैं, भावनाओं में बल नहीं रहता और शान्ति तथा सुख साथ छोड़ जाते हैं—

६६

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
नचाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

न, अस्ति, बुद्धिः, अयुक्तस्य, न, च, अयुक्तस्य भावना ,
न, च, अभावयतः, शान्तिः, अशान्तस्य, कुतः, सुखम् ।

अयुक्तस्य = अयुक्त पुरुष में, बुद्धिः = बुद्धि, न = नहीं, अस्ति = होती, च = और, अयुक्तस्य = अयुक्त में, भावना = भावना (भी), न = नहीं होती है, अभावयतः = भावना-रहित को, शान्तिः = शान्ति, न = नहीं मिलती, च = और, अशान्तस्य = अशान्त को, सुखम् = सुख, कुतः = कहाँ ।

रहकर अयुक्त न बुद्धि उत्तम भावना होती कहीं ।
बिन भावना नहिं शांति और अशांति में सुख है नहीं ॥

अर्थ—अयुक्त पुरुष में बुद्धि नहीं होती और अयुक्त में भावना भी नहीं होती है । भावना-रहित को शान्ति नहीं मिलती और अशान्त को सुख कहाँ ?

व्याख्या—बुद्धि, भावना, शान्ति और सुख इन चारों से जीवन तेजस्वी, गौरवशाली, उन्नत और मुक्त होता है । इन चारों में से एक को भी खो देने से जीवन भार बन जाता है । प्रसन्नता की मुद्रा—मानसिक उन्नति, पवित्र विचार और शुभ कर्मों की प्रतीक है । प्रसन्न मनुष्य को देख कर उसके दैवी प्रकाश की झलक मिलती है । ऐसा प्रतीत होता है मानो उससे परमात्मा का निकट सम्बन्ध हो ।
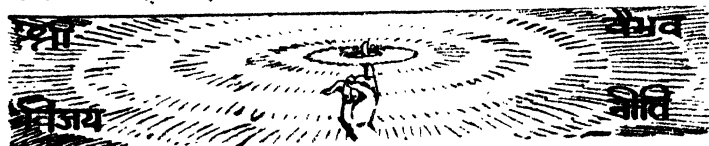
प्रसन्न रहनेवाला सर्वत्र आनन्द, उत्साह, मधुरता और प्रेम की वर्षा करता है। जिन्हें प्रसाद मिल जाता है उन्हीं का जीवन सार्थक है, वे सदा सुखी रहते हैं। प्रसाद पाने के अधिकारी केवल वे हैं जिनके मन और बुद्धि के सब विकार धुल जाते हैं, जो सब प्रकार पवित्र और योगयुक्त होते हैं। जो युक्त नहीं हैं उन्हें प्रसाद और सुख नहीं मिलता—

१—अयुक्त पुरुष में बुद्धि नहीं होती।

२—अयुक्त में भावना भी नहीं होती।

३—भावना-रहित को शान्ति नहीं मिलती।

४—अशान्त को सुख नहीं मिलता।

१. अयुक्त पुरुष में बुद्धि नहीं होती—

गीता में अधिकारी और साधक पुरुष को 'युक्त' कहा है। युक्त पुरुष समत्व बुद्धि से सम्पन्न होकर कर्म करता है। युक्त अपने अन्तःकरण को समाहित कर लेता है। युक्त इन्द्रियों को वश में करके एकाग्रता, दृढ़ता और पवित्रता से कर्म करता है। युक्त किसी भी दशा में दैवी मार्ग से विमुख नहीं होता। युक्त सदा प्रसन्न होकर कर्म करता है।

अयुक्त उसे कहते हैं जिसकी बुद्धि में समता नहीं होती। जो असंयमी होता है, जो इन्द्रियों के वश में होकर अस्थिरता से कर्म करता है, जो दैवी मार्ग से विमुख रहता है, जिसे कर्म करने की युक्ति नहीं आती और जो उदास रह कर कर्म करता है।

अयुक्त का चित्त कभी समाहित नहीं होता। अतः उसकी बुद्धि किसी एक तत्त्व पर नहीं टिकती, शाखा से शाखा पर जाती है, गिरती है और नष्ट भ्रष्ट हो जाती है। आत्मस्वरूप-विषयक बुद्धि का नष्ट हो जाना जीवन का घोर पतन है।

२. अयुक्त में भावना भी नहीं होती—

भावना का अर्थ है, आत्म-ज्ञान के लिये साधन की तत्परता—

'आत्मज्ञानाभिनिवेशः।' —शङ्कराचार्य

श्रद्धा और विश्वास की दृढ़ता को भी 'भावना' कहते हैं। भावना से भक्ति, कर्म और ज्ञान की प्राप्ति होती है।

भावना का अर्थ—भक्ति भी है। भावना से ज्ञान को मधुरता और रूप मिलता है। भावना का सम्बन्ध हृदय से है। अयुक्त पुरुष में न बुद्धि होती है और न हृदय। हृदय से उठती हुई भावना बुद्धि से मिल कर जब कर्म में प्रकट होती है तब जीवन का सच्चा सुख मिलता है।

अयुक्त पुरुष में न भक्ति-भावना होती, न ज्ञान की साधना के लिये तत्परता। अयुक्त में धर्म, सत्य, सेवा और शुभ कर्मों के लिये भी भावना नहीं उठती। वह संयमहीन, चञ्चल, हठी, स्वार्थ-परायण, निष्ठुर और अभिमानी होकर किसी में भी श्रद्धा और विश्वास नहीं रखता।

भावना के बिना किये गये बड़े से बड़े कर्म का छोटा-सा फल मिलता है। भावना से किया गया छोटा-सा कर्म भी महान बन जाता है। विदुर के शाक-पात में भावना थी इसी कारण वे दुर्योधन की मेवा से मधुर बन गये। सुदामा के मुट्ठीभर तण्डुलों में हृदय की भावना के अतिरिक्त और क्या था? भावना का मूल्य भावना से ही आँका जा सकता है।

३. भावना-रहित को शान्ति नहीं मिलती—

जिसमें भावना नहीं है वह हृदयहीन है। हृदयहीन को उदासी घेर लेती है। उदासी—मनुष्य को भारी, दुःखी और अशान्त बना देती

है। उदास पुरुष को सफलता में विश्वास नहीं रहता; दुःखों का डर लगा रहता है; उदासी कर्महीनता, निराशा और असफलता को बुलाती है। भावनाहीन को कभी शान्ति नहीं मिलती।

४. अशान्त को सुख नहीं मिलता—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। (मनु० ४।१६०)

जो दूसरों की आधीनता में है वह सब दुःख है और जो अपने मन के अधिकार में है वह सब सुख है।

अशान्त पुरुष इन्द्रियों के वश में रहता है वह संसार के सहारे से सुखी होना चाहता है इसी कारण उसे सुख नहीं मिलता।

मन के शान्त होने पर दुःख भोगने में भी सुख मिलता है और अशान्त होने पर सुख में भी घोर दुःख पीछा नहीं छोड़ता।

पुष्टि और तुष्टि उसी को मिलती है जो शान्ति से कर्त्तव्य-पालन करता है। अशान्त रहने से कर्म करने की शक्ति बिखर जाती है और सुख हाथ नहीं आता।

जो अशान्त है वह सदा इधर-उधर भटकता है, भीतर की अशान्ति के कारण उसका मन बाहर भी कहीं स्थिर नहीं होता। भजन, सत्संग, स्वाध्याय, खेती, व्यापार, नौकरी किसी में भी अशान्त पुरुष का मन नहीं टिकता।

अशान्त पुरुष शान्ति पाने के लिये विषय-सुखों में रमण करता है, अतः उसकी अशान्ति और भी अधिक भड़कती है और जितना वह सुख के पीछे दौड़ता है उतना ही अधिक दुःख पाता है।

अशान्त प्राणी के जीवन की नौका संसार-सागर में प्रचण्ड आँधी और लहरों की थपेड़ें खा-खाकर जर्जरित हो जाती है, सदा उसके डूबने का भय रहता है और इन्द्रियाँ उसकी बुद्धि को हर लेती हैं—

६७

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

इन्द्रियाणाम्, हि, चरताम्, यत्, मनः, अनु, विधीयते,
तत्, अस्य, हरति, प्रज्ञाम्, वायुः, नावम्, इव, अम्भसि ।

हि = क्योंकि, चरताम् = (विषयों में) विचरती हुई, इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों के बीच में, यत् = जिस (इन्द्रिय) के, अनु = साथ, मनः = मन, विधीयते = रहता है, तत् = वह, अस्य = इस (अयुक्त) की, प्रज्ञाम् = बुद्धि को, हरति = हरण कर लेती है, इव = जैसे, अम्भसि = जल में, वायुः = वायु, नावम् = नाव को ।

सब विषय विचरित इन्द्रियों में, साथ मन जिसके रहे ।
वह बुद्धि हर लेती, पवन से नाव ज्यों जल में बहे ॥

अर्थ—क्योंकि विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों में से जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है वह अयुक्त की बुद्धि को हर लेती है जैसे जल में वायु, नाव को ।

व्याख्या—संयम न होने के कारण अयुक्त पुरुष की इन्द्रियाँ विषयों के पीछे-पीछे चलती हैं । इन्द्रियाँ जब स्वच्छन्द होकर व्यवहार करती हैं तो मन भी उनके साथ लग जाता है; ऐसी दशा में अकेली बुद्धि अपना काम नहीं कर पाती ।

जब इन्द्रियों का साथी मन हो जाता है तो इन्द्रियाँ बुद्धि को

पराजित करके ऐसे बहा देती हैं जैसे जल में वायु, नाव को बहाता है।

मुक्ति के मार्ग में इन्द्रियाँ मनके आधीन रहती हैं, मन बुद्धि की प्रेरणा से कार्य करता है और बुद्धि आत्मा से प्रकाश प्राप्त करती है।

विनाश के मार्ग में इन्द्रियाँ मन को अपने आधीन कर लेती हैं और मन तथा इन्द्रियाँ मिलकर, बुद्धि को आत्मा के विमुख कर देती हैं। ऐसी दशा में बुद्धि, सत्य के मार्ग को छोड़ कर विषय-भोग भोगने में इन्द्रियों की सहायता करती है।

मन इन्द्रियों के साथ न जाय तो इन्द्रियों को विषय-भोग में रस नहीं मिलता। मन की सहायता से ही इन्द्रियों को अपने विषयों का ज्ञान होता है। मन की अनुकूलता और प्रतिकूलता के साथ विषय अच्छे और बुरे लगते हैं। बुद्धि को बहा देनेवाला विषयगामी मन है। इन्द्रियों के साथ मन को न जाने देना सुख और मुक्ति का सबसे सीधा मार्ग है।

इन्द्रियों का प्रचण्ड वेग मन की सहायता से बुद्धि को सत्य के मार्ग से हटा कर कुमार्ग पर ले जाता है।

जो इन्द्रियों को आधीन कर लेते हैं और भोग-विलासों में नहीं डूबते उनकी बुद्धि रूपी नय्या पथ-भ्रष्ट नहीं होती।

संयमी पुरुष को भी सावधान रह कर बुद्धि को विषय-भोगों की प्रचण्ड वायु से बचाये रखना चाहिये।

सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने अनुभव से लिखा है—

"जैसे नाव तीर पर लग कर भी यदि तूफान में पड़ जाय तो टला हुआ संकट फिर आ पड़ता है वैसे ही पहुँचा हुआ मनुष्य भी यदि कुतूहल से इन्द्रियों का लालन-पालन करे तो उस पर साँसारिक दुःखों का आक्रमण हुआ ही समझो।"

६८

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

तस्मात्, यस्य, महाबाहो, निगृहीतानि, सर्वशः,
इन्द्रियाणि, इन्द्रियार्थेभ्यः, तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता।

तस्मात् = इसलिये, महाबाहो = हे महाबाहो, यस्य = जिसकी, इन्द्रियाणि = इन्द्रियां, सर्वशः = सब प्रकार, इन्द्रियार्थेभ्यः = इन्द्रियों के विषयों से, निगृहीतानि = वश में की हुई होती हैं, तस्य = उसकी, प्रज्ञा = प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता = प्रतिष्ठित हो जाती है।

चहुँ ओर से इन्द्रिय-विषय से, इन्द्रियां जब दूर ही।
रहती हटीं जिसकी सदा, दृढ़-प्रज्ञ होता है वही ॥

अर्थ—इसलिये हे महाबाहो! जिसकी इन्द्रियाँ सब प्रकार इन्द्रियों के विषयों से वश में की हुई होती हैं उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित हो जाती है।

व्याख्या—संयम-हीन जीवन का विकास दब जाता है। जीवन के सितार पर हृदय-विमोहक मधुर-संगीत उसी समय गूंजता है जब उसके तार नियम और संयम से बँधे होते हैं।

इन्द्रिय-सुखों के लिये ईश्वरीय, आध्यात्मिक, प्राकृतिक और राष्ट्रीय नियमों को तोड़नेवाला निराधार होकर गिर पड़ता है। अतः विवेक पूर्वक नियम और संयम द्वारा इन्द्रियों को सब प्रकार अपने आधीन रखना चाहिये।

श्रीकृष्ण ने मनुष्य की शक्ति को सहस्र गुना बढ़ा देने के लिये उसे इन्द्रिय-निग्रह का शस्त्र दिया है। अर्जुन अथवा महाबाहु वही है जो इन्द्रियों को अपने आधीन कर लेता है।

इन्द्रियों को सब प्रकार इन्द्रियों के विषयों से हटाना चाहिये—

शारीरिक और बौद्धिक बल इन्द्रिय-निग्रह का तात्कालिक फल है। रोगी के लिये इन्द्रिय-निग्रह वरदान बन जाता है। इन्द्रियों पर संयम कर लेना ऐसी औषधि है जिसका सेवन करने के पश्चात किसी भी औषधि और सहारे की आवश्यकता नहीं रहती।

इन्द्रियों को दबा देना, मार देना, बांधना या उनसे काम न लेना इन्द्रिय-निग्रह का अभिप्राय नहीं है। इन्द्रियों की चंचलता मिटा देना, उन्हें नियम में रखना, उच्छृङ्खल होकर दौड़ने न देना और त्याग पूर्वक जीवन के लिये उचित और आवश्यक भोग भोगने देना इन्द्रिय-निग्रह का अभिप्राय है। घोड़े को संयम में रखने से जैसे सवार को सुख मिलता है, इसी प्रकार इन्द्रियों को संयम में रखने से जीव को सुख मिलता है।

जब इन्द्रियां स्वभाव से ही सावधान और आत्मा के आधीन रहती हैं तब प्रज्ञा जागृत होती है।

प्रज्ञा अर्थात् पवित्र और विशाल बुद्धि के स्थिर होते ही कहीं किसी प्रकार का मोह, विकम्प, घबराहट, द्विविधा, अनिश्चय और संशय नहीं रहता; कर्त्तव्य-मार्ग प्रत्यक्ष हो जाता है, उस पर चलने का बल मिलता है और निष्काम कर्मयोग की साधना स्वयं हो जाती है।

असंयम सब पापों और बुराइयों का आधार है। जगत् में संयमी पुरुष सदा जागा रहता है और असंयमी सोता है। सोने और जागने की पहेली गीता ने सुलझायी है—

६९

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

या, निशा, सर्वभूतानाम्, तस्याम्, जागर्ति, संयमी,
यस्याम्, जाग्रति, भूतानि, सा, निशा, पश्यतः, मुनेः ।

सर्वभूतानाम्=सब प्राणियों के लिये, या=जो, निशा=रात्रि है, तस्याम्=उसमें, संयमी=संयमी पुरुष, जागर्ति=जागता है, यस्याम्=जिसमें, भूतानि=सब प्राणी, जाग्रति=जागते हैं, सा=वह, पश्यतः=तत्त्वद्रष्टा, मुनेः=मुनि के लिये, निशा=रात्रि है ।

सबकी निशा तब जागता योगी पुरुष हे तात ! है ।
जिसमें सभी जन जागते, ज्ञानी पुरुष की रात है ॥

अर्थ—सब प्राणियों के लिये जो रात्रि है, उसमें संयमी पुरुष जागता है । जिसमें सब प्राणी जागते हैं वह तत्त्वद्रष्टा मुनि के लिये रात्रि है ।

व्याख्या—जैसे वह परम पुरुष अपनी महिमा में भी अधिक महान है, उसी प्रकार गीता का स्थितप्रज्ञ वर्णित लक्षणों से कहीं विलक्षण है, उसका रहन-सहन और आचरण यज्ञ और धर्म की परिभाषा करता है । अन्य प्राणियों से उसकी अपनी विशेषता है—

१. सब प्राणियों के लिये जो रात्रि है उसमें संयमी पुरुष जागता है ;

२. जिसमें सब प्राणी जागते हैं वह तत्त्वद्रष्टा मुनि के लिये रात्रि है ।

गीता की इस आलङ्कारिक भाषा में साधना का गम्भीर रहस्य है। जैसे मिट्टी का कच्चा घड़ा—जो आवे की अग्नि में नहीं तपा है—जल को नहीं थाम सकता; वैसे ही असावधान और सोता हुआ प्राणी दिव्य आनन्द को धारण करने के योग्य नहीं होता।

स्थितप्रज्ञ सदा जागा रहता है। जहां सब प्राणी सोते है अथवा जब सब प्राणियों के लिये रात्रि होती है उसमें भी वह सोता नहीं।

मोह, अज्ञान और अंधकार की प्रतीक रात्रि है। वेद की वाणी में—

'रात्रिम् जगतो निवेशनीम्।'

रात्रि वह है जो जगत् को तथा जगत् की सारी वस्तुओं को अपने अंधकार में धारण किये हुए है।

रात्रि त्रिगुणमय लोक पर अपना अंधकार फैलाती है। अंधेरे में रहनेवाले कुछ देख नहीं पाते, अपने कर्मों में अचेतन रहते हैं, वे असत, अज्ञान और माया में घिरे रहते हैं।

जब सब प्राणियों की रात होती है अर्थात् जिस विषय में जगत् के जीव मोह, अज्ञान, आलस्य और अनृत मे घिर जाते हैं; वहाँ संयमी पुरुष जागता है।

विषयों से सावधान रहकर कर्म-तत्पर होने का नाम जागना है। जागरूक पुरुष अंधकार में लिप्त नहीं होते और प्रकाश के साथ अपना सम्बन्ध जोड़े रहते हैं।

संसारी पुरुष कर्त्तव्य के प्रति असावधान होकर अज्ञान में पड़े रहते हैं अर्थात् सोते हैं। संयमी पुरुष कर्त्तव्य के प्रति सावधान होकर कर्म करते हैं अर्थात् जागते हैं।

संसारी पुरुष अज्ञान और अविद्या के कारण आत्मा से दूर रहता है, अपने को ही कर्त्ता मान कर अहंकार में लिप्त हो जाता है

यही सो जाना है। संयमी पुरुष ज्ञान और विद्या से अपने स्वरूप को, आत्मा और परमात्मा को जानता है, परमेश्वर को फल अर्पण करके वह अनासक्त कर्म करता है यही जागना है।

सत्संग, भजन, परमार्थ आदि शुभ कर्मों में अज्ञानी पुरुष सोये रहते हैं; संयमी पुरुष जागता रहता है। विषय भोगों असत् सुखों और बुराइयों में जगत के साधारण जीव जागते हैं तब ज्ञानी पुरुष सोता है।

जगद्गुरु शङ्कराचार्य के अनुसार—

"तामस स्वभाव के कारण पदार्थों का अविवेक करानेवाली रात्रि का नाम निशा है। जिनमें परमार्थ-तत्त्व-विषयक बुद्धि नहीं है उन सब प्राणियों के लिये अज्ञात होने के कारण परमार्थ तत्त्व रात्रि की भाँति अंधकारमय है। उस परमार्थ रूप रात्रि में योगी जागता है।"

लोकमान्य तिलक के शब्दों में—

"अज्ञान अंधकार को और ज्ञान प्रकाश को कहते हैं। (गीता १४।११) अज्ञानी लोगों को जो वस्तु अनावश्यक प्रतीत होती है अर्थात् उन्हें जो अंधकार है वही ज्ञानियों को आवश्यक होती है और जिसमें अज्ञानी लोग उलझे रहते हैं उन्हें जहाँ उजेला मालूम होता है वहीं ज्ञानी को अंधेरा दीख पड़ता है। ··· ज्ञानी पुरुष काम्य कर्मों को तुच्छ मानता है सामान्य लोग उन्हीं में लिपटे रहते हैं। ज्ञानी पुरुष को जो निष्काम कर्म चाहिये उसकी औरों को चाह नहीं होती।"

सन्त ज्ञानेश्वर ने संक्षेप में कहा है—

"देखो, जिस विषय में सकल प्राणिमात्र अज्ञान में रहते हैं उस विषय में जिसको ज्ञान है और, जिस विषय में सब प्राणिगण जागृत हैं उस विषय में जो निद्रित है, हे अर्जुन! उसी को उपाधि-रहित स्थिर बुद्धि और गम्भीर मुनीश्वर समझो।"

वेदों में जागनेवाले को प्रकाश का अधिपति और नियमों का रक्षक कहा है। (ऋ० १।८३।५)

जागरणशील प्राणी पथ पर प्रकाश देखता है, ऋत और सत्य के नियमों की रक्षा करता है, स्वयं आनन्दमय होता है, जगत को आनन्द बाँटता है।

जहां प्रकाश नहीं है, अंधकार ही अंधकार है वहां दस्यु जन घिरे रहते हैं जागकर बाहर नहीं निकलते। (ऋ० ४।५१।३)

संयमीजन मोह और अंधकार से निकल कर आनन्द और समृद्धि पाने के लिये ज्ञान में जागे रहते हैं।

जो मूढ़जन कुटिलता की गांठे बाँधते हैं, सत्कर्मों के करने का संकल्प नहीं करते, असंयत वाणी बोलते हैं, श्रद्धा हीन रहते हैं, बुद्धि और वृद्धि को धारण नहीं करते, यज्ञ-कर्मों को त्याग देते हैं, उनको प्रकाश रूप अग्नि बहुत दूर खदेड़ देता है। वे मोह और अंधेरे में सब से नीचे गिर जाते हैं। उन्हीं को मोह निशा में सोया हुआ जानना चाहिये।

जागरणशील को वेद 'ज्योतिरग्रा' कहते हैं। वे प्रकाश को अपने आगे-आगे रखते हैं, अज्ञान की रात्रि से दूर रहते हैं।

तत्त्वद्रष्टा मुनि मोह रूपी रात्रि और ज्ञान रूपी दिन को भली प्रकार जानता है। मुनि, संयमीपुरुष को कहते हैं। मुनिजन जीवन पर्यन्त प्रकाश में रहते हैं और दिन, अग्नि आदि के मार्ग में प्रयाण करके मुक्त होते हैं। (गीता ८।२४)

ऐसे पुरुष सदा शान्त और समुद्र के समान गम्भीर रहते हैं—

७०

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

आपूर्यमाणम्, अचलप्रतिष्ठम्, समुद्रम्, आपः, प्रविशन्ति, यद्वत्, तद्वत्, कामाः, यम्, प्रविशन्ति, सर्वे, सः, शान्तिम्, आप्नोति, न, कामकामी ।

यद्वत्=जैसे, आपूर्यमाणम्=सब ओर से भरे हुए, अचलप्रतिष्ठम्=अचल प्रतिष्ठावाले, समुद्रम्=समुद्र में, आपः=नदियों के जल, प्रविशन्ति=समा जाते हैं, तद्वत्=वैसे ही, यम्=जिसमें, सर्वे=सब, कामाः=भोग, प्रविशन्ति=समा जाते हैं, सः=वह, शान्तिम्=शान्ति को, आप्नोति=प्राप्त होता है, कामकामी=भोगों को चाहनेवाला, न=नहीं ।

सब ओर से परिपूर्ण जलनिधि में सलिल जैसे सदा ।
आकर समाता, किन्तु अविचल सिन्धु रहता सर्वदा ॥
इस भाँति ही जिसमें विषय जाकर समा जाते सभी ।
वह शांति पाता है, न पाता काम-कामी-जन कभी ॥

अर्थ—जैसे सब ओर से भरे हुए अचल प्रतिष्ठावाले समुद्र में नदियों के जल समा जाते हैं, वैसे ही जिसमें सब भोग समा जाते हैं वह शान्ति को प्राप्त होता है—भोगों को चाहनेवाला नहीं ।
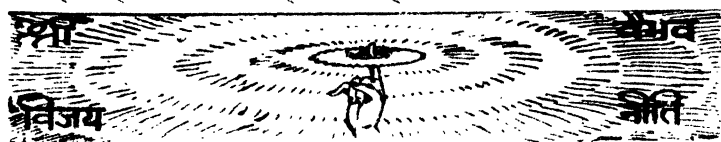
व्याख्या—संयमीपुरुष शिव रूप होकर रहता है, उसका ज्ञान-रूप तीसरा नेत्र खुल जाता है, विकार उसके सामने आते ही भस्म हो जाते हैं। जब साँसारिक प्राणियों के हृदय में द्वेष और अशान्ति की आग धधकती है तब भी संयमी शान्त रहता है।

शान्त रहने के लिये समुद्र के समान होना चाहिये—

समुद्र में दो गुण हैं—

१—आपूर्यमाणम्=सब ओर से सतत भरता रहनेवाला।

२—अचल प्रतिष्ठम्=अचल रह कर मर्यादा न छोड़नेवाला।

१. सब ओर से सतत भरता रहनेवाला—

समुद्र में चारों ओर से नदियाँ अपना-अपना जल लाती हैं और समुद्र सम्पूर्ण जल को चाहे वह कितनी भी अधिक मात्रा में आये, अपने में समा लेता है, उसकी गहराई की थाह नहीं मिलती। समुद्र की सामर्थ्य आश्चर्यजनक और गम्भीर है, इसीलिये वह पूर्ण कहा जाता है।

पूर्ण वह है जो सदा तृप्त है। कम जल आने पर समुद्र सूखता नहीं; वह शान्त और तृप्त रहता है; उसकी गम्भीरता और गहराई में अन्तर नहीं पड़ता; इसीप्रकार बहुत अधिक जल आने पर समुद्र को अभिमान नहीं होता।

२. अचल रहकर मर्यादा न छोड़नेवाला—

गम्भीर, तृप्त और पूर्ण समुद्र में घटा-बढ़ी नहीं होती, वह अपनी मर्यादा में रहता है। छोटी-छोटी नदियों में बाढ़ आती है, समुद्र में नहीं।

समुद्र अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखता है वह नदियों के पीछे नहीं दौड़ता और सीमा का उल्लङ्घन नहीं करता।

स्थितप्रज्ञ समुद्र की भांति रहता है—

स्थितप्रज्ञ का हृदय विशाल, गम्भीर, गहरा, तृप्त और शान्त होता है। सब ओर से अनन्त सुख पाकर भी वह अभिमान तथा मोह से अपने स्वरूप को नहीं भूलता, सुख को पचा लेता है और स्पृहा नहीं करता—सुख न मिले तो वह चाह और चिन्ता से मुख नहीं जाता; दुःख में पड़कर वह दुःखी नहीं होता और अपना कर्त्तव्य नहीं छोड़ता।

सेवा और त्याग का मधुर फल मिलने पर भी स्थितप्रज्ञ सीमाओं का उल्लङ्घन नहीं करता। उसमें सदा शान्ति और आनन्द की हिलोरें उठती रहती हैं। उसका हृदय महान् सुख से भरा रहता है। वह परम शान्ति पाता है। समुद्र की भांति विशाल हृदयवाला स्थितप्रज्ञ अपनी प्रतिष्ठा को भंग नहीं होने देता।

कामकामी को शान्ति नहीं मिलती—

भोगों का नाम 'काम' है। काम सङ्ग से उत्पन्न होता है। जिस विषय की कामना की जाती है उसी प्रकार का काम उत्पन्न होता है। जो विषयों में फँस कर भोगों को पाने की इच्छा करता है उसे 'कामकामी' कहते हैं।

स्थितप्रज्ञ विषयों से भरे जगत् में रह कर भोगों में आसक्त नहीं होता। भोग उसमें समा कर निष्क्रिय हो जाते हैं इसीलिये उसे शान्ति मिलती है।

कामकामी अपनी ही अतृप्ति और तृष्णा के कारण कभी शान्ति नहीं पाता, काम की भूख कभी नहीं मिटती। शान्ति पाने का एकमात्र उपाय है—त्याग।

७१

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥

विहाय, कामान्, यः, सर्वान्, पुमान्, चरति, निःस्पृहः,
निर्ममः, निरहंकारः, सः, शान्तिम्, अधिगच्छति ।

यः = जो, पुमान् = पुरुष, सर्वान् = सब, कामान् = कामनाओं को, विहाय = त्याग कर, निर्ममः = ममता-रहित, निरहंकारः = अहंकार-रहित, निःस्पृहः = स्पृहा-रहित, चरति = विचरता है, सः = वह, शान्तिम् = शान्ति को, अधिगच्छति = प्राप्त होता है ।

सब त्याग इच्छा कामना, जो नर विचरता नित्य ही ।
मद और ममता हीन होकर, शान्ति-पद पाता वही ॥

अर्थ—जो पुरुष सब कामनाओं को त्याग कर ममता-रहित, अहंकार-रहित, स्पृहा-रहित विचरता है वह शान्ति को प्राप्त होता है ।

व्याख्या—कामनाओं के पीछे पड़नेवाला अपनी बुद्धि और शक्ति को नष्ट कर देता है । उसकी साधना मिथ्या हो जाती है । कामनाओं से चित्त की शुद्धि नहीं रहती और बुद्धि का बल दब जाता है । कामना-प्रिय पुरुष के लिये कहीं शान्ति नहीं है ।

शान्ति वह पाता है—

१—जो सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है ।

२—ममता-रहित हो जाता है ।

३—अहंकार को छोड़ देता है।

४—स्पृहा से छूटा रहता है।

१. जो सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है—

विषयों में मन को न फँसने देना, कामना का त्याग है। जिस कामना से चञ्चलता, तृष्णा, अशान्ति, लोभ, भय और क्रोध की वृद्धि होती है उसके त्याग में सदा शान्ति है।

स्थितप्रज्ञ का पहला लक्षण भी कामना-त्याग है और अन्तिम लक्षण भी कामना का त्याग। मनुष्य के मन को सदा भयभीत और दुःखी रखनेवाली कामना है। कामना का मूलतः त्याग अथवा सब प्रकार त्याग करने का अभिप्राय है, पवित्र होकर हृदय से कर्म करना।

जो कर्म न करके फल चाहता है उसकी कामना उसे शीघ्र ही नष्ट कर देती है। जो जितना करता है उतना ही चाहता है, उसकी कामना सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वों से घिरी रहती है। जो केवल आत्मोन्नति के लिये कर्त्तव्य-पालन करता है उसकी कामना सात्त्विक बन जाती है और धीरे-धीरे उसे पूर्णकाम करके निष्काम अवस्था में टिका देती है।

जिसे कर्म बोझल नहीं लगते, जो कर्मों से दबता नहीं, कर्म करने में आत्मघात नहीं करता, छल और कपट का सहारा नहीं लेता, स्वार्थ के लिये किसी को धोखा नहीं देता, अयोग्य कर्म नहीं करता, कर्म करने में दुःखी और भयभीत नहीं होता; वही कामनाओं को छोड़नेवाला कहा जाता है।

कामनाओं से छूट जाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय परमपुरुष की उपासना है।

'उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः।' (मुण्ड० ३।२।१)

श्री वैभव विजय भूति

जो कामना छोड़नेवाले धीरजन, परम पुरुष की उपासना करते हैं वे भोगमय जगत् को लाँघ जाते हैं।

सार वस्तु के लिये असार वस्तु का त्याग करनेवाला बुद्धिमान-पुरुष निष्काम कहा जाता है।

निष्काम होना, स्थितप्रज्ञ का सर्वोत्तम लक्षण है, जिसमें अन्य सब लक्षण समा जाते हैं—

१—निष्काम पुरुष सदा सन्तुष्ट रहता है। वह आत्मा में स्थित होकर समत्व बुद्धि से कर्म करता है।

२—निष्काम पुरुष सुख में स्पृहा नहीं करता; दुःख में उद्विग्न नहीं होता; राग, भय और क्रोध से अलग रहता है।

३—निष्काम पुरुष शुभ की प्राप्ति में हर्ष नहीं मानता और अशुभ की प्राप्ति में शोक नहीं करता। वह सर्वत्र मोह-रहित होकर कुशलता से कर्म करता है।

४—निष्काम पुरुष मन और इन्द्रियों पर संयम रखता है।

५—निष्काम पुरुष नियम और संयम से रहता हुआ परमेश्वर में स्थित होकर कर्म करता है। भक्ति उसकी सकामता को खा लेती है।

६—निष्काम पुरुष सदा राग-द्वेष-रहित होकर कर्म करता है।

७—निष्काम पुरुष सदा प्रसन्न रहता है।

८—निष्काम पुरुष सदा सावधान, जाग्रत और प्रकाशमय रहता है।

९—निष्काम पुरुष समुद्र की भाँति अचल, परिपूर्ण, गम्भीर और तृप्त रहता है।

जो स्थितप्रज्ञ है वह निष्काम है, जो निष्काम है वह स्थितप्रज्ञ है।

कामनायें ममता के कारण उठती हैं। कामनाओं से छूटने के लिये ममता का त्याग आवश्यक है।

२—ममता-रहित हो जाता है—

जग-जीवों और पदार्थों के साथ मोह और स्वार्थमय सम्बन्ध जोड़ना ममता है। ममता में अपना स्वार्थ, मोह और स्नेह ऊपर रहता है। "मेरी वस्तु से मैं ही लाभ उठाऊँगा; मेरे स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु अन्याय करें तो भी सहन करूँगा; अयोग्य हों तो भी उन्हीं को बड़ा मानूंगा; दण्डनीय हों तो भी दण्ड नहीं दूंगा" ऐसे अज्ञानमय कुभावों से उत्पन्न आसक्ति का नाम ममता है।

ममता से भेद भाव उत्पन्न होते हैं, मेरे-तेरे के झगड़े खड़े रहते हैं, अन्याय और स्वार्थ की आँधी उठती है और बुद्धि ढक जाती है।

ममता-रहित होने का अभिप्राय है, न्याय-प्रिय जीवन बनाना और जीवन-यात्रा के लिये केवल अपनी ही नहीं, सब की आवश्यकताओं को देख कर कर्म करना। ममता-रहित पुरुष अपने संग्रह और भोगों के कारागार को तोड़ कर विमुक्त और खुला जीवन बनाता है। वह पदार्थों और जनों को मोह तथा अज्ञान से पकड़े नहीं रहता; किसी वस्तु के लोभ से दुष्कर्म नहीं करता।

ममता-रहित कर्मयोगी अपने और पराये के संकुचित भेदों में पड़ कर जीवन को छोटा नहीं बनाता। वह अपने हृदय की विशालता और उदारता से संसार को अपना कर लेता है।

ममता का बल अहंकार है। शान्ति-मार्ग का पथिक—

३—अहंकार को छोड़ देता है—

धन, बल, विद्या, विशेषता और प्रभुता पाकर जो अपने-आपको

ऊँचा समझने का भाव है उसी का नाम 'अहंकार' है। अहंकार आँखों पर छा जाता है और सत्य को नहीं देखने देता।

अहंकारी पुरुष केवल अपना ही मान चाहता है और अपने-आप को ही बड़ा मानता है। अहंकार, आसुरी सम्पत्ति का अत्यन्त बलवान सेनापति है। 'मैं' पन की प्रबलता से वह समस्त सद्-भावनाओं को दबा देता है। अहंकारी केवल अपना ही सुख, वृद्धि और बड़प्पन चाहता है।

ईर्ष्या, घृणा, क्रोध और असन्तोष का पिता अहंकार है। अहंकार सब दुःखों का मूल है। अहंकारी पुरुष से न अपना हित होता और न दूसरे का।

इस जगत में उस तिनके का भी जीवन धन्य है जो अहंकार-रहित होकर डूबते हुए का सहारा बन जाता है।

बह रही है सृष्टि की यह वेगवान प्रचण्ड धारा।
धन्य वह तिनका बना है डूबते का जो सहारा॥

अहंकार के साथ स्पृहा रहती है। शान्ति उसे प्राप्त होती है जो—

४—स्पृहा से छूटा रहता है—

स्पृहा कामना का सूक्ष्म रूप है। सुख मिलने पर और अधिक सुख की चाह करना 'स्पृहा' है। स्पृहा ऐसी कुभावना उत्पन्न कर देती है कि अमुक वस्तु के बिना जीवन ही नहीं चलेगा। स्पृहा नित्य नयी-नयी आवश्यकताओं को बढ़ाती है।

जो कामना, ममता, अहंकार और स्पृहा को छोड़ कर विचरता है वही शान्ति प्राप्त करता है। 'चरति' शब्द का अर्थ है—निश्चिन्त और निर्भय होकर व्यवहार करना। इसी स्थिति को ब्राह्मी स्थिति कहते हैं।

७२

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

एषा, ब्राह्मी, स्थितिः, पार्थ, न, एनाम्, प्राप्य, विमुह्यति,
स्थित्वा, अस्याम्, अन्तकाले, अपि, ब्रह्मनिर्वाणम्, ऋच्छति ।

पार्थ=हे पार्थ, एषा=यह, ब्राह्मी स्थितिः=ब्राह्मी स्थिति है, एनाम्=इसको, प्राप्य=पाकर (मनुष्य), न विमुह्यति=मोहित नहीं होता, अन्तकाले=अन्तकाल में, अपि=भी, अस्याम्=इसमें, स्थित्वा=स्थित होकर, ब्रह्मनिर्वाणम्=ब्रह्म निर्वाण को, ऋच्छति=प्राप्त हो जाता है ।

यह पार्थ ! ब्राह्मीस्थिति इसे पा नर न मोहित हो कभी ।
निर्वाण पद हो प्राप्त इसमें ठैर अन्तिम काल भी ॥

अर्थ—हे पार्थ ! यह ब्राह्मी स्थिति है इसको पाकर मनुष्य मोहित नहीं होता । अन्तकाल में भी इसमें स्थित होकर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त हो जाता है ।

व्याख्या—जगत परिवर्तनशील है । आना और जाना यहां बराबर बना रहता है । यहां किसे नहीं मरना है ? और किसे जन्म नहीं लेना ? परन्तु जीवित रहनेवालों में गिनती उसी की है जो उदार है—

'परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ।
जातस्तु गण्यते सोऽत्र औदार्येण प्रशस्यते ॥'

मनुष्य की चित्त-वृत्तियों में भी नित्य नया परिवर्तन होता रहता है,
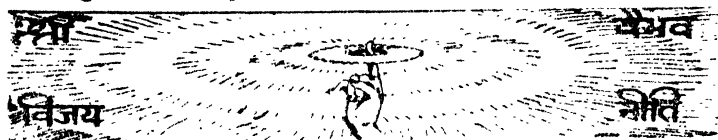
काम, क्रोध, लोभ, मोह, ममता, अहंकार, राग, द्वेष, आशा-निराशा आदि अनेक गुण, कर्म और विकारों से वृत्ति बनती है।

चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध करना योग का कार्य है। योगदर्शन में यम-नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा सम्पूर्ण चित्त वृत्तियों के निरोध करने का वर्णन है। योग की अन्तिम अवस्था समाधि है। समाधि में स्थित होते ही वृत्तियों की चञ्चलता का अन्त हो जाता है। जब वृत्तियां एकाग्र और पवित्र हो जाती हैं तब मनुष्य ब्राह्मी स्थिति में टिकता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः = यह ब्राह्मी स्थिति है—

स्थितप्रज्ञ जिस स्थिति में रह कर व्यवहार करता है—उठता, बैठता, चलता, खाता, बोलता और सम्पूर्ण कर्म करता है—उसे गीता में 'ब्राह्मी स्थिति' कहा है।

'ब्राह्मी स्थिति का अर्थ है—ब्रह्म में होनेवाली स्थिति।'—शङ्कराचार्य

'आत्मज्ञान-सहित कर्म में संग-रहित स्थिति—जो ब्रह्म को प्राप्त करानेवाली है।' —रामानुज

'कर्मयोग की अन्तिम और अत्युत्तम स्थिति।' —तिलक

ब्राह्मी स्थिति वह है जिसमें अहंकार तिरोहित हो जाता है, मोह, प्रेम में बदल जाता है, ममता, समता तथा उदारता का रूप धर लेती है, कामनायें विशुद्ध हो जाती हैं, जीव, ब्रह्ममय बन जाता है और ब्रह्म तथा आत्मा की एकता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

ब्राह्मी स्थिति कर्म, ज्ञान और भक्ति के योग की पूर्णावस्था है।

अध्यात्म में स्थित रह कर जीवन्मुक्त होने का नाम ब्राह्मी स्थिति है। मोक्ष के लिये कहीं जाना नहीं पड़ता, न वह किसी स्थान पर रखी मिलती है। अज्ञान की ग्रन्थि खुलते ही मोक्ष मिल जाता है—

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति न ग्रामान्तमेव वा।
अज्ञान हृदय ग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः॥

(शिव गीता १३।१२)

ब्रह्ममय होजाने पर सुख-दुःख आदि द्वन्द्व नहीं रहते, एक विलक्षण आनन्द का अनुभव होता है—यही ब्राह्मी स्थिति है। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' के अनुसार जब जीव, ब्रह्म को जान कर और ब्रह्म में टिक कर व्यवहार करता है तब उसे ब्राह्मी स्थिति मिलती है।

नैनां प्राप्य विमुह्यति = इसको पाकर मनुष्य मोहित नहीं होता—

धन, बल, विद्या, गुण, स्वास्थ्य और परिवार होते हुए भी स्थितप्रज्ञ को किसी में आसक्ति नहीं होती, वह न राग करता है और न द्वेष। स्थितप्रज्ञ ब्राह्मीस्थिति में टिक जाता है और फिर किसी प्रकार मोहित नहीं होता; सब वृत्तियों का निरोध करके अपने पवित्र ध्येय के चिन्तन में उसकी प्रज्ञा टिक जाती है, ज्ञान ही उसका ध्यान बन जाता है और वही व्यवहार में उतरता है।

द्वन्द्व, मोह, प्रलोभन, विकार और अज्ञान स्थितप्रज्ञ को अपने ध्येय से नहीं हटा पाते। स्थितप्रज्ञ दृढ़ता का महामेरु होकर कर्म करता है। उसके प्राणों में दैवी बल भर जाता है:

'स वै दैवः प्राणः यः न व्यथतेऽथो न रिष्यति।' (श० १४।४।३६।२)

जो न व्यथित होता है और न रिसता है वही दैवी प्राण है।

जीवन के कठिन-से-कठिन समय में यहां तक कि मरणकाल में भी स्थितप्रज्ञ भयभीत, मोहित या दुःखी नहीं होता।

संयमहीन प्राणी को भय मोह चिन्ता क्लेश और मरणकाल की यातनायें घेरती हैं, स्थितप्रज्ञ ब्राह्मीस्थिति में टिक कर सदा सुखी और मुक्त रहता है।
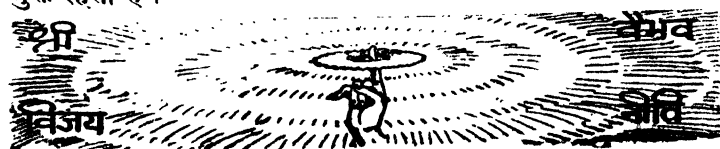
प्रारम्भ से ही जीवन को संयमी बनाने का प्रयत्न करनेवाला ब्राह्मी स्थिति में टिकने के योग्य होता है।

पूर्वे वयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः।
धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते॥

जीवन के यौवनकाल में जो शान्ति और संयम की साधना कर लेता है वही संसार की आग से बच कर शान्ति पाता है। शरीर में बल न रहने पर क्षीणता की अवस्था में संयम कैसे हो सकता है? इन्द्रियों के शिथिल पड़ जाने पर संयम करना, न करना एक समान है।

ब्राह्मी स्थिति में टिके हुए पुरुष के लिये ब्रह्मनिर्वाण सदा सुलभ है

मृत्यु होने के पश्चात् ही मोक्ष मिले, यह सिद्धान्त गीता को मान्य नहीं है। ब्राह्मी स्थिति में टिकजानेवाला सदा मुक्त रहता है।

ब्रह्मनिर्वाण का अर्थ है—देहाभिमान से छूट कर ब्रह्म में लीन हो जाना। ब्रह्म का अर्थ है—व्यापक, विशाल, अक्षर, निर्विकार आदि। निर्वाण का अर्थ है—परम सुख। जीव जब असत् को छोड़ कर सत् में स्थित हो जाता है, अंधेरे से प्रकाश में आता है, मृत्यु से छूट कर अमृत पाता है तब उसे ब्रह्मनिर्वाण मिलता है।

जीवन पर्यन्त प्रयत्न करते-करते यदि अन्तिम समय तक भी ब्राह्मी-स्थिति प्राप्त हो जाय तो भी ब्रह्मनिर्वाण अथवा मुक्ति मिल जाती है।

व्यापक, अनन्त और सर्वमय होजाना 'ब्रह्मनिर्वाण' है।

ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करने के लिये कर्मशील, चरित्रवान, अनासक्त, उदार भगवत्परायण और आनन्दमय जीवन बनना ही गीता का ज्ञान और ध्येय है।

श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य 'गीताज्ञान' का
दूसरा अध्याय 'ज्ञानयोग' सम्पूर्ण

गीताज्ञान

श्लोक, पदच्छेद, अन्वय, शब्दार्थ, सरल अर्थ और पद्यानुवाद सहित

युग की भाषा में गीता का जीवनोपयोगी नवीनतम भाष्य

३

तीसरा अध्याय

[कर्मयोग]

लेखक—

श्रीहरिगीता, गीताअध्ययन, गीता के सप्तस्वर, संध्या आदि के यशस्वी लेखक

व्याख्यानवाचस्पति श्री पं० दीनानाथ भार्गव दिनेश

संशोधित तथा परिवर्धित द्वितीय संस्करण

विजयदशमी
सं० २००८

मूल्य
२)

द्वितीय संस्करण के सम्बन्ध में

'गीताज्ञान' के तीसरे अध्याय 'कर्मयोग' का प्रथम संस्करण दिसम्बर १९४९ में प्रकाशित हुआ था और अधिक माँग के कारण दिसम्बर १९५० में ही समाप्त होगया।

इस दूसरे संस्करण में श्रीदिनेश जी ने आवश्यक संशोधन और परिवर्धन किया है इसी कारण पुनः मुद्रण में विलम्ब हुआ और पाठकों को लम्बी प्रतीक्षा करनी पड़ी।

गीता के इस अध्याय में कर्म का वह ज्ञान है जिससे जीवन को सौन्दर्य मिलता है। इस अध्याय में यज्ञ-कर्म की विलक्षण व्याख्या है मनुष्य के जीवन का आधार कर्म है। कर्म कर लेने की विधि जान लेने से कर्म के बन्धन कट जाते हैं और सुख, शान्ति तथा मुक्ति सुलभ हो जाती है।

दुःखी जीवन को सुखी और शान्त बनाने के लिये श्रीकृष्ण ने 'कर्मयोग' का यह अध्याय दिया है।

पाठकों की सेवा में कर्मयोग की सरल व्याख्या सादर समर्पित है। आशा है यह लाभकारी सिद्ध होगी।

भवदीय—

केदारनाथ भार्गव

व्यवस्थापक—मानवधर्म कार्यालय, देहली।

प्रकाशक—मानवधर्म कार्यालय, दिल्ली।

मुद्रक—जमना प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली।

श्रीमद्भगवद्गीता

कर्मयोग

卐

गीता ब्रह्मविद्या का योगशास्त्र है। गीता को जीवन के युद्ध का उपनिषद् कहें अथवा कर्मयोग का शास्त्र कहें उसमें सत्य को सुन्दर बना कर व्यवहार में लाने का शिव योग है। संसार के भोग भोगते हुए सच्चिदानन्द से पृथक् न होना, गीता की कला है।

इस दुःखी संसार में वे सदा सुखी हैं जो गीता का आत्म-विमोहक संगीत सुनते हुए निरन्तर कर्म करते हैं।

गीता कर्म में कुशलता देनेवाले योग का सार्वजनिक ग्रन्थ है। गीता जीवन-पथ पर प्रकाश डालती है, प्रत्येक परिस्थिति में ऊपर उठने का बल देती है और व्यवहार के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध जोड़ती है।

जो गीता के साथ जीवन को जोड़ते हैं, उससे प्रेरणा लेते हैं, उसके दिव्य तेजोमय ज्ञान को अंगीकार करके आगे बढ़ते हैं, वास्तव में वे ही गीता पढ़ते हैं।

गीता का प्रत्येक श्लोक परमेश्वर की वाणी-मूर्ति है, जो आध्यात्मिक सत्य और दिव्य जीवन के अनुभवों से तेज पूर्ण है।
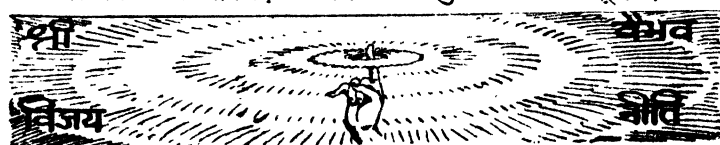
कर्म गीता का सार है। कर्म को पवित्र, निर्दोष यज्ञमय अथवा परमेश्वर के अर्पण करने योग्य बनाना गीता का चरमलक्ष्य है।

कर्म, जीवन को सुखी बनाने का सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है। इस मन्त्र को जपने वाले जीवन्मुक्त पुरुष, पुरुषोत्तम का पद पाते हैं।

जीवन का आधार कर्म है। कर्म को अपनी इच्छा-पूर्ति का साधन बनानेवाले कामना के जीवन में बँध जाते है। बन्धन में सर्वत्र दुःख और भय है। गीता का योग, भय और दासता के बन्धनों को तोड़ने के लिये है।

गीता निरन्तर कर्म करने का आदेश देती है और इसी कारण संसार को असार कह कर कर्म-संन्यास करनेवाले विरक्त मतों से गीता की श्रेष्ठता अधिक है। गीता कामनाओं से मुक्त पुरुष को आत्मवान, संयमी, स्थितप्रज्ञ और जीवन्मुक्त मानती है। कोई भी कामना जब मन पर चढ़ाई नहीं कर पाती, बुद्धि जब द्वन्द्वातीत होकर दुःख-रहित धैर्य में टिक जाती है तब मनुष्य में देवत्व की प्रतिष्ठा होती है।

गीता बुद्धि को ऊर्ध्वमुखी और अन्तर्मुखी करके कर्म करने का आदेश देती है। निम्नगामिनी बुद्धि प्रकृति के गुणों में फँस जाती है और जीव को अज्ञान, मिथ्याचार तथा विषय-भोगों की कीचड़ में ला फँसाती है। मोह की दल-दल में फँसा हुआ प्राणी शोक, क्रोध, राग, द्वेष और भय की दया पर जीवित रहता है।

गीता इस दलदल से पार होने के लिये कर्म का सहारा देती है। गीता में वर्णित कर्म की पूर्णता ब्राह्मी स्थिति में है। ब्राह्मी-स्थिति अथवा जीवन्मुक्त अवस्था तक पहुँचने के लिये गीता—कर्म,

ज्ञान और भक्ति के मार्ग दिखाती है। सूत्र रूप से यही गीता का योग है। इस योग का आसन आत्मा के ज्ञान पर टिकता है। मोह-निवारण इसकी धारणा है और निष्काम कर्मयोग इसकी समाधि।

कर्म-समाधि में ध्यान की सब से अधिक आवश्यकता है। ध्यान में अवस्थित करनेवाला बुद्धियोग है। बुद्धि की अपेक्षा कर्म अत्यन्त तुच्छ है। "दूरेणह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय" (२।४९) बुद्धि से कर्मों का क्षय किये बिना समाधि नहीं लगती।

वीतराग, संयमी, इच्छामुक्त, निर्मम और निरहंकार होकर विचरनेवाला ही शान्ति पाता है।

अर्जुन जैसा बुद्धिमान् धीर-वीर और संयमी पुरुष भी श्रीकृष्ण के इस महाभाव को स्पष्ट नहीं समझ सका। वह ज्ञान और कर्म को पृथक्-पृथक् रख कर निर्णय नहीं कर पाया कि कौनसा मार्ग श्रेष्ठ है।

मन के विकारी अथवा निर्विकारी भाव के अनुसार ही बुद्धि का निश्चय होता है। मोह में घिरा हुआ अज्ञान में विचरनेवाला अपवित्र मन, बुद्धि को निश्चित, उचित और न्यायपूर्ण निर्णय नहीं करने देता। मन की वृत्ति, कल्पना, निर्णय और भाव के अनुरूप ही बुद्धि कार्य करती है। जैसा मन होता है वैसी ही बुद्धि। मन की प्रेरणा से बुद्धि में अच्छे-बुरे का ज्ञान और ज्ञान को ग्रहण करने की योग्यता आती है।

श्रीकृष्ण के इस गूढ़ उपदेश को सुनकर अर्जुन का ज्ञान उलझन में पड़ गया, उसने निवेदन किया, 'हे केशव! आप हृदय-हृदय की बात जानकर सबके मनोरथ पूर्ण करनेवाले हैं, फिर मुझे घोर कर्म में क्यों लगाते हो—
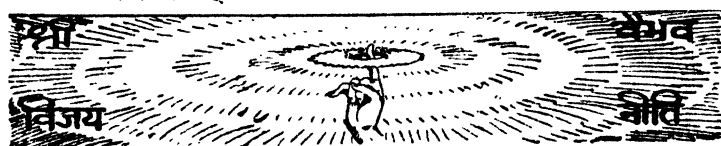
१

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥

ज्यायसी, चेत्, कर्मणः, ते, मता, बुद्धिः, जनार्दन,
तत्, किम्, कर्मणि, घोरे, माम्, नियोजयसि, केशव।

जनार्दन=हे जनार्दन, चेत्=यदि, ते=आपको, कर्मणः=कर्मों की अपेक्षा, बुद्धिः=बुद्धि, ज्यायसी=श्रेष्ठ, मता=मान्य है, तत्=तो फिर, केशव=हे केशव, माम्=मुझे, घोरे=भयंकर, कर्मणि=कर्म में, किम्=क्यों, नियोजयसि=लगाते हो।

यदि हे जनार्दन! कर्म से तुम बुद्धि कहते श्रेष्ठ हो।
तो फिर भयंकर कर्म में मुझको लगाते क्यों कहो॥

अर्थ—हे जनार्दन! यदि आपको कर्मों की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव! मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हो।

व्याख्या—आसक्तजन अपनी हठ नहीं छोड़ता। श्रेष्ठजनों की कर्त्तव्य-निर्णय करनेवाली वाणी भी उसे अपनी विमूढ़ता के कारण कष्टप्रद और घोर जान पड़ती है। विषाद में घिरे हुए जीव को सीधा रास्ता टेढ़ा लगता है, वह अपने ही मन और मन के मत के पीछे चलता है, बुद्धि को शोक बढ़ाने में सहायक बनाता है और अपने-आप ही अपने बनाये हुए जाल में फँसकर दुःखी रहता है।

संसार में रहकर संसार के दोषों से बचे रहना सर्वश्रेष्ठ साधना है। कर्म करते हुए कर्म के दोषों से किस प्रकार छूटा जाय? यह एक महाप्रश्न है. इस प्रश्न का उत्तर गीता का सम्पूर्ण ज्ञान है। ज्ञान और कर्म की एकता जीवन-सम्बन्धी सब प्रश्नों का उत्तर दे देती है परन्तु विषाद, बेचैनी, मोह और अज्ञान मे ज्ञान एवं कर्म दोनों अलग-अलग जान पड़ते हैं।

विषाद. चित्त की अस्थिरता और मोह मनुष्य को किसी भी निर्णय पर नहीं पहुँचने देते, वह भटकता है और नये-नये दुःखों को बढ़ाता है। अर्जुन इसी स्थान मे था।

अर्जुन ने बुद्धि और ज्ञान को कर्म से श्रेष्ठ मान लिया था। कर्त्तव्य-पालन का युद्ध-कर्म उसे भयंकर प्रतीत होता था। दुविधा और भ्रम से छूटने के लिये अर्जुन ने 'केशव और जनार्दन' नाम से श्रीकृष्ण का स्मरण किया।

जनार्दन उसे कहते हैं जो सभी जनों के मनोरथ पूर्ण करता है। जिससे शान्ति और सद्भावना की आशा होती है, उसी के सन्मुख मनुष्य अपने हृदय की बात रखता है। अर्जुन ने जनार्दन श्रीकृष्ण के सामने सरल स्वभाव से अपने मन की शंका कह डाली।

केशव का अर्थ है—केशि दानव का संहार करनेवाले। उत्पत्ति, पालन और संहार तीनों के स्वरूप और शक्ति रूप 'केशव' हैं। केशव सर्वमय और सर्वज्ञ हैं।

अर्जुन अपनी मोह-ममता के कारण यह समझ बैठा था कि श्रीकृष्ण उसे घोर कर्म में लगा रहे हैं, उसने बड़ी व्याकुलता से कहा—

२

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

व्यामिश्रेण, इव, वाक्येन, बुद्धिम्, मोहयसि, इव, मे,
तत, एकम्, वद, निश्चित्य, येन, श्रेयः, अहम्, आप्नुयाम्।

व्यामिश्रेण इव=मिले हुए-से, वाक्येन=वाक्य कहकर (आप), मे=मेरी, बुद्धिम्=बुद्धि को, मोहयसि इव=मोहित-सी करते हैं, तत्=उस, एकम्=एक बात को, निश्चित्य=निश्चय करके, वद=कहिये, येन=जिससे, अहम्=मैं, श्रेयः=कल्याण को, आप्नुयाम्=प्राप्त हो जाऊँ।

उलझन भरे कह वाक्य, भ्रमसा डालते भगवान हो।
वह बात निश्चय कर कहो जिससे मुझे कल्याण हो॥

अर्थ—*मिले हुए-से वाक्य कहकर आप मेरी बुद्धि को मोहित-सी करते हैं। उस एक बात को निश्चय करके कहिये जिससे मैं कल्याण को प्राप्त हो जाऊँ।*

व्याख्या—मनुष्य चाहता है अपने मन को सुहानेवाला आदेश, एक सरल साधन और स्पष्ट भाषा में निश्चित बात। इसी कारण श्रीकृष्ण के प्रारम्भिक कथन में उलझन पाकर अर्जुन ने निवेदन किया—

१—मिले हुए से वाक्य कह कर आप मेरी बुद्धि को मोहित-सी करते हैं।

२—एक बात निश्चय करके कहिये जिससे मेरा कल्याण हो।

१. मिले हुए से वाक्य कहकर आप मेरी बुद्धि को मोहित-सी करते हैं—

अनेक प्रकार के वाक्य सुनकर बुद्धि मोह में पड़ जाती है। सुनी हुई बातों से जब मनुष्य किसी एक सिद्धान्त पर नहीं पहुँचता, तब वह भूलता और भटकता है। (गीता २।५३)

श्रीकृष्ण की बात स्पष्ट थी। श्रीकृष्ण ने संक्षेप में ज्ञान, उपासना और कर्म के सिद्धान्तों का निरूपण किया था। समय और शक्ति का सदुपयोग करने के लिये श्रीकृष्ण ने गिने-चुने शब्दों में वह सब कह दिया जो मानवमात्र के लिये हितकर हो सकता है। विशुद्ध और निश्चित अन्तःकरण न होने के कारण अर्जुन को भ्रम होगया। मोह और विषाद से घिरे मनुष्य में ग्रहण करने की योग्यता नहीं रहती।

जीवन में ऐसे बहुत से अवसर आते हैं, जब मनुष्य द्विविधा में पड़ जाता है। सफलता-असफलता, सुख-दुःख, लाभ-हानि पुण्य-पाप आदि द्वन्द्वों की कल्पना उसे कँपा देती है। कर्म की कठोरता देखकर वह भयभीत हो जाता है; ऐसी अवस्था में मनुष्य अपनी आत्म-स्वतन्त्रता को खो देता है, यही मोह का भयंकर परिणाम है। मोह में पड़ा मनुष्य कभी ब्रह्मज्ञान की बातें करता है, कभी आत्मा-परमात्मा की चर्चा सुनता है, कभी ज्ञान में उलझता है, कभी भक्ति के मधुर रस का आस्वादन लेना चाहता है और कभी कर्म के मार्ग पर दौड़ता है; उसके आत्म-बल का पतन हो जाने के कारण वह किसी एक दिशा में नहीं बढ़ता और स्पष्ट तथा हितकर बात से भी उसके मोह की निवृत्ति नहीं होती।

मोह में घिरा हुआ मनुष्य किसी परिणाम पर नहीं पहुँचता, परन्तु जो अर्जुन की भांति विचारपूर्वक किसी गुरु, नेता अथवा पथ-प्रदर्शक का सहारा लेता है उसे निश्चित मार्ग मिल जाता है।

२. एक बात निश्चय करके कहिये जिससे मेरा कल्याण हो—

अपने मोह और भ्रम को दूर करने के लिये जो एक निश्चित और स्पष्ट मार्ग जानने की हार्दिक अभिलाषा करता है, उसे मार्ग अवश्य मिलता है।

जगत् के सभी सिद्धान्तों में सत्य है और प्रत्येक पुरुष में योग्यता तथा शक्ति है, केवल एक मार्ग-दर्शक और नियोजक की आवश्यकता है।

अमन्त्रमक्षरं नास्ति, नास्ति मूलमनौषधम्।
अयोग्यः पुरुषोनास्ति, योजकस्तत्र दुर्लभः॥

—शुक्रनीति

योजना से अधिक नियोजक का मूल्य है। मनुष्य को यथायोग्य कर्म में लगानेवाला ही वास्तविक गुरु और नेता है।

अंध-श्रद्धा और मूढ़-विश्वास से ज्ञान की चर्चा सुन लेने से शिष्य का कल्याण नहीं होता। जिज्ञासा से किये गये प्रश्नों और विचारों से ज्ञान का द्वार खुलता है। अर्जुन ने अज्ञानी भक्तों और शिष्यों की भांति श्रीकृष्ण के उपदेश सुने-अनसुने नहीं किये; वरन् निश्चित रूप में श्रेय का मार्ग जानने की प्रार्थना की।

पवित्र जिज्ञासा और श्रेय का मार्ग जानने की उन्नत अभिलाषा भगीरथ की भांति ज्ञान की गंगा लाने में समर्थ है।

अर्जुन के प्रश्न से श्रीकृष्ण प्रसन्न हुए, उन्होंने कहा—

३

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

लोके, अस्मिन् , द्विविधा, निष्ठा, पुरा, प्रोक्ता, मया, अनघ,
ज्ञानयोगेन, सांख्यानाम् , कर्मयोगेन, योगिनाम् ॥

अनघ=हे निष्पाप (अर्जुन), पुरा=पहले, मया=मेरे द्वारा, अस्मिन्=इस, लोके=लोक में, द्विविधा=दो प्रकार की, निष्ठा = निष्ठा, प्रोक्ता=कही गयी है, सांख्यानाम्=ज्ञानियों की, ज्ञानयोगेन=ज्ञानयोग से (और) योगिनाम् = योगियों की, कर्मयोगेन = कर्मयोग से ।

पहले कही दो भांति निष्ठा, ज्ञानियों की ज्ञान से ।
फिर योगियों की योग-निष्ठा, कर्मयोग विधान से ॥

अर्थ—*हे निष्पाप अर्जुन ! पहले मेरे द्वारा इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा कही गयी है—ज्ञानियों की ज्ञानयोग से और योगियों की कर्मयोग से ।*

व्याख्या—गीता में ब्रह्मज्ञान की व्यावहारिक व्याख्या है, गीता में जो उपदेश है उसे व्यवहार में लाने की विधि भी है । गीता में दो प्रकार की निष्ठायें हैं—

१—सांख्यों की ज्ञानयोग से निष्ठा ।

२—योगियों की कर्मयोग से निष्ठा ।

१. सांख्यों की ज्ञानयोग से निष्ठा—

निष्ठा का अर्थ है—स्थिति । निष्ठा उस मार्ग को भी कहते हैं जिस पर चलने से मुक्ति मिलती है ।

सांख्य का साधारण अर्थ है—शास्त्र । सम्यग् ज्ञान करानेवाला सांख्य है । सांख्य निर्विकार परब्रह्म का प्रतिपादन करता है और ज्ञान के मार्ग पर लाता है, सांख्य ज्ञानरूप है ।

सांख्य-ज्ञान का वर्णन गीता अध्याय २ श्लोक १२ से ३९ तक है ।

२. योगियों की कर्मयोग से निष्ठा—

योग का मार्ग कर्म है । (गीता अ० २।३९ और ४८) कर्मयोग का दर्शन गीता अ० २ श्लोक ४७ से ७२ तक है ।

ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग दोनों एक ध्येय पर पहुँचाते हैं । पवित्र हृदय से कर्म करनेवाला सम्यग् ज्ञान प्राप्त कर लेता है ।

गीता में ज्ञान-मार्ग और कर्म-मार्ग दोनों की ही पहले चर्चा की गयी है—'पुरा प्रोक्ता' का यही अभिप्राय है ।

'पुरा प्रोक्ता' का अर्थ सृष्टि के आदि काल में भी है—शाङ्कर भाष्य ।

'पुरा प्रोक्ता' शब्द में लोक-कल्याण का क्रम और इतिहास है । सृष्टि के आदि काल में अभ्युदय और श्रेय के लिये ज्ञान और कर्म के दो मार्ग प्रकट हुए थे । जब जब लोक-हित की हानि हुई तब तब लोकों को ये ही दो मार्ग मिले हैं । ये दोनों मार्ग देह और आत्मा की भांति एक-दूसरे के पूरक हैं ।

गीता के निष्काम कर्मयोग में ज्ञान और कर्म दोनों की एकता है । कर्म सब सुखों का मूल है । कर्म से ही कर्म के बन्धन छूटते हैं । कर्मों का प्रारम्भ सम्पूर्ण सिद्धियों का साधन है—

४

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥

न, कर्मणाम्, अनारम्भात्, नैष्कर्म्यम्, पुरुषः अश्नुते ।
न, च, संन्यसनात्, एव, सिद्धिम्, समधिगच्छति ।

पुरुषः=मनुष्य, न=न (तो), कर्मणाम्=कर्मों के, अनारम्भात्=आरम्भ न करने से, नैष्कर्म्यम्=निष्कर्मता को, अश्नुते=प्राप्त होता है, च=और, न=न, एव=ही, संन्यसनात्=कर्मों को त्यागने मात्र से, सिद्धिम्=सिद्धि को, समधिगच्छति=प्राप्त होता है,

आरम्भ बिन ही कर्म के निष्कर्म हो जाते नहीं ।
सब कर्म ही के त्याग से भी सिद्धि जन पाते नहीं ॥

अर्थ—*मनुष्य न तो कर्मों के आरम्भ न करने से निष्कर्मता को प्राप्त होता है और न ही कर्मों को त्यागने मात्र से सिद्धि को प्राप्त होता है ।*

व्याख्या—जो पुरुष दैवी दया और वरदानों का दुरुपयोग करते हैं उनमें दुर्वासनायें उत्पन्न हो जाती हैं, यही मल-दोष है । मल-दोष निवृत्त हो जाने पर भी यदि चित्त स्थिर नहीं होता तो उसे विक्षेप-दोष जानना चाहिये । विक्षेप दोष से बुद्धि पर आवरण पड़ जाता है । जिस प्रकार बहती हुई धारा पर काई नहीं जमती उसी प्रकार कर्मशील पर आवरण नहीं पड़ता । कर्म किये बिना दोष दूर नहीं होते और दोषों के रहते हुए न निष्काम कर्म होता और न सिद्धि मिलती है ।
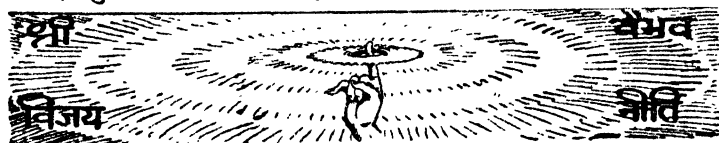
कर्म के साथ ही दोष रहते हैं। अतः ऐसा समझा जाता है—"कर्म का आरम्भ न किया जाय तो मनुष्य, दोषों से बच सकता है और कर्म का आरम्भ हो भी जाय तो कर्मों का त्याग कर देने से सिद्धि मिल जाती है।"

गीता इस युक्ति को निराधार और भ्रममात्र मानती है। श्रीकृष्ण ने निश्चित और स्पष्ट आदेश दिये हैं—

१—कर्म का आरम्भ न करने से कोई निष्काम नहीं होता।

२—कर्मों को त्याग देने से सिद्धि नहीं मिलती।

१. कर्मका आरम्भ न करने से कोई निष्काम नहीं होता—

निष्काम कर्म में गीता का उदार और व्यापक भाव है।

"कर्म बन्धक होता ही है अतः पारे का उपयोग करने से पहले उसे मार कर जिस प्रकार वैद्य लोग शुद्ध कर लेते हैं; उसी प्रकार कर्म करने से पहले ऐसा उपाय करना पड़ता है कि जिससे उसका बन्धकत्व या दोष मिट जाय। ऐसी युक्ति से कर्म करने की स्थिति को ही 'नैष्कर्म्य' कहते हैं।" —तिलक

कामनाओं के कारण मनुष्य अज्ञान और आवेशों को लिये इन्द्रिय-सुखों के पीछे दौड़ता है, विषय-भोगों के विचार उसे संतप्त करते हैं और वह अस्थिर चित्त होकर विकारों में घिर जाता है। मन की चंचलता उसे आशा-तृष्णा में बांध लेती है। वह अयोग्य कर्मों में आसक्त रहता है, अतः निष्काम नहीं होने पाता।

निष्काम कर्म में अन्तःकरण की शान्ति, अहं भाव की शून्यता, निर्विकारता और निष्पाप होने का भाव प्रधान है। प्रकृति के कर्मों से परे जो परम सत्ता है, आध्यात्मिक अवस्था है, उसमें स्थित हो कर किया हुआ कर्म निष्काम कहा जाता है। बुद्धि की समता और

द्वन्द्वातीत अवस्था में जो कुछ होता है वह निष्काम कर्म है।

मनुष्य निष्क्रिय होकर नहीं बैठ सकता। यदि वह कोई हलचल नहीं करता तो अमूल्य जीवन को व्यर्थ खोने का दोष उसे बाँध लेता है, यदि वह कुछ करता है तो कर्म का दोष उसे नहीं छोड़ता। कर्म सदा सदोष है, कर्म का दोष दूर करने के लिये गीता ने निष्काम कर्म दिया है। अहंकार को दबा कर, आत्मा को जान कर, परमार्थ में स्थित होकर, पवित्र अन्तःकरण से, निर्भय और निर्द्वन्द्व हुआ जो जितना अधिक निष्काम कर्म करता है उतना ही उसके जीवन में सत्य और शिव-भावों का सौन्दर्य उभरता है।

कर्म किये बिना कोई निष्काम नहीं होता। निष्काम होने के लिये कर्म करना आवश्यक और अनिवार्य है।

"पार जाने का संकट उपस्थित है, वहाँ नाव का त्याग कैसे किया जा सकता है? छोड़ने से कर्म नहीं छूटता"— सन्त ज्ञानेश्वर।

हृदय में छुपे राग-द्वेष कर्म करने से प्रकट होते हैं। कर्मशील पुरुष को राग-द्वेष और विकारों से छूटने का अवसर मिलता है— कर्महीन को नहीं। कर्मों का आरम्भ न करना निष्कर्म होने का मार्ग नहीं। कर्म करते हुए कर्म के दोषों को हटा देनेवाला निष्काम कहा जाता है।

२. कर्मों को त्याग देने से सिद्धि नहीं मिलती—

सिद्धि का अर्थ है—मुक्ति, अन्तिम सफलता।

कर्म के त्याग से सिद्धि नहीं मिलती। सिद्धि, सफलता, पूर्णता अथवा मुक्ति उस अवस्था में मिलती है जब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि के साथ मिलकर प्रत्येक कर्त्तव्य को युक्ति से पूर्ण करती हैं।
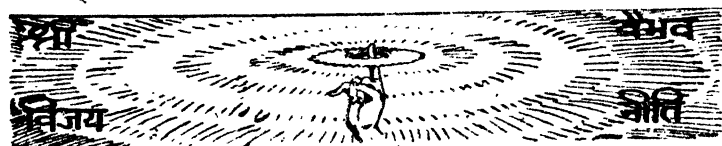
एक-न-एक दिन वृद्धि का अन्त, क्षय होता है, उन्नति के अन्त में पतन मिलता है; संयोग के पश्चात् वियोग देखना पड़ता है; सुख के पश्चात् दुःख आता है और जीवन के अन्त में मृत्यु मिलती है। सिद्धि वह है जिसमें परम सुख से वियोग न हो।

कर्म करते हुए माया-ममता के प्रभाव में न रहनेवाला, विकारों के वड़वानल को पी जानेवाला, विषयों को निर्विप कर देनेवाला और विवेक धारण करनेवाला सिद्धि प्राप्त करता है।

कर्म से ही हार्दिक प्रसन्नता मिलती है। प्रसन्नता प्राप्त कर लेना सर्वोत्तम धर्म है। कर्म की नींव पर जीवन का भवन खड़ा होता है। जितनी गहरी नींव पड़ती है उतना ही ऊँचा जीवन उठता है। उत्तम पुरुष किसी भी परिस्थिति में कर्म को नहीं छोड़ते—

"प्रारभ्यते न खलु विघ्न भयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्न विहिता विरमन्तिमध्याः।
विघ्नैः सहस्र गुणितैरपि हन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तम जना न परित्यजन्ति॥"

कर्म नहीं आरम्भ अधम जन करते विघ्नों से डर कर।
बाधाओं को देख अधूरा कर्म छोड़ते मध्यम नर॥
जीवन-पथ पर कोटि-कोटि आयें बाधायें या उलझन।
हाथ लगा कर कर्म बीच में नहीं छोड़ते उत्तम जन॥

कर्म की शक्ति अनन्त है। कर्म करने से होता है जानने से नहीं। ज्ञान से सिद्धि का मार्ग जाना जाता है; कर्म एक-एक कदम चल कर सिद्धि तक पहुँचाता है। कर्म के बिना जीवन का कोई मूल्य नहीं। जो स्वयं कर्म नहीं करता उसे पराधीन होकर कर्म करना पड़ता है—

६

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

न, हि, कश्चित्, क्षणम्, अपि, जातु, तिष्ठति, अकर्मकृत्, कार्यते, हि, अवशः, कर्म, सर्वः, प्रकृतिजैः, गुणैः ॥

हि=क्योंकि, कश्चित्=कोई, क्षणम्=क्षण भर, अपि=भी, जातु=किसी काल में, अकर्मकृत्=कर्म किये बिना, न=नहीं, तिष्ठति=रहता, हि=निःसन्देह, सर्वः=सभी, प्रकृतिजैः=प्रकृति से उत्पन्न हुए, गुणैः=गुणों द्वारा, अवशः=परवश हुए, कर्म=कर्म, कार्यते=करते हैं।

बिन कर्म रह पाता नहीं कोई पुरुष पल भर कभी ।
हो प्रकृति-गुण आधीन करने कर्म पड़ते हैं सभी ॥

अर्थ—क्योंकि कोई क्षणभर भी किसी काल में कर्म किये बिना नहीं रहता । निःसन्देह सभी प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं ।

व्याख्या—इस जगत् में सर्वत्र कर्म की चेतना है। पलभर के लिये भी कर्म-चक्र के रुकने की कल्पना नहीं की जा सकती। जन्म लेना, जीवित रहना और देह त्यागना भी एक कर्म है।

सांख्य के मत से—"कर्म का त्याग ही मुक्ति का मार्ग है। जो जीव, प्रकृति के कर्मों में लिप्त रहता है उसकी बुद्धि अहंकार, मोह और काम में फँस जाती है! कर्मों से निवृत्ति होने पर इच्छा और अज्ञान का भी अन्त हो जाता है।"

गीता की विचारधारा इससे विपरीत है। गीता के मत से कर्म का त्याग किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं है—

१—कोई प्राणी एक क्षण के लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता।

२—सब प्राणी प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के आधीन होकर कर्म करते हैं।

१. कोई प्राणी एक क्षण के लिये भी बिना कर्म किये नहीं रह सकता—

सम्पूर्ण विश्व ईश्वर का एक कर्म है। कर्म छोड़ कर मौन बैठना भी एक कर्म है। चलना, फिरना, देखना, बोलना सोना आदि भी कर्म हैं। क्षणभर के लिये भी मनुष्य कर्मों को छोड़कर नहीं रह सकता।

कर्म छोड़ने का आग्रह एक प्रकार से आत्म-प्रवञ्चन है। अच्छे अथवा बुरे किसी न किसी प्रकार के कर्म जीव से अवश्य होते हैं। कर्म करना इन्द्रियों का स्वाभाविक धर्म है। कर्म का त्याग भी एक कर्म है। कर्म से बचने का निश्चय, कायरता और अधर्म है। जब तक शरीर है तब तक कर्म है। कर्म जीवन है और कर्म का त्याग मृत्यु।

२. सब प्राणी प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों के आधीन होकर कर्म करते हैं—

सहज स्वभाव से प्रसन्नता पूर्वक कर्म करनेवाला सदा सुखी रहता है। जो स्वयं कर्म नहीं करता उसे प्रकृति के आधीन होकर कर्म करने पड़ते हैं। तीन गुणों के मायाजाल में बाँध कर प्रकृति प्राणिमात्र को नचाती है। इस पराधीनता में दुःख ही दुःख है।

रजोगुण के आधीन होकर कर्म करने से रावण के समान महाज्ञानी और तपस्वी की भी दुर्गति हुई। वह धर्म से, अधर्म से,

बल से, विद्या से, तप से सब प्रकार अपने स्वार्थ-सुख और भोगों की वृद्धि में लगा रहता था। प्रेम, सेवा, सद्भावना की सूझ उसमें नहीं थी, रजोगुण का यही रूप है। रजोगुणी प्रारब्ध से प्राप्त सुखों में डूब जाता है, रजोगुण उसे कठपुतली की भांति नचाता है और वह लाचार होकर बँधा हुआ नाचता है।

तमोगुण कुम्भकर्ण के समान है। सोने और खाने में ही उसका जीवन था। आलस्य, प्रमाद, नींद, दुराग्रह, अभिमान आदि में बँध कर पड़ रहने में ही तमोगुण प्रसन्न होता है।

विभीषण सतोगुण का उदाहरण है। सत्वगुण अशुभ का साथ छोड़कर शुभ की ओर बढ़ता है, न्याय, सत्य और शील के साम्राज्य की वृद्धि करता है, मोह और अज्ञान से छूट कर उदार और ज्ञानपूर्ण कर्म करता है।

तीनों गुण अपनी-अपनी शक्ति और प्रभाव के अनुसार कर्म कराते हैं। जहाँ जैसा गुण होता है वहां वैसे ही कर्म होते हैं।

श्रीराम और श्रीकृष्ण गुणातीत हैं। वे कर्म-बन्धन से मुक्त पुरुषोत्तम कहे गये। उनका चरित्र निर्दोष था। उन्होंने अपने कर्मों से धर्म की व्याख्या की। श्रीराम और श्रीकृष्ण कर्मयोग के साक्षात स्वरूप हैं।

जीव को विकारों में डूबा हुआ और अकर्मण्य देखकर प्रकृति तुरन्त ही अपना दंड उठाती है और गुणों के अनुसार बलपूर्वक कर्म में नियुक्त कर देती है।

यह स्पष्ट है कि किसी भी परिस्थिति में कर्म नहीं छोड़ा जा सकता। मन और बुद्धि में जो संकल्प-विकल्प होते हैं वे भी कर्म ही हैं। जो हठ से हाथ-पैर आदि इन्द्रियों की क्रियाओं को रोककर बैठ जाते हैं और कर्म न करने का आग्रह करते हैं उन्हें मिथ्याचारी कहा है—

६

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥

कर्मेन्द्रियाणि, संयम्य, यः, आस्ते, मनसा, स्मरन्,
इन्द्रियार्थान्, विमूढात्मा, मिथ्याचारः, सः, उच्यते ।

कर्मेन्द्रियाणि = कर्मेन्द्रियों को, संयम्य = रोककर, यः = जो, विमूढात्मा = मोहित अन्तःकरणवाला, मनसा = मन से, इन्द्रियार्थान् = इन्द्रियों के भोगों का, स्मरन्=चिन्तन करता, आस्ते = रहता है, सः=वह, मिथ्याचारः = मिथ्याचारी, उच्यते=कहा जाता है ।

कर्मेन्द्रियों को रोक जो मनसे विषय-चिन्तन करे ।
वह मूढ़ पाखण्डी कहाता दम्भ निज मन में भरे ॥

अर्थ—कर्मेन्द्रियों को रोककर जो मोहित अन्तःकरणवाला मन से इन्द्रियों के भोगों का चिन्तन करता रहता है वह मिथ्याचारी कहा जाता है ।

व्याख्या—शारीरिक कर्मों को छोड़ देने पर भी मानसिक कर्म नहीं छूटते। इन्द्रियों का नियोजक मन है। मनुष्य इन्द्रियों का नियन्त्रण कर सकता है परन्तु यदि मन विषयों के पीछे दौड़ता है तो कर्म का त्याग एक धोखा अथवा मिथ्याचार है।

मिथ्याचार—

गुणों के आधीन होकर जब कर्म होता है और मन के मोह, बुद्धि के भ्रम तथा चित्त की चंचलता से आत्म-तत्त्व दब जाता है तब

कर्म में दोष आता है। जो कर्मों के दोषों को छोड़ना नहीं चाहता वरन् छुपाता है उसे मिथ्याचारी कहते हैं।

मिथ्याचार एक प्रकार का व्यभिचार है। व्यभिचार केवल कर्मेन्द्रियों द्वारा ही नहीं होता—काम-वासना, असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ आदि के साथ खेलनेवाले मन से भी मानसिक व्यभिचार होता है।

जिनके विचारों और कर्मों में अन्तर होता है, मन जिनके हाथ में नहीं रहता, विकार जिन्हें दबाये रहते हैं, फिर भी जो अपने को और जगत् को धोखा देने के लिये मिथ्या-कर्म करते हैं उन्हें मिथ्याचारी कहते हैं।

ज्ञान, भक्ति, वैराग्य की बड़ी-बड़ी चर्चा करके और सुनके भी उनकी आड़ में दुष्कर्म करना मिथ्याचार है।

इन्द्रियों को संयम में रखने के प्रयत्न—व्रत, पूजा, ध्यान, सत्संग, भजन, कीर्तन आदि महान् कर्म हैं; विषय-भोगों के चिन्तन और मानसिक व्यभिचार के कारण इन महान् कर्मों में असत्य-भाव भर जाता है; इसी को आडम्बर, पाखण्ड अथवा मिथ्याचार कहते हैं।

जो करने के कर्म न करता, दुष्कर्मों में रहता लीन।
मिथ्या त्याग भाव दिखलाता, वह मिथ्याचारी मति हीन॥

विमूढात्मा—

मिथ्याचारी बलहीन होकर बल दिखाता है, अज्ञानी होकर ज्ञानी बनता है और जो श्रेष्ठता तथा सद्‌गुण उसमें नहीं होते, उन्हें अपने में दिखाने का प्रयत्न करता है—यही उसकी विमूढ़ता है।

मिथ्याचारी असत्य का सहारा लेता है और सदाचारी सत्य का—
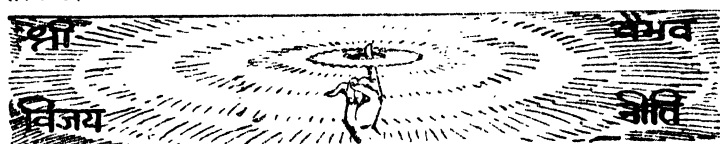
७

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

यः, तु, इन्द्रियाणि, मनसा, नियम्य, आरभते, अर्जुन,
कर्मेन्द्रियैः, कर्मयोगम्, असक्तः, सः, विशिष्यते ।

तु=और, अर्जुन=हे अर्जुन, यः=जो (मनुष्य), मनसा=मन से, इन्द्रियाणि=इन्द्रियों को, नियम्य=नियम में करके, असक्तः=अनासक्त हुआ, कर्मेन्द्रियैः=कर्मेन्द्रियों से, कर्मयोगम्=कर्मयोग का, आरभते=आचरण करता है, सः=वह, विशिष्यते=श्रेष्ठ है ।

जो रोक मन से इन्द्रियाँ आसक्ति बिन हो नित्य ही ।
कर्मेन्द्रियों से कर्म करता श्रेष्ठ जन अर्जुन ! वही ॥

अर्थ—और हे अर्जुन ! जो मनुष्य मन से इन्द्रियों को नियम में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है ।

व्याख्या—मनुष्य हँसने और बोलनेवाला पशु नहीं। केवल मनन करनेवाले को भी मानव नहीं कहते। मनुष्य तो वह है जिसके जीवन में सदाचार और चरित्र का सौन्दर्य उभरता है। मनुष्यता की कसौटी सदाचार है, जो सदाचारी नहीं है उसे आत्मा नहीं मिलता—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ (कठ० २।२४)

सत्यरूप आत्मा या परमात्मा को न तो वह प्राप्त कर सकता जिसने दुश्चरित्र को नहीं छोड़ा, न वह प्राप्त कर सकता जो अशान्त है, और न वही प्राप्त कर सकता जिसका चित्त चंचल रहता है।

चरित्रवान पुरुष के विचारों, कर्मों, गुणों और स्वभाव में विशेषता होती है। श्रेष्ठ पुरुष के दो लक्षणों का यहाँ उल्लेख है—

१—मन से इन्द्रियों को नियम में करता है।

२—अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है।

१. मन से इन्द्रियों को नियम में करता है—

मन और इन्द्रियों के योग से कर्म में सफलता मिलती है। बेमन से कर्म करना धोखा है। बेमन से किया हुआ कर्म कभी पूरा नहीं होता—पूरा हो भी जाता है तो उससे शान्ति और सुख नहीं मिलता।

मन से जब कर्म किया जाता है तो इन्द्रियाँ स्वयं नियम में आ जाती हैं। मन से कर्म करने से शक्ति मिलती है, प्रभाव प्रकट होता है, परमेश्वर सहायता करता है, बुद्धि आगे-पीछे दौड़ती है और सुख तथा सम्पन्नता के निश्चित मार्ग मिल जाते हैं।

मन इन्द्रियों के प्रत्येक शुभ कर्म का सहायक और पोषक होना चाहिये। धर्म, उपदेश, जप, तप, दान आदि का मन से किये बिना रत्ती भर भी मूल्य नहीं होता। मन जब इन्द्रियों से नियम पूर्वक कर्म कराता है तभी कर्म की कठिनाइयाँ दूर होती हैं और निष्काम कर्मयोग का प्रारम्भ होता है। जब मन, बुद्धि और इन्द्रियों का परस्पर युद्ध छिड़ा रहता है, मन कुछ कहता है, इन्द्रियाँ कुछ करती हैं, तो अन्तर की फूट का लाभ उठाकर और अवसर देखकर विषय-

भोग रूपी शत्रु प्रहार कर देते हैं और सुख के सिंहासन पर दुःख आ बैठता है। सदाचारी मन और इन्द्रियों के योग से कर्म करता है।
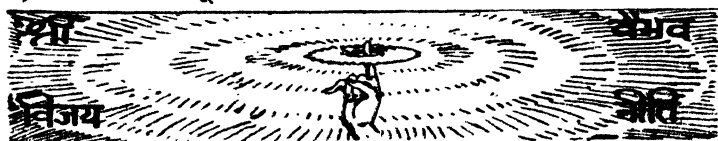
२. अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है—

जब मन और इन्द्रियों की एकता से नियमित कर्म होता है तो अनासक्त कर्मयोग प्रारम्भ हो जाता है। नियमित रहनेवाले मनुष्य का स्वभाव संयमशील बन जाता है और उसे इन्द्रियों का निग्रह करने में कोई कष्ट नहीं होता—यही अनासक्ति का स्वरूप है।

इन्द्रियों के आवेशों, वेगों और विषयों के वश में होकर कर्म करनेवाला सदा आसक्त रहता है।

प्रभुता के मद से प्रमत्त जो,
पागल और नशे से भ्रान्त।
भूखा, थका हुआ-सा कामी,
क्रोधी लोभी और अशान्त॥
भय से व्याकुल बिना विचारे,
करता रहता है जो कर्म।
वह आसक्त कहाता है,
जो नहीं जानता अपना धर्म॥

मन को इन्द्रियों के विषयों से अलग रखनेवाला और इन्द्रिय-वेगों तथा आवेशों को दबानेवाला अनासक्त कहा जाता है। जो प्रसन्न मन से इन्द्रियों द्वारा अनासक्त होकर कर्म करता है वही पुरुष श्रेष्ठ है—उसीको सदाचारी चरित्रवान् और ज्ञानी कहते हैं।

अनासक्त कर्म करने का सरल उपाय बताते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

८

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥

नियतम्, कुरु, कर्म, त्वम्, कर्म, ज्यायः, हि, अकर्मणः ।
शरीरयात्रा, अपि, च, ते, न, प्रसिद्ध्येत्, अकर्मणः ।

त्वम्=तुम, नियतम्=नियत कर्म=कर्म, कुरु=करो. हि=क्योंकि अकर्मणः=कर्म न करने से कर्म=कर्म करना. ज्यायः=श्रेष्ठ है, च=और अकर्मणः=कर्म न करने से, ते=तुम्हारी शरीरयात्रा=शरीरयात्रा. अपि=भी, न प्रसिद्ध्येत्=पूरी नहीं होगी ।

बिन कर्म से नित श्रेष्ठ नियमित-कर्म करना धर्म है ।
बिन कर्म के तन भी न सधता कर नियत जो कर्म है ॥

अर्थ—तुम नियत कर्म करो! क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है और कर्म न करने से तुम्हारी शरीर यात्रा भी पूरी नहीं होगी ।

व्याख्या—मिथ्याचार से ज्ञान और शुभ कर्मों का लोप हो जाता है, विकास के द्वार बन्द हो जाते हैं और जीवन की शक्ति क्षीण हो जाती है। अनासक्त होकर सदाचार पूर्वक कर्म करने से प्राणों का बल बढ़ता है और अमृत-आनन्द मिलता है। अनासक्त होने और अक्षय सुख प्राप्त करने के लिये गीता के निम्नलिखित सिद्धान्त मननीय हैं—

१—कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है ।

श्री वैभव
विजय नीति

२—नियत कर्म करो।

३—कर्म न करने से शरीर-यात्रा भी पूरी नहीं होती।

१. कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है—

जीवन की ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिसमें जीव कर्म किये बिना रह सकता हो। आलस्य, अज्ञान, मिथ्याचार, मोह तथा झूठे वैराग्य में पड़कर जो कर्म नहीं करता अथवा भाग्य के भरोसे बैठता है, वह अपनी और जगत् की अशान्ति का सबसे बड़ा कारण है।

कर्म छोड़ बैठने की चेष्टा करनेवाले को दम्भ, आलस्य और दुःख घेर लेते हैं। कर्म के उन्नत शिखर से आनन्द की शतशत धारायें बहती हैं, कर्म से प्रवाहित धाराओं से सम्पूर्ण पाप धुल जाते हैं, मिथ्याचार बह जाता है और जीव का निर्मल रूप निखरता है।

किसी भी अवस्था में कर्म का त्याग उचित नहीं है। कर्म से जी चुरानेवाले अथवा साहस छोड़ देनेवाले के लिये कहीं सुख और शान्ति नहीं है। परमेश्वर ने कर्म करने के लिये मनुष्य को हाथ-पैर, मन-बुद्धि और इन्द्रियाँ दी हैं। हाथ पर हाथ रख कर बैठनेवाला जीवन को व्यर्थ खो देता है। कर्म न करने से कुछ न कुछ करना सदा श्रेष्ठ है।

२. नियत कर्म करो—

अव्यवस्थित होकर मनमाने कर्म करनेवाला जीवन को नष्ट करता है। विचार और योजना से युक्ति पूर्वक कर्म करते ही परमेश्वर का प्रसाद मिलता है। नियत कर्म करना सम्पूर्ण सिद्धियों का सरल साधन है।

नियत कर्म के अनेक अभिप्राय हो सकते हैं—

(अ) स्वधर्मानुसार निश्चित कर्त्तव्य।

(ब) श्रुति और स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित कर्म ।

(स) आध्यात्मिक अनुभूति के द्वारा निश्चित किये गये कर्म ।

कर्मों के पीछे मनुष्य की भावना रहती है। प्रायः धार्मिक, राष्ट्रीय और सामाजिक कर्मों का भी मनुष्य अपने ही मन के अनुसार आचरण करता है। मन में किसी प्रकार की वासना अथवा पाप होने पर शास्त्र और स्वधर्म के अनुसार कर्म करते हुए भी नियत कर्म का प्रयोजन पूरा नहीं हो पाता। गीता के उदार और व्यापक भावों के अनुसार नियत कर्म का अभिप्राय है— किसी भी निश्चित और श्रेष्ठ कर्म को नियम में रहकर करना :

'इन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभते ।'

इन्द्रियों को मन से नियम में करके कर्म करनेवाला पुरुष श्रेष्ठ है।

इस श्रेष्ठता को पाने के लिये और अनासक्त कर्मयोग में प्रवेश करने के लिये नियत कर्म करना अत्यन्त आवश्यक है।

नित्य-नैमित्तिक और काम्य सम्पूर्ण कर्मों को नियम और संयम से करना 'नियत कर्म' का प्रयोजन है। इन्द्रियों को नियम में करके जो विशुद्ध बुद्धि प्राप्त कर लेता है उससे कभी अनियमित और शास्त्र-विरुद्ध कर्म नहीं होते।

नियत कर्म किये बिना शरीर भी नहीं चलता।

३. कर्म न करने से शरीर-यात्रा भी पूरी नहीं होती—

नियम और संयम से कर्म की कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं, जीवन का सत्य सुरक्षित हो जाता है और वरुण के व्रतों का उल्लंघन नहीं होता; अतः शरीर सुखी और स्वस्थ रहकर जीवन-यात्रा करता है।

इन्द्रियों को नियम में न रख कर अथवा संयमहीन होकर किया हुआ महान् से महान् कर्म भी तुच्छ है; उससे शक्ति स्वास्थ्य तथा

समय नष्ट होता है और जीवन-यात्रा में बाधा पड़ती है।

कर्म का त्याग जीवधारी से किसी प्रकार सम्भव नहीं है। आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यता की अवस्था में भी कर्म होता ही है। परन्तु उस कर्म से जीवन भार बन जाता है।

कर्म न करने से अथवा अयोग्य कर्म करने से दिन-दिन विपत्तियों की वृद्धि होती है। कर्म का ज्ञान न होने से और कर्त्तव्य का पालन न करने से जीवन-यात्रा भी संकट पूर्ण बन जाती है। चिन्ता, क्लेश, निराशा और घोर दुःख मनुष्य को उसी समय घेरते हैं जब वह अपना कर्त्तव्य कर्म पूरा नहीं करता। नियत कर्म करनेवाले का माथा सदा ऊँचा रहता है।

सबका निर्वाह करनेवाला परमेश्वर है। वह जीवमात्र का पालन-पोषण करता है। जीवन का निर्वाह उस समय कठिन हो जाता है जब मनुष्य अपने कर्मों से परमेश्वर को प्रसन्न नहीं कर पाता। श्रेष्ठ पुरुष नियम-संयम में रहकर नियत कर्मों द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न करते हैं।

निष्कण्टक और सम्पन्न जीवन-यात्रा के लिये कर्त्तव्य कर्म करना गीता का एक निश्चित, उत्तम और श्रेयस्कर साधन है। अब प्रश्न रहता है कर्म के निर्णय का—वह कौनसा कर्म है जिसे नियम-संयम द्वारा करके मनुष्य बन्धन में नहीं बँधता? दूषित और विकारी कर्म में संयम काम नहीं देता और नियम स्वयं टूट जाता है। अतः मनुष्य को यह जानने की इच्छा होती है कि श्रेष्ठ कर्म की कौनसी कसौटी है जिस पर परखते ही खरे कर्म का अथवा नियत कर्म का निर्णय हो जाय।

श्रेष्ठ और मुक्त कर्मों का रहस्य प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

९

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥

यज्ञार्थात्, कर्मणः, अन्यत्र, लोकः, अयम्, कर्मबन्धनः,
तदर्थम्, कर्म, कौन्तेय, मुक्तसङ्गः, समाचर ।

यज्ञार्थात्=यज्ञ के लिये किये जानेवाले, कर्मणः=कर्मों के अतिरिक्त, अन्यत्र=दूसरे कर्मों से, अयम्=यह, लोकः=लोक, कर्मबन्धनः=कर्म-बन्धन में बँध जाता है, कौन्तेय=हे कौन्तेय, मुक्तसङ्गः=आसक्ति-रहित होकर, तदर्थम्=यज्ञ के लिये, कर्म=कर्म, समाचर=करो ।

तज यज्ञ के शुभ कर्म, सारे कर्म बन्धन पार्थ ! हैं ।
अतएव तज आसक्ति सब कर कर्म जो यज्ञार्थ हैं ॥

अर्थ—यज्ञ के लिये किये जानेवाले कर्मों के अतिरिक्त दूसरे कर्मों से यह लोक कर्म-बन्धन में बँध जाता है । हे कौन्तेय ! आसक्ति-रहित होकर यज्ञ के लिये कर्म करो ।

व्याख्या—यह शरीर आत्मा का पवित्र मन्दिर है, पुरुष यज्ञ की प्रतिमा है । जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है । राष्ट्र, धर्म और समाज सबका उत्थान और पतन मनुष्य पर निर्भर है । नियत कर्म करने से उत्थान और न करने से पतन होता है ।

नियत कर्म क्या है ? इसका बोध निर्मल और निष्पक्ष अन्तःकरण से स्वतः हो जाता है । संसार की परिस्थितियाँ नित्य नये-

नये रूपों में बदलती हैं, प्राणियों के गुण और स्वभाव में भिन्नता रहती है। अतः नियत कर्म की एक सीधी लकीर खींचनी कठिन है।
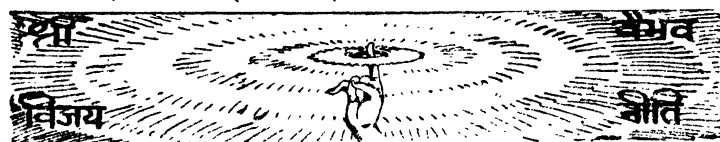
गीता ने इस सम्बन्ध में दो आदेश दिये हैं—

१—यज्ञ के कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्म बन्धन-कारक हैं।

२—आसक्ति-रहित होकर यज्ञ के लिये कर्म करो।

१. यज्ञ के कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्म बन्धन-कारक हैं—

कर्म का ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है। कर्त्तव्य-बुद्धि जागृत कर लेना मनुष्य-मात्र का परम धर्म है। किस समय कौनसा कर्म करना उचित है? इसका निर्णय आत्मबुद्धि से होता है; गीता निष्काम कर्मयोग द्वारा आत्मबुद्धि जगाती है।

यज्ञ गीता का निष्काम कर्मयोग है। यज्ञ सनातन शब्द है। वेदों के अनुसार यज्ञ से धर्म का विकास हुआ है—

'ॐ यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवास्तानि धर्म्माणिप्रथमा न्यासन्...।'

देवताओं ने यज्ञ द्वारा यज्ञ किया, उनके यज्ञ-कर्मों से धर्म का प्रारम्भ हुआ।

देवता और मनुष्य किसी न किसी इच्छा से कर्म करते हैं। इन्द्रिय-सुखों के लिये की गयी इच्छा निम्नगामिनी होती है। आत्मा के उत्थान के लिये की गयी आध्यात्मिक इच्छा मनुष्य को महान् बनाने में समर्थ होती है। आध्यात्मिक इच्छा से यज्ञ का प्रारम्भ होता है। आध्यात्मिक चेतना में स्थित होकर अनासक्त कर्म करने का नाम यज्ञ है।

'यज्ञो वै विष्णुः।'—(तै०सं० १।७।४)

इस श्रुति के अनुसार यज्ञ परमेश्वर है और उसके लिये जो कर्म किया जाय वह यज्ञार्थ कर्म है। —श्रीशङ्कराचार्य।

मीमांसकों के मतानुसार यज्ञ-यागादि वेद प्रतिपादित कर्म हैं और इस सृष्टि का व्यवहार चलाने के लिये सब प्रकार के यज्ञ करने नितान्त आवश्यक हैं।

यज्ञ का अर्थ केवल यज्ञ-यागादि मान लेने से यज्ञ के उदार और व्यापक महाभाव का लोप हो जाता है। यज्ञ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को नियम में धारण करनेवाला है—

'यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिः' (अथर्व० ६।१०।१४)

यज्ञ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड बांधनेवाला नाभि स्थान है। यज्ञ यज् धातु से बना है—

'यज् देवपूजा, संगतिकरण दानेषु।'

देवपूजा, संगतिकरण और दान इन तीनों से यज्ञ पूर्ण होता है। धर्म, कर्त्तव्य-पालन अथवा ज्ञान का सार यज्ञ के इन तीन रूपों में है।

१. यज्ञ देवपूजा है—

दैवी सम्पत्ति के स्वामी को देवता कहते हैं। उपनिषदों के अनुसार—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव।"

(तै० शि० ११)

माता, पिता, आचार्य, अतिथि को देवता मानो। देवता, पवित्रता और शक्ति के भण्डार हैं। वे मनुष्य को पथ पर चलने के लिये प्रकाश देते हैं। उनके अनुग्रह, सहयोग और वरदान से सब प्रकार की कठिनाइयाँ सरल हो जाती हैं।

सत्य, दया, ब्रह्मचर्य, धैर्य आदि जिन दैवी गुणों और चरित्रों से देवता देवत्व में स्थित हैं उन्हीं गुणों को प्राप्त करने के लिये उनके पास जाना वास्तविक उपासना है। पूजा का ध्येय पूज्य से सुभाव प्राप्त करना है—
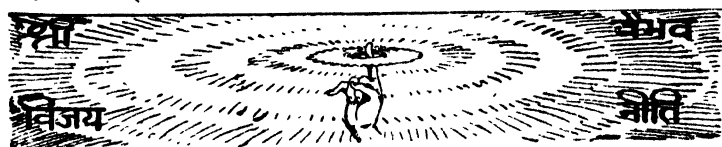
वह पूजा क्या है जिसमें,
जीवन जागृति और सुझाव नहीं।
जिसमें प्रियतम का प्रेम,
सत्य शिव सुन्दरता का भाव नहीं ॥

पूज्य की पवित्रता और ज्योति को इसप्रकार धारण करना चाहिये कि अन्तःकरण के किसी कोने में अंधेरा, अनृत और दुरित न रहे।

पूजन का प्रारम्भ समर्पण-भाव से होता है। पूजा में क्षुद्र कामनाओं और वासनाओं का स्थान नहीं है। सच्चा पूजक अपने मन को विषय-विकारों और वासनाओं से रिक्त करके उसमें पूज्य की स्थापना करता है। पूजक, पूज्य के लिये कर्म करता है, अपने अहंकार की तुष्टि के लिये नहीं।

भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करने से अहंकार के बन्धन टूट जाते हैं। पूजा कर्म वही है जो साधक को सत्य, पवित्रता और अनासक्ति के उन्नत क्षेत्र में ले आता है।

प्रेम, सत्य, सत्कार, सेवा, श्रद्धा और प्रसन्नता से किया गया पूजा का कर्म 'यज्ञ' कहा जाता है।

२. यज्ञ संगतिकरण है—

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में रह कर सबके सहयोग और संगठन से प्रगति और उन्नति करना मनुष्य-जीवन का परम लक्ष्य है।

वेद ने मनुष्य के सर्वतोमुखी विकास के लिये संज्ञानसूक्त में बड़े काम की बात कही है—

"समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ (ऋ० १०।१९१।४)

सबकी चेष्टायें समान हों, निश्चय और हृदय हों एक।
अन्तःकरण उदार सरल हों, हो समानता सत्य विवेक ॥
साथ साथ सब चलें एक स्वर से बोलें मिल जायें ;
सबके मन हों एक बाँट कर सब समता से खायें ॥

यज्ञ का यह साम्य भाव राष्ट्रीय, सामाजिक, पारिवारिक और वैयक्तिक उन्नति का मूलमंत्र है। परस्पर सद्भाव, संगठन और समता की भूमि पर ही यज्ञ की वेदी बनती है।

यज्ञ ही समाज का बल है, सत्संगों, सभाओं और संस्थाओं के आयोजनों का लक्ष्य यज्ञ से पूर्ण होता है।

यज्ञ करनेवाला अपने विचार और कर्म में किसी को दुःख नहीं पहुंचाता। जो उसे अच्छा नहीं लगता वैसा वह दूसरों के लिये नहीं करता। वह सुखी रहता है और सुख देता है। उसके एक यज्ञकर्म से जगत् के कोटि-कोटि नर-नारियों का भला होता है।

संगतिकरण द्वारा अनेकता में एकता की प्रतिष्ठा करनेवाला अपने यज्ञ-कर्मों से विश्व को सत्य और प्रेम के सूत्र में बांध लेता है।

३. यज्ञ दान है--

दान यज्ञ का मूलभाव है। आदान-प्रदान से सद्भावना की वृद्धि होती है, न्यूनता की पूर्ति होती है और वस्तुओं का अभाव नहीं रहता।

दान का विशेष लक्ष्य है प्राणिमात्र की सेवा में तन, मन और धन को लगा देना। दान देने से धन का सदुपयोग होता है, प्रेम तथा दया के विचारों का प्रसार होता है, किसी को दुःखी न देखने का महाभाव जागता है और संसार की दरिद्रता दूर होती है।

'दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते।' दानी अमृत प्राप्त करता है। (ऋ० १।१२५।६)

दाता का धन कभी नहीं घटता, वह दो हाथों से दान करता है और विधाता के सहस्र हाथों से पाता है। सम्पत्ति आने-जानेवाली है परन्तु देनेवाले के पास वह सदा रहती है।

देव पूजा, संगतिकरण और दान तीनों के महायोग का नाम 'यज्ञ' है। वास्तव में ये तीनों—सृष्टि, समाज और शरीर की भांति सम्बन्धित हैं अथवा भक्ति, कर्म और ज्ञान के समान मुक्तिदायक हैं।

यज्ञ का यह तत्त्व जानकर यज्ञ के लिये कर्म करनेवाला सदा मुक्त है। यज्ञ के अतिरिक्त अन्य कर्म बन्धन-कारक हैं।

२. आसक्ति रहित होकर यज्ञ के लिये कर्म करो—

यज्ञ-कर्म तीन प्रकार के हो सकते हैं—

(१) केवल स्वार्थ और सुख-भोग के लिये।

स्वार्थ से किये गये यज्ञ-कर्म अहंकार अथवा दीनता से भरे रहते हैं। सत्य और ज्ञान से ऐसे यज्ञों का सम्बन्ध नहीं होता।

(२) कामना-पूर्ति के साथ-साथ ज्ञान-निष्ठा से यज्ञ।

ऐसे यज्ञों से प्रेम, सद्भाव, सत्य, सेवा लोकोपकार की भावना के साथ अपनी भी कामना की पूर्ति होती रहती है, परन्तु पुण्य-क्षीण होने पर फिर दुःख में पड़ना पड़ता है।

(३) आसक्ति-रहित यज्ञ—

नियत कर्मों को नियम और संयम से करने से यज्ञ पूर्ण होता है। ऐसे यज्ञ का फल परम शान्ति अथवा मुक्ति है। यही वह यज्ञ है जिसे गीता ने बन्धन-रहित निष्काम कर्म अथवा अनासक्त कर्म कहा है। इस यज्ञ से जगत् और जीव सब सुखी होते हैं।

यज्ञ का महत्त्वपूर्ण इतिहास इस प्रकार है—

१०

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

सहयज्ञाः, प्रजाः, सृष्ट्वा, पुरा, उवाच, प्रजापतिः,
अनेन, प्रसविष्यध्वम्, एषः, वः, अस्तु, इष्टकामधुक् ।

पुरा=सृष्टि के आदि में, सहयज्ञाः=यज्ञ सहित, प्रजाः=प्रजा को,
सृष्ट्वा=उत्पन्न करके, प्रजापतिः=प्रजापति ने, उवाच=कहा कि,
अनेन=इस यज्ञ द्वारा, प्रसविष्यध्वम्=वृद्धि पाओ, एषः=यह यज्ञ,
वः=तुम्हारी, इष्टकामधुक्=मनोकामनाओं को पूरा करनेवाला, अस्तु=हो ।

विधि ने प्रजा के साथ पहले यज्ञ को रच के कहा ।
पूरे करे यह सब मनोरथ, वृद्धि हो इससे महा ॥

अर्थ—सृष्टि के आदि में यज्ञ सहित प्रजा को उत्पन्न करके प्रजापति ने कहा कि इस यज्ञ द्वारा वृद्धि पाओ यह यज्ञ तुम्हारी मनोकामनाओं को पूरा करनेवाला हो ।

व्याख्या—सृष्टि के प्रारम्भ में अज्ञान के कारण प्रजायें अंधकार में पड़ी थीं । प्रजापति ने प्रजा के साथ ही यज्ञ की रचना की परन्तु प्राणी उसका यथोचित सदुपयोग न कर सके ! ज्ञान और क्रिया-हीन सृष्टि को जड़वत् देखकर प्रजापति ने कहा—

१—यज्ञ द्वारा तुम वृद्धि पाओ !

२—यह यज्ञ तुम्हारी मनोकामनाओं को पूरा करनेवाला हो !

१. यज्ञ द्वारा तुम वृद्धि पाओ—

दुःख, दैन्य, दरिद्रता और विषाद से छूटकर सुख, सम्पन्नता और उन्नति का मार्ग यज्ञ-कर्मों से मिलता है। यज्ञ-धर्म के सांगोपांग पालन से उन्नति और वृद्धि स्वयं ही होती है। सत्कर्मों का फल सदा सुखदायी है।

२. यह यज्ञ तुम्हारी मनोकामनाओं को पूरा करनेवाला हो—

जीवन कामनामय है। प्रत्येक प्राणी को कोई-न-कोई कामना घेरे रहती है। जीवनयात्रा के लिये आवश्यक और उन्नत कामनायें पूरी हुए बिना जीवन नीरस अधूरा और दीन रहता है।

यज्ञ मनुष्य की सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण कर देता है। यज्ञ कल्प-वृक्ष के समान है। यज्ञ को कामधेनु भी कहा है। यज्ञ परमेश्वर का विधान है। यज्ञमय जीवन बनाने से भगवत्प्राप्ति और लोक-कल्याण के साथ-साथ सुख और मुक्ति की सम्पूर्ण उच्च कामनायें पूर्ण होती हैं।

व्यक्तिगत कामना में सुख नहीं है। इसीलिये अनन्त सुख के अभिलाषी विचारवान पुरुष यज्ञ द्वारा सबके मङ्गल की कामना करते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्॥

यह जग सब सुखी हो जाय।
हो न जन कोई कहीं भी पाप, चिन्ता, रोग-पीड़ित,
शुभ करें, देखें, सुनें शुभ, सब करें सबका सदा हित।
दुःख न कोई पाय। यह जग सब सुखी हो जाय॥

पवित्र और मङ्गलमयी कामनाओं से केवल व्यक्ति को ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व को शान्ति मिलती है। विश्व-शान्ति का एकमात्र उपाय यज्ञ है। यज्ञ कर्मों से सद्भाव और तृप्ति की वृद्धि होती है—

११

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

देवान्, भावयत, अनेन, ते, देवाः, भावयन्तु, वः,
परस्परम्, भावयन्तः, श्रेयः, परम्, अवाप्स्यथ।

अनेन=इस यज्ञ से, देवान्=देवताओं को, भावयत=सन्तुष्ट करो, ते=वे, देवाः=देवता, वः=तुम्हें, भावयन्तु=सन्तुष्ट करें, परस्परम्=परस्पर, भावयन्तः=सन्तुष्ट करते हुए, परम्=परम, श्रेयः=कल्याण को, अवाप्स्यथ=प्राप्त होंगे।

मख में करो तुम तुष्ट सुरगण, वे करें तुमको सदा।
ऐसे परस्पर तुष्ट हो, कल्याण पाओ सर्वदा ॥

अर्थ—इस यज्ञ से देवताओं को सन्तुष्ट करो वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करें। परस्पर सन्तुष्ट करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होंगे।

व्याख्या—उन्नत जीवन के अभिलाषी परस्पर सहयोग से जीते और बढ़ते हैं। आदान-प्रदान जीवन के लिये सदा सुखदायक नियम है। जगत् में आदान-प्रदान के बिना एक क्षण भी किसी का काम नहीं चलता। श्रेय की प्राप्ति के लिये गीता आदान-प्रदान रूप यज्ञ का सन्देश देती है—

१—यज्ञ से देवताओं को सन्तुष्ट करो।

२—वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करेंगे।

३—एक-दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए सबका भला होगा।

१. यज्ञ से देवताओं को सन्तुष्ट करो—

दिव्य शक्ति के स्वामी देवजन, माता, पिता, आचार्य, नेता, विद्वान् आदि को प्रसन्न करने के लिये यज्ञ-कर्मों का आचरण करना चाहिये। सबकी सद्भावना प्राप्त कर लेना, कर्मक्षेत्र में सफल होने का सरल उपाय है। जगत को सुखी और सन्तुष्ट करने का प्रयत्न ही यज्ञ है।

मिथ्याचार, प्रज्ञावाद अथवा सद्भावहीन कर्म से देवता सन्तुष्ट नहीं होते। उपासना, संगतिकरण, दान, दया, स्वाध्याय, तप आदि शुभ कर्मों से देवजन प्रसन्न होते हैं।

२. वे देवता तुम्हें सन्तुष्ट करेंगे—

सन्तुष्ट और प्रसन्न हुए देवता मनुष्य को सब प्रकार सन्तुष्ट करते हैं। वयोवृद्धों, महात्माजनों और विद्वानों का आशीर्वाद मङ्गल का मूल है। छोटी-से-छोटी दुर्भावना भी बड़-से-बड़ा अनिष्ट कर सकती है। वैदिक ऋषि इसी कारण प्रार्थना करते थे—

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रकामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ (अथर्व० १२।१।२८)

उठते और बैठते चलते, फिरते, करते कर्म अनेक।
हम न बढ़ायें व्यथा भूमि पर, यही प्रार्थना यही विवेक ॥

३. एक-दूसरे को सन्तुष्ट करते हुए सबका भला होगा—

यज्ञ का प्रधान लक्ष्य जगत् में एक-दूसरे का घाटा पूरा करना है। पृथ्वी अन्न देती है, मनुष्य पृथ्वी को खाद देता है। शरीर सेवा करते-करते थकता है, हम उसे भोजन और विश्राम देते हैं।

एक-दूसरे से मिलना-जुलना, एक-दूसरे के काम आना, सबके सुख-दुःख में सम्मिलित होना और सबके साथ सरल व्यवहार करना ऐसा यज्ञ है जिससे सबका भला होता है। अपने ही सुख में रचे-पचे रहने से दुःख मिलता है—

१२

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

इष्टान्, भोगान्, हि, वः, देवाः, दास्यन्ते, यज्ञभाविताः, तैः, दत्तान्, अप्रदाय, एभ्यः, यः, भुङ्क्ते, स्तेनः, एव, सः ।

यज्ञभाविताः=यज्ञ से सन्तुष्ट हुए, देवाः=देवता, वः=तुम्हें, इष्टान्=मनचाहे, भोगान्=भोगों को, दास्यन्ते=देंगे, तैः=उनके द्वारा, दत्तान्=दिये गये भोगों को, यः=जो पुरुष, एभ्यः=उन्हें, अप्रदाय=बिना दिये, हि=ही, भुङ्क्ते=भोगता है, सः=वह, एव=निश्चय ही, स्तेनः=चोर है ।

मख-तृप्त हो सुर कामना पूरी करेंगे नित्य ही ।
उनका दिया उनको न दे, जो भोगता तस्कर वही ॥

अर्थ—*यज्ञ से सन्तुष्ट हुए देवता तुम्हें मनचाहे भोगों को देंगे, उनके द्वारा दिये गये भोगों को जो पुरुष उन्हें बिना दिये ही भोगता है वह निश्चय ही चोर है ।*

व्याख्या—अहंभाव, स्वार्थ और कामना में किये हुए संकुचित कर्म में किसी को सन्तुष्ट करने की सामर्थ्य नहीं होती । कामना के जीवन से सत्य की साधना नहीं होती । जहाँ सत्य नहीं है वहाँ यज्ञ नहीं होता, यज्ञ-कर्मों के बिना देवता प्रसन्न नहीं होते । गीता का स्पष्ट निर्णय है—

१—देवता यज्ञ से सन्तुष्ट होते हैं ।

२—सन्तुष्ट हुए देवता मन माँगा देते हैं।

३—उनका दिया हुआ उन्हें न देकर भोगनेवाला चोर है।

१. देवता यज्ञ से सन्तुष्ट होते हैं—

देवता यज्ञ-भावित होते हैं। यज्ञ से देवभाव की वृद्धि होती है। देवजन, गुरुजन, वयोवृद्ध, नेता, विद्वान् और माता-पिता आदि का सन्तोष उन्नत कर्मों से होता है। देवजनों को प्रसन्न करने के लिये वेदों में शुभ कर्मों और सद्व्यवहार का आदेश है—

> अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवति संमतः।
> जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥ (अ० ३।३०।२)

पुत्र पिता के अनुकूल कर्म करनेवाला बने, माता के साथ सरल मन से व्यवहार करे। पत्नी, पति के साथ मधुर, सत्य और शान्त वाणी बोलनेवाली हो।

संसार में कोई किसी से व्यर्थ बैर न करे, निष्कपट, निर्भय, निश्चित होकर रहे, वृद्धों और विद्वानों का मान सत्कार करे और परम-पुरुषार्थ के लिये तत्पर रहे तो सुर, नर, मुनि सबको सन्तोष मिलता है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में शिष्यों के लिये दीक्षान्त भाषण है। जीवन-पर्यन्त यज्ञ-कर्म करके सबको सन्तुष्ट करने का एक निश्चित और स्पष्ट साधन बताते हुए आचार्य आदेश देता है—

> सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। (तै० शिक्षा० ११)

सत्य बोलो! धर्म का आचरण करो! स्वाध्याय करने में कभी मत चूको। गुरुजनों का प्रिय धन अर्थात् विद्या लेकर और गुरुजनों को प्रिय धन देकर प्रजा के ताने-बाने को न तोड़ो।

सत्य बोलने में सावधान रहना चाहिये; धर्म के पालन में भूल नहीं करनी चाहिये; अपने कुशल-मंगल और लौकिक उन्नति के कर्मों में उदासीन नहीं होना चाहिये; समाज-व्यवस्था के लिये उपयोगी कार्य करना चाहिये; पठन-पाठन, प्रवचन, सत्संग आदि की अवहेलना नहीं करनी चाहिये; देवों और पितरों के कार्य आलस्य तथा प्रमाद-रहित होकर तत्परता से करने चाहियें।

इस प्रकार के कर्मों से निःसन्देह देवजन और गुरुजन प्रसन्न होते हैं। भारतीय ऋषियों ने सबकी प्रसन्नता और सन्तोष के लिये पंच महायज्ञों का भी विधान दिया है—

१. ऋषियज्ञ—ब्रह्मचर्य-पालन, वेदों का पठन-पाठन, स्वाध्याय और गुरुजनों की सेवा। ऋषियज्ञ को ही ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं।

२. देवयज्ञ—देव-पूजन, भजन, अग्निहोत्रादि कर्म।

३. भूतयज्ञ—पशु, पक्षी, वृक्ष, गौ आदि का पालन।

४. नृयज्ञ—अतिथि-सत्कार, मैत्री, करुणा, मुदिता का भाव।

५. पितृयज्ञ—श्राद्ध-तर्पण, महापुरुषों के चरित्रों का मनन।

इन यज्ञों से देवता और मनुष्य सन्तुष्ट होते हैं।

उपनिषदों में मनुष्य शरीर को देव-दुर्लभ कहा है। परमेश्वर के आदेशानुसार देवताओं ने मानव-देह को अपना निवास बनाया है—

"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।" (ऐत० १।२।४)

अग्निदेवता ने वाक् बनकर मुख में प्रवेश किया। वायु ने प्राण बन कर नासिका में प्रवेश किया। सूर्य ने चक्षु होकर नेत्र में
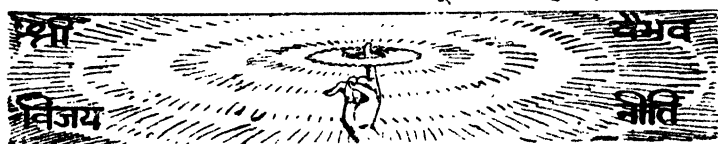
प्रवेश किया। दिशाओं ने श्रोत्र बन कर कानों में प्रवेश किया। ओषधि वनस्पतियों ने रोएँ बन कर त्वचा में प्रवेश किया। चन्द्रमा ने मन हो कर हृदय में प्रवेश किया। मृत्यु ने अपान होकर नाभि में प्रवेश किया। जल ने वीर्य बन कर शिश्नेन्द्रिय में प्रवेश किया।

इस प्रकार देवता, इन्द्रियरूप होकर मनुष्य में निवास करते हैं। सत्य, मधुर और संयमित वाणी बोलने से तथा जीवनोपयोगी स्वाध्याय करने से अग्निदेवता प्रसन्न होते हैं। प्राणायाम, शुद्ध-मनोभाव, पवित्रता, प्राणों के संयम और प्राण-शक्ति की रक्षा से वायुदेव सन्तुष्ट होते हैं। नेत्रों द्वारा पवित्र और समदर्शन करने से सूर्य देवता प्रसन्न होते हैं। शुभ सुनने से दशों दिशायें प्रसन्न होकर रक्षा करती हैं। सरलता, उदारता और हृदय के शुद्ध भाव से चन्द्रदेव प्रसन्न होते हैं। शरीर को स्वच्छ, सुन्दर और स्वस्थ रखने से ओषधि और वनस्पतियों का वरदान मिलता है। नाभि की शुद्धि और अन्नमय कोष को निर्मल रखने से मृत्यु के देवता कोप नहीं करते। वीर्य-रक्षा से जल के देवता प्रसन्न होकर शक्ति देते हैं।

२. सन्तुष्ट हुए देवता मन माँगा देते हैं—

माता-पिता, गुरुजन, देवजन का सन्तोष अपना ही सन्तोष है। सृष्टि का यह नियम है कि जो जैसा देता है वैसा पाता है। सन्तोष देनेवाले को सन्तोष मिलता है। शरीर में स्थित देवताओं को प्रसन्न रखना मनुष्य का प्रथम धर्म है।

इन्द्रियों का सदुपयोग करनेवाला इन्द्रियों को संयमित रखकर सत्य की पूजा करता है, फलस्वरूप देवता सन्तुष्ट होते हैं और मन चाहा स्वास्थ्य, शक्ति, बुद्धि और सुख देते हैं। प्रत्येक मनुष्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि उसके शरीर में यज्ञ होता रहे और शरीर में

रहनेवाली सब इन्द्रियाँ देवताओं के समान पवित्र, समर्थ और मुक्त हों। यज्ञ का पुण्य फल प्रत्यक्ष है।

पिण्ड में, ब्रह्माण्ड में, राष्ट्र में, देश, नगर और परिवार में एक ही नियम कार्य करता है। एक-दूसरे के प्रति सद्भावना, विश्वास, प्रेम और सेवाभाव से सब सुखी होते हैं। समाज के अभ्युदय का आधार यज्ञ है। यज्ञ से मनुष्य की सम्पूर्ण उदार और महान् अभिलाषायें फूलती-फलती हैं। यज्ञ-कर्मों में निर्मलता, परमार्थ, सत्य और सेवाभाव रहने से सबका भला होता है। यज्ञ परस्पर सद्व्यवहार के सूत्र में बाँध कर जीवन को गति और निश्चय देता है। सांसारिक सुख और ब्रह्मानन्द दोनों का समन्वय करनेवाला यज्ञ है क्योंकि यज्ञ से देवता भी प्रसन्न होते हैं और मनुष्य भी।

जहाँ परस्पर सद्भावना, विश्वास और प्रेमभाव होता है वहीं राष्ट्रों का उत्थान और चरित्र का निर्माण होता है।

प्रेम, सत्य, सेवा और सद्भावना के साथ किया गया कृषिकर्म, व्यापार, नौकरी और प्रत्येक कर्म यज्ञ है। यज्ञ से सब सन्तुष्ट होते और मनचाहा फल देते हैं।

३. उनका दिया हुआ उन्हें न देकर भोगनेवाला चोर है—

मनुष्य के पास जो कुछ है वह सब देवताओं, पितरों, ऋषियों और गुरुजनों का दिया हुआ है। जो उनका दिया हुआ उन्हें अर्पण करके भोगता है वह धर्मात्मा कहलाता है; परन्तु जो देव, ऋषि और पितरों के ऋण को न चुका कर केवल अपना पेट भरता है और उनके दिये हुए को उनकी अवहेलना करके भोगता है वह चोरी से खाता है।

चोरी सबसे बड़ा पाप है। जो दूसरों की कृपा से प्राप्त वस्तुओं और सुखों को देनेवाले की चोरी से भोगता है वह चोर है। चोर

से न अपना भला होता है और न दूसरों का वह कर्त्तव्य-पालन से भी जी चुराता है।

स्वार्थ के लिये कर्म करनेवाला हिंसा के दोषों से नहीं बच सकता। हिंसक कभी दूसरे का उपकार नहीं मानता, वह कृतघ्न होता है। लिया हुआ ऋण न चुकाने के कारण कृतघ्न को चोर की भांति दण्ड भोगना पड़ता है, उसका भाग्य शीघ्र ही अस्त होजाता है।

यदि संचित संस्कारों के कारण कृतघ्न का सुख और सौभाग्य अस्त नहीं होता और वह जीवन में अपने पाप-कर्मों को नहीं भोगता तो उसका फल उसकी सन्तान को भोगना पड़ता है—

"पापं कर्म कृतं किंचिद्यदि तस्मिन्न दृश्यते।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु॥"
(महा० शान्ति पर्व १२६।२१)

यदि ऐसा देखा जाय कि किसी नर-नारी को उसके पाप-कर्मों का फल नहीं मिल रहा तो समझ लेना चाहिये कि उसके पुत्रों, पौत्रों और प्रपौत्रों को भोगना पड़ेगा।

अपने-आपको और अपनी सन्तान को दुःख, अशान्ति और विनाश से बचाने के लिये प्राणी का कर्त्तव्य है कि वह किसी का ऋणी होकर न रहे। ऋण न चुकानेवाले कृतघ्नी को चोरों जैसा भीषण दण्ड भोगना पड़ता है। अपने दुष्कर्मों से वह स्वयं गिरता है और अपनी सन्तान के लिये दुःख-भरा क्षेत्र बनाता है।

व्यवहार में पिता का ऋण पुत्र चुकाते हैं, बहुत से माता-पिता के रोग सन्तान को भी भोगने पड़ते हैं।

इस प्रकार यज्ञहीन जीवन में सुख दब जाता है और पाप उभरता है।

यज्ञ करनेवाला सब पापों से छूट जाता है—

१३

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

यज्ञशिष्टाशिनः, सन्तः, मुच्यन्ते, सर्वकिल्बिषैः, भुञ्जते, ते, तु, अघम्, पापाः, ये, पचन्ति, आत्मकारणात् ।

यज्ञशिष्टाशिनः=यज्ञ से बचे हुए अमृत को खानेवाले, सन्तः=श्रेष्ठ पुरुष, सर्वकिल्बिषैः=सब पापों से, मुच्यन्ते=छूट जाते हैं, ये=जो, पापाः=पापीजन, आत्मकारणात्=अपने ही लिये, पचन्ति=पकाते हैं, ते=वे, तु=तो, अघम्=पाप को ही, भुञ्जते=भक्षण करते हैं ।

जो यज्ञ में दे भाग खाते पाप से छुट कर तरें ।
तन हेतु जो पापी पकाते पाप भक्षण वे करें ॥

अर्थ—यज्ञ से बचे हुए अमृत को खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं । जो पापीजन अपने ही लिये पकाते हैं वे तो पाप ही भक्षण करते हैं ।

व्याख्या—सुख-भोग जिनसे मिले हैं उन्हें कभी न भूलनेवाला सदाचारी पुरुष अपनी कृतज्ञता से यज्ञ-कर्मों को बढ़ाता है । कृतघ्न परमेश्वर का दिया हुआ अपने ही काम में लाता है—वह यज्ञ न करके पापों में गिरता है ।

यज्ञ के प्रत्यक्ष फल को बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—

१. यज्ञ से बचे हुए अमृत का भोजन करनेवाले श्रेष्ठपुरुष कहलाते हैं ।

२. श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं।

३. पापीजन अपने शरीर के लिये पकाते हैं।

४. वे पाप भरे भोग भोगते हैं।

१. यज्ञ से बचे हुए अमृत का भोजन करनेवाले श्रेष्ठ-पुरुष कहलाते हैं—

धन, बल, विद्या, रूप और यौवन को पाकर ही कोई श्रेष्ठ नहीं हो जाता। श्रेष्ठ उन सात्विक जनों को कहते हैं जो सबको सन्तुष्ट करके खाते हैं और जिनके धन, बल, विद्या आदि गुणों से परमार्थ तथा लोक-संग्रह के कर्म होते हैं।

श्रेष्ठपुरुष यज्ञ से बचे अमृत का भोजन करते हैं। यज्ञ करने के पश्चात् जो शेष रहता है उसे अमृत कहते हैं। देवता अमृत का पान करते हैं। अमृत सदा सुखदायी है। अमृत से स्वस्थ-जीवन, दीर्घ आयु और अखण्ड सुख मिलता है।

परिश्रम से कमाया हुआ धन परोपकार में लगा कर जो भोगता है वह अमृत खाता है। दुरित, दुर्भाव, दुर्बुद्धि, दुःख, दैन्य दोषों का अन्त करनेवाला अमृत है। अमृत को खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष लोक और परलोक में सुख तथा मान पाते हैं।

२. श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से मुक्त हो जाते हैं—

'पापाय पर पीडनम्।' दूसरे को कष्ट देना पाप कहा जाता है। छोटे-बड़े, सेवक-स्वामी और प्रत्येक प्राणी से प्रभु ऐसी आशा करता है जिससे उसके सृजन-कार्य, व्यवस्था और प्रकाश में बाधा न पड़े। संसार में जो दुःख तथा विनाश फैलाता है, ज्योतियों को बुझा कर अंधेरा करता है और अपने स्वार्थ के लिये व्यवस्था में नहीं रहता वह पाप करता है। पापों से मनोविकार उभर आते हैं, दूषित बुद्धि

का धुन्धलापन ज्ञान को ढक लेता है, चेतना और क्रियाशीलता दब जाती है और मनुष्य केवल अपने ही स्वार्थ की पूर्ति में जीवन को उलझाए रखता है।

ऋग्वेद १०।११७।६ में पापी की एक और परिभाषा की है—

"नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।"

जो देवताओं और सखाओं का पोषण नहीं करता केवल अपना ही सुख-भोग चाहता है उसे पापी समझना चाहिये।

अपना सुख-भोग चाहनेवाला दूसरे को सुखी नहीं देख सकता—यही उसके पाप का प्रत्यक्ष फल है। पापीपुरुष अन्तःकरण में सदा जलता है, अपने से अधिक सुखी को देख कर उसे दीनता की अग्नि जलाती है अपने से अधिक दुःखी को देख कर वह अभिमान की अग्नि में जलता है।

पाप और पाप की आग से बचानेवाले यज्ञ-कर्म हैं। यज्ञ-कर्म करनेवाले सब पापों से छूट जाते हैं, उनसे पर-पीड़ा के कर्म नहीं होते, दीनता और अभिमान की आग में जल कर उनका जीवन नष्ट नहीं होता, उनके संकल्प सत्य होते हैं और उनसे ऐसे कर्म नहीं होते जिनसे जगत् में अव्यवस्था, अन्धकार और अनर्थ की वृद्धि हो।

३. पापीजन अपने शरीर के लिये पकाते हैं—

देह मरणशील है, आत्मा को भूल कर केवल देह के पोषण में लगे रहनेवाले जड़ को काट कर शाखा और पत्तों को सींचने का प्रयत्न करते हैं। यह शरीर सेवा का साधन है। शरीर की सेवा इसलिये करनी चाहिये कि उसके द्वारा अधिक सेवा की जा सके। देह को स्वस्थ नीरोग, सुन्दर रखने की आवश्यकता लोक-सेवा के लिये है। विषय-भोगों के लिये देह को सजाने, सँवारने और खिलाने-पिलानेवाले
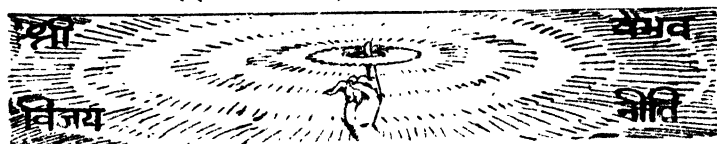
देहासक्त पुरुष आत्मा का श्रृङ्गार नहीं कर पाते। उनके मन मलीन हो जाते हैं उनसे लोक-कल्याण का कोई कर्म नहीं बन पड़ता और इसी कारण उन्हें पाप घेर लेता है। केवल अपने तन के लिये पकानेवाला पापी है।

४. वे पाप भरे भोग भोगते हैं—

यज्ञ कर्मों से श्रेष्ठ और कोई पुण्य-कर्म नहीं है। यज्ञ सर्वोत्तम धर्म है। यज्ञहीन प्राणी पाप में पड़ जाता है—

"अयज्ञियो हतवर्चा भवति।" (अथर्व० १२।२।३७)

यज्ञहीन का तेज नष्ट हो जाता है।

यज्ञ-हीन को पाप दबा लेता है। जिनकी कृपा और सहयोग से सुख मिलते हैं उन्हें भूल जाना और कृतघ्नी होकर स्वार्थमय व्यवहार करना ऐसा पाप है जो एक-न-एक दिन पापी को गिरा देता है। अपने साथ-साथ सबका सुख और उन्नति चाहनेवाला पापों से छूट जाता है।

नदियां अपना सर्वस्व समुद्र के अर्पण कर देती हैं, समुद्र मेघ बनकर बरसता है और फिर नदियों को भर देता है। इन्द्रियां परिश्रम करके भोजन, वस्त्र आदि जुटाती हैं, भोजन-वस्त्र उन्हें बल और सुख देकर कर्म करने की शक्ति देते हैं—यही यज्ञ का भाव है। जो यज्ञ नहीं करता वह बिना परिश्रम और परमार्थ किये सुख चाहता है—ऐसा मनुष्य पाप भरे भोग भोगता है।

यज्ञ न करनेवाले, मनुष्यता से गिर कर पाप, कुटिल कर्म और दुःखों से संसार को दुःखी बनाते हैं; उन पर प्रकृति और परमेश्वर सृष्टि की शान्ति-भंग करने का अभियोग लगाते हैं और उन्हें दण्ड देकर दुःखों में डाल देते हैं।

यज्ञ से सृष्टि का संचालन होता है। यज्ञ से धर्म की स्थिति है। यज्ञ के बिना मनुष्य का जीवन भी नहीं रहता—

१४

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥

अन्नात्, भवन्ति, भूतानि, पर्जन्यात्, अन्नसम्भवः,
यज्ञात्, भवति, पर्जन्यः, यज्ञः, कर्मसमुद्भवः ।

भूतानि=सम्पूर्ण प्राणी, अन्नात्=अन्न से, भवन्ति=होते हैं, अन्नसम्भवः=अन्न की उत्पत्ति, पर्जन्यात्=वर्षा से होती है, पर्जन्यः=वर्षा, यज्ञात्=यज्ञ से, भवति=होती है, यज्ञः=यज्ञ, कर्मसमुद्भवः=कर्मों से होता है,

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से हैं, अन्न होता वृष्टि से ।
यह वृष्टि होती यज्ञ से, जो कर्म की शुभ सृष्टि से ॥

अर्थ—सम्पूर्ण प्राणी अन्न से होते हैं । अन्न की उत्पत्ति वर्षा से होती है । वर्षा यज्ञ से होती है । यज्ञ कर्मों से होता है ।

व्याख्या—यज्ञ के स्रोत से जीवन की अनन्त धारायें प्रवाहित होती हैं । पिण्ड और ब्रह्माण्ड में जो कुछ शुभ हो रहा है उसका कारण यज्ञ है । यज्ञ को जगत् की प्रवृत्ति का कारण बताते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

१—सम्पूर्ण प्राणी अन्न से होते हैं ।
२—अन्न वर्षा से होता है ।
३—वर्षा यज्ञ से होती है और
४—यज्ञ कर्मों से होता है ।
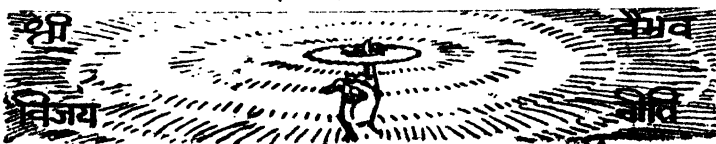
१. सम्पूर्ण प्राणी अन्न से होते हैं—

जगत् के जीवों का जीवन अन्न से है। मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि चौरासी लाख योनियों की उत्पत्ति और पोषण अन्न पर निर्भर है।

'अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
अन्नेन जातानि जीवन्ति॥' (तै० ३।२)

अन्न से ही इस जगत के सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न से ही जीते हैं।

गेहूँ, चना, बाजरा, जौ, मक्का, दाल तथा अन्य वे सब पदार्थ अन्न कहे जाते हैं जिनके खाने से जीव जीवित रहते और बढ़ते हैं।

अन्न ब्रह्म है—'अन्नं ब्रह्म।'

अन्न की निंदा और अन्न का दुरुपयोग करने से जीवन संकट में पड़ जाता है—

'अन्नं न निन्द्यात् तद्व्रतम्।
अन्नं न परिचक्षीत तद्व्रतम्॥' (तै० ३।७)

अन्न की निंदा मत करो, वह व्रत है।

अन्न की अवहेलना न करो, वह व्रत है।

अन्नं बहु कुर्वीत तद्व्रतम्।'

अधिक से अधिक अन्न उपजाओ–अन्न को बढ़ाओ, वह व्रत है।

'प्राणो वा अन्नम्।'

अन्न ही प्राण है क्योंकि अन्न से प्राणों में बल आता है।

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से हैं। परमात्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। पृथ्वी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न और अन्न से प्राणी हुआ है। यह शरीर अन्न-रसमय है।

२. अन्न वर्षा से होता है—

ओषधि, वनस्पति और सब प्रकार के अन्नों की उत्पत्ति वर्षा से होती है। जल के बिना पृथ्वी से अन्न के अंकुर नहीं फूटते।

'इमां आपः सर्वेषां भूतानां मधुः।' (बृह० २।४।२)

जल सब प्राणियों के लिये मधुरूप है। जल जीवन का आधार है। जल अमृत है। जल ब्रह्मरूप है। जल परम पवित्र शक्तिदाता और आनन्दमय है। जल में शील और सेवा के विशेष गुण हैं। जल पवित्रता का तत्त्व है।

सन्ध्या के मार्जन मन्त्रों में जल की महिमा मिलती है!

ॐ तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ आपो जनयथा च नः।

हे जलदेव! जिस रस से आप परिपूर्ण रह कर सम्पूर्ण जगत् को तृप्त करते हो उसी से हम भी सदा तृप्त रहें। हमें सब प्रकार समर्थ और सम्पन्न बनाओ।

जल वर्षा से होता है, वर्षा वनस्पतियों का प्राण है। वर्षा से अन्न उपजता है।

३. वर्षा यज्ञ से होती है—

यज्ञों से पर्जन्य बनता है। पर्जन्य का अर्थ है—बरसनेवाला, सींचनेवाला, पूर्ति करनेवाला, पालन करनेवाला आदि।

यज्ञ के पवित्र कर्मों से लोक व्यवस्था में रहते और नियमानुसार चलते हैं। यज्ञ से समय पर वर्षा होती है।

पर्जन्य बनानेवाले यज्ञों का अग्नि से विशेष सम्बन्ध है—

"अग्नौ प्रास्ताऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥ (मनु० ३।७६)

अग्नि में स्नेह युक्त सामग्रियों से विधि पूर्वक दी गई आहुति सूर्य में जाती है। सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा की उत्पत्ति तथा पालन होता है।

यज्ञ के परमाणु आकाश मण्डल में फैल कर रोग-रहित और पुष्ट मेघ बनाते हैं। मेघों से पर्जन्य बनता है। यज्ञों के धूएँ से बने हुए पर्जन्य में स्वास्थ्यप्रद और पौष्टिक जीवन-कण रहते हैं। उनसे उत्पन्न अन्न पुष्ट होता है, सड़ता-गलता नहीं और खाने में स्वादिष्ट तथा बलवर्द्धक होता है।

यज्ञ की सिद्ध और पवित्र अग्नि के धूएँ से रोग आदि के विषैले कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और प्रकृति अनुकूल रहती है। यज्ञ-कर्मों से मनुष्य प्रकृति पर शासन करता है।

यज्ञ के बिना संसार की कोई कमी पूरी नहीं होती। प्रायः सभी देशों में सत्य, प्रेम, सेवा और सद्भावना द्वारा यज्ञ होते हैं। परन्तु जिन देशों में अग्नि से सम्बन्धित यज्ञ नहीं होते वहां समय पर वर्षा नहीं होती, अनावृष्टि या महावृष्टि होती है ऋतुएँ समय पर नहीं आतीं और अन्न में पौष्टिक तत्त्व नहीं रहते।

यज्ञों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के धूएँ उठते हैं। सभी प्रकार के धूओं से बादल बनते हैं परन्तु किसी धूएँ से कुहरा अधिक बनता है और किसी से बादल।

"जो धूआँ पर्वतों से निकल कर आकाश को जाता है उससे विद्युत् और ओले बनते हैं। कोयले और लकड़ी के जलने से जो धूआँ उठता है उससे मेघों की चादर तैयार होती है।" —स्वामी हंसस्वरूप

प्रायः (सिगरेट तमाखू आदि के) विषैले धूएँ से बने हुए बादलों में रोगों के परमाणु अधिक होते हैं।

सर्व श्रेष्ठ पौष्टिक और विशुद्ध बादल केवल विधि-सहित किये गये यज्ञों के धूएँ से ही बनते हैं।

४. यज्ञ कर्मों से होता है—

यज्ञ का भाव केवल अग्नि में स्वाहा-स्वाहा करने से ही पूरा नहीं हो जाता। सेवा और प्रेम की पवित्र वेद। पर स्वार्थों की आहुति देनेवाला सच्चा यज्ञ करता है।

निष्काम होकर लोक-संग्रह के भाव से जनता-जनार्दन के निमित्त मनुष्य जो कुछ करता है वह सब यज्ञ है। अग्निहोत्र, यज्ञ-यागादि भी यज्ञ के अन्तर्गत है। महर्षि पाराशर ने यज्ञ के सम्बन्ध में एक गंभीर बात कही है—

"काष्ठभार सहस्रेण घृत कुम्भ शतेन च।
अतिथिर्यस्य भग्नाशः तस्य होमो निरर्थकः॥"

जिस गृहस्थी के घर से अतिथि भूखा-प्यासा और निराश होकर लौट जाय वह मनो लकड़ियों और सैंकड़ों घी के घड़ों से यज्ञ करता है तो भी उसका होम निरर्थक है।

कर्म के बिना यज्ञपुरुष की सृष्टि एक क्षण भी नहीं चल सकती। कर्म में यज्ञ के प्राण बसते हैं।

कर्मों के द्वारा किये गये यज्ञ से विषमता के गड्हे भर जाते हैं और जीवन की वंशी से धर्म के स्वर गूँज उठते हैं।

देव-पूजन, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया, अलोभवृत्ति, अक्रोध, अपरिग्रह, अहिंसा आदि कर्मों पर यज्ञ टिका रहता है। दैवी कर्मों से प्रकृति और परमेश्वर प्रसन्न होते हैं। यज्ञ के कर्मों का विकास परमेश्वर से है—

१६
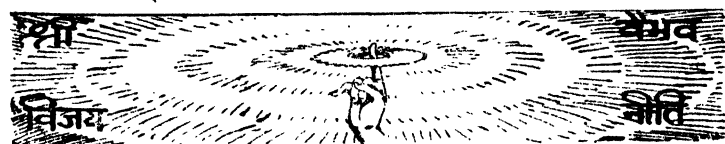
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

कर्म, ब्रह्मोद्भवम्, विद्धि, ब्रह्म, अक्षरसमुद्भवम्, तस्मात्, सर्वगतम्, ब्रह्म, नित्यम्, यज्ञे, प्रतिष्ठितम् ।

कर्म = कर्म को, ब्रह्मोद्भवम् = ब्रह्म से उत्पन्न हुआ, विद्धि = जान, ब्रह्म = ब्रह्म, अक्षरसमुद्भवम् = अक्षर से उत्पन्न हुआ है, तस्मात् = अतः, सर्वगतम् = सर्वव्यापी, ब्रह्म = ब्रह्म, यज्ञे = यज्ञ में, नित्यम् = नित्य ही, प्रतिष्ठितम् = बसा रहता है ।

फिर कर्म होते ब्रह्म से हैं, ब्रह्म अक्षर से कहा ।
यों यज्ञ में सर्वत्र-व्यापी ब्रह्म नित ही रम रहा ॥

अर्थ—*कर्म को ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जान । ब्रह्म अक्षर से उत्पन्न हुआ है अतः सर्वव्यापी ब्रह्म, यज्ञ में नित्य ही बसा रहता है ।*

व्याख्या—इस लोक में सफलता का रहस्य कर्म से मिलता है । कर्म मंदराचल की भांति संसार-सिन्धु की थाह तक पहुँच कर उसे मथ डालता है । कर्म जीवन का प्रमाण और परमेश्वर का उपहार है । जहाँ कर्म नहीं होता वहाँ मनुष्य और ब्रह्म का सम्बन्ध छूट जाता है क्योंकि—

१—कर्म ब्रह्म से होता है ।

२—ब्रह्म अक्षर से उत्पन्न हुआ है ।

३—सर्वव्यापी ब्रह्म, यज्ञ में नित्य बसता है ।

१. कर्म ब्रह्म से होता है—

गीता में ब्रह्म शब्द के प्रसंगानुसार अनेक अर्थ हैं—वेद (४।३२) प्रकृति (१४।३) परमात्मा (१४।४) ब्रह्मा (८।१७) और ब्राह्मण (१८।४२) को 'ब्रह्म' कहा गया है।

कर्म का ज्ञान हो जाना जीवन की सबसे बड़ी सफलता है। क्या करना चाहिये ? क्या नहीं ? किस प्रकार करना चाहिये ? आदि प्रश्नों के उत्तर वेद, प्रकृति, परमेश्वर, ब्रह्मा और ब्राह्मणों से मिलते हैं। इनके आदेशों के विरुद्ध किये गये कर्मों में यज्ञ नहीं होता। कर्म वही है जिसमें दैवीभाव हो, ईश्वरीय आज्ञा का पालन हो, शास्त्रों की मर्यादा का उल्लंघन न हो, जो महापुरुषों के श्रेष्ठ आचरणों के अनुकूल हो और जिससे धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था न टूटे।

यज्ञ के ऐसे सब कर्म, ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं।

२. ब्रह्म अक्षर से उत्पन्न हुआ है—

वेद, प्रकृति, ब्रह्मा और ब्राह्मण सबकी उत्पत्ति अक्षर से है। अक्षर परब्रह्म है उसका कभी क्षय नहीं होता। सृष्टि के मूल में वही अक्षर है! अक्षरब्रह्म से चराचर जगत् को गति और प्रेरणा मिलती है।

३. सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञ में नित्य बसता है—

प्रत्येक शुभ-कर्म में ब्रह्म रहता है, यज्ञ के कर्म इसीलिये बन्धन-रहित हैं कि वे ब्रह्म के द्वारा ब्रह्म की प्रेरणा से ब्रह्म के लिये होते हैं।

देव-पूजन, सेवा, संगतिकरण, प्रेम, सद्भाव और आदान-प्रदान रूपी यज्ञ-कर्मों के दर्पण में ब्रह्म का स्पष्ट दर्शन होता है। यज्ञ-कर्मों को छोड़ने से परमेश्वर छूट जाता है।

यज्ञ-कर्मों को न करनेवाले और यज्ञ-कर्मों में बाधा डालनेवाले का जन्म व्यर्थ ही जाता है।
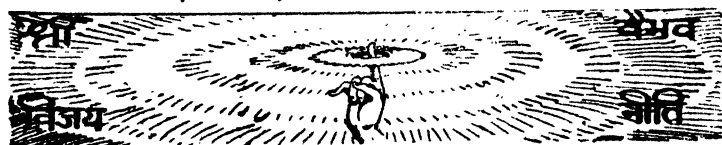
१६

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

एवम्, प्रवर्तितम्, चक्रम्, न, अनुवर्तयति, इह, यः, अघायुः, इन्द्रियारामः, मोघम्, पार्थ, सः, जीवति ।

पार्थ=हे पार्थ, यः=जो, इह=इस लोक में, एवम्=इस प्रकार, प्रवर्तितम्=चलाये हुए, चक्रम्=चक्र के, न अनुवर्तयति=अनुसार नहीं चलता, सः=वह, इन्द्रियारामः=इन्द्रियों के सुखों में पड़ा हुआ, अघायुः=पापायु, मोघम्=व्यर्थ ही, जीवति=जीवित रहता है ।

चलता न जो इस भाँति चलते चक्र के अनुसार है ।
पापायु इन्द्रियलम्पटी वह व्यर्थ ही भू-भार है ॥

अर्थ—हे पार्थ ! जो इस लोक में इस प्रकार चलाये हुए चक्र के अनुसार नहीं चलता वह इन्द्रियों के सुखों में पड़ा हुआ पापायु व्यर्थ ही जीवित रहता है ।

व्याख्या—सृष्टि को सुखमय बनाने के लिये कर्म करना मनुष्य-मात्र का निश्चित धर्म है । मनुष्य वही है जो कुछ न कुछ करता रहे । करना वही सार्थक है जिससे कुछ करना शेष न रहे अपने कर्मों द्वारा संसार की अपूर्णता को पूर्ण करनेवाला यज्ञ-चक्र को चलाता है ।

यज्ञ से सृष्टि व्यवस्थित रहती है । यज्ञ करनेवाला परमेश्वर के कार्य में सहायक होता है । जो यज्ञ-चक्र को नहीं चलाता वह सृष्टि

की प्रगति में बाधा डालता है, जगत् के कर्मों में कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है और दुःखों को निमन्त्रण देता है।

जो यज्ञ-चक्र के अनुसार नहीं चलता—

यज्ञ का चक्र चलते रहने से जगत् का कल्याण है। यज्ञ के कर्मों में ब्रह्म स्वयं निवास करता है। ब्रह्म के आदेशानुसार कर्म करने से पर्जन्य समय पर बरसता है। पर्जन्य से अन्न की कमी नहीं रहती। जहां अन्न है वहीं धन, बल, विद्या और सम्पन्न-जीवन होता है। इस प्रकार यज्ञ से जगत् का जीवन है।

मनुष्य के कर्मों से जगत् का उत्थान और पतन होता है। यज्ञ-कर्मों से देवता तृप्त होते हैं। अध्ययन और मनन से ऋषि प्रसन्न होते हैं सेवा और प्रेममय पारिवारिक जीवन से पितरों को शान्ति मिलती है।

मनुष्य जब यज्ञ के कर्म छोड़ देता है तो देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु और पक्षी सबको दुःख, अशान्ति और असन्तोष होता है। यज्ञमय जीवन न बनाने से सर्वत्र पाप ताप फैल जाते हैं।

गीता के अनुसार जो यज्ञ-चक्र को नहीं चलाता अथवा यज्ञमय जीवन नहीं बनाता—

१. वह इन्द्रियों के सुखों में डूबा रहता है।

२. वह पापायु है।

३. वह व्यर्थ ही जीता है।

१. वह इन्द्रियों के सुखों में डूबा रहता है—

जो अज्ञान, मोह अथवा स्वार्थ-वश यज्ञ के कर्म नहीं करता वह अपना, अपने समाज और देश का अहित करता है—प्रभु उससे प्रसन्न नहीं होते।
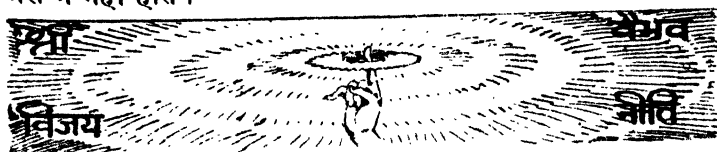
यज्ञ करनेवाला अपना जीवन संयमित बनाता है। उसके शरीर में रहनेवाली सब इन्द्रियां देवताओं और ऋषियों के समान शक्ति-सम्पन्न, पवित्र और तपोमय बनी रहती हैं। यज्ञ न करनेवाला केवल इन्द्रियों के क्षणभंगुर-विषय-भोगों में लिप्त रहकर जीवन खो देता है।

२. वह पापायु है—

जो केवल सुख-भोग में आयु को नष्ट करता है, भोगों और रोगों की वृद्धि करता है और स्वधर्म को छोड़ कर देह तथा इन्द्रियों के परधर्म में भूला रहता है उसकी आयु पापों में व्यतीत होती है।

इन्द्रिय-सुखों में डूब कर अपने कर्त्तव्य को भूल जाना पाप है। भोगों और स्वार्थों के लिये किसी को कष्ट देना और दैवी नियमों के विरुद्ध कर्म करना पाप है।

३. वह व्यर्थ ही जीता है—

पाप करनेवाले से प्रतिष्ठा का कोई कर्म नहीं होता। जगत् में शक्ति की पूजा होती है। अपनी विशेषताओं के कारण मनुष्य, मनुष्य कहा जाता है। किसी में धन का बल होता है, किसी के पास विद्या का बल होता है, कोई शारीरिक बल से सम्पन्न होता है और कोई परमेश्वर के बल पर निर्भय रहता है; परन्तु जिसमें कोई भी बल नहीं उसका जीवन व्यर्थ है, वह धरती माता का बोझ बनकर पापमय जीवन जीता है।

पापमय जीवन जीनेवाले के लिये कहीं सुख नहीं है। उसे तृप्ति का धन नहीं मिलता और उसका कोई कर्म पूरा नहीं होता।

यज्ञ के कर्म करनेवाले कर्मशील पुरुष सदा सुखी, सन्तुष्ट और पूर्णकाम रहते हैं—

१७

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥

यः, तु, आत्मरतिः, एव, स्यात्, आत्मतृप्तः, च, मानवः,
आत्मनि, एव, च, संतुष्टः, तस्य, कार्यम्, न, विद्यते।

तु=परन्तु, यः=जो, मानवः=मनुष्य, आत्मरतिः एव=आत्मा में ही प्रीति करनेवाला, च=और, आत्मतृप्तः=आत्मा में ही तृप्त, च=तथा, आत्मनि=आत्मा में, एव=ही, संतुष्टः=संतुष्ट, स्यात्=हो, तस्य=उसके लिये, कार्यम्=कोई कार्य, न=नहीं, विद्यते=है।

नित किन्तु जो जन आत्मरत है आत्म-तृप्त विशेष है।
संतुष्ट आत्मा में उसे करना नहीं कुछ शेष है॥

अर्थ—परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही प्रीति करनेवाला और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही सन्तुष्ट हो उसके लिये कोई कार्य नहीं है।

व्याख्या—यज्ञ के लिये कर्म करनेवाला आत्मज्ञान को व्यवहार में उतार लाता है, उसका कोई कार्य अधूरा नहीं रहता, वह कभी किसी कर्त्तव्य-कर्म से पीछे हटने का प्रयत्न नहीं करता और सदा पूर्णकाम तथा सन्तुष्ट रहता है, उसके सामने कोई कार्य नहीं रहता।

समय का सदुपयोग करनेवाले के पास अच्छे कर्मों के लिये सदा समय रहता है। कर्मों में आसक्त पुरुषों को शुभ कर्मों के लिये कभी समय नहीं मिलता, इसी कारण वे अशुभ और अनात्म कर्मों में फँस कर दुःखी और अशान्त रहते हैं।
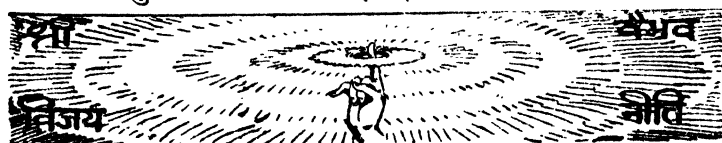
पूर्णकाम वह कर्त्तव्य-कर्म कर लेनेवाला होता है—

१—जो आत्मा में प्रीति करनेवाला है।

२—जो आत्मा में तृप्त है।

३—जो आत्मा में सन्तुष्ट है।

१. जो आत्मा में प्रीति करनेवाला है—

यज्ञ में दी गयी आहुति आत्म-प्रीति से स्निग्ध बनती है। स्निग्धता के बिना यज्ञ की पवित्र अग्नि प्रज्वलित नहीं होती। आत्मा में प्रीति रखनेवाला विषयों के पीछे नहीं दौड़ता। वह बाहरी पदार्थों और साधनों पर निर्भर नहीं रहता। सत्य और अन्तःकरण की पवित्रता ही उसके लिये यज्ञ है।

आत्मा में प्रीति का अर्थ है—प्राणिमात्र से प्रेम। परमेश्वर की प्रतीति आत्म-प्रीति से होती है।

आत्मा में प्रीति रखनेवाले के कर्म स्वयं ही पूर्ण हो जाते हैं। वह निमग्न होकर कर्म करता है और पवित्र प्रेम के कारण उसे सबका सहयोग तथा सद्भावना प्राप्त होती है। सबको प्रसन्न करनेवाले से परमात्मा प्रसन्न रहते हैं और सबसे प्रेम करनेवाला परमात्मा का प्रेम प्राप्त कर लेता है।

आत्मा में प्रीति करनेवाला सदा तृप्त रहता है—

२. जो आत्मा में तृप्त है—

आत्म-प्रीति का फल तृप्ति है, तृप्त को अधिक की चाह नहीं होती। वह अन्यगामी नहीं होता। संसार में सर्वत्र अतृप्ति की ज्वाला भड़कती है। तृप्ति केवल आत्मरति में है।

"सुखी मीन जहँ नीर अगाधा।
तिमि हरि शरण न एकहु बाधा॥"

मछली गहरे जल में तृप्त रहती है, उसके ऊपर-नीचे दशों दिशाओं में जल रहता है। जल मीन का जीवन है। दूध, घी अथवा किसी बहुमूल्य तरल पदार्थ में मछली को रख कर कहा जाय कि इसमें सुख से रहो तो वह तड़प-तड़प कर जीवन छोड़ देगी। यही दशा मनुष्य की है—आत्मा में रहने से वह सदा सुखी रहता है; आत्मा से अलग कहीं भी उसकी तृप्ति नहीं हो सकती।

विषय-भोगों में तृप्ति नहीं है—एक भोग के पश्चात् दूसरे की इच्छा होती है। अतृप्ति, मनुष्य को एक क्षण भी शान्ति से नहीं बैठने देती। दुःख, तृष्णा, अशान्ति सब अतृप्ति के परिणाम हैं। आत्मा में तृप्त होनेवाला विषय-भोगों में सुख नहीं देखता। वह स्थायी सुख के लिये अपने-आपमें निमग्न रहता है। प्रत्येक कर्म-फल से उसकी तृप्ति होती है।

३. जो आत्मा में सन्तुष्ट है—

तृप्ति का परिणाम सन्तोष है। सुख, शान्ति और प्रसन्नता से स्वाभाविक सन्तोष प्राप्त होता है। सन्तोष साधन नहीं है—साध्य है, कर्म-त्याग का फल नहीं है—विषय-त्याग का फल है। माँगने अथवा जबर्दस्ती मान लेने से सन्तोष नहीं मिलता। "प्रभु की ऐसी ही इच्छा थी" ऐसा कहनेवाला झूठा सन्तोष पाता है। सच्चा सन्तोष कर्म की पूर्णता में ही है। कर्म करके मिला हुआ सन्तोष परम धन है।

असन्तोषी की आत्मा में बल नहीं होता। असन्तोष प्राणों को जलाता है, तृष्णा को जगाता है, काम को थपकता है और क्रोध को भोजन देता है।

कर्म छोड़ने से सन्तोष कभी नहीं मिलता। अन्तर में कामनायें कूदती रहें और बाहर सन्तोष की बात करें तो मिथ्याचार घेर लेता है।

श्री वैभव विजय नीति

कर्म में नहीं, कर्म के फल में सन्तोष करना चाहिये। सावधानी और कुशलता से किये गये कर्मों से सन्तोष स्वयं मिलता है।

कर्म-कला से अनभिज्ञ, धर्महीन, अनिश्चित बुद्धिवाले प्रायः सोचा करते हैं कि ऐसा कर लेने से ऐसा हो जाता, अमुक काम करने से अधिक सुख-लाभ होता। ऐसे चंचल बुद्धिवाले अतृप्त पुरुषों को आत्म-सन्तोष नहीं मिलता।

आत्म-रति, आत्म-तृप्ति और आत्म-सन्तुष्टि से स्थायी और अनन्त आनन्द प्राप्त होता है। आत्मा से पृथक् कहीं सुख नहीं है।

जो आत्मा से अटूट नाता जोड़ता है, आत्मा में निमग्न रहता है और कर्म करके परमेश्वर के दिये हुए से सन्तुष्ट हो जाता है उसके कर्म स्वयं ही पूर्ण हो जाते हैं—उसे कुछ करना शेष नहीं रहता।

उसे कुछ करना शेष नहीं रहता—

तृप्ति और सन्तुष्टि होने पर किसी प्रकार की कामना नहीं रहती; लोक-संग्रह और सेवा से जीवन की आवश्यकतायें स्वयं पूर्ण हो जाती हैं।

मनुष्य जब कृतकृत्य हो जाता है अथवा प्रत्येक कर्म में पूर्णता प्राप्त कर लेता है तब उसके लिये कुछ करना शेष नहीं रहता।

जिसके लिये कुछ करना शेष नहीं रह जाता अथवा जो कर्त्तव्य-कर्मों को तुरन्त पूरा कर देता है वही मुक्त है। कर्मों की अपूर्णता मनुष्य को कभी सुख से नहीं बैठने देती। जो प्रत्येक कर्म को युक्ति, कुशलता और सावधानी से पूरा करना जानता है वह किसी का दास होकर नहीं रहता।

पूर्ण काम पुरुष की अभिलाषायें उदार, पवित्र और उन्नत हो जाती हैं; वह किसी से छल कपट का व्यवहार नहीं करता। यही सांसारिक कर्मों से मुक्त होने की अवस्था है।

१८

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

न, एव, तस्य, कृतेन, अर्थः, न, अकृतेन, इह, कश्चन,
न, च, अस्य, सर्वभूतेषु, कश्चित्, अर्थव्यपाश्रयः।

तस्य=उसका, इह=इस लोक में, कृतेन=कर्म करने से, एव=भी, अर्थः=प्रयोजन, न=नहीं, न=और, अकृतेन=न करने से (भी), कश्चन=कोई (प्रयोजन), न=नहीं है. अस्य=उसका. सर्वभूतेषु=सब प्राणियों से, कश्चित्=कुछ भी, अर्थव्यपाश्रयः=स्वार्थ का सम्बन्ध, न=नहीं रहता,

उसको न कोई लाभ है करने न करने से कहीं।
हे पार्थ! प्राणीमात्र से उसको प्रयोजन है नहीं॥

अर्थ—उसका इस लोक में कर्म करने से भी प्रयोजन नहीं और न करने से भी कोई प्रयोजन नहीं है। उसका सब प्राणियों से कुछ भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता।

व्याख्या—यज्ञ के लिये कर्म करनेवाला आत्मज्ञानी कहलाता है। यज्ञ से मन, बुद्धि और इन्द्रियों का रूपान्तर हो जाता है, आत्म-भाव जागृत रहता है और प्रत्येक कर्म में सुख तथा पूर्णता का अनुभव होता है।

जो पूर्णकाम है उसका व्यवहार निष्काम और पवित्र होता है—

१—उसे कर्म करने से प्रयोजन नहीं।

२—कर्म न करने से भी प्रयोजन नहीं।

३—प्राणियों से उसका कोई स्वार्थ-सम्बन्ध नहीं रहता।

१. उसे कर्म करने से प्रयोजन नहीं--

कर्म जीवन का आधार है। जब तक संसार तब तक व्यवहार। कर्म से बचने का विचार भी कायरता और अपराध है। साधक पुरुष के लिये कर्म जीवन है और सिद्ध पुरुष के लिये कर्म मोक्ष है।

साधक जब कर्म छोड़ कर सिद्ध होने का मिथ्याचार करते हैं तो कर्म उन्हें गिरा देता है और सिद्ध जब स्वार्थ से कर्म करते हैं तो उन्हें कर्म गिरा देता है।

पूर्णकाम जीवन्मुक्त पुरुष निष्प्रयोजन होकर कर्म करता है; उसे किसी प्रकार की लौकिक और पारलौकिक कामना नहीं रहती; वह कर्तृत्व के अभिमान से सर्वथा मुक्त और भगवान के साथ योग युक्त रहता है; कर्मों का उसके मन पर कोई लेप नहीं लगता; वह स्थिर, शान्त, अचल, निर्मल, तृप्त और सन्तुष्ट रहता है; वह सर्वोच्च चेतना और सत्ता में प्रतिष्ठित होकर कर्म के दोषों से बचा रहता है। कर्म से प्रयोजन न रखने का यही भाव है।

२. कर्म न करने से भी प्रयोजन नहीं—

पूर्णकाम ज्ञानी पुरुष कर्म न करने का भी आग्रह नहीं करता। उसके लिये कोई कर्त्तव्य शेष न रहने पर भी वह लोक-कल्याण के लिये तन-मन को अर्पण कर देता है। न करने का आग्रह एक प्रकार का अभिमान सूचक है।

ज्ञस्य नार्थः कर्मत्यागैर्नार्थः कर्मसमाश्रयैः।
तेन स्थितं यथा यद्यत्तत्तथैव करोत्यसौ॥"

(योगवसिष्ठ ६।१६६।४)

आत्मज्ञानी को कर्म करने से अथवा न करने से कोई प्रयोजन नहीं होता। अतः जैसा अवसर प्राप्त होता है वह वैसा ही करता है।

कर्म करना और न करना जब समान सन्तोष देता है तो ज्ञानी पुरुष कर्म को छोड़ने का आग्रह नहीं करते। कर्म छोड़ देने से लोक-संग्रह और धर्म-मार्ग लुप्त हो जाता है।

जहाँ किसी प्रकार की आसक्ति और कामना नहीं है वहाँ करने और न करने दोनों से कोई प्रयोजन नहीं होता। साधारण प्राणी बिना स्वार्थ के कुछ नहीं करते, मुक्त पुरुष अपने स्वार्थ के लिये कुछ नहीं करते। स्वार्थ-मूलक संसार कभी सुखी नहीं हो सकता। स्वार्थहीन कभी दुःखी नहीं होता; अतः श्रेष्ठजन अपनी इच्छा और कामना न होते हुए भी कर्म नहीं छोड़ते।

३. प्राणियों से कोई स्वार्थ-सम्बन्ध नहीं रहता—

स्वार्थ के साथ सत्य, प्रेम और त्याग कभी नहीं रहते। त्याग के बिना कर्म में पवित्रता नहीं आती। पवित्रता के बिना सत्य में स्थिति नहीं होती और सत्य के बिना सुख तथा सफलता नहीं मिलती। व्यक्तिगत सुख और सफलता के लिये जगत् का सहारा लेना भूल है। दुःख इसीलिये रहता है कि प्राणी उसे संसार के सहारे मिटाना चाहता है। संसार की सहायता पर निर्भर रहना सबसे बड़ी निर्बलता है। जगत् की सेवा और सहायता करके अपने स्वार्थ के लिये उससे कुछ प्रयोजन न रखना सर्वोत्तम ज्ञान है।

युक्तपुरुष, करने और न करने का कोई आग्रह नहीं करते और अपने स्वार्थ के लिये संसार से कोई प्रयोजन नहीं रखते। जिस समय जैसे चरित्र की आवश्यकता होती है वैसा करके संसार को सुखी बनाते हैं; उनके जीवन का ध्येय होता है—यज्ञ के लिये कर्म।

१९

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥

तस्मात् , असक्तः, सततम् , कार्यम् , कर्म, समाचर,
असक्तः, हि, आचरन् , कर्म, परम् , आप्नोति, पूरुषः ।

तस्मात् = इसलिये (तू), असक्तः = अनासक्त होकर, सततम् = निरन्तर,
कार्यम् = करने योग्य, कर्म = कर्म का, समाचर = आचरण कर,
हि = क्योंकि, असक्तः = अनासक्त, पूरुषः = पुरुष, कर्म = कर्म,
आचरन्=करता हुआ, परम् = परम गति को, आप्नोति=प्राप्त होता है ।

जब है यही कर्त्तव्यकर, आसक्ति छोड़ सदैव ही ।
जो कर्म यों करता परम-पद नित्य नर पाता वही ॥

अर्थ—इसलिये अनासक्त होकर निरन्तर करने योग्य कर्म का आचरण कर क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परम गति को प्राप्त होता है ।

व्याख्या—अनासक्त हो जाने पर मनुष्य विश्वात्मा के साथ एक हो जाता है; उसके कर्मों से लोकों में सत्य और धर्म की प्रतिष्ठा होती है और शान्ति, सुख एवं समृद्धि का वरदान मिलता है । निःस्वार्थ होकर कर्म करने की बड़ी महिमा है, जब ऐसा है तो—

१—निरन्तर कर्त्तव्य-कर्म कर ।

२—कर्त्तव्य-कर्म का आचरण अनासक्त होकर कर ।

३—अनासक्त पुरुष परमगति को प्राप्त करता है ।

१. निरन्तर कर्त्तव्य-कर्म कर—

श्री, विजय, वैभव, उन्नति और मुक्ति के लिये निरन्तर कर्म करना नितान्त आवश्यक है। अनन्त आनन्द तक पहुंचानेवाला कर्म है। कर्महीन जीवन में कामनाओं, भूलों और पापों के ढेर लग जाते हैं। कर्म से पीछे हटनेवाला संकट में पड़ जाता है।

कर्त्तव्य-कर्म करने से विचारशीलता जागती है, विवेक चमक उठता है, इन्द्रियों में पवित्र बल भर जाता है, जीवन का सदुपयोग होता है और सुख की राह मिलती है। हाथ, पैर, मन, मस्तिष्क और सम्पूर्ण शरीर कर्त्तव्य-पालन के लिये मिले हैं।

केवल ज्ञान से जीवन सुखी नहीं हो सकता। ज्ञान-सहित कर्म से सुख के झरने झरते हैं। श्रीराम, कृष्ण, बुद्ध, शङ्कर आदि अवतारी पुरुषों और महापुरुषों ने कर्म का अलख जगाया था। आज तक संसार उनके कर्मों की थाह नहीं पा सका है, कर्म की शक्ति अनन्त है। कर्त्तव्य-कर्म का आचरण करता हुआ पुरुष, पुरुषोत्तम-पद पाता है।

जब ऐसा है तो कर्म करो! कर्म करने से ही कर्म के बन्धन कटते हैं, जीवन यात्रा सुगम होती है, मन पवित्र होता है और ज्ञान की आँख खुलती है। निरन्तर कर्म करो! परम पुरुषार्थ के कर्म करो! सावधानी से कर्म करो और वे कर्म करो जो तुम्हारे करने योग्य हों।

२. कर्त्तव्य-कर्म का आचरण अनासक्त होकर कर—

कर्म में स्वार्थ-बुद्धि, अहंकार और उदासी आते ही वह खण्डित हो जाता है। कामना, कर्म-शक्ति में घुन लगा देती है; अहंकार, कर्म को विषैला कर देता है और उदासी, कर्म का तेज हर लेती है। इन

श्री वैभव विजय नीति

तीनों से बचनेवाला अनासक्त हो जाता है। वह संसार के सरोवर में कमल के समान रहता है—करता है पर फँसता नहीं। कर्त्तव्य-कर्म का आचरण भी अनासक्त होकर करना चाहिये।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान, अविद्या आदि की प्रेरणा से किये गये कर्मों में सदा आसक्ति रहती है। आत्मा परमात्मा अथवा पवित्र मन की प्रेरणा से किये गये कर्मों में आस्तिकता और सात्विक वृत्ति रहती है।

सात्विक भाव से कर्त्तव्य-पालन करके भी जो दूसरे के अधिकारों को कुचलता है वह सुखी नहीं होता। अपने लाभ के लिये पर-पीड़ा, घात अथवा छल कपट करनेवाला आसक्त कहलाता है। न्याय, सत्य और कर्त्तव्य-पालन के लिये पुरुषार्थ करनेवाला निष्काम कर्मयोगी कहलाता है।

३. अनासक्त पुरुष परमगति को प्राप्त करता है—

काम-कामी पुरुष के लिये यह संसार कारागार के समान दुःखदायी है और अनासक्त पुरुष के लिये परम धाम के समान सुखदायी है। इन्द्रियों के सहयोग से नहीं—आत्मा के योग से कर्म करनेवाला अनासक्त होता है।

विषयों के लिये किया हुआ कर्म, भोग है। भोगों से कभी सुख नहीं मिलता। भोग का फल रोग है। आत्मा के लिये किया हुआ कर्म निष्काम है—उसका फल परमगति है। परमगति का अधिकारी वही प्रगतिशील प्राणी है जो आत्मा के सहारे कर्म के दुर्गम पहाड़ पर प्रसन्नता और उत्साह से चढ़ जाता है।

ब्रह्मविद् महापुरुषों ने भी कर्म को ही सिद्धि का सर्वश्रेष्ठ साधन माना है और निष्काम कर्म से जीवन महान् बनाया है—

१०

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

कर्मणा, एव, हि, संसिद्धिम्, आस्थिताः, जनकादयः,
लोकसंग्रहम्, एव, अपि, संपश्यन्, कर्तुम्, अर्हसि ।

जनकादयः=जनक आदि, कर्मणा=कर्म से, एव=ही, संसिद्धिम्=परम सिद्धि को, आस्थिताः=प्राप्त हुए, हि=अतः लोकसंग्रहम्=लोक-संग्रह को, संपश्यन्=देखते हुए, अपि=भी (तुम), कर्तुम्=कर्म करने के एव=ही, अर्हसि=योग्य हो ।

जनकादि ने भी सिद्धि पाई कर्म ऐसे ही किये ।
फिर लोकसंग्रह देख कर भी कर्म करना चाहिये ॥

अर्थ—जनक आदि कर्म से ही परम सिद्धि को प्राप्त हुए । अतः लोकसंग्रह को देखते हुए भी तुम कर्म करने के ही योग्य हो ।

व्याख्या—संसार में ऐसे कर्मयोगियों की कमी नहीं है जिन्होंने ज्ञान को कर्म का रूप दिया है । जनक का चरित्र, ज्ञान और कर्म के समन्वय का सुन्दर और स्पष्ट चित्र है, जिसकी कोई रेखा शिथिल और धुँधली नहीं है । भोग में त्याग, राज्य का संचालन करते हुए वैराग्य और पूर्णता में कर्म का उदाहरण जनक के जीवन से मिलता है ।

जगत् में जो कुछ ज्ञान, विज्ञान, सत्साहित्य, धर्म और संस्कृति है वह महापुरुषों के अनासक्त कर्म से है । कर्महीन स्वार्थी और विलासी नर-नारी जगत् को जड़ और भद्दा बनाते हैं ।
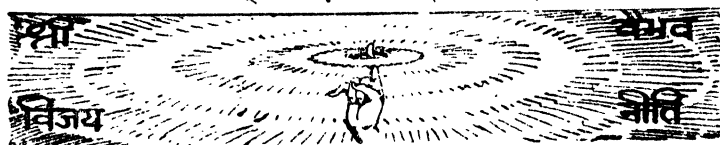
जनक विदेह होकर कर्म करते थे। कर्म में ऐसे तन्मय हो जाते थे कि उन्हें देह की भी सुधि नहीं रहती थी। निमग्नता, सावधानी, दैवीभाव और पुरुषार्थ-सहित किया हुआ कर्म, सुख और सिद्धियों का दाता कहा जाता है; जनक इसीप्रकार कर्म करते थे।

महर्षि व्यास के सुपुत्र जन्म-ज्ञानी शुकदेव ने भी राजा जनक का शिष्यत्व ग्रहण किया। उपनिषदों में इस प्रकार की अनेक कथायें हैं।

महर्षि गौतम ने राजा जयबलि से पञ्चाग्नि विद्या सीखी थी। उद्दालक ने राजा अश्वपति से वैश्वानर विद्या प्राप्त की थी। कर्मयोगी-जन सिद्धियों को प्राप्त करके जगत् को कर्मयोग के आचरण में लगाने का प्रयत्न करते हैं।

महापुरुषों के चरित्रों को जानकर और लोकसंग्रह को देखते हुए कर्म करना आवश्यक है—

महापुरुषों का जीवन, सेवा और लोक-कल्याण के लिये होता है। लोकसंग्रह के लिये महापुरुष निरन्तर कर्म करते हैं।

लोकसंग्रह का अर्थ है—

लोकानां स्वे स्वे धर्मे प्रवर्त्तनम्=लोकों को अपने धर्म में लगाना!

सेवा, पुण्य, दान, सामाजिक संगठन, सभायें आदि का ध्येय लोकसंग्रह है। नेता, जनता, व्यापारी सेवक, साधु, महात्मा सबको लोकसंग्रह के लिये कर्म करना चाहिये। लोकसंग्रह धर्म का सार है।

श्रेष्ठ जन संसार के लिये प्रकाश-स्तम्भ होते हैं। महापुरुषों पर धर्म और देश का भारी उत्तरदायित्व है। उन्हें देख कर जनता चलती है—

२१

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

यत्, यत्, आचरति, श्रेष्ठः, तत्, तत्, एव, इतरः, जनः, सः, यत्, प्रमाणम्, कुरुते, लोकः, तत्, अनुवर्तते।

श्रेष्ठः = श्रेष्ठ पुरुष, यत् = जो, यत् = जो, आचरति = करता है, तत् = उस, तत् = उस के, एव = ही (अनुसार), इतरः = दूसरे, जनः = जन (भी करते हैं), सः = वह, यत् = जो, प्रमाणम् = प्रमाण, कुरुते = कर देता है, लोकः = लोग, तत् = उसके, अनुवर्तते = अनुसार वर्तते हैं।

जो कार्य करता श्रेष्ठ जन करते वही हैं और भी।
उसके प्रमाणित-पंथ पर ही पैर धरते हैं सभी ॥

अर्थ—श्रेष्ठ पुरुष जो-जो करता है उस-उस के ही अनुसार दूसरे जन भी करते हैं। वह जो प्रमाण कर देता है लोग उसके अनुसार वर्तते हैं।

व्याख्या—'आचारश्चैव साधूनाम्'—साधुजनों का आचरण धर्म-पथ का प्रकाश है। जब साधारण जन समाज धर्म संकट में पड़ जाता है, कर्म का पथ आंखों से ओझल हो जाता है और जनता इधर-उधर भटकने लगती है तब श्रेष्ठजन ही आगे आकर उसे मार्ग पर पहुँचाते हैं।

प्रायः देखा जाता है कि श्रुति-स्मृति और संत-वाणियों से भी आपत्ति काल में तुरंत ही निश्चित मार्ग नहीं मिलता, क्योंकि—
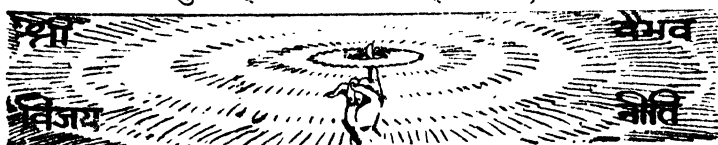
श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयोर्विभिन्नाः, नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम् महाजनो येन गतः सः पन्था ॥

भिन्न-भिन्न हैं वचन शास्त्र के, ऋषि मुनियों की बात न एक ।
महापुरुष जिस पथ पर चलते, करो उसी से धर्म-विवेक ।।

धर्म का तत्त्व गहन गम्भीर और सूक्ष्म है अतः महापुरुष जिस पथ पर चल कर सफल हुए हैं उसी रास्ते से चलना चाहिये ।

सम्पूर्ण समाज शरीर है । ज्ञानी, श्रेष्ठ पुरुष और नेता उसके प्राण हैं । श्रेष्ठ पुरुष उसे कहते हैं—जिसका आचरण श्रेष्ठ होता है ।

श्रेष्ठ पुरुष अंधकार से परे रहते हैं (तमसः परस्तात) ।

श्रेष्ठ पुरुषों के भी शुभ कर्मों का ही अनुकरण करना चाहिये ।

'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि ।'

'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि । नो इतराणि ।'

जो-जो निर्दोष कर्म हैं उन्हीं का आचरण करना चाहिये, दोष-पूर्ण कर्मों का नहीं । गुरुजनों के जो-जो अच्छे आचरण हैं उनका ही अनुसरण करना चाहिये अन्य का नहीं । (तैत्ति० शि० ११)

दम्भ और मिथ्याचार के कारण सत्य और असत्य का निर्णय कठिनाई से होता है । अतः अंधविश्वास से देखा देखी किसी का अनुसरण करना उचित नहीं है । जिनका आचरण धर्म के अनुकूल नहीं होता, जो असत्-भावों से घिरे रहते हैं, जो अहंकारी और आलसी हैं, वे चाहे संत, महंत, विद्वान, वक्ता, नेता कोई हो—उनके पीछे चलने से सुख और शान्ति नहीं मिलती ।

श्रेष्ठपुरुषों के पद-चिह्नों पर चलना ही धर्म का मार्ग है । श्रेष्ठपुरुष कर्त्तव्य-पालन के लिये ही जन्म धारण करते हैं । श्रीकृष्ण ने अपना उदाहरण देते हुए कहा—

११

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

न, मे, पार्थ, अस्ति, कर्तव्यम्, त्रिषु, लोकेषु, किंचन,
न, अनवाप्तम्, अवाप्तव्यम्, वर्ते, एव, च, कर्मणि।

पार्थ = हे पार्थ, त्रिषु = तीनों, लोकेषु = लोकों में, मे = मुझे, किंचन = कुछ भी, कर्त्तव्यम् = करना, न = नहीं, अस्ति = है, च = तथा, अवाप्तव्यम् = (कोई) प्राप्त होने योग्य वस्तु, अनवाप्तम् = अप्राप्त, न = नहीं है, कर्मणि = (फिर भी मैं) कर्म में, एव = ही, वर्ते = वर्तता हूँ।

अप्राप्त मुझको कुछ नहीं जो प्राप्त करना हो अभी।
त्रैलोक्य में करना न कुछ पर कर्म करता मैं सभी ॥

अर्थ—हे पार्थ! तीनों लोकों में मुझे कुछ भी करना नहीं है तथा कोई प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है फिर भी मैं कर्म में ही वर्तता हूँ।

व्याख्या—कृतार्थ अथवा पूर्ण काम होने के लिये मनुष्य कर्म करता है। करना वही सार्थक है जिसे करके कुछ करना शेष न रह जाय। करने को कुछ न होने की अवस्था में भी जो कुछ करता रहता है वह गीता का आदर्श पुरुष है। अनासक्त कर्म का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण देते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

१. मुझे तीनों लोकों में कुछ भी करना शेष नहीं रहा।

२. मुझे कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त नहीं करनी।

३. फिर भी मैं निरन्तर कर्म करता हूँ।

१. मुझे तीनों लोकों में कुछ भी करना शेष नहीं रहा—

जगत् में उसी का ज्ञान और बल धन्य है जिसके लिये कोई कर्त्तव्य कर्म शेष नहीं रहा। अधूरे कर्म मनुष्य की शक्ति को खा जाते हैं। कर्म की पूर्णता से पुरुष पूर्णकाम और ब्रह्मरूप होता है।

श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुष थे। अपनी योग-शक्ति द्वारा उन्होंने कोई कर्म अपूर्ण नहीं छोड़ा था। तीनों लोकों में ऐसा कोई कर्म नहीं था जो उनके लिये कठिन हो।

श्रीकृष्ण का जीवन कर्म की परिभाषा करता है। बाल्यावस्था में खेलते-खेलते दानवों का वध करना, गो-पालन का व्रत लेना, अनासक्त होकर मधुर वंशी बजाना, परमार्थ के लिये दावानल रूप दुःखों की आग पी जाना, पहाड़ों जैसे भारी सेवा-कर्मों को सिर पर उठाकर भी प्रसन्न रहना आदि आदि दिव्य कर्मों से श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण जीवन एक ज्वलंत शास्त्र बन गया है। करने को कुछ न होते हुए भी वे निरन्तर कर्म करते थे।

२. मुझे कोई भी अप्राप्त वस्तु प्राप्त नहीं करनी—

श्रीकृष्ण ने अपनी कर्म-कुशलता और तत्परता से प्राप्त करने योग्य सब कुछ प्राप्त कर लिया था। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मुक्ति उनके लिये नित्य सुलभ थीं। सब कुछ प्राप्त करके भी उनकी जीवन-वंशी से एक ही मधुर ध्वनि निकलती थी—

३. मैं निरन्तर कर्म करता हूँ—

श्रीकृष्ण का जीवन, सूर्य की भांति चलता था। ज्ञान सहित नियमित और संयमित कर्म करके श्रीकृष्ण ने जगत् को कर्म का मार्ग दिखाया है। वे किसी भी समय कर्म से असावधान नहीं रहते थे।

निरन्तर कर्म करने का कारण बताते हुए उन्होंने कहा—

२३

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

यदि, हि, अहम्, न, वर्तेयम्, जातु, कर्मणि, अतन्द्रितः,
मम, वर्त्म, अनुवर्तन्ते, मनुष्याः, पार्थ, सर्वशः ।

हि=क्योंकि, यदि=यदि, अहम्=मैं, अतन्द्रितः=सावधान हुआ, जातु=कदाचित, कर्मणि=कर्म, न=न, वर्तेयम्=करूं (तो), पार्थ=हे पार्थ, मनुष्याः=मनुष्य, सर्वशः=सब प्रकार से, मम=मेरे, वर्त्म=बर्ताव का, अनुवर्तन्ते=अनुसरण करने लग जाँय ।

आलस्य तजके पार्थ ! मैं यदि कर्म में बरतूँ नहीं ।
सब भांति मेरा अनुकरण ही नर करेंगे सब कहीं ॥

अर्थ—क्योंकि यदि मैं सावधान हुआ कदाचित् कर्म न करूँ तो हे पार्थ ! मनुष्य सब प्रकार से मेरे बर्ताव का अनुसरण करने लग जाँय ।

व्याख्या—महापुरुषों पर लोक-संग्रह का उत्तरदायित्व रहता है, उन्हें देखकर जगत् कर्म करता है—

'गतानुगतिको लोकः ।'

परिवार के बड़े बूढ़ों, मुहल्ले के पञ्चों, नगरपालकों, नेताओं और गुरुजनों के लिये श्रीकृष्ण ने अत्यन्त पवित्र और गम्भीर सन्देश दिया है । प्रत्येक मनुष्य को भली प्रकार हृदयङ्गम कर लेना चाहिये कि—

'यदि मैं किसी भी समय सावधानी से कर्म न करूँगा तो दूसरे भी मेरा अनुसरण करेंगे।'

प्रत्येक समय कर्म में सावधानी और तत्परता की आवश्यकता है। चूक होते ही चोट खानी पड़ती है। आलस्य जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है। सम्पूर्ण विकारों और व्यभिचारों का जन्म आलस्य से होता है। आलस्य की मोह निशा में भाग्य का कमल नहीं खिलता, दरिद्रता और अज्ञान के उलूक बोलने लगते हैं। श्री और श्रीपति आलसी को छोड़ जाते हैं। आलस्य से कर्म की जड़ें सूख जाती हैं। अतः सावधानी से कर्म में लगे रहना मानवमात्र का परम धर्म है। कर्म की बेल पर सौभाग्य फूलता-फलता है। कर्म में कुशलता; सफलता और समृद्धि की शाखायें फूटती हैं।

श्रीकृष्ण ने आलस्य छोड़ कर सावधानी से कर्म किया तो युद्धक्षेत्र भी धर्मक्षेत्र बन गया। जगत् का मूलाधार कर्म है। ज्ञानी, भक्त, विरक्त किसी को भी कर्म छोड़ना उचित नहीं है। ज्ञान जिनकी चौखट पर खड़ा पहरा देता था, भक्ति जिनके चरण चापती थी वे श्रीकृष्ण एक क्षण के लिये भी हाथ पर हाथ रखकर नहीं बैठे—भगवान् ने भक्त के घोड़े हाँके, झूठी पत्तलें उठाईं, सन्तों के पैर पखारे, गौएँ चराईं, सुदर्शन चलाया और निरन्तर कर्म किया। कर्मशील परमेश्वर, आलसी के हाथ नहीं आता।

भक्ति और ज्ञान को कर्म से अलग करते ही अज्ञान और दासता आ दबाती है, लोक भ्रष्ट हो जाते हैं, मिथ्याचार फैल जाता है, अनैतिकता और चरित्र हीनता बढ़ जाती है। इसी सत्य का समर्थन करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

२४

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

उत्सीदेयुः, इमे, लोकाः, न, कुर्याम् , कर्म, चेत् , अहम् ,
संकरस्य, च, कर्ता, स्याम् , उपहन्याम् , इमाः, प्रजाः ।

चेत् = यदि, अहम = मैं, कर्म=कर्म न=न. कुर्याम्=करूं (तो), इमे=ये. लोकाः=लोक. उत्सीदेयुः=भ्रष्ट हो जायँ, च=और (मैं). संकरस्य=संकर का, कर्ता=करनेवाला, स्याम्=होऊँ (तथा), इमाः=इस सारी, प्रजाः=प्रजा को, उपहन्याम=हनन करनेवाला बनूं ।

यदि छोड़दूँ मैं कर्म करना, लोक सारा भ्रष्ट हो ।
मैं सर्वसंकर का बनूँ कर्ता, सभी जग नष्ट हो ॥

अर्थ—यदि मैं कर्म न करूँ तो ये लोक भ्रष्ट हो जाँय । और मैं संकर का करनेवाला होऊँ, तथा इस सारी प्रजा को हनन करनेवाला बनूँ ।

व्याख्या—कर्म न करने का प्रत्यक्ष फल विनाश है । एक मनुष्य कर्म को छोड़कर आलस्य में पड़ता है तो सहस्रों जीवन बिगड़ जाते हैं । व्यापारी, किसान, मजदूर, सेवक सबके सन्मुख दीवारों पर ही नहीं हृदय-हृदय पर लिख देना चाहिये—कर्म ! निरन्तर कर्म !! उत्साह-सहित कर्म !!! कर्म जगत् के जीवन का सहारा है । जन-जन में कर्ममय जीवन जागते ही दुर्भाग्य का अन्त हो जाता है ।

श्री वैभव

विजय

कर्म की शक्ति जीवन का सर्व प्रथम चिह्न है। जिसके पास कर्म है वही सच्चा धनी है। निरन्तर कर्म करनेवाले को दीनता का मुख नहीं देखना पड़ता।

आलसी स्वामी, दुकान या दफ्तर के सेवकों को आलसी बना देता है। आलसी मजदूर, जड़ मशीनों को भी बिगाड़ देता है। आलसी किसान को देखकर उभरते हुए अंकुर दब जाते हैं। कर्म में आलस्य करनेवाला सारे जीवन को नष्ट कर देता है।

आलसी मनुष्य प्रजाओं के विनाश का कारण होता है। वह अपने जीवन-निर्वाह के लिये मिथ्याचार, झूठ, छल का सहारा लेता है, अतः उसके कारण संसार चरित्र-हीनता के दोषों से भर जाता है। अपना कर्त्तव्य-पालन न करनेवाला किसी न किसी रूप में व्यभिचार फैलाता है। जगत् में जो कुछ अव्यवस्था है उसका कारण कर्त्तव्य कर्म से पीछे हटना है।

कर्म से जगत् की स्थिति है। कर्म से सर्वत्र व्यवस्था बनी रहती है। कर्म के शिथिल होते ही मानव समाज की स्थिति बिगड़ जाती है और लोक-भ्रष्ट हो जाते हैं।

संसार के सम्पूर्ण दोषों का जन्म कर्महीनता से होता है। कर्महीन कर्त्तव्य का उल्लंघन कर जाता है, उसके अधर्म के कारण वर्णसंकरता की वृद्धि होती है और कहीं पवित्र चरित्र तथा उच्च-भाव नहीं रहते।

जीवन में किसी न किसी रूप से कर्म हुए बिना नहीं रहता। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों किसी न किसी प्रकार कर्म करते हैं। उनके आचरण का भेद श्रीकृष्ण ने इस प्रकार बताया—

२६

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

सक्ताः, कर्मणि, अविद्वांसः, यथा, कुर्वन्ति, भारत,
कुर्यात्, विद्वान्, तथा, असक्तः, चिकीर्षुः लोकसंग्रहम् ।

भारत = हे भारत, यथा = जैसे, अविद्वांसः = अज्ञानी जन,
कर्मणि = कर्म में, सक्ताः = आसक्त हुए, कुर्वन्ति = कर्म करते हैं,
तथा = वैसे ही, विद्वान् = विद्वान्, लोकसंग्रहम् = लोक-संग्रह की,
चिकीर्षुः = इच्छा से, असक्तः = अनासक्त होकर, कुर्यात् = कर्म करे ।

ज्यों मूढ़ मानव कर्म करते नित्य कर्मासक्त हो ।
यों लोक-संग्रह हेतु करता कर्म, विज्ञ विरक्त हो ॥

अर्थ—हे भारत ! जैसे अज्ञानी जन कर्म में आसक्त हुए कर्म करते हैं वैसे ही विद्वान्, लोक-संग्रह की इच्छा से अनासक्त होकर कर्म करे ।

व्याख्या—ज्ञानी जन सावधानी से कर्म का श्रेष्ठ मार्ग चुनते हैं। ज्ञानी पुरुषों के व्यवहार का मार्ग दिखाते हुए गीता ने निश्चित आदेश दिये हैं—

१—अज्ञानी जन कर्म में आसक्त हुए कर्म करते हैं।

२—ज्ञानी को लोक-संग्रह की इच्छा से अनासक्त होकर कर्म करना चाहिये ।
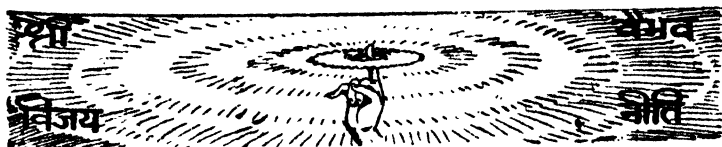
१. अज्ञानीजन कर्म में आसक्त हुए कर्म करते हैं—

अज्ञानीजन कर्म में आसक्त रहता है अथवा कर्म में आसक्त रहनेवाला अज्ञानी होता है। कर्म में आसक्त होने का अभिप्राय है—

(क) केवल स्वार्थ-कामना से कर्म करना।

(ख) अपने सुख के लिये दूसरों को दुःख देना।

(ग) मन से ठीक-ठीक कर्त्तव्य-पालन न करना और थोड़े से कर्म का अधिक फल चाहना।

(घ) अहंकार, दम्भ, अज्ञान और असावधानी से कर्म करना।

(च) छल और कपट से धर्म विरुद्ध कर्म करके सुख चाहना।

(छ) राग, द्वेष, तृष्णा और वासनाओं में रचेपचे रहना।

आसक्त पुरुष को अच्छे-बुरे, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं होता; वह स्वार्थ पूरा करने की धुन में रहता है।

कर्मासक्त पुरुष हठ, दुराचार, मिथ्याचार, ममता, काम, क्रोध आदि आसुरी भाव धारण करने में अपना गौरव समझता है वह सत्य, परमेश्वर, सदाचार, विनम्रता आदि दैवी भावों और पवित्र विचारों से दूर रहने में सुख मानता है।

आसक्त पुरुष आलस्य और प्रमाद में अपने बहुमूल्य समय को नष्ट कर देता है वह मन और इन्द्रियों का दास होकर कर्म करता है और दुःखी, अशान्त, भयभीत तथा उदास रहता है।

२. ज्ञानी को लोक-संग्रह की इच्छा से अनासक्त होकर कर्म करना चाहियें—

स्वयं अपने कर्त्तव्य का पालन करनेवाला लोकों को कर्त्तव्य-पालन की प्रेरणा और आदेश दे सकता है।

लोक-संग्रह के कर्म भी अनासक्त होकर करने चाहियें। अनासक्ति के बिना कर्म में सत्य और सौन्दर्य नहीं आता। करने योग्य कर्म करके उनका भी अभिमान न करने से अनासक्त कर्म की साधना होती है। जब पवित्र भाव से, सत्य-संकल्पों से, हार्दिक प्रसन्नता से, उल्लास और उत्साह के साथ कर्त्तव्य-पालन के लिये कर्म होता है तभी उसे अनासक्त कर्म कहते हैं।

अनासक्त पुरुष कर्म की माला को किसी भी समय हाथ से नहीं छोड़ता। वह ऐसी माला फेरता है कि दाने-दाने पर भगवान उसके हाथ आते हैं और ऐसी परिक्रमा करता है कि जीवन का कोई क्षेत्र दुःखमय, संकीर्ण और अव्यवस्थित नहीं रहता।

अनासक्त के कर्म प्रसाद से भरे रहते हैं। श्रद्धा, सद्भाव, सत्य, सात्त्विकता, सौजन्यता, सौहार्द और सेवाभाव से अनासक्त के कर्मों का बल चौगुना हो जाता है। उसके कर्म निर्दोष होते हैं।

अनासक्त कर्म से विश्वपुरुष की पूजा होती है, लोक-संग्रह की रक्षा होती है, उसे देखकर लोक अपने-अपने कर्त्तव्य-पालन में लगे रहते हैं और सब अपने-अपने उत्तरदायित्व को समझते हैं। कर्मों में आसक्त स्वार्थी और कामकामी जिस लाभ और कीर्ति के पीछे दौड़ता है वह अनासक्त कर्मयोगी के पीछे-पीछे दौड़ती है।

अनासक्त कर्म का आचरण न किसी कानून के भय से होता है, और न बुद्धि-भेद उत्पन्न करनेवाले उपदेशों तथा आदेशों से। ज्ञानी पुरुषों के ज्ञानपूर्ण, सुखी, सम्पन्न, तेजोमय, गौरवशाली और त्यागमय जीवन को देखकर मनुष्य को स्वयं सत्कर्म करने की प्रेरणा मिलती है। इसी कारण से गीता ने उपदेश से आचरण पर अधिक बल दिया है—

२६

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥

न, बुद्धिभेदम्, जनयेत्, अज्ञानाम्, कर्मसङ्गिनाम्, जोषयेत्, सर्वकर्माणि, विद्वान्, युक्तः, समाचरन् ।

विद्वान्=ज्ञानी पुरुष, कर्मसङ्गिनाम्=कर्मों में आसक्त, अज्ञानाम्=अज्ञानियों की, बुद्धिभेदम्=बुद्धि में भ्रम, न जनयेत्=न डाले, युक्तः=योग-युक्त होकर, सर्वकर्माणि=सब कर्मों को, समाचरन्=अच्छी प्रकार करता हुआ (उनसे भी), जोषयेत्=कराये ।

ज्ञानी न डाले भेद कर्मासक्त की मति में कभी ।
वह योग-युत हो कर्म कर, उनसे करावे फिर सभी ॥

अर्थ—ज्ञानी पुरुष, कर्मों में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम न डाले । योग-युक्त होकर सब कर्मों को अच्छी प्रकार करता हुआ उन से भी कराये ।

व्याख्या—इस लोक में आत्मा, प्रकृति और पुरुष की चर्चा करनेवाले बहुत हैं और सब के सिद्धान्त प्रायः भिन्न-भिन्न होते हैं । केवल सिद्धान्त की चर्चा करनेवाले ज्ञानीजन आत्मा अथवा परमात्मा को अपने आचरण में नहीं उतारते । ज्ञान की पवित्र चर्चा करके जो पापमय आचरण नहीं छोड़ता और फिर भी ब्रह्म को जानने का दावा करता है वह बुद्धि-भेद बढ़ाता है ।

गीता ज्ञानीजनों को सावधान करती है—

१. कर्मों में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम नहीं डालना चाहिये।

२. योग युक्त होकर स्वयं कर्म करके दूसरों से कराना चाहिये।

१. कर्मों में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम नहीं डालना चाहिये—

अज्ञानीजन कर्मों में इस प्रकार आसक्त रहते हैं कि वे जो कुछ करते हैं उसीको सर्वोत्तम मान बैठते हैं। ऐसे कर्मासक्त नर-नारियों को ज्ञान, भक्ति अथवा कर्म का उपदेश देना व्यर्थ हो जाता है। प्रायः ऐसे मनुष्य अपनी ही हठ रखते हैं अथवा नयी-नयी बातें सुन कर श्रुतभ्रांत हो जाते हैं, उनकी बुद्धि विचलित हो जाती है और वे कुछ भी करने के योग्य नहीं रहते। अज्ञानी जनों का ब्रह्मज्ञान अत्यन्त भयंकर होता है। नीति का आदेश है—

"अज्ञस्यार्द्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः॥"

कच्ची बुद्धिवाले, अशुद्ध चित्त, विषयासक्त अथवा बेसमझ से जो ऐसा कहता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है, वह उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करके नरक में धक्का देता है।

"जो कुछ करता है ब्रह्म करता है, सबमें वही ब्रह्म है, मैं भी ब्रह्म हूँ"—ऐसा ब्रह्मज्ञान, ज्ञानी और कर्मशील साधक को लाभ पहुँचा सकता है परन्तु अज्ञानी इस ब्रह्मज्ञान से आसक्ति और बन्धनों में पड़ कर और भी अधिक दुष्कर्म करता है।

बुद्धि-भेद से अनेकों मत-भेद खड़े हो जाते हैं, धर्म का पथ आँखों से ओझल हो जाता है, ज्ञान में स्थिरता नहीं रहती और बुद्धि में चंचलता भर जाती है।

धर्म के अनेकों सिद्धान्त कहने और सुनने से भी बुद्धि-भेद बढ़ता है। धर्म के सम्बन्ध में भ्रांति होने का एक बड़ा कारण यही है कि धर्माचार्य और साधारण पुरुप अपने ही सिद्धान्त को बड़ा और श्रेष्ठ मानते तथा कहते हैं।

कर्म करते हुए मनुष्य की बुद्धि में भेद डालना ईश्वर और समाज दोनों की दृष्टि में अपराध है। अतः बुद्धि-भेद उत्पन्न न करके कर्म का आचरण करना ही श्रेष्ठ है।

२. योग-युक्त होकर स्वयं कर्म करके दूसरों से कराना चाहिये—

श्रेष्ठजन सदा सावधान, निश्चित और नियमित-संयमित रहकर कर्म करते हैं। बुद्धिमत्ता, निपुणता और सात्त्विकता से उनके कर्म यज्ञमय बन जाते हैं। यज्ञकर्मों का करनेवाला सदा योगयुक्त रहता है। जो योगयुक्त है वही निष्काम होता है। निष्काम कर्म करने-वाला न स्वयं भेद और भ्रम में पड़ता है और न किसी को डालता है। उसके श्रेष्ठ कर्मों से लोकों को कर्म करने की प्रेरणा मिलती है।

सूर्य समय पर निकलता है; कुछ कहता नहीं और कुछ चाहता भी नहीं। वह जीवमात्र पर अपनी जीवनप्रद किरणें बखेरता है और संसार को प्रकाशित करता चलता है। जगत् उससे प्राण पाता है। उसकी प्रगति से संसार को सुख मिलता है। सूर्य के उठने पर कोई नहीं उठता तो सूर्य चुपके से उसके पास पहुँचता है, हल्की-हल्की गरमाई पहुँचाता है, आँखों के आगे प्रकाश करता है और मङ्गलमयी चेष्टाओं के साथ सोनेवाले को जगा देता है—कर्मयोगी का यही मार्ग है, उसके कर्म से लोकों को प्रकाश मिलता है।

विचारों, भावों और कर्मों का श्रेष्ठतम रूपान्तर बलपूर्वक कभी नहीं होता। सब अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करते हैं—

२७

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

प्रकृतेः, क्रियमाणानि, गुणैः, कर्माणि, सर्वशः, अहंकारविमूढात्मा, कर्ता, अहम्, इति, मन्यते ।

सर्वशः = सम्पूर्ण, कर्माणि=कर्म, प्रकृतेः=प्रकृति के, गुणैः=गुणों से, क्रियमाणानि=होते हैं, अहंकारविमूढात्मा = अहंकार से मोहित हुआ, इति=ऐसा, मन्यते=मानता है, अहं=(कि) मैं ही, कर्ता = सब कर्मों का करनेवाला हूँ ।

नित प्रकृति-गुण द्वारा किये सब कर्म हैं सुविधान से ।
मैं कर्म करता, मूढ़-मानव मानता अभिमान से ॥

अर्थ – *सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों से होते हैं, अहंकार से मोहित हुआ ऐसा मानता है कि मैं ही सब कर्मों का करनेवाला हूँ ।*

व्याख्या—धार्मिक जीवन बनाने के लिये सत्संग और स्वाध्याय से भी अधिक सत्य और शिव कर्मों की आवश्यकता है । धर्म और सत्य का मार्ग स्वभाव के अनुसार सरल अथवा कठोर बन जाता है । सारा संसार स्वभाव से चलता है । स्वभाव गुणों के अनुसार बनता है ।

गीता ने इस सत्य को सुन्दर रूप दिया है—

१—सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा होते हैं ।

२—अहंकार से मोहित हुआ अपने को कर्त्ता मानता है ।

१. सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा होते हैं—

अग्नि, आकाश, वायु, जल, पृथिवी पंचतत्त्वों तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँचों विषयों का नाम कार्य है। बुद्धि, अहंकार और मन तथा दशों इन्द्रियों का नाम करण है।

ब्रह्माण्ड में कार्य और करण द्वारा ही सम्पूर्ण कर्म होते हैं। प्राणी की देह, इन्द्रियों और अन्तःकरण में जो विचार उठते हैं और उनसे जो कर्म होते हैं वे सत्त्व, रज और तम गुणों के अनुसार होते हैं। जिस गुण की प्रधानता होती है उसी के अनुरूप कर्म होता है।

अन्तःकरण में सतोगुण होने पर शुभ मङ्गलमय धर्मानुसार कर्म होते हैं और सत्य, सेवा, पवित्रता आदि में जीव टिका रहता है।

रजोगुण के उदय होने पर काम, क्रोध, लोभ, मिथ्याचार, राग, द्वेष आदि अनेक प्रकार के विकारों और प्रपञ्चों में जीव पड़ जाता है। तमोगुण के बढ़ जाने पर आलस्य, भ्रम, नींद और प्रमाद की वृद्धि होती है। गीता के १४वें और १७वें अध्याय में तीनों गुणों का सविस्तार वर्णन है।

२. अहंकार से मोहित हुआ अपने को कर्त्ता मानता है—

आत्मा गुण, कर्मों से अलग रहता है। अहंकार के कारण मनुष्य प्रकृति के इन गुणों में आसक्त हो जाता है और अपने को ही कर्त्ता मान लेता है। वास्तव में कर्म करनेवाले प्रकृति के गुण हैं।

अहंकार के कारण मनुष्य अपने गुणों और स्वभाव को निम्नगामी बना लेता है और राग, द्वेष, दुःख, रोग आदि विकारों में डूबा रहता है। अज्ञानी और असंयमी मनुष्य का यही जीवन है। जो अहंकार से छूट कर कहीं आसक्त नहीं होता, वही ज्ञानी है।

२८

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥

तत्त्ववित्, तु, महाबाहो, गुणकर्मविभागयोः,
गुणाः, गुणेषु, वर्तन्ते, इति मत्वा, न, सज्जते ।

महाबाहो = हे महाबाहो, गुणकर्मविभागयोः = गुण विभाग और कर्म विभाग के, तत्त्ववित् = तत्त्व को जाननेवाला, तु = तो, इति = ऐसा, मत्वा = मान कर, न सज्जते = आसक्त नहीं होता है (कि), गुणाः = सम्पूर्ण गुण, गुणेषु = गुणों में, वर्तन्ते = वर्त रहे हैं ।

गुण और कर्म विभाग के सब तत्त्व जो जन जानता ।
होता न वह आसक्त गुण का खेल गुण में मानता ॥

अर्थ—हे महाबाहो ! गुण विभाग और कर्म विभाग के तत्त्व को जाननेवाला तो ऐसा मान कर आसक्त नहीं होता है कि सम्पूर्ण गुण, गुणों में वर्त रहे हैं ।

व्याख्या—विषयों के साथ खेलना इन्द्रियों का स्वभाव है। गुणमयी माया में फँस जाने से जीवन, कामनामय बन जाता है। वह दिन-रात विषय-भोगों के पीछे दौड़ता है और उसे अशान्ति लोभ, तृष्णा, अहंकार आदि घेरे रहते हैं। इसके विपरीत—

१—गुण और कर्मों के विभाग को भली प्रकार जाननेवाला आसक्त नहीं होता ।

२—वह जानता है कि गुण गुणों में वर्त रहे हैं ।
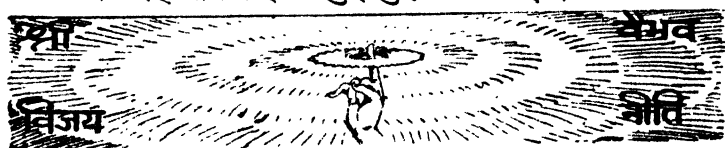
१. गुण और कर्मों के विभाग को भली प्रकार जाननेवाला आसक्त नहीं होता—

पंच महाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार, पाँचों ज्ञानेन्द्रिय, पाँचों कर्मेन्द्रिय और पाँचों विषय, इनका नाम गुण विभाग है। इनकी परस्पर चेष्टाओं का नाम कर्म विभाग है।

इस जगत् में सर्वत्र गुणों का पसारा है। आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी सब गुणों से हैं। गुणों से ही ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सजीव हैं। गुणों से ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की उत्पत्ति है। मन, बुद्धि और अहंकार भी प्रकृति के तीनों गुणों से प्रकट होते हैं। इसी सब फैलाव को गुण विभाग कहा जाता है।

गुणों से कर्म बनते हैं और कर्मों से संस्कार। जीवन, संस्कारों का समूह है। अच्छे और बुरे जैसे कर्म होते हैं उन्हीं से मनुष्य के गुणों की पहचान होती है। गुणों और कर्मों की क्रीड़ा को सत्य की निर्मल आँख से देखनेवाला तत्त्ववित् धोखा नहीं खाता।

गुणों और कर्मों से आत्मा को अलग रखनेवाला तत्त्ववित् कहलाता है।

२. वह जानता है कि गुण, गुणों में वर्त रहे हैं—

तत्त्ववित् जानता है कि गुण, गुणों में खेलते हैं—इन्द्रियां अपने-अपने विषयों को भोगती हैं। गुणों और कर्मों को जाननेवाला धीरे-धीरे सब उलझनों से निकल जाता है। वह कर्मों द्वारा गुणों पर शासन करता है और अनासक्ति योग से गुणातीत होकर विचरता है।

गुणों में आसक्त भूले-भटके जीव को दैवी पथ पर लानेवाला ज्ञानी, विश्व और विश्व पुरुष की सच्ची सेवा करता है। ज्ञानी का कर्त्तव्य निर्धारित करते हुए गीता कहती है—

२९

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत ॥

प्रकृतेः, गुणसंमूढाः, सज्जन्ते, गुणकर्मसु, तान्, अकृत्स्नविदः, मन्दान्, कृत्स्नवित्, न, विचालयेत् ।

प्रकृतेः=प्रकृति के, गुणसंमूढाः=गुणों से मोहित हुए मनुष्य, गुणकर्मसु=गुण-कर्मों में, सज्जन्ते=आसक्त रहते हैं, तान्=उन, अकृत्स्नविदः=अच्छी प्रकार न समझनेवाले, मन्दान्=मन्द बुद्धि वालों को, कृत्स्नवित=ज्ञानी जन, न विचालयेत्=विचलित न करें ।

गुण कर्म में आसक्त होते प्रकृतिगुण मोहित सभी ।
उन मंद मूढ़ों को करे विचलित न ज्ञानी जन कभी ॥

अर्थ—प्रकृति के गुणों से मोहित हुए मनुष्य गुण-कर्मों में आसक्त रहते हैं । उन अच्छी प्रकार न समझनेवाले मन्द बुद्धि वालों को ज्ञानी-जन विचलित न करें ।

व्याख्या—जीव, प्रकृति के गुणों से मोहित हो जाता है, उसमें नित्य नयी-नयी कामनायें उठती हैं, वह स्वार्थ-कर्मों की उधेड़बुन में लगा रहता है, उसके सिर पर अहंकार चढ़ जाता है, वह पापों को पाप नहीं मानता, पुण्य-कर्मों में लगता नहीं, कर्मों के बोझ से दबा रहता है और जीवन पर्यन्त हाय हाय करता है ।
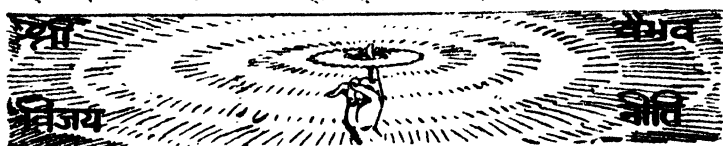
दानव, देवता, मनुष्य जो भी इस माया में फँसता है, मोह के गर्त्त में गिर जाता है, ऐसे अनजान न समझनेवाले पुरुषों को विचलित नहीं करना चाहिये। मोह में फँसे नर-नारियों का मन जहाँ उलझ जाता है वहाँ से हट जाने की शक्ति उनमें नहीं होती। वे किसी भी तत्त्व को भली प्रकार नहीं जानते। न जाननेवालों को आपत्तियाँ सदा घेरे रहती हैं, उनकी बुद्धि मलिन हो जाती है और मन असत् मार्ग पर ही चलता है। महात्मा विदुर ने लिखा है—

बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति॥

जब विनाश के दिन आते हैं होती बुद्धि मलीन।
असत और विपरीत नीति के होता मन आधीन॥

प्रायः रजोगुणी और तमोगुणी स्वभाववाले नर-नारी जीवनोपयोगी भक्ति और ज्ञान की चर्चा से दूर रहने में सुख मानते हैं। ऐसे नर-नारियों के साथ बुद्धिमान् पुरुषों को बड़ी सावधानी से व्यवहार करना चाहिये। चोर को चोर कहने से वह डाकू बन जाता है, बुरे को बुरा कहना बहुत बुरा है। नीति ग्रन्थों में क्रोध को शान्ति से जीतने का आदेश है। दुष्टता का अन्त साधुता से होता है।

गुणों से मोहित हुआ मनुष्य उस समय तक नहीं सुधरता जब तक उसका स्वभाव नहीं सुधरता। स्वभाव को न सुधार कर किसी जीव को सुधारने की चेष्टा करने से वह विचलित हो जाता है और उसके विरोधी गुण भड़क उठते हैं।

संसार में सुखी रहने और सबको सुखी बनाने के लिये अपनी ओर देखना चाहिये। अपने सब कर्मों को जनता-जनार्दन के अर्पण करते हुए निरन्तर आगे बढ़ना ही मानवधर्म है—

३०

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

मयि, सर्वाणि, कर्माणि, संन्यस्य, अध्यात्मचेतसा, निराशीः, निर्ममः, भूत्वा, युध्यस्व, विगतज्वरः।

अध्यात्मचेतसा = अध्यात्म चित्त से, सर्वाणि = सम्पूर्ण, कर्माणि=कर्मों को, मयि=मुझे, संन्यस्य=समर्पण करके, निराशीः = आशा रहित, निर्ममः=(और) ममता रहित, भूत्वा = होकर, विगतज्वरः=सन्तापों को छोड़ कर, युध्यस्व = युद्ध कर।

अध्यात्म-मति से कर्म अर्पण कर मुझे आगे बढ़ो।
फल-आश ममता छोड़कर निश्चिन्त होकर फिर लड़ो॥

अर्थ—अध्यात्म-चित्त से सम्पूर्ण कर्मों को मुझे समर्पण करके आशा-रहित और ममता-रहित होकर सन्तापों को छोड़ कर युद्ध कर।

व्याख्या—युद्ध गीता का एक महान् आदेश है। मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास में सहायक होनेवाला युद्ध, जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जीवन-युद्ध में नित्य तत्पर और सावधान रहने के लिये गीता ने चार आदेश दिये हैं—

१. अध्यात्म-चित्त से सब कर्म मुझे समर्पण करो!
२. आशा-रहित होकर रहो!
३. ममता को छोड़ दो!
४. सन्ताप को छोड़ कर युद्ध करो!
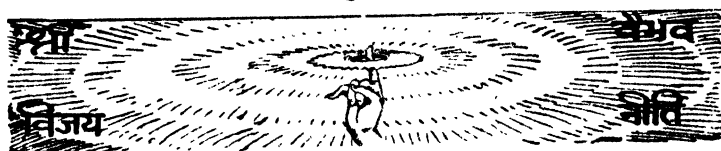
१. अध्यात्म-चित्त से सब कर्म मुझे समर्पण करो—

आध्यात्मिक चित्त से जो कर्म होते हैं वे सब स्वयं ही परमेश्वर के अर्पण हो जाते हैं। आध्यात्मिक चित्त का अर्थ है—आत्मा में टिका हुआ, अचंचल और पवित्र चित्त।

विवेक बुद्धि से प्रेरित चेतन और सावधान चित्त को भी अध्यात्म-चित्त कहा जाता है।

आध्यात्मिक चित्त से होनेवाले कर्मों में छल-कपट और विकार नहीं रहते। आध्यात्मिक चित्त इन्द्रियों के भोगों को अस्वीकार कर देता है, अहंकार में प्रीति नहीं रखता और आत्मवान् होकर कर्म करता है।

जिन कर्मों से शक्ति नहीं छीजती, मन मलिन नहीं होता, कर्मों के भार से चित्त नहीं बैठता, विकारों से मुक्ति मिल जाती है और भ्रम तथा संशयों को छोड़ कर बुद्धि स्वच्छ हो जाती है; उन्हें आध्यात्मिक चित्त से होनेवाले कर्म कहते हैं।

अध्यात्मचेत्ता के कर्म, हृदय में बसा हुआ परमेश्वर करता है। उसके कर्मों का आदि, मध्य और अन्त परमेश्वर से मिला रहता है।

आध्यात्मिक चित्त से किये हुए कर्म भी परमेश्वर के अर्पण कर देने चाहियें अन्यथा उनका पुण्य-फल जीव को सुनहरे बन्धनों में बाँध देता है और पुण्य क्षीण होने पर पुनः दुःख के दिन देखने पड़ते हैं।

परमेश्वर के अर्पण करने से कर्म के दोष दूर होते हैं, सत्कर्मों का भी अभिमान नहीं होता और जीवन आनन्द का धाम बन जाता है।

कर्मों को परमेश्वर के अर्पण करने का भाव है—सच्चे हृदय से परमेश्वर को सर्वत्र उपस्थित जानकर व्यवस्थित चित्त से कर्म करना। परमेश्वर की आज्ञा से, परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिये,

परमेश्वर का होकर, परमेश्वर के प्रिय कर्म करनेवाला अपने सब कर्मों को परमेश्वर के अर्पण करता है।

जिन कर्मों में विषय-भोगों की चाह-चिन्ता रहती है; जिनके करने में आलस्य, प्रमाद, असावधानी और थकान होती है और जिनसे राग-द्वेष तथा विकारों की वृद्धि होती है, वे कर्म परमेश्वर के अर्पण नहीं हो सकते—परमेश्वर उन्हें स्वीकार भी नहीं करता।

परमेश्वर को अर्पण करते ही कर्म, त्याग, सेवा, सद्भाव, सत्य और पवित्रता से भर जाता है। समुद्र जैसे सूर्य के लिये अपना विशाल हृदय खोल देता है, सुन्दरता को बसन्त अपना सर्वस्व दे देता है इसी प्रकार जो अपने प्रत्येक कर्म तथा मानस की प्रत्येक तरंग धन, बल, विद्या और सौन्दर्य को विराट् की सेवा में लगा देता है वही परमेश्वर को कर्म अर्पण करता है।

कर्म को परमेश्वर के अर्पण करने के लिये—

२. आशा-रहित होकर रहो—

मनुष्य सुख, भोग, स्वास्थ्य, धन, बल आदि की बड़ी-बड़ी आशायें बाँधता है। आशा के बिना जीवन एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता। आशा से बल, धैर्य और उत्साह मिलता है। निराशा में भी जो आशावान् रहता है उसका जीवन निस्सन्देह महान् बन जाता है।

कभी पराजित न होनेवाली आशा त्याज्य नहीं है। त्यागने योग्य वही आशा है जो तृष्णा का व्यापार बढ़ाती है, मनुष्य को भटकाती, भुलाती और अकर्मण्य बनाती है। जो विषय-भोगों की आशा नहीं करता, किसी अभाव में निराश भी नहीं होता, आशा का दास बनकर नहीं रहता और आसुरी आशायें नहीं बाँधता उसी को

श्री वैभव विजय नीति

निराशी कहा जाता है। पवित्र आशा से दैवी सम्पत्ति मिलती है और अपवित्र आशा मनुष्य को अपने पाशों में बाँध लेती है। आशा के दास सबके दास होकर रहते हैं—

> "आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
> आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥" —बृहन्नारद पुराण

जो आशा के दास हैं वे सबके दास हैं। जो आशा को अपनी दासी बना लेते हैं वे सब पर शासन करते हैं।

स्वार्थ, भोग और ममतामयी आशा जब किसी समय भी नहीं छूटती तब जीवन दुःखी बन जाता है।

३. ममता को छोड़ दो—

आशा और ममता का योग होने से सदा निराशा हाथ लगती है। ममता में न्याय और सत्य दब जाता है। ममता से पक्षपात, अहंकार और अपने-पराये का भेद जन्म लेता है। अतः ममता त्यागने योग्य है।

ममता मनुष्य को सीमा में बांध लेती है और विश्व-रूप अन्तर्यामी प्रभु को नहीं देखने देती। ममता को छोड़कर जीवन-युद्ध करनेवाला सत्य के लिये युद्ध करता है, वह सदा विजय पाता है।

४. सन्ताप को छोड़कर युद्ध करो—

सन्ताप मनुष्य की शक्ति को डस लेता है, सन्ताप के साथ पाप भी रहता है। मनुष्य अनेक प्रकार के सन्तापों में घिरकर कर्त्तव्य का पथ भूल जाता है। शोक, चिन्ता, भय, पाप, उन्माद आदि सन्तापों से छूटनेवाला ही संसार में निर्भय होकर आगे बढ़ सकता है। सन्तापों को छोड़कर युद्ध करनेवाला सदा विजयी, सफल और समुन्नत होता है—यही भगवान का मत है।

३१

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

ये, मे, मतम्, इदम्, नित्यम्, अनुतिष्ठन्ति, मानवाः,
श्रद्धावन्तः, अनसूयन्तः, मुच्यन्ते, ते, अपि, कर्मभिः।

ये = जो, मानवाः = मनुष्य, अनसूयन्तः = दोष-बुद्धि से रहित, श्रद्धावन्तः = श्रद्धावान् होकर, नित्यम् = नित्य, मे = मेरे, इदम् = इस, मतम् = मत के, अनुतिष्ठन्ति = अनुसार व्यवहार करते हैं, ते = वे, कर्मभिः = कर्मों से, अपि = भी, मुच्यन्ते = छूट जाते हैं।

जो दोष-बुद्धि विहीन मानव नित्य श्रद्धायुक्त हैं।
मेरे सुमत अनुसार करके कर्म होते मुक्त हैं॥

अर्थ—जो मनुष्य दोष-बुद्धि से रहित श्रद्धावान् होकर नित्य मेरे इस मत के अनुसार व्यवहार करते हैं वे कर्मों से भी छूट जाते हैं।

व्याख्या—कर्म करके भी बन्धन में न बँधने का उपाय बताना गीता की विशेषता है। इसी विशेषता ने उसे जीवन का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ बनाया है। कर्म के बन्धन से वे छूटते हैं—

१—जो दोष-बुद्धि-रहित होते हैं।

२—जो श्रद्धा सहित परमेश्वर के मत के अनुसार व्यवहार करते हैं।

१. जो दोष-बुद्धि-रहित होते हैं—

जो अपने दोष न देखकर पराये दोषों को देखता है, वह सबसे बड़ा दोषी है। दोष-बुद्धि बन जाने से अच्छा देखने की आँख बन्द हो जाती है। दिखाऊ पुण्यों की आड़ में पापों को छुपाने का कार्य करनेवाली बुद्धि दोष-बुद्धि कही जाती है। जो बुद्धि परनिन्दा करती है और परपीड़ा में सुख मानती है उसे भी दोष-बुद्धि कहते हैं। द्वेष, जलन, कुढ़न, निन्दा, ईर्ष्या आदि दोष-बुद्धि के फल हैं। दोष-बुद्धि को छोड़ते ही परमेश्वर का मत जान लिया जाता है।

२. जो श्रद्धा सहित परमेश्वर के मत के अनुसार व्यवहार करते हैं-

श्रद्धा वह है जो अन्तरात्मा को सत्य में टिकाती है। सत्य की धारणा का नाम ही श्रद्धा है। एकनिष्ठा से श्रद्धा का बल बढ़ता है। श्रद्धा के बिना विश्वास नहीं होता। अतः गुरुजनों का मत, आत्मा-रूप परमात्मा की सम्मति और शास्त्रों के सिद्धान्तों से वही लाभ उठाता है जिसमें श्रद्धा होती है। श्रद्धा पूर्वक परमेश्वर के मत के अनुसार नित्य व्यवहार करनेवाला पुरुष जीवन्मुक्त होता है।

ऋत और सत्य के नियम जीवन के स्थायी सिद्धान्त धर्म और निष्काम कर्म का योग ही परमेश्वर का मत है।

परमेश्वर के मत को सार रूप में यज्ञ कह सकते हैं। जो श्रद्धा सहित यज्ञ-कर्मों का आचरण करता है वह कर्मों के बन्धन में नहीं बँधता। जो कहीं नहीं बँधता वही मुक्त है।

परमेश्वर के मत को न माननेवाले, मूढ़ सर्वत्र दोष देखा करते हैं, उनका जीवन व्यर्थ हो जाता है—

इसीलिये श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

३१

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥

ये, तु, एतत्, अभ्यसूयन्तः, न. अनुतिष्ठन्ति, मे, मतम्,
सर्वज्ञानविमूढान्, तान्, विद्धि, नष्टान्, अचेतसः ।

तु=परन्तु, ये=जो. अभ्यसूयन्तः=दोष-दृष्टिवाले, अचेतसः=असावधान-जन, एतत=इस, मे=मेरे, मतम्=मत के, न अनुतिष्ठन्ति=अनुसार आचरण नहीं करते, तान्=उन, सर्वज्ञानविमूढान्=सम्पूर्ण ज्ञान में मोहित चित्तवालों को, नष्टान्=नष्ट हुआ, विद्धि=जानो ।

जो दोष-दर्शी मूढ़मति मत मानते मेरा नहीं !
वे सर्वज्ञान-विमूढ़ नर नित नष्ट जानों सब कहीं ॥

अर्थ—परन्तु जो दोष-दृष्टिवाले असावधानजन इस मेरे मत के अनुसार आचरण नहीं करते उन सम्पूर्ण ज्ञान में मोहित चित्तवालों को नष्ट हुआ जानो ।

व्याख्या—विनाश उस समय घेरता है जब किसी को किसी पर विश्वास नहीं रहता, कोई किसी की नहीं सुनता और सब एक-दूसरे की बुराई देखते हैं ।

चार प्रकार के मनुष्य विनाश के मुख में जाते हैं—

१—दोष-दृष्टिवाले ।

२—असावधान ।
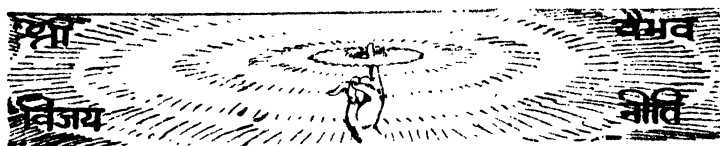
३—परमेश्वर के मत के अनुसार आचरण न करनेवाले।

४—सम्पूर्ण ज्ञान से हीन।

१. दोष-दृष्टिवाले—

अहंभाव और वासनाओं से चित्त विक्षुब्ध हो जाता है। विक्षुब्ध चित्तवाले अपने दोष न देखकर पराये दोषों को देखने में ही सन्तोष मानते हैं। वे किसी की प्रशंसा नहीं सुन सकते और किसी की वृद्धि नहीं देख सकते—

'जब काहू की सुने बड़ाई। साँस लेहि जनु जूड़ी आई॥'

दोषदर्शी व्यक्ति अपने ही स्वभाव और दोषों से दुःख पाते हैं। पर-दोषों को देखते-देखते उनका स्वभाव दोषमय बन जाता है।

२. असावधान—

असावधानी चलते हुए मनुष्य को गिरा देती है, ज्ञान को ढक लेती है और जीवन की घात करती है। संसार में अधिकांश मनुष्य असावधानी के कारण दुःख पाते हैं।

असावधान वह है जो कर्त्तव्य-पालन में ध्यान नहीं देता, बार-बार चेतावनी पाकर भी चूकता है और अपनी चेतना-शक्ति से काम नहीं लेता।

समय और शक्ति का संतुलन करके आगे बढ़ जानेवाला सावधान कहलाता है। अपने सौभाग्य और समय से लाभ न उठाकर दुःखी रहनेवाला असावधान कहलाता है।

असावधान नर-नारी देखते हुए भी सत्य को नहीं देख पाते, जानते हुए भी कुछ नहीं जानते और प्राप्त हुए को भी खो देते हैं।

असावधान रहनेवाला अविवेकी कहलाता है। दुष्कृत और विकार असावधान के घर में घुसकर उसे लूटते हैं। असावधान जन दैवी मत को नहीं मानता।

३. परमेश्वर के मत के अनुसार आचरण न करनेवाले—

इन्द्रियों की क्रीड़ा में आसक्त जीव अपने मन के मार्ग पर चलता है। वह हृदय में स्थित परमेश्वर की वाणी नहीं सुनता और किसी की सम्मति नहीं मानता।

दोशदर्शी, माया-मोहितजन, दैवी कर्मों की निन्दा करते हैं, उसमें दोष निकालते हैं और दैवी नियमों की अवहेलना करते हैं। जगत् में अशान्ति और दुःखों की वृद्धि उसी समय होती है जब जीव परमेश्वर का मत नहीं मानता और उसकी ओर न जाकर व्यर्थ भटकता है।

परमेश्वर की कल्पनामात्र भी जीव को विघ्न-बाधाओं और संकटों से पार कर देती है। परमेश्वर का पथ सत्य, सेवा, समता, सौजन्यता और धर्म का पथ है, वहाँ किसी आधि-व्याधि का फेरा नहीं, शत्रु का भय नहीं और पतन की कोई शंका अथवा सम्भावना नहीं है।

परमेश्वर का मत मानकर व्यवहार करने से कठिनाइयां सरल करने के सुयोग मिलते हैं, विफलता में सफलता मिलती है, दुर्बलता में भी बल मिलता है और जीवन का आश्चर्यजनक रूपान्तर हो जाता है।

परमेश्वर का मत न माननेवाले विषय-भोगों के मार्ग पर चलकर नष्ट हो जाते हैं।

४. सम्पूर्ण ज्ञान से हीन—

दोषदर्शी, असावधान और परमेश्वर के मतानुसार न चलनेवालों को सर्वज्ञानविमूढ अथवा सम्पूर्ण ज्ञान से हीन कहा जाता है।

भगवान् के मत को न माननेवाले सब कुछ जानते हुए भी कुछ नहीं जानते। उनका ज्ञान एक धोखा है जिसमें वे फँसे और भूले रहते हैं।

दोष-दर्शन, असावधानी, अज्ञान और भगवत्-विमुखता का कारण जीव की प्रकृति है—

३३

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।

सदृशम्, चेष्टते, स्वस्याः, प्रकृतेः, ज्ञानवान्, अपि,
प्रकृतिम्, यान्ति, भूतानि, निग्रहः, किम्, करिष्यति ।

ज्ञानवान्=ज्ञानी, अपि = भी, स्वस्याः = अपनी, प्रकृतेः = प्रकृति के, सदृशम्=अनुसार, चेष्टते=चेष्टा करता है, भूतानि=सभी प्राणी, प्रकृतिम्=स्वभाव को, यान्ति=प्राप्त होते हैं (स्वभाव से कर्म करते हैं), निग्रहः=निग्रह, किम्=क्या, करिष्यति=करेगा ।

वर्ते सदा अपनी प्रकृति अनुसार ज्ञान-निधान भी ।
निग्रह करेगा क्या, प्रकृति अनुसार हैं प्राणी सभी ।।

अर्थ—ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करता है, सभी प्राणी स्वभाव को प्राप्त होते हैं (स्वभाव से कर्म करते हैं) निग्रह क्या करेगा ?

व्याख्या—प्रकृति बलवान् है । अमृत, विष का काम नहीं करता और विष अपना स्वभाव नहीं छोड़ता । काम-कामी परमेश्वर के पथ पर नहीं चलते और परमार्थीजन विषय भोगों की ओर नहीं जाते । जैसी जिसकी प्रकृति होती है वैसा ही उसका व्यवहार ।

मनुष्य अपने स्वभाव के अनुरूप सुख और दुःख पाते हैं । कुछ नर-नारी समझाने से भी नहीं समझते और कुछ स्वयं ही सोच-समझ कर व्यवहार करते हैं । प्राणी के प्रत्येक कर्म में उसका स्वभाव कार्य करता है ।

ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार व्यवहार करता है—

मानव-प्रकृति का अर्थ है—कर्मों और संस्कारों से बना हुआ स्वभाव। ज्ञानी, ध्यानी, संयमी, दाता, शूर आदि सब अपने-अपने स्वभाव के अनुसार व्यवहार करते हैं। ज्ञानी में भी अपने स्वभाव से विमुख जाने की सामर्थ्य नहीं होती।

जैसे ज्ञानी अपने स्वभाव के वश में होकर कुमार्ग पर नहीं जाता, उसी प्रकार अज्ञानी अपने स्वभाव के कारण सन्मार्ग पर नहीं चलता। आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन के अनुसार स्वभाव भिन्न-भिन्न होता है।

निग्रह क्या करेगा—

स्वभाव पड़ जाने पर निग्रह काम नहीं देता। निग्रह का अर्थ है नियन्त्रण, हठ अथवा जबर्दस्ती।

जप, तप, भक्ति, सदाचार, सात्त्विक भोजन, पवित्र विचार, सत्संग, नियम और संयम द्वारा धीरे-धीरे स्वभाव सुन्दर बनता है। दीर्घ काल तक सत्कारपूर्वक संयम और साधना किये बिना मिथ्या हठ से स्वभाव कभी नहीं बदलता।

किसी भय अथवा प्रलोभन से भी स्वभाव का बदलना सम्भव नहीं है। निरन्तर अभ्यास करते-करते स्वभाव का रूपान्तर हो जाता है।

निग्रह जब स्वभाव में भर जाता है तो विषय-विकारों के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता।

इन्द्रियाँ अपने-अपने स्वभाव के अनुसार जीव को अपनी ओर खींचती हैं—इनकी ओर न जाने का अभ्यास दृढ़ करना मनुष्य का धर्म है।

३४

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

इन्द्रियस्य, इन्द्रियस्य, अर्थे, रागद्वेषौ, व्यवस्थितौ,
तयोः, न, वशम्, आगच्छेत्, तौ, हि, अस्य, परिपन्थिनौ।

इन्द्रियस्य=प्रत्येक इन्द्रिय के, इन्द्रियस्य=अपने-अपने (इन्द्रिय के), अर्थे=विषय में, रागद्वेषौ=राग और द्वेष, व्यवस्थितौ=व्यवस्थित हैं, तयोः=उन दोनों के, वशम्=वश में, न=नहीं, आगच्छेत=आना चाहिये, हि=क्योंकि, तौ=वे दोनों, अस्य=इस (जीव) के, परिपन्थिनौ=शत्रु हैं।

अपने विषय में इन्द्रियों को राग भी है द्वेष भी।
ये शत्रु हैं, वश में न इनके चाहिये आना कभी॥

अर्थ—प्रत्येक इन्द्रिय के अपने-अपने विषय में राग और द्वेष व्यवस्थित हैं, उन दोनों के वश में नहीं आना चाहिये क्योंकि वे दोनों इस जीव के शत्रु हैं।

व्याख्या—आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं और सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं। विषय अनेक प्रकार के हैं—किसी विषय में इन्द्रियों को राग हो जाता है और किसी में द्वेष।

१. प्रत्येक इन्द्रिय के विषय में राग और द्वेष रहते हैं—

इन्द्रियों को प्रिय विषय मिलने से उसमें राग और अप्रिय भोग मिलने से उसमें द्वेष होता है। जो किसी से राग

करता है वह किसी से द्वेष भी करता है। राग के साथ द्वेष और द्वेष के साथ राग का अटूट सम्बन्ध है।

राग और द्वेष मनुष्य के शत्रु हैं—

सम्पूर्ण दोषों, विकारों और अनृतों का जन्म राग और द्वेष से होता है। राग कभी त्याग नहीं होने देता और द्वेष किसी से लेशमात्र भी प्रेम नहीं होने देता।

राग, भोगे हुए विषयों की आग में जलाता है, बार-बार याद दिलाता है, विषयों के बिना रहने नहीं देता और जीव को सदा आसक्ति में बांधे रहता है। वह उन्नति के मार्ग पर लुटेरे की भांति खड़ा रहता है और आगे बढ़नेवाले को सामने से आकर लूटता है। जीव को जिस विषय में राग हो जाता है वही विषय. विषधर बनकर उसे डसता है।

क्रोध, आवेश. घृणा, हिंसा आदि विकारों को आश्रय देनेवाला द्वेष है। द्वेष की चिंगारी, चिन्ता रूप चिता धधकाती है, मन और बुद्धि को जलाती है और एक बार भड़क कर कठिनाई से बुझती है।

विषयासक्त नर-नारी राग अथवा द्वेष से झुलसते ही रहते हैं। राग और द्वेष दोनों जीवन के परम शत्रु हैं।

राग और द्वेष के वश में नहीं आना चाहिये—

मनुष्य का पुरुषार्थ और प्रयत्न उसी समय सार्थक होता है जब वह राग-द्वेष के वश में नही आता। राग-द्वेष से छूटने के लिये ही नियम, संयम, साधना, अभ्यास आदि की आवश्यकता है।

राग और द्वेष इन्द्रियों के धर्म हैं, आत्मा का धर्म, त्याग और प्रेम है। स्वधर्म अथवा आत्मा का धर्म सदा सुख देनेवाला है परधर्म—इन्द्रियों का धर्म दुःखदायी और भयानक है—

३६
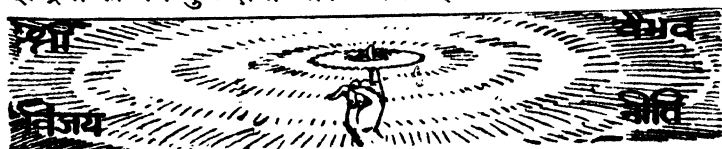
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

श्रेयान्, स्वधर्मः, विगुणः, परधर्मात्, स्वनुष्ठितात्, स्वधर्मे, निधनम्, श्रेयः, परधर्मः, भयावहः ।

स्वनुष्ठितात्=सरलता से आचरण में आने योग्य, परधर्मात्=पर-धर्म से, विगुणः=गुण-रहित, स्वधर्मः=स्वधर्म, श्रेयान्=श्रेष्ठ है, स्वधर्मे=अपने धर्म में, निधनम्=मरना, श्रेयः=भला है, परधर्मः=पर-धर्म, भयावहः=भय देनेवाला है ।

ऊँचे सुलभ पर-धर्म से निज विगुण धर्म महान् है ।
पर-धर्म भय-प्रद, मृत्यु भी निज धर्म में कल्याण है ॥

अर्थ—सरलता से आचरण में आने योग्य पर-धर्म से गुण-रहित स्वधर्म श्रेष्ठ है । अपने धर्म में मरना भला है, पर-धर्म भय देनेवाला है ।

व्याख्या—स्वधर्म के सहारे ब्रह्माण्ड टिका हुआ है । स्वधर्म का आश्रय छोड़नेवाला गिरता है और गिराता है । सब अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं तभी जग और जीवन में व्यवस्था रहती है ।

जीवन को व्यवस्थित और उन्नत बनाने के लिये गीता के इन व्यापक सिद्धान्तों को भली भांति समझना आवश्यक है—

१—परधर्म से स्वधर्म श्रेष्ठ है ।

२—अपने धर्म में मरना भला है ।

३—परधर्म भय देनेवाला है ।

१. परधर्म से स्वधर्म श्रेष्ठ है—

जो जिस कर्म में नियुक्त है वही उसका स्वधर्म है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा की ओर जाना स्वधर्म है; इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होना परधर्म है। स्वधर्म में विचरनेवाला इन्द्रियों पर शासन करता है, परधर्म में गिरनेवाला इन्द्रियों के आधीन रहता है।

धर्म में स्थित पुरुष स्वधर्म का निश्चय कर लेते हैं और उसे पूरा करते हैं। स्वधर्म सरल हो, कठिन हो, ऊँचा हो, नीचा हो, कैसा भी हो उसके आचरण में सुख और पूर्णता है। सेवक, श्रमजीवी, किसान, व्यापारी, अधिकारी, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थ और संन्यासी, आबाल-वृद्ध सब अपने-अपने कर्मों का पालन करने से सुखी और समृद्ध हो सकते हैं। परधर्म की ओर जाने में भय और कष्ट है।

गुण-रहित, कठिन अथवा अप्रिय स्वधर्म भी छोड़ने योग्य नहीं होता। स्वधर्म के छोड़ते ही विनाश किसी न किसी रूप में हाथ फैलाकर पकड़ने दौड़ता है और व्यवस्था बिगड़ जाती है।

२. अपने धर्म में मरना भला है—

स्वधर्म का आचरण करते-करते मर जाने में मुक्ति है। महापुरुषों ने स्वधर्म की वेदी पर प्राणों की बलि देकर परमपद पाया है।

३. परधर्म भय देनेवाला है—

वृक्ष, लता, सरोवर, ऋतुएँ, पर्वत, पशु, पक्षी, तत्त्व और गुण सब स्वधर्म का आचरण करते हैं। स्वधर्म में जीवन है और परधर्म में मृत्यु।

धार्मिक, राष्ट्रीय और पारिवारिक जीवन में अपना धर्म छोड़कर पराये धर्म में पड़ने से भय और आतंक फैल जाता है।

स्वधर्म के आचरण में सुख है, इस सत्य को भली भाँति जानकर भी नर-नारी परधर्म की ओर जाते और दुःख पाते हैं। जीव की इस प्रवृत्ति का कारण जानने के लिये अर्जुन ने प्रश्न किया—

३६

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥

अथ, केन, प्रयुक्तः, अयम्, पापम्, चरति, पूरुषः, अनिच्छन्, अपि, वार्ष्णेय, बलात्, इव, नियोजितः ।

वार्ष्णेय = हे कृष्ण, अथ=फिर, अयम् = यह, पूरुषः=मनुष्य, अनिच्छन्=न चाहता हुआ, अपि=भी, बलात्=बलात्कार से, नियोजितः=लगाये हुए के, इव=समान, केन=किससे, प्रयुक्तः = प्रेरित होकर, पापम्=पाप का, चरति=आचरण करता है ।

भगवन् ! कहो करना नहीं नर चाहता जब आप है ।
फिर कौन बल से खींच कर उससे कराता पाप है ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! फिर यह मनुष्य न चाहता हुआ भी बलात्कार से लगाये हुए के समान किससे प्रेरित होकर पाप का आचरण करता है ।

व्याख्या—मनुष्य, धर्म और सत्य को जानता है परन्तु उसके अनुसार आचरण नहीं कर पाता । यदि वह सच्चे हृदय से स्वयं ही अपना गुरु बन जाए तो उसे कहीं भटकने और किसी से प्रश्न करने की आवश्यकता नहीं है; परन्तु मनुष्य की लाचारी यह है कि वह न चाहते हुए भी परधर्म अथवा पाप की ओर जाता है मानो, कोई उसे खींचकर जबर्दस्ती ले जाता हो ।

दुर्योधन-वृत्ति के मनुष्यों के लिये यह कठिनाई विशेष रूप से बढ़ जाती है और वे चाहते हुए भी पुण्य के पथ पर पैर नहीं धर पाते। ऐसे मनुष्य अपने पापों को ढकने के लिये प्रायः कहा करते हैं—

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥"

मैं स्वयं चलने न पाता।
धर्म का पथ जानता हूँ, किन्तु मन जाता न उस पर।
पाप को पहिचानता हूँ. छूटना है किन्तु दुष्कर॥
बैठ कर कोई हृदय में, कर्म में मुझको लगाता।
मैं स्वयं चलने न पाता॥

ऐसे नर-नारी छोटे-छोटे साधारण कर्मों को भी करने में भूल करते हैं और उसका दोष परमेश्वर के माथे मढ़ते हैं।

"जो लोग सर्वज्ञ हो चुके हों, अच्छी तरह समझते हों कि ग्राह्य क्या है और अग्राह्य क्या है? वे किस कारण से परधर्म को स्वीकार करके स्वधर्म का उल्लंघन करते हैं? ज्ञाताओं को भी क्यों गड़बड़ी में पड़ते देखा जाता है? जो अपने स्वाभाविक कर्म के सब झगड़े छोड़ देते हैं वे भी सारे संसार के बखेड़े अपने गले लगाकर तृप्त नहीं होते। मन जिस वस्तु का तिरस्कार कर देता है उसी का वह फिर ध्यान लगाए रहता है, यदि उसे कोई मना करने जाए तो वह लड़ने को तैयार होता है। जान पड़ता है ज्ञानियों पर भी बलात्कार हुआ है, तब यह बलात्कार करने की सामर्थ्य किसमें है? हे कृष्ण! आप कृपा कर मुझे बतलाइये!" —सन्त ज्ञानेश्वर

अर्जुन ने जैसा गम्भीर और उपयोगी प्रश्न किया वैसा ही श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया—
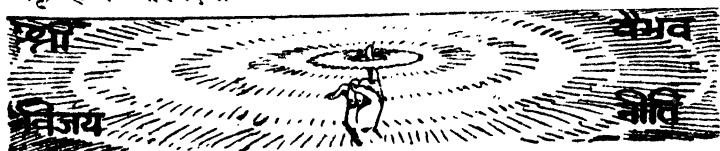
३७

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।

कामः, एषः, क्रोधः, एषः, रजोगुणसमुद्भवः, महाशनः, महापाप्मा, विद्धि, एनम्, इह, वैरिणम् ।

रजोगुणसमुद्भवः=रजोगुण से उत्पन्न हुआ, एषः=यह, कामः=काम है, एषः=यह (ही) क्रोधः=क्रोध है, महाशनः=(यह) बहुत खानेवाला, महापाप्मा=महापापी है, एनम्=इसको, इह=यहां, वैरिणम्=बैरी, विद्धि=जानो ।

पैदा रजोगुण से हुआ यह काम है यह क्रोध ही ।
पेटू महापापी कराता पाप है बैरी यही ।।

अर्थ—रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम है, यह ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला महापापी है, इसको यहाँ बैरी जानो ।

व्याख्या—पुण्य तथा पाप मनुष्य के शुद्ध और मलिन भावों पर निर्भर हैं। शुभ और अशुभ का आधार मन है। काम से प्रेरित मन, मनुष्य को पाप की ओर खींचता है। काम का निरूपण गीता ने इस प्रकार किया है—

१—मनुष्य की इच्छा न होते हुए भी काम उसे पाप में लगाता है।

२—काम रजोगुण से उत्पन्न होता है।

३—काम ही क्रोध बन जाता है।

४—काम का पेट कभी नहीं भरता।

५—काम महापापी है।

६—काम जीव का शत्रु है।

१. मनुष्य की इच्छा न होते हुए भी काम उसे पाप में लगाता है—

विषय-वासना का नाम काम है। काम का साधारण अर्थ इच्छा है। प्रत्येक मनुष्य में किसी न किसी प्रकार की इच्छा होती है। सात्त्विक विचारों से बनी हुई इच्छा मनुष्य को महान बना देती है। राजसी और तामसी विचारों से उठी हुई इच्छा मनुष्य से अनेक प्रकार के पाप कराती है।

काम का आशय है—रजोगुण से उत्पन्न विषय-वासना, तृष्णा आदि। जहाँ तृष्णा है और विषय-भोगों की वासना है वहीं पाप रहता है। तृष्णा और वासना का कार्य है—मनुष्य को बलात् पापों की ओर ले जाना।

> "तृष्णा हि सर्वपापिष्ठा नित्योद्वेगकरी स्मृता।
> अधर्म बहुला चैव घोरा पापानुबन्धिनी॥"
>
> (महाभारत ३।२।२५)

तृष्णा में सब पाप रहते हैं। तृष्णा नित्य उद्वेग उत्पन्न करनेवाली है। तृष्णा बहुत प्रकार के अधर्म तथा घोर पापों में बाँधती है।

२. काम रजोगुण से उत्पन्न होता है—

जिसमें जितना रजोगुण होता है उसमें उतना ही काम होता है। रजोगुण से लोभ, अशान्ति, पतित चेष्टायें और तृष्णा की वृद्धि होती है। रजोगुण, राग और आसक्ति में बाँधनेवाला है। संग-दोष का आधार रजोगुण है। काम प्रत्येक परिस्थिति में रजोगुण के साथ रहता है।

३. काम ही क्रोध बन जाता है—

जब काम की पूर्ति नहीं होती तो वह भड़क कर क्रोध बन जाता है अथवा यों कहना चाहिये कि काम से क्रोध का जन्म होता है।

'कामात्क्रोधोऽभिजायते' (गीता २।६२)

काम और क्रोध प्रायः साथ-साथ रहते हैं। काम और क्रोध, राग और द्वेष के प्रतिरूप हैं।

क्रोध पाप और विनाश का मूल है—

'क्रोधमूलो विनाशो हि' (महा० ३।२९।१)
'क्रोधो हि धर्मं हरति' (महा० १।४२।८)

क्रोध धर्म को हर लेता है।

क्रोध के वश में रहनेवाले को क्रोध ही जला डालता है। क्रोध की कोई सीमा नहीं है। माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-बहन, गुरु-शिष्य और परमेश्वर तक को क्रोध आड़े हाथों लेता है।

काम और क्रोध दोनों पाप के दायें-बायें हाथ हैं। इनके सहारे पाप विश्व-विजय करने का दावा करता है।

४. काम का पेट कभी नहीं भरता—

इच्छायें पूर्ण होने पर भी मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। कामनायें जितनी पूर्ण होती हैं उतनी ही अधिक बढ़ती हैं। मनुष्य अधिक पाने के लिये सदा भूखा बना रहता है।

राजा ययाति ने वृद्धावस्था में फिर से यौवन प्राप्त किया और एक सहस्र वर्ष तक विषय-सुखों का उपभोग किया; फिर भी उनका पेट नहीं भरा और उन्हें कहना पड़ा—

काम भोगों को भोगने से काम की तृप्ति नहीं होती। घी पड़ने से जैसे लपटें और भी अधिक उठती हैं इसी प्रकार विषय-भोगों के

भोगने से काम की भूख अधिकाधिक बढ़ती है। स्वर्ग का सुख मिलने पर भी कामेच्छा कभी पूरी नहीं होती। (महा० आ० ७५।४६)

५. काम महापापी है—

पाप को अपने साथ लेकर काम मनमानी करता है।

'कामातुराणां न भयं न लज्जा।' कामी पुरुष को न लज्जा होती और न भय।

"दिवा पश्यति नोलूको काको नक्तं न पश्यति।
अपूर्वः कोऽपि कामान्धो दिवा नक्तं न पश्यति॥"

उल्लू दिन में नहीं देख पाता और कौआ रात में नहीं देख सकता, इनमें भी बड़ी विशेषता काम से अंधे की है कि वह न दिन में देखता न रात में।

काम सद्गुणों के घर को लूटनेवाला सबसे बड़ा डाकू है। सन्त-महात्माओं ने काम को ज्ञानरूपी सम्पत्ति को घेरकर बैठनेवाला काला सर्प कहा है। काम, भक्ति के मार्ग में लूटनेवाला शत्रु है।

६. काम जीव का शत्रु है—

साधक, आराधक योगी तथा ज्ञानी भी काम से पराजित हुए हैं।

"लछमन देखत काम अनीका।
रहहिं धीर तिनकी जग लीका॥"

श्रीराम ने लछमन से कहा कि काम की सेना को देखकर जो विचलित नहीं होते संसार में उन्हीं की लीक रहती है।

महाशत्रु काम को जीतनेवाला जगत् को जीत लेता है। काम मनुष्य की सब प्रकार घात करता है, तन, मन, और बुद्धि को बलहीन, अस्वस्थ तथा निस्तेज कर देता है। कामी पुरुष को दीन और भयभीत रहना पड़ता है। महापापी काम से बचनेवाला अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। काम ज्ञान को ढक लेता है—

३८

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥

धूमेन, आव्रियते, वह्निः, यथा, आदर्शः, मलेन, च,
यथा, उल्बेन, आवृतः, गर्भः, तथा, तेन, इदम्, आवृतम्।

यथा=जैसे, धूमेन=धूएँ से, वह्निः=आग, च=और,
मलेन=मैल से, आदर्शः=दर्पण, आव्रियते=ढका जाता है,
यथा=(और) जैसे, उल्बेन=झिल्ली से, गर्भः=गर्भ,
आवृतः=ढका रहता है, तथा=वैसे ही, तेन=उस (काम) से,
इदम्=यह (ज्ञान), आवृतम्=ढका रहता है।

ज्यों गर्भ झिल्ली से, धुएँ से आग, शीशा धूल से।
यों काम से रहता ढका है, ज्ञान भी (आमूल) से ॥

अर्थ—जैसे धुएँ से आग और मैल से दर्पण ढका जाता है और जैसे झिल्ली से गर्भ ढका रहता है वैसे ही काम से ज्ञान ढका रहता है।

व्याख्या—ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाला सब प्रकार सुखी और सन्तुष्ट हो सकता है, परन्तु काम मनुष्य के ज्ञान को ढक लेता है।

गीता ने दृष्टान्त देकर समझाया है—

धुआँ जैसे आग को ढक लेता है, वैसे ही काम ज्ञान को ढक लेता है।

जैसे झिल्ली में ढका हुआ बालक हाथ-पैर नहीं हिला सकता, उसी प्रकार काम से ढका ज्ञान बंधा पड़ा रहता है।

जैसे शीशे पर धूल जम जाने से स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं दिखता, उसी प्रकार ज्ञान पर काम का मल जम जाने से सत्य का दर्शन नहीं होता।

३९

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥

आवृतम्, ज्ञानम्, एतेन, ज्ञानिनः, नित्यवैरिणा, कामरूपेण, कौन्तेय, दुष्पूरेण, अनलेन, च ।

च=और, कौन्तेय=हे कौन्तेय, अनलेन=अग्नि-जैसे, दुष्पूरेण=तृप्त न होनेवाले, एतेन=इस, कामरूपेण=कामरूप, ज्ञानिनः=ज्ञानियों के, नित्यवैरिणा=नित्य बैरी से, ज्ञानम्=ज्ञान, आवृतम्=ढका हुआ है ।

यह काम शत्रु महान्, नित्य अतृप्त अग्नि समान है ।
इसने ढका कौन्तेय ! सारे ज्ञानियों का ज्ञान है ॥

अर्थ—और हे कौन्तेय ! अग्नि-जैसे तृप्त न होनेवाले इस कामरूप ज्ञानियों के नित्य वैरी से ज्ञान ढका हुआ है ।

व्याख्या—ज्ञान और काम में परस्पर विरोध है, काम ज्ञानियों का महाशत्रु है । वह फूटी आंख से भी ज्ञान को नहीं देखना चाहता ।

ज्ञानरूप शिव ने ज्ञानियों के बैरी काम का संहार किया था । काम के साथ ज्ञान नहीं रहता और ज्ञान के साथ काम नहीं रहता ।

काम अग्नि के समान है, वह अग्नि की भांति जलाता है । जैसे अग्नि की ज्वालाओं का पेट नहीं भरता उसी प्रकार काम सदा अतृप्त रहता है । मन, बुद्धि और इन्द्रियां काम को आश्रय देते हैं—

४०

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥

इन्द्रियाणि, मनः, बुद्धिः, अस्य, अधिष्ठानम्, उच्यते,
एतैः, विमोहयति, एषः, ज्ञानम्, आवृत्य, देहिनम् ।

इन्द्रियाणि = इन्द्रियां, मनः = मन, बुद्धिः = बुद्धि, अस्य=इसके,
अधिष्ठानम्=निवास-स्थान, उच्यते = कहे जाते हैं, एतैः=इनके द्वारा,
एषः = यह (काम), ज्ञानम् = ज्ञान को, आवृत्य = ढक कर,
देहिनम्=जीवात्मा को, विमोहयति = मोहित करता है ।

मन, इन्द्रियों में, बुद्धि में यह वास बैरी नित करे ।
इनके सहारे ज्ञान ढक, जीवात्म को मोहित करे ॥

अर्थ—इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इसके निवास-स्थान कहे जाते हैं इनके द्वारा यह ज्ञान को ढककर जीवात्मा को मोहित करता है ।

व्याख्या—काम के रहते हुए स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता । काम के तीन सहायक हैं—इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ।

'इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।' (मनु० २।९३)

इन्द्रियों के विषय में आसक्त होनेवाला निःसन्देह दूषित होजाता है ।

इच्छा पूरी करने में और सुख-भोग भोगने में इन्द्रियों को सुख मिलता है । अपने सुख के लिये इन्द्रियाँ काम को आश्रय और सहायता देती हैं ।

इन्द्रियों का प्रेरक मन है। मन, काम का सबसे बड़ा सहायक है। मन में काम निर्भय होकर निवास करता है। कामनाओं का संकेत पाते ही मन अपनी हलचल प्रारम्भ कर देता है।

मन की हलचल में सहायता देनेवाली बुद्धि है। बुद्धि में जब काम बस जाता है तो वह दूषित, चंचल और विषयगामिनी बन जाती है।

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि से थपकी पाकर काम मनुष्य को निर्लज्ज, दुस्साहसी और ढीट बना देता है। यद्यपि ज्ञान पवित्र है परन्तु काम से ढक जाने पर वह भी भोग-भोगने में मनुष्य की सहायता करता है।

काम उन्हीं को दबाता है जो इन्द्रिय मन और बुद्धि को वश में नहीं रख पाते।

काम मनुष्य को ऐसे मोह में डालता है कि ठोकर खाकर भी उसकी आँखें नहीं खुलतीं, वह धोखा खाता है, लुटता है, दुःखी और रोगी रहता है, चिन्ता और निराशा में पड़ता है फिर भी काम को नहीं छोड़ता।

कामकामी के ज्ञान का प्रकाश मन्द पड़ जाता है और धीरे-धीरे बिना तेल के दीपक की भांति बुझ जाता है।

काम जब ज्ञान को ढक लेता है तो मनुष्य को ऐसा गिराता है कि इन्द्रियाँ उसकी आज्ञा का पालन नहीं करतीं, मन काबू में नहीं रहता, बुद्धि काम नहीं देती और वह भला-बुरा, शुभ-अशुभ, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य कुछ भी नहीं देख पाता।

काम के आधीन रहनेवाला जीवन फीका पड़ जाता है। इस विकराल काम से युद्ध करने में ही परम सुख है—

४१

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥

तस्मात्, त्वम्, इन्द्रियाणि, आदौ, नियम्य, भरतर्षभ,
पाप्मानम्, प्रजहि, हि, एनम्, ज्ञानविज्ञाननाशनम्।

तस्मात्=इसलिये, भरतर्षभ=हे भरतर्षभ, त्वम्=तुम, आदौ=पहले, इन्द्रियाणि=इन्द्रियों को, नियम्य=वश में करके, ज्ञानविज्ञाननाशनम्=ज्ञान और विज्ञान का नाश करनेवाले, पाप्मानम्=महापापी, एनम्=इस (काम) को, हि=निश्चयपूर्वक, प्रजहि=जीतो।

इन्द्रिय-दमन करके करो फिर नाश शत्रु महान् का।
पापी सदा यह नाशकारी ज्ञान का विज्ञान का ॥

अर्थ—इसलिये हे भरतर्षभ! तुम पहिले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान का नाश करनेवाले महापापी इस काम को निश्चयपूर्वक जीतो।

व्याख्या—गीता का धर्म, शक्ति और शौर्य का धर्म है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विजय प्राप्त करना गीता के कर्म का ध्येय है। ज्ञान-विज्ञान इस कर्म के सहायक हैं। कर्मयोग के मार्ग में काम-विजय सर्वोपरि है। विजय के लिये गीता के निम्न आदेशों को जानना आवश्यक है—

१—पहले तुम इन्द्रियों को वश में करो।

२—ज्ञान और विज्ञान का नाश करनेवाला काम है।

३—इस पापी काम को निश्चयपूर्वक जीतो।

१. पहले तुम इन्द्रियों को वश में करो—

विजय का महामन्त्र इन्द्रियों को वश में करना है। इन्द्रियों को वश में करनेवाला सर्वत्र-विजय की स्थिर आधार-शिला का न्यास करता है।

किसी भी इन्द्रिय में दोष, असंयम और उच्छृङ्खलता आ जाने पर वही शत्रु को अन्दर आने का मार्ग दे देती है।

"इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥"

जल के पात्र में एक छिद्र होने पर भी जिस प्रकार सारा जल निकल जाता है उसी प्रकार सब इन्द्रियों में से एक में छिद्र होने से ज्ञान नष्ट हो जाता है।

इन्द्रियों को वश में करनेवाला अथवा जितेन्द्रिय पुरुष विषयों से प्रभावित नहीं होता।

"श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥"

(मनु० २।६८)

सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूँघ कर जो न प्रसन्न होता और न ग्लानि करता उसे जितेन्द्रिय कहते हैं।

जितेन्द्रिय सहज स्वभाव से विचरता है। इन्द्रियों को नियम और संयम में रखने से अथवा अभ्यास और वैराग्य से तथा कर्त्तव्य-पालन को महत्त्व देने से इन्द्रियाँ वश में आ जाती हैं। ज्ञान से भी इन्द्रियाँ शान्त और संयमित होती हैं—

"न तथैतानि शक्यन्ते संनियन्तुमसेवया ।
विषयेषु प्रजुष्टानि यथा ज्ञानेन नित्यशः ॥" (मनु० २।९६)

जिस प्रकार ज्ञान से इन्द्रियाँ शान्त होती हैं उस प्रकार जबर्दस्ती विषयों से दूर हटने में संयमित नहीं होतीं।

इन्द्रियों को वश में करने का अभिप्राय, उन्हें मार देना अथवा कर्म छोड़ देना नहीं है—मनोनिग्रह पूर्वक काम्यबुद्धि को जीतकर लोक-संग्रह के लिये कर्म करनेवाला इन्द्रियों को वश में कर लेता है। जब तक जीवन है तब तक इन्द्रियों के व्यापार रहते हैं। जितेन्द्रिय वह कहा जाता है जो दुराग्रह और मिथ्याचार में न पड़कर सहज स्वभाव से विकार-रहित होकर कर्म करता है।

इन्द्रियों को वश में करने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। मनुष्यमात्र ज्ञान का अधिकारी है परन्तु—

२. ज्ञान और विज्ञान का नाश करनेवाला काम है—

अनुभव, खोज, शास्त्र, गुरु और वयोवृद्धों से जो आत्मा तथा विद्या का बोध होता है उसे 'ज्ञान' कहते हैं। ज्ञान के विशेष अनुभव और उसे व्यवहार में लाने के साधन को 'विज्ञान' कहते हैं।

ज्ञान और विज्ञान दोनों को नष्ट करनेवाला काम है!

३. इस पापी काम को निश्चयपूर्वक जीतो—

काम का संहार सम्भव नहीं है। काम को अपने आधीन रखने में ही सुख और विजय है। सधे हुए, सादे और पवित्र जीवन के धर्मानुकूल काम से ही काम पर विजय मिलती है।

आत्मा अथवा परमात्मा की शक्ति का विश्वास होने से काम जीता जाता है। आत्मा परम प्रकाशक है। आत्मा के प्रकाश में रहनेवाले काम से पराजित नहीं होते। काम पर शासन करने के लिये आत्मा के परम तत्त्व को जानना चाहिये।

४२

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

इन्द्रियाणि, पराणि, आहुः, इन्द्रियेभ्यः, परम्, मनः,
मनसः, तु, परा, बुद्धिः, यः, बुद्धेः, परतः, तु, सः।

इन्द्रियाणि = इन्द्रियों को, पराणि = श्रेष्ठ, आहुः = कहते हैं,
इन्द्रियेभ्यः = इन्द्रियों से, परम् = परे, मनः = मन है, तु = और,
मनसः = मन से, परा = परे, बुद्धिः = बुद्धि है, तु = और,
बुद्धेः = बुद्धि से भी, यः = जो, परतः = परे है, सः = वह आत्मा है।

हैं श्रेष्ठ इन्द्रिय, इन्द्रियों से पार्थ ! मन मानो परे।
मन से परे फिर बुद्धि, आत्मा बुद्धि से जानो परे॥

अर्थ—इन्द्रियों को श्रेष्ठ कहते हैं, इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है और बुद्धि से भी जो परे है वह आत्मा है।

व्याख्या—कर्मयोग का प्रधान उद्देश्य है—मानव-चेतना को दैवी चेतना में स्थित करना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि के स्वरूप और शक्ति का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है—

१—इन्द्रियों को श्रेष्ठ कहते हैं।

२—इन्द्रियों से परे मन है।

३—मन से परे बुद्धि है और

४—बुद्धि से परे आत्मा है।

१. इन्द्रियों को श्रेष्ठ कहते हैं--

मानव शरीर एक रथ है। आत्मा उसमें बैठनेवाला है। बुद्धि सारथी है। मन बागडोर है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। 'इन्द्रियाणि हयानाहुः'

शरीर को चलानेवाली इन्द्रियाँ हैं। यद्यपि शरीर सब साधनाओं का धाम है, आत्मा का मन्दिर है, संसार को पार करने के लिये दैवी नौका है—यही क्षेत्र है परन्तु इन्द्रियों के बिना इसका कोई उपयोग नहीं।

इन्द्रियों के द्वारा ही जीव-जगत् और ब्रह्म का ज्ञान होता है। शरीर को सुखधाम की ओर ले जाने अथवा मार्ग में ही गिरा देनेवाली इन्द्रियां हैं।

इन्द्रियों को नियत कर्म में लगाये रखना सुखी जीवन का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इन्द्रियों को पवित्र रखने के लिये ही गीता में कर्मयोग का उपदेश दिया गया है। कर्म से इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं।

२. इन्द्रियों से परे मन है--

मन अपने संकल्प-विकल्प से इन्द्रियों को कार्य में लगाता है। मन की सहायता से इन्द्रियाँ कर्म करने में समर्थ होती हैं।

"मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति।"

वास्तव में मन से ही जीव देखता है और मन से ही सुनता है।

जिस इन्द्रिय के साथ मन होता है वही शक्ति-सम्पन्न हो जाती है। मन को आगे करके इन्द्रियाँ, विषयों को ग्रहण करती हैं।

मन ही शुभ-अशुभ, बन्धन और मोक्ष का कारण है।

"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम्॥"

मन ही मनुष्य के बन्धन या मुक्ति का कारण है। मन के विषयासक्त होने से बन्धन और निर्विषय होने से मोक्ष है।

मन को निर्मल, विषय-मुक्त और अचंचल बनाने के लिये गीता में भक्ति का उपदेश दिया गया है।

३. मन से परे बुद्धि है—

बुद्धि का काम व्यवसाय करना है। बुद्धि से मन और इन्द्रियों को बल मिलता है। बुद्धि करने या न करने का निर्णय करती है। बुद्धि से ही सत् और असत् का विवेक होता है। बुद्धि की पवित्रता सब साधनों की आधारशिला है। बुद्धियोग गीता की सर्वोत्तम कला है। जिसके पास बुद्धि है वही श्रेष्ठ है। जिसकी बुद्धि परिष्कृत है, मन शुभसंकल्प करनेवाला है और इन्द्रियाँ आत्मा के आधीन हैं वह सदा मुक्त है।

बुद्धि को उन्नत बनाने के लिये गीता में ज्ञानयोग का उपदेश है।

४. बुद्धि से परे आत्मा है—

आत्मा सबका पिता है, आत्मा विश्वव्यापी देव है, सम्पूर्ण शक्तियों का अधिपति है, आनन्दरूप और ज्योतिर्मय है।

आत्मा से सञ्चालित मन, बुद्धि और इन्द्रियों में जीव के सम्पूर्ण अभावों, दुःखों और दोषों को दूर करने की सामर्थ्य होती है।

आत्मा की सचेतन शक्ति का दर्शन ही देव-दर्शन है। आत्मा के प्रकाश में रहनेवाला सदा सुखी रहता है। आत्मा से दूर हटनेवाला धुँधले और अंधेरे में अवचेतन रहता है। इन्द्रियों और मन पर विजय, संयम, जप, तप, दान, धर्म सब आत्मा को जानने और आत्मवान् होने के लिये हैं।

जीव को अपने क्रमिक विकास के लिये इन्द्रियबल, मनोबल, बुद्धिबल, और आत्मबल की ओर क्रमशः बढ़ना चाहिये। आत्मबल सर्वश्रेष्ठ है, उसके सामने काम का ठहरना सम्भव नहीं है।
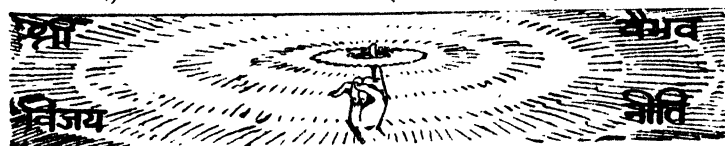
४३

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥

एवम्, बुद्धेः, परम्, बुद्ध्वा, संस्तभ्य, आत्मानम्, आत्मना, जहि, शत्रुम्, महाबाहो, कामरूपम्, दुरासदम् ।

महाबाहो=हे महाबाहो, एवम्=इसप्रकार, बुद्धेः=बुद्धि से, परम्=परे आत्मा को, बुद्ध्वा=जान कर, आत्मना=आत्मवान् बुद्धि से, आत्मानम्=मन को, संस्तभ्य=वश में करके, कामरूपम्=कामरूप, दुरासदम्=दुर्जय, शत्रुम्=शत्रु को, जहि=जीतना चाहिये ।

यों बुद्धि से आत्मा परे है जान इसके ज्ञान को ।
मन वश्य करके जीत दुर्जय काम शत्रु महान् को ॥

अर्थ—*हे महाबाहो ! इस प्रकार बुद्धि से परे आत्मा को जानकर आत्मवान् बुद्धि से मन को वश में करके कामरूप दुर्जय शत्रु को जीतना चाहिये ।*

व्याख्या—आत्मा वह नित्य तत्त्व है जो प्रत्येक प्राणी में अव्यक्त है और जिसे व्यक्त करना मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ धर्म है । प्रत्येक प्राणी में रहनेवाली चैतन्य सत्ता का सम्बन्ध परमेश्वर के साथ है । आत्मा से योग करनेवाला उस परमेश्वर से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है जो ऐश्वर्य, शक्ति, सत्य, प्रेम, माधुर्य और सुख का स्वरूप है ।

आत्मा जीवमात्र में विद्यमान है। मनुष्य के शरीर, मन और बुद्धि को चेतना, पवित्रता और शक्ति देनेवाले दैवी प्रकाश का नाम आत्मा है।

जितना मन और बुद्धि का विकास होता है उतना ही आत्मा का बोध और साक्षात्कार होता है।

शरीर, मन और बुद्धि की विकास-साधना के लिये जो नितान्त आवश्यक है उसका वर्णन गीता ने इस प्रकार किया है—

१—आत्मा बुद्धि से परे है ऐसा जानो।

२—आत्मवान बुद्धि से मन को वश में करो।

३—कामरूप दुर्जय शत्रु को जीतो।

१. आत्मा बुद्धि से परे है ऐसा जानो--

साधारण स्थिति में मन और बुद्धि केवल बाहरी जगत् में विचरते हैं और उस भौतिक ज्ञान को ही ग्रहण कर पाते हैं जो काम-पूर्ति में सहायक होता है। आत्मा को न जान कर काम्य-बुद्धि के सहारे कर्म करनेवालों का ज्ञान केवल धोखा है। अनात्म-बुद्धि से प्राप्त ज्ञान कामपूर्ति की युक्तियाँ सुझाता है, अपने दोषों को छुपाने की चालाकी देता है और ज्ञानवान् होने का मिथ्या स्वांग रचता है।

आत्मज्ञान से वञ्चित बुद्धिमान् को सत्य का साक्षात्कार नहीं होता, काम को जीतनेवाली शक्ति उसके हाथ नहीं आती।

आत्मा, बुद्धि को ज्ञान, बल और प्रकाश देनेवाला स्रोत है अतः बुद्धि से आत्मा श्रेष्ठ है। बुद्धि का महत्त्व आत्मा को जानने में है। व्यक्ति से विवेक का और विवेक से आत्मा का अधिक मूल्य है—ऐसा जो जानता है वही ज्ञानी है।

२. आत्मवान् बुद्धि से मन को वश में करो—

मन को जीतनेवाला महाबाहु लोक-विजेता से बहुत श्रेष्ठ है। मन को वशमें करने के लिये जिस युक्ति और शक्ति की आवश्यकता है उसकी प्राप्ति आत्म-बुद्धि से होती है। पवित्र, जाग्रत, निश्चित और अखण्ड बुद्धि को 'आत्मबुद्धि' कहते हैं। आत्म-बुद्धि के साथ सत्य और पवित्रता का बल रहता है, यही बल मन को वश में करता है, यही बल समाधि में टिकाता है और यही अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति द्वारा मनुष्य की सम्पूर्ण सात्त्विक अभिलाषाओं को पूर्ण करता है।

३. कामरूप दुर्जय शत्रु को जीतो—

काम दुर्जय है। सरलता से कोई उस पर विजय नहीं पा सकता। काम-विजय गीता का महायोग है। शिव, इस योग से सम्पन्न होकर अमृतदाता चन्द्र और पतितपाविनी गंगा को धारण करते हैं। भगवान बुद्ध ने काम-विजय करके ही अनन्त प्रकाश प्राप्त किया था। काम को वश में करनेवाले ईश्वरीय ज्ञान और सत्ता के अधिकारी होते हैं।

काम पर विजय प्राप्त होते ही ज्ञान की निधि हाथ लगती है, दैवी रहस्य प्रकट हो जाते हैं, अनन्त आनन्द का मार्ग मिलता है, कर्मों में पूर्णता प्राप्त करने का अतुलित बल अनायास ही हाथ लग जाता है और मनुष्य बन्धनों से छूटकर शिव रूप हो जाता है।

कर्मयोग का यह अध्याय गीता का बोध कराने के लिये गुरुमंत्र के समान है। काम-विजय गीता के ज्ञान की कुञ्जी है।

श्रीमद्भगवद्गीता के भाष्य गीताज्ञान का
तीसरा अध्याय कर्मयोग सम्पूर्ण

श्लोक, पदच्छेद, शब्दार्थ, पद्यानुवाद और सरल अर्थ सहित

श्रीमद्भगवद्गीता का जीवनोपयोगी भाष्य

४

चौथा अध्याय

[दिव्य-कर्म-बोध]

भाष्यकार—

श्रीहरिगीता, गीता-अध्ययन, गीता के सप्तस्वर, उपनिषद्-ज्ञान आदि के लेखक

व्याख्यानवाचस्पति श्री पं० दीनानाथ भार्गव दिनेश

संशोधित तथा परिवर्धित द्वितीय संस्करण

गुरुपूर्णिमा
सं० २०१५

मूल्य
१॥) रुपया

प्रकाशक—
मानवधर्म कार्यालय
पीपल महादेव
दिल्ली ।

मुद्रक—
जमना प्रिंटिंग वर्क्स
पीपल महादेव
दिल्ली ।

दिग्दर्शन

आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम् ।

(अथर्व० ५।३०।७)

उन्नत होना और आगे बढ़ना, प्रत्येक जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये कर्म, ज्ञान और भक्ति का त्रिविध-मार्ग है। इन तीनों मार्गों का संगम मनुष्य को निष्पाप करनेवाला तीर्थराज है। यज्ञ के कर्म, ज्ञान, योग और सम्पूर्ण साधनायें मनुष्य को इस त्रिवेणी में गोता लगाने की प्रेरणा प्रदान करने के लिये हैं।

मनुष्य के सामने एक गहरा और कठिन प्रश्न यह है कि, सांसारिक एवं दुःखी जीवन को आध्यात्मिक-जीवन के साथ किस प्रकार मिलाया जाय ?

दुःखी मनुष्य सुख चाहता है, भूखा भोजन चाहता है, दरिद्री धन चाहता है और बन्धन में बँधा हुआ मुक्ति चाहता है; परन्तु चाहने से कुछ मिलता नहीं। वस्तुओं के अभाव से दुःखों में निरन्तर वृद्धि होती है। दुःख विवेक की ज्योति को बुझा देते हैं, जीवन को अँधेरे में धकेलते हैं और जीव की दयनीय दशा पर हँसते हैं। उसे डरा-दबा कर चलने योग्य नहीं छोड़ते।

दुःख जीवन को जर्जरित कर देते हैं. उसे घसीट कर मृत्यु के मुख में ले जाने की धमकी देते हैं, मरने से पहले कितनी ही बार मनुष्य को मार देते हैं।

दुःखों से छुड़ाकर मानव को सुखी बनाने के लिये भगवान् का अवतरण होता है। परमेश्वर के अवतरण से, उनकी लीला और दिव्य-कर्म से, उनके स्वरूप और ज्ञान से, मनुष्य को आश्वासन और शक्ति मिलती है। अवतार प्रत्येक नर-नारी के हृदय में पैंठकर दिव्य-कर्म कराने के लिये प्रकट होता है। जो अपने हृदय-देश में अवतारी पुरुषों को, महापुरुषों को, महात्माजनों को, विद्वानों को अथवा किसी रूप में परमेश्वर को ठहरा लेते हैं, उनका जीवन ईश्वरीय-लीलाओं का क्षेत्र बन जाता है। उनमें महाशक्तियों का मधुर नृत्य होता है और ऐसा दैवी कृत्य होता है, जो अपनी सहायता और प्रकाश से जीवन को सुख-दुःख लाभ-हानि, यश-अपयश और सम्पूर्ण द्वन्द्वों को सहन करने के योग्य बना देता है।

द्वन्द्वातीत नर-नारी, ब्रह्म में विहार करते हैं। उनके प्रत्येक कर्म से महायज्ञ होता है। उस यज्ञ के भोक्ता परमेश्वर प्रसन्न होकर प्रसाद देते हैं। परमेश्वर का प्रसाद पाकर जीवन धन्य हो जाता है, चिन्तायें मुँह छिपा लेती हैं और सब दुःखों से छुड़ानेवाले योग की साधना सहज में हो जाती है; सांसारिक जीवन आध्यात्मिक बन जाता है।

गीता के महान् गुरु, प्रत्येक विषाद-ग्रस्त मोह-मार्ग में भूले हुए नर को अपने पवित्र और कोमल महाभाव से अपनी ओर आने की प्रेरणा देते हैं। परन्तु मनुष्य इन्द्रिय-सुखों को छोड़कर मोह की नदी के पार खड़े पुरुषोत्तम की ओर नहीं देखता, विषयों के रागों में घिरा हुआ काम-कामी, महाशान्तिदायक पवित्र वंशी का मधुर शब्द नहीं सुनता, इन्द्रियों के क्षण-भंगुर सुख को छोड़कर वह अखण्ड आनन्द की ओर नहीं जाता।

गीता का ज्ञान—मोह, भ्रम और अज्ञान से छुड़ा कर जीव और ब्रह्म का योग कराता है, बुद्धि को शुद्ध और निर्मल बना कर प्रज्ञा का अलख जगाता है। कर्म करने की सामर्थ्य, कुशलता और स्फूर्ति देनेवाली महाशक्ति प्रज्ञा है। श्री, सरस्वती और शक्ति, प्रज्ञावान् पर अपनी

अनन्त कृपा बरसा कर प्रसन्न होती हैं।

मर्त्यलोक में जन्म के साथ मृत्यु उत्पन्न होती है। जीवनभर जीव मृत्यु के मुख में रहता है। गीता का ज्ञान मनुष्य को मृत्यु के मुख से निकालता है और मानव को ऐसा 'महामानव' 'महाबाहु' बना देता है कि मृत्यु उसके हाथों में खेलती है।

दुःखी संसार को सुखी बनाने के लिये, प्रत्येक अवस्था में व्यवस्था के लिये और प्रत्येक परिस्थिति का सदुपयोग कराने के लिये गीता का सन्देश है। इसे सुनकर आचरण में लानेवाला सदा सुखी रहता है। सम्पन्नता, श्री, विजय और कीर्ति उस पर बार-बार न्योछावर होती हैं।

अपने आचरण से गीता की व्याख्या करनेवाला विश्व को एकता और शान्ति के अमृत से भर देता है।

गीता में महाशक्ति का प्रखर तेज है। परमानन्द का अनन्त और अगाध-सिन्धु गीता में लहराता है। जो जितना गहरा गोता लगाता है वह उतना ही पाता है—इस अगाध-सिन्धु की थाह नहीं। युग-युग के मानव ने अपने मापदण्ड से इसे नापा, पर पार नहीं पाया। गीता के पवित्र क्षीरसागर में विहार करनेवाले योगेश्वर भगवान् जिसे जितना देते हैं वह उतनी ही दिव्य रत्न-राशि को पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

गीता में बारम्बार गोता लगाने से तन-मन निर्मल होता है, अधिकाधिक गहराई में उतरने का अभ्यास बढ़ता है और किसी-न-किसी दिन गीता के प्राणाधार परमेश्वर हाथ आ जाते हैं। उनके स्पर्शमात्र से जीवन का रूपान्तर हो जाता है, दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है सम्पूर्ण गुप्त रहस्य खुल जाते हैं, ज्ञान सुलभ हो जाता है, हृदय अपने प्रियतम को पकड़ लेता है और इन्द्रियां पवित्र होकर प्रत्येक कर्म द्वारा ऐसी लीला करती हैं कि जग और जीवन परमानन्द से ओत-प्रोत हो जाते हैं, सांसारिक जीवन आध्यात्मिक बन जाता है।

मानवधर्म कार्यालय
पीपल महादेव, दिल्ली।

श्रीमद्भगवद्गीता

दिव्य-कर्म-बोध

४

जीवन का स्रोत परमेश्वर से उमड़ता है और कर्म का जल लेकर चलता है। परमेश्वर जीवन दाता है और कर्म जीवन का प्रवाह। कर्म के बिना जीवन जलहीन सरिता के समान है। कर्म जीवन का स्वरूप घड़ता है। प्रकृति परमेश्वर के कर्म की प्रतीक है। वेदान्त के अनुसार प्रकृति जड़ है और पुरुष चैतन्य। जड़ और चेतन के योग से अथवा कर्म-रूप प्रकृति और ज्ञान-रूप परमेश्वर के योग से सम्पूर्ण जगत् और जगत् की हलचलें हैं। पुरुष कर्म के बिना अपूर्ण है और कर्म पुरुष के बिना अचेतन है। गीता कर्म और ज्ञान के योग से जड़ में भी चेतनता का सञ्चार करने की शक्ति देती है।

जीवन के साथ कर्म का अटूट सम्बन्ध है। कर्म जीवन के धर्म का मर्म है। कर्म की आवश्यकता और स्वरूप का वर्णन गीता के तीसरे अध्याय में स्पष्ट रूप से किया गया है और अन्त में कहा गया है कि कर्म-मार्ग में बाधा डालनेवाले काम को मारने के लिये अथवा इन्द्रियों को अपने आधीन रखने के लिये, बुद्धि द्वारा मन को वश में करना चाहिये। तीसरे अध्याय के तीसवें श्लोक में कर्मों को पवित्र करने के लिये उन्हें परमेश्वर को सौंप देने का आदेश है। परमेश्वर को कर्म अर्पित करने के लिये और मन तथा इन्द्रियों से काम लेने के लिये ज्ञान की आवश्यकता है। गीता के इस चौथे अध्याय में

इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिये ज्ञान और कर्म का योग दिया गया है और दोनों के परस्पर सहकार से जीवन व्यतीत करने का शिव-मार्ग दिखाया गया है।

ज्ञान और कर्म एक दूसरे की पूर्ति करते हैं, परस्पर बल देते हैं, एक के बिना दूसरा बलहीन और अधूरा रहता है।

ज्ञान सहित कर्म से, कर्म के बन्धन टूट जाते हैं; जीवन स्वतन्त्र हो जाता है; राग, रोग, द्वेष और द्वन्द्वों की बाधा नहीं रहती और कर्म करते हुए अलख की ज्योति जागी रहती है।

कर्म और ज्ञान का योग कर लेना मानवधर्म है। सम्पूर्ण धर्म और कर्म इसी योग के लिये हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में जगत् और जीवन को सत्य, शिव और सुन्दर बनाने के लिये परमेश्वर ने महाप्रजाओं को इसी योग का उपदेश दिया था।

श्रीकृष्ण ने इसी उपदेश-परम्परा का दिग्दर्शन कराने के लिये कहा—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥१॥

इमम्, विवस्वते, योगम्, प्रोक्तवान्, अहम्, अव्ययम्, विवस्वान्, मनवे, प्राह, मनुः, इक्ष्वाकवे, अब्रवीत्।

अहम्=मैंने, इमम्=इस, अव्ययम्=अव्यय, योगम्=योग को, विवस्वते=विवस्वान् से, प्रोक्तवान्=कहा था, विवस्वान्=विवस्वान् ने, मनवे=मनु से, प्राह=कहा, मनुः=मनु ने, इक्ष्वाकवे=इक्ष्वाकु से, अब्रवीत्=कहा।

मैंने कहा था सूर्य के प्रति योग यह अव्यय महा।
फिर सूर्य ने मनु से कहा, इक्ष्वाकु से मनु ने कहा॥

अर्थ—मैंने इस अव्यय योग को विवस्वान् से कहा था, विवस्वान् ने मनु से कहा, मनु ने इक्ष्वाकु से कहा।

व्याख्या—'इमं योगम्'—'इस योग को', श्रीकृष्ण के ये शब्द दूसरे और तीसरे अध्याय में कहे गये कर्मयोग और सांख्ययोग की ओर संकेत करते हैं। बुद्धि के योग तथा भक्ति से पवित्र किये गये कर्म को गीता ने 'कर्मयोग' माना है। (अ० २।४६, ५०,५१। अ० ३।३०)

इस कर्मयोग को अव्यय कहा गया है। सृष्टि के आदिकाल से ही मनुष्य को इसका ज्ञान हुआ और यह योग सदा बना रहेगा।

भारतीय संस्कृति और तत्त्व-ज्ञान के इतिहास में सूर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सूर्य नियम से प्रत्येक स्थिति में समान रहकर निरन्तर कर्म करता है; उसकी ज्ञान की दृष्टि खुली हुई है; वह सुख-दुःख, सिद्धि-असिद्धि, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठकर सत्त्व और समत्वयोग में रहता है; उसे चिन्ता और चाह की बाधा नहीं है, वह आत्मवान है। सूर्य को इस महायोग का ज्ञान सबसे पहिले प्राप्त हुआ था।

सूर्य को सूर्यवंशी क्षत्रियों का बीजरूप कहा जाता है। सूर्य ने इस महायोग को क्षत्रिय राजर्षियों से कहा। केवल मुख से उपदेश देकर ही नहीं, वरन् अपने आचरण से भी। सूर्यवंश के सुप्रसिद्ध राजर्षि मनु ने इस योग को सूर्य से प्राप्त किया और अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहकर मानवमात्र के लिये इस योग के ज्ञान का द्वार खोल दिया।

धर्म के अनेकों रूप बदले हैं। सृष्टि के आदिकाल से ही धर्म प्रचलित है और उसका मूलरूप है कर्म, भक्ति तथा ज्ञान का समन्वय अथवा योग। इस योग का रूप सनातन है, इसमें नित्य नवीनता है, इसके साधन युग-युग में बदल सकते हैं परन्तु यह योग ज्यों का त्यों रहता है।

महाभारत में इसी को नारायणीय धर्म और भागवत-धर्म भी कहा है। जब-जब सृष्टि में इस धर्म की आवश्यकता हुई है, तब-तब परमेश्वर ने इसका निरूपण किया है—

यह योग, परम्परा से राज-ऋषियों को प्राप्त होता रहा है—

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥२॥

एवम्, परम्पराप्राप्तम्, इमम्, राजर्षयः विदुः, सः, कालेन, इह, महता, योगः, नष्टः, परंतप ।

परंतप=हे परंतप, एवम्=इस प्रकार, परम्पराप्राप्तम्=परम्परा से प्राप्त, इमम्=इस योग को, राजर्षयः=राजर्षियों ने, विदुः=जाना, सः=वह, योगः=योग, महता=बहुत, कालेन=समय से, इह=इस लोक में, नष्टः=नष्ट होगया ।

यों राज-ऋषि परिचित हुए सुपरम्परागत योग से ।
इस लोक में वह मिट गया बहुकाल के संयोग से ॥

अर्थ—हे परंतप ! इस प्रकार परम्परा से प्राप्त इस योग को राजर्षियों ने जाना, वह योग बहुत समय से इस लोक में नष्ट हो गया ।

व्याख्या—प्राचीन धार्मिक इतिहास से स्पष्ट है कि राजा लोग धर्म को धारण करनेवाले होते थे । पृथु, भरत, हरिश्चन्द्र, दिलीप, भगीरथ, रघु, दशरथ, राम, जनक, धर्मराज युधिष्ठिर, परीक्षित, अशोक, विक्रमादित्य आदि राजाओं ने धर्म को धारण करके ही चक्रवर्ती शासन किया है ।

भारतवर्ष में धार्मिक संविधान द्वारा कर्म का अलख जगाने वाले राजा होते आये हैं । धार्मिक विधान का अभ्युदय और विकास ब्रह्मऋषियों द्वारा होता है, परन्तु उसे आचरण में लाकर महाप्रजाओं में फैलानेवाले राजऋषि होते हैं ।

भारत के राजऋषि सदैव ब्रह्मतन्त्र के अनुशासन में रहते आये हैं । सत्यनिष्ठ तपस्वी ब्रह्मज्ञानी वसिष्ठ, व्यास आदि गुरुरूप से समयानुकूल नीति और न्याय का उपयुक्त मार्ग निर्माण करते थे और उस

राजमार्ग पर चलकर राष्ट्रपति प्रजाओं का सब प्रकार पालन करनेवाले होते थे।

संसार परिवर्तनशील है, कर्म में साधारण-सी सावधानी जागरूकता एवं तत्परता मानव को महान् बनाने में समर्थ है और छोटी-सी भी असावधानी तथा आलस्य भयंकर पतन की ओर ले जाता है। यही समय का फेर है। इस फेर में पड़कर असावधानी के कारण वह महायोग जिसे परम्परा से राजऋषि चलाते आ रहे थे लुप्त हो गया।

अव्यय योग कभी नष्ट नहीं होता। जीव का अपने साक्षी रूप आत्मा से नित्य योग रहता है; उसका विस्मरण होना ही एक प्रकार से नष्ट होना है। ज्ञान द्वारा भ्रम कटने पर अथवा गुरु-उपदेश प्राप्त होने पर वह योग पुनः आचरण में आने लगता है।

भारतीय संस्कृति और वैभव की समृद्धि उन विभूतिमान् राष्ट्रपतियों से हुई है जो राजपद पाने के साथ-साथ त्याग, तप, कर्म, ज्ञान और चरित्र से भी पवित्र रहे हैं और जिन्होंने अव्यय योग के चक्र को चलाया है।

धर्म-प्रवर्तक राज-ऋषियों के अभाव और शिथिलता से लोकों को सम्पन्न तथा सुखी करनेवाले कर्मयोग का आचरण नहीं होने के कारण वह अव्यय योग नष्ट हुआ ही कहा जाता है, वास्तव में अव्यय कर्मयोग का विनाश कभी नहीं होता।

जब जन-समाज कर्मयोग के विमुख हो जाता है या कर्म मार्ग भूल जाता है, तब श्रीकृष्ण जैसे महाप्रतापी योगेश्वर पुरुषोत्तम अवतरित होकर उस टूटी कड़ी को फिर से जोड़ते हैं। घोर अविद्या और अन्धकार के युग में भी बुद्ध, महावीर, शंकर, रामानुज, कबीर, नानक, सूर, तुलसी, समर्थ रामदास. रामकृष्ण, विवेकानन्द, दयानन्द प्रभृति महापुरुषों ने इसी महाकार्य की यथाशक्ति पूर्ति की है। भारतीय संस्कृति का इतिहास इसका प्रमाण है और यही तथ्य श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समझाया—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

सः, एव, अयम्, मया, ते, अद्य, योगः, प्रोक्तः, पुरातनः, भक्तः, असि, मे, सखा, च, इति, रहस्यम्, हि, एतत्, उत्तमम् ।

सः=वह, एव=ही, अयम्=यह, पुरातनः=पुरातन, योगः=योग, अद्य=अब, मया=मैंने, ते=तुझसे, प्रोक्तः=कहा है, हि=क्योंकि (तू), मे=मेरा, भक्तः=भक्त, च=और, सखा=सखा, असि=है, इति=और, एतत्=यह (योग), उत्तमम्=उत्तम, रहस्यम्=रहस्य है ।

मैंने समझ कर यह पुरातन योग श्रेष्ठ रहस्य है ।
तुझसे कहा सब क्योंकि तू मम भक्त और वयस्य है ॥

अर्थ—वह ही यह पुरातन योग अब मैंने तुझसे कहा है, क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा है और यह योग उत्तम रहस्य है ।

व्याख्या—कर्मयोग सर्वोत्तम और रहस्यमय है । कर्म की कुशलता जिसे प्राप्त है वही देवत्व और मनुष्यता की शोभा है । कर्म का रहस्य स्पष्ट होता हुआ भी सबकी समझ में नहीं आता । इसलिये श्रीकृष्ण ने यह उत्तम रहस्य अपने मित्र और भक्त अर्जुन को समझाया ।

कर्म का यह योग रहस्य सनातन है सदा विद्यमान है परन्तु सन्त ज्ञानेश्वर के शब्दों में—'जन्मान्ध मनुष्य को सूर्य का क्या उपयोग है, बहिरों की सभा में गीत का सम्मान कौन करता है, चोर को चाँदनी से प्रीति उत्पन्न नहीं होती—इसी प्रकार मोह बढ़ जाने पर और बहुत काल व्यतीत हो जाने पर यह योग इस लोक में लुप्त होगया है ।'

मनुष्य अधिकारों को प्राप्त करने की कामना करता है, परन्तु कर्तव्य-पालन के पथ पर चले बिना अधिकार नहीं मिलते । विद्या, ज्ञान और कला की भी यही बात है । इनको पाने के लिये जिज्ञासा, तत्परता

और विनम्रता की आवश्यकता है।

एक पुरानी कहावत है कि अनधिकारी को विद्या नहीं देनी चाहिये। भस्म में जैसे घी की आहुति व्यर्थ जाती है, ऊसर में जिस प्रकार बीज नहीं जमता, उसी प्रकार अनधिकारी को दिया हुआ ज्ञान निरर्थक है। निर्वात स्थान में जैसे अग्नि बुझ जाती है वैसे ही श्रद्धाहीन हृदय में ज्ञान की ज्योति नहीं जागती। जिसे जानने की इच्छा न हो, जो ज्ञान की अवहेलना करता हो, अथवा जिसे विश्वास न हो उसे विद्या, कला और ज्ञान देने से भी व्यर्थ ही जाता है।

कहिअ न लोभिहिं क्रोधिहि कामिहि। जो न भजइ सचराचर स्वामिहि॥
राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्हके सत संगति अति प्यारी॥
—गो० तुलसीदास

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपनी मित्रता और सत्संग से ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी बनाया। श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व चरित्र और महत्ता से अर्जुन में उनके प्रति श्रद्धा जागृत हुई, उसने श्रीकृष्ण की शरण ली और हृदय से कर्म का मार्ग जानने की अभिलाषा की; तभी श्रीकृष्ण ने उसे उस महायोग का उपदेश दिया, जो अव्यय है पर बहुत समय से जिसे लोग भूले हुए थे।

गीता और अनेकों शास्त्रों के पाठ से यद्यपि कर्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, परन्तु जो पुरुषोत्तम के साथ नहीं बैठते और जिनमें श्रद्धा तथा तत्परता नहीं होती वे ज्ञान को आचरण में नहीं ला पाते; इसी कारण उन्हें कर्म में कुशलता, ज्ञान और अर्जुन के समान विजय-श्री की प्राप्ति नहीं होती।

श्रीकृष्ण शरणागत के हृदय में बैठकर सदा-सर्वदा इसी उत्तम योग-रहस्य को समझाते हैं। मनुष्य शंका कर सकता है कि श्रीकृष्ण कब हुए, मैं कब हुआ, श्रीकृष्ण कैसे किसीको समझाते हैं? मानव को घेरनेवाली यही स्वाभाविक शंका अर्जुन के मन में उठी। उसने कहा—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥

अपरम्, भवतः, जन्म, परम्, जन्म, विवस्वतः, कथम्, एतत्, विजानीयाम्, त्वम्, आदौ, प्रोक्तवान्, इति ।

विवस्वतः=विवस्वान् का, जन्म=जन्म, परम्=पहले (और), भवतः=आपका, जन्म=जन्म, अपरम्=पीछे हुआ है, एतत्=यह, कथम्=कैसे, विजानीयाम्=मैं जान लूँ, त्वम्=आपने, आदौ=पहले पहल, इति=यह योग, प्रोक्तवान्=कहा था ।

पैदा हुए थे सूर्य पहिले आप जन्मे हैं अभी ।
मैं जानलूं कैसे कहा यह आपने उनसे कभी ॥

अर्थ—विवस्वान् का जन्म पहले और आपका जन्म पीछे हुआ है, मैं यह कैसे जान लूँ कि आपने पहले पहल यह योग कहा था ।

व्याख्या—उपनिषदों के एक रूपक में दो पक्षियों को वृक्ष की एक डाल पर बिठाया गया है। उनमें से एक फलों का आस्वादन करता है—कर्म में लिप्त रहता है, परन्तु दूसरा आनन्दपूर्वक विचरता है और मुक्त रहता है। इन दोनों में से एक जीव है और दूसरा ब्रह्म। दोनों एक ही शरीर पर बैठते हैं। (मुण्डकोप० ३।१।१)

भोगों का उपभोग करते हुए बन्धन में रहनेवाला दुःखी होकर सांसारिक झंझटों में घिर जाता है, परन्तु अलिप्त रहनेवाला ब्रह्म है, वह आनन्द रूप है, उसकी स्मृति सदा जागी रहती है, उसके लिये देश-काल का कोई बन्धन नहीं है, वह सर्वज्ञ है।

प्रभु सबमें निवास करते हैं। जिनमें सत्य, तप, ज्ञान और पवित्रता है वे अन्तःस्थित ब्रह्म के दर्शन कर लेते हैं। ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर मनुष्य के अन्तःप्रदेश में ब्रह्म दीपक के समान जगमगाता है, उस प्रकाश में मनुष्य अपने में ब्रह्मभाव का अनुभव

करता है और देख लेता है कि सूर्य चन्द्र एवं नक्षत्रों में मेरी ही ज्योति है। उन सब में मेरा ही ज्ञान है। वे सब मेरे अन्तर में स्थित अमर ज्योति के प्रतिबिम्ब हैं।

शुद्ध बुद्ध निरञ्जन निराकार आत्मा का सत्य और पवित्र भाव स्मृति के पट खोल देता है। उस समय मनुष्य के सामने अपने ब्रह्मरूप का पूर्ण अनुभव और ज्ञान खड़ा हो जाता है।

गीता में श्रीकृष्ण इसी मुक्त सिद्धावस्था में बोल रहे हैं। अर्जुन देह-बन्धन में कर्म-भोग भोगता हुआ सुख-दुःख और शंकाओं से घिरा हुआ है। यद्यपि उसने श्रीकृष्ण की अनन्त ब्रह्मशक्ति और आत्मशक्ति का अनेकों बार अनुभव किया है, फिर भी वह भोग-बुद्धि के कारण उस स्वरूप को यथावत् नहीं जान सका। जन्म से जीवन पर्यन्त श्रीकृष्ण की ब्रह्मशक्ति जाग्रत और उभरी हुई रही है—वह कभी दबी नहीं, कभी क्षीण और शिथिल नहीं हुई।

मनुष्य के मन में जो स्वाभाविक कमज़ोरी होती है उसी ने अर्जुन को भी घेरा। उसने केवल श्रीकृष्ण को अपना साथी मित्र समवयस्क ही माना। प्रायः अपने भाई बन्धु मित्र निकट के प्रियजनों परिजनों की उच्चतम स्थिति को देखकर भी मनुष्य उनकी महत्ता का अनुभव नहीं कर पाते। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के स्थूल शरीर को देखकर शंका की कि आप देवकीनन्दन हमारे मित्र श्रीकृष्ण हैं और विवस्वान् सृष्टि के आरम्भकाल में होनेवाले! कहाँ आप और कहाँ वे! फिर भी आप कहते हैं कि मैंने उन्हें योग का उपदेश दिया। यह सब मैं नहीं समझ पाता।

यदि आप सर्वज्ञ, सर्वेश्वर और सर्वशक्तिमान हैं तो आपके इस प्रतीत होनेवाले शरीर का क्या रहस्य है? नेत्रों और इन्द्रियों से दीखने-वाला व्यक्ति सूर्य को उपदेश कैसे दे सकता है?

अर्जुन की इस शंका को दूर करने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥५॥

बहूनि, मे, व्यतीतानि, जन्मानि, तव, च, अर्जुन, तानि, अहम्, वेद, सर्वाणि, न, त्वम्, वेत्थ, परंतप ।

अर्जुन=हे अर्जुन, मे=मेरे, च=और, तव=तेरे, बहूनि=बहुत से, जन्मानि=जन्म, व्यतीतानि=हो चुके हैं, परंतप=हे परंतप, तानि=उन, सर्वाणि=सबको, त्वम्=तू, न=नहीं, वेत्थ=जानता, अहम्=मैं, वेद=जानता हूँ ।

मैं और तू अर्जुन ! अनेकों बार जन्मे हैं कहीं ।
सब जानता हूँ मैं परंतप ! ज्ञान तुझको है नहीं ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, हे परंतप ! उन सबको तू नहीं जानता, मैं जानता हूँ ।

व्याख्या—आत्मा अव्यय अजन्मा और अविनाशी है । जीव बार-बार जन्मता और मरता है । इसकी चर्चा दूसरे अध्याय के १२ वें श्लोक से ३० वें श्लोक तक हो चुकी है । मनुष्य कर्मों के अनुसार आवागमन के फेर में पड़ा रहता है । उसकी ज्ञानशक्ति पुण्य-पाप आदि संस्कारों से ढक जाती है, अज्ञान और अविद्या का पर्दा जन्मों के बीच में पड़ जाता है और वह इधर से उधर न कुछ देख पाता और न जान पाता ।

जो दिव्य कर्मों द्वारा अपना रूपान्तर करके पाप-पुण्यों से ऊपर उठ जाते हैं, जिन्हें सत्-असत्, विद्या-अविद्या का बन्धन नहीं रहता, वे सर्वज्ञ होते हैं और माया को अपने आधीन करके स्वेच्छा से लोक-कल्याण तथा धर्म-संस्थापना के लिये मनुष्य देह में उतरते हैं ।

श्रीकृष्ण ऐसे ही मुक्त पुरुषोत्तम हैं—वे सर्वज्ञ हैं, उनकी दिव्य दृष्टि जन्म-जन्म के दृश्यों को देखने में समर्थ है । इसीलिये उन्होंने कहा—'अर्जुन ! तुम्हें अपने जन्मों का कुछ ज्ञान नहीं है; परन्तु मैं अपने नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव से और आवरण-रहित ज्ञान-शक्ति से सब जन्मों को जानता हूँ ।

और भी अधिक स्पष्टीकरण के लिये श्रीकृष्ण ने कहा—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

अजः, अपि, सन्, अव्ययात्मा, भूतानाम्, ईश्वरः, अपि, सन्, प्रकृतिम्, स्वाम्, अधिष्ठाय, सम्भवामि, आत्ममायया ।

अव्ययात्मा=अविनाशी, अजः=अजन्मा, सन=होने पर, अपि=भी (और), भूतानाम्=सब प्राणियों का, ईश्वरः=ईश्वर, सन्=होते हुए, अपि=भी, स्वाम्=अपनी, प्रकृतिम्=प्रकृति को, अधिष्ठाय=आधीन करके, आत्ममायया=अपनी माया से, सम्भवामि=प्रकट होता हूँ ।

यद्यपि अजन्मा प्राणियों का ईश मैं अव्यय परम् ।
पर निज प्रकृति आधीन कर, लूं जन्म माया से स्वयम् ॥

अर्थ—अविनाशी अजन्मा होने पर भी और सब प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को आधीन करके अपनी माया से प्रकट होता हूँ ।

व्याख्या—मुक्त और बंधे हुए जीव में उतना ही भेद है जितना कारागार के एक बन्दी और अधिकारी में । एक बन्धन में बंधकर आता है और उसे कारागार में जबर्दस्ती डाला जाता है । दूसरा मुक्त रहकर शासन करने आता है । उससे भी ऊपर वह है जो परमार्थ-भाव से जीवन-सन्देश देने के लिये स्वेच्छा से बन्दीगृह में जाता है । ऐसे पुरुष का जन्म किसी पाप-पुण्य के संस्कार से नहीं होता । वह अपनी योगमाया को आधीन करके आता-जाता है ।

श्रीकृष्ण ऐसे ही अज-अव्ययात्मा हैं, वे जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हैं । उनके आत्मभाव का कभी अपव्यय नहीं होता । इसीलिये वे महाशक्ति को धारण करनेवाले सर्वेश्वर परमेश्वर हैं ।

व्यर्थ जीवन और समय को खोनेवालों की शक्ति छीज-छीज कर नष्ट होती रहती है—उनके आत्मभाव का पतन हो जाता है, वे अपने

ईश्वरीय अधिकारों को खो देते हैं। समय, शक्ति, बुद्धि, कुशलता सबकी धीरे-धीरे हानि करके वे पराधीन—भाग्य और कर्मों के आधीन हो जाते हैं। परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वर अव्यय और अजन्मा होने के कारण समय पड़ने पर शरीर धारण करके अपनी शक्ति को व्यर्थ के कर्मों में, आलस्य तथा असावधानी से, जाने या अनजाने में किसी प्रकार नष्ट नहीं होने देता।

संसार की माया मनुष्य को बाँधती है, भुलाती और भटकाती है, परन्तु माया में जब आत्मबुद्धि का योग होता है तो वही योगमाया जीवन के पथ पर प्रकाश डालती है, दिव्य कर्म करने की प्रेरणा और शक्ति देती है और पुरुष को पुरुषोत्तम बना देती है। श्रीकृष्ण इसी योग-माया को आधीन करके अवतरित हुए थे। श्रीकृष्ण की शक्ति अपार थी। वे स्वयं ही अपने स्वामी और परम प्रभु थे। उन्होंने अपनी विलक्षणता के निम्नलिखित कारण बताये हैं—

१—मैं अजन्मा हूँ—अर्थात् कभी कोई ऐसा कर्म नहीं करता जिसमें बंधकर मुझे संसार में रहना पड़े।

२—मैं अव्यय हूँ, मेरा आत्मभाव कभी घटता नहीं—व्यर्थ के कर्मों में नष्ट नहीं होता, एकरस और अव्यय रहता है।

३—मैं सब प्राणियों का ईश्वर हूँ। अपनी विकसित ब्रह्मशक्ति, कर्म-कुशलता और प्रज्ञा से सर्वोपरि सबका स्वामी और संचालक होकर रहता हूँ।

४—मैं अपनी प्रकृति को वश में रखता हूँ। जो प्रकृति के दास हैं वे सबके दास रहते हैं और जो प्रकृति पर शासन करते हैं वे सबके शासक होते हैं। मैं प्रकृति को अपने आधीन रखता हूँ।

५—मैं अपनी शक्ति से प्रकट होता हूँ, किसी विवशता से नहीं।

ऐसे शक्ति-सम्पन्न मुक्त-पुरुष परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर विशेष कार्य करने के लिये अवतरित होते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

यदा, यदा, हि, धर्मस्य, ग्लानिः, भवति, भारत, अभ्युत्थानम्, अधर्मस्य, तदा, आत्मानम्, सृजामि, अहम् ।

भारत=हे भारत, यदा=जब, यदा=जब, धर्मस्य=धर्म की, ग्लानिः=हानि (और), अधर्मस्य=अधर्म की, अभ्युत्थानम्=वृद्धि, भवति=होती है, तदा=तब तब, हि=ही, अहम्=मैं, आत्मानम्=अपने रूप को, सृजामि=प्रकट करता हूँ ।

हे पार्थ ! जब जब धर्म घटता और बढ़ता पाप ही ।
तब तब प्रकट मैं नित्य अपना रूप करता आप ही ॥

अर्थ—हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूप को प्रकट करता हूँ ।

व्याख्या—इस श्लोक में स्पष्ट घोषणा है कि भगवान् मनुष्य के रूप में अवतार लेते हैं—एक ही बार नहीं अनेकों बार । आध्यात्मिक और बौद्धिक अर्थों द्वारा अवतारवाद का अनेकों प्रकार से प्रतिपादन किया जा सकता है, परन्तु श्रीकृष्ण गुरु, नेता अथवा ईश्वर के पुत्र या मनुष्य के पिता होकर नहीं बोल रहे, वे स्पष्ट और निश्चित शब्दों में कह रहे हैं—भूतानामीश्वरोऽपि सन्'-सम्भवाम्यात्ममायया'–सम्भवामि युगे युगे'—'मैं शासक, सर्वेश्वर, परमेश्वर, अपनी योगमाया को आधीन करके युग-युग में प्रकट होता हूँ ।'

परमेश्वर मनुष्य रूप में जन्म लेकर स्वेच्छा से मनुष्य की भांति कर्म करते हैं । वेदों और धर्म-शास्त्रों में भी इस सत्य का समर्थन मिलता है ।

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश ॥
(ऋक् ६।४।४७।१८)

परम ऐश्वर्यवान् प्रभु (इन्द्र) अपनी योगमाया अथवा शक्तियों से अनेकों रूपों में प्रकट होता है। जिस जिस रूप में अवतरित होता है तदनुसार ही वह अपने को बनाता है। उसका वह रूप देखने के योग्य है, वह अनन्त शक्तियों से कार्य करता है।

इसी वेद-मन्त्र का भाव मान्यता के अनुसार दूसरी तरह भी किया जाता है। परमेश्वर के सहस्रों रूप हैं और अनन्त कार्य करने के साधन हैं, पर वह दस विशेष रूपों में तो प्रसिद्ध है ही!

गीता एक सार्वभौम, दार्शनिक और शिवरूप में सत्य का सुन्दर प्रतिपादन है। किसी एक देशीय साम्प्रदायिक सीमा में गीता के सन्देश को बांधना श्रीकृष्ण की और गीता की महत्ता को छोटा करना है। गीता के अवतारवाद का व्यापक रहस्य समझने के लिये मानव-बुद्धि की विशालता और पवित्रता ही समर्थ है।

जिसमें परमेश्वर के विशेष गुण—ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, त्याग, तप, शक्ति आदि असाधारण रूप में प्रकट होते हैं वह ईश्वरीय विभूति अथवा आंशिक अवतार माना जाता है।

ब्राह्मी चेतना में अथवा ब्राह्मी स्थिति में टिक जानेवाला, ब्रह्म में प्रवेश करनेवाला या ब्रह्मरूप होकर रहनेवाला भी अंशावतार कहा जा सकता है।

पुरुषोत्तम, पुरुष में प्रकट हो या पुरुष, पुरुषोत्तम में स्थित हो जाय—दोनों ही रूप अवतारी पुरुषों के हो जाते हैं। जब श्रेष्ठजन दैवी कर्म करते-करते असाधारण स्थिति में पहुँच जाते हैं उनमें दिव्य प्रेम, दिव्य आनन्द, दिव्य विचार और दिव्य शक्तियों के स्रोत उमड़ने लगते हैं तब एक प्रकार से उनमें परमेश्वर का कला-अवतार हो जाता है।

परमेश्वर प्राणिमात्र को आध्यात्मिक प्रकाश और चेतना-शक्ति देने के लिये आते हैं, गीता में भगवान् के अवतरण के दो विशेष रूप मिलते हैं—

१. मनुष्य रूप में परात्पर पुरुष परमेश्वर का अवतार।

जब परमेश्वर स्वयं दिव्य जन्म धारण करता है, अपनी सर्वज्ञता और महाशक्ति से दिव्य कर्म करता है, जीव को माध्यम बना कर नहीं, वरन् स्वयं अवतरित होता है तब परमेश्वर का पूर्णावतार कहा जाता है। पूर्णावतार के जन्म और कर्म दोनों रहस्यमय होते हैं।

२. मनुष्य के हृदय-देश में परमेश्वर का अवतरण, जिसके द्वारा वे उसका अज्ञान-अंधकार नष्ट करके ज्ञान-दीप प्रज्वलित करते हैं। (गीता १०।११)

भगवान् जब मनुष्य के हृदय में बैठते हैं उसे दिव्य कर्मों की प्रेरणा देते हैं, सावधानी और चेतना प्रदान करके उसकी सहायता करते हैं, सुख-दुःख, पुण्य-पाप, कर्म-अकर्म के मायाजाल से उसे छुड़ाते हैं, तब वे अन्तर में प्रकट हुए जाने जाते हैं। भगवान् का ऐसा अवतार प्रत्येक समय, प्रत्येक नर-नारी में हो सकता है। यही गीता की और धर्म की सर्वश्रेष्ठ देन है। धर्म मनुष्य में भगवान् को बैठा देने का प्रयत्न करता है। गुरु, मूर्ति, मन्दिर, पूजा, सत्संग सब, एक इसी महाकर्म को पूरा करने के लिये हैं।

श्रीकृष्ण भगवान् के प्रत्यक्ष रूप होकर इसी कर्म को पूरा कराने के लिये उपस्थित हुए और उस योग का उपदेश दिया जिससे मनुष्य की प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक विचार, कर्म, मन, वाणी और अंग-प्रत्यंग भगवान् की अवतरण लीला का पवित्र क्षेत्र बन जाय। यही धर्म-संस्थापना का महाकार्य है। यदि यह कार्य न हो तो अवतार का कोई प्रयोजन ही नहीं और यही श्रीकृष्ण ने अपने अवतार का हेतु बताया है।

यद्यपि धर्म-संस्थापना का कार्य प्रकृति और पुरुष द्वारा अनेकों प्रकार से होता रहता है, परन्तु मानवीय भावनाओं—भक्ति और प्रभु-प्रेम की सात्त्विक अभिलाषाओं को केवल ईश्वरीय अवतरण ही जागृत रख सकता है। इसी भाव का अलख जगाने के लिये श्रीकृष्ण धार्मिक निष्ठा की रक्षा और अभिवृद्धि करते हैं।

अपने अवतार के तीन कार्य श्रीकृष्ण ने चुने हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

परित्राणाय, साधूनाम्, विनाशाय, च, दुष्कृताम्,
धर्मसंस्थापनार्थाय, सम्भवामि, युगे, युगे ।

साधूनाम्=साधुजनों की, परित्राणाय=रक्षा के लिये, दुष्कृताम्=दुष्कृतों के, विनाशाय=विनाश के लिये, च=और, धर्मसंस्थापनार्थाय=धर्म की भली-भांति स्थापना के लिये, युगे=युग, युगे=युग में, सम्भवामि=मैं प्रकट होता हूँ ।

सज्जन जनों का त्राण करने, दुष्ट जन-संहार हित ।
युग-युग प्रकट होता स्वयं मैं, धर्म के उद्धार हित ॥

अर्थ—साधुजनों की रक्षा के लिये, दुष्कृतों के विनाश के लिये और धर्म की भली-भांति स्थापना के लिये, मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ ।

व्याख्या—अवतार का रहस्य सरल और स्पष्ट होते हुए भी बुद्धि उसे आसानी से ग्रहण नहीं कर पाती । भगवान् जो असीम अजन्मा और महान् हैं, वे मनुष्य का रूप धारण करें, मानवीय सीमाओं में बँध जावें, मनुष्यों की भांति सुख-दुःख में घिरें, यह सब एक पहेली है; परन्तु यही पहेली अवतार की समस्या को सुलझाती है । यदि ऐसा न हो तो अवतार का महत्त्व ही क्या ? साधुजनों के सत्कृत्य और प्रार्थनायें तथा असाधुओं के दुराचार और नास्तिक भाव दोनों का संघर्ष भगवान् को प्रकट करता है ।

संघर्ष से निवृत्ति में हानि ही नहीं, अधर्म भी है । अतः अवतार प्रवृत्ति-मार्ग पर अग्रसर होता हुआ आता है । जहां प्रवृत्ति है वहां हर्ष-शोक, सुख-दुःख सभी हैं । इनमें रहकर ही अवतारी पुरुष इनका अन्त करता है ।

अवतारी पुरुषों के जीवन संघर्षों से भरे रहते हैं । श्रीराम और

श्रीकृष्ण का जीवन पग-पग पर कष्टों से भरा है। वे अपनी चमत्कारी शक्ति द्वारा इन कष्टों का अन्त कर देते तो अवतार का कार्य अधूरा रह जाता, अवतार कष्ट-सहन की प्रेरणा और कर्म की कुशलता देते हैं और परिस्थिति का सदुपयोग करना सिखाते हैं। अवतारी पुरुष मानव-प्रकृति की सम्भावना से दूर की बात नहीं करते। श्रीराम अथवा श्रीकृष्ण के जीवन में यदि कहीं मानव-शक्ति से परे की बातें हैं भी तो ऐसी हैं जो उनके होनहार जीवन, चरित्र-बल, सदाचार और कुशलता का परिचय देती हैं।

अवतार का ध्येय, साधुजनों या सज्जनों का उद्धार, दुष्कृतों का विनाश और धर्म की भली-भांति स्थापना करना है।

साधुजन वे हैं जो सात्त्विक भाव से सत्य और ऋत की प्रतिष्ठा करते हैं—ईश्वरीय और प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन जीते हैं और लोकों में प्रेम, सेवा तथा सद्भावना की प्रतिष्ठा एवं वृद्धि करते हैं। ऐसे साधुओं की रक्षा करना अवतार का प्रथम कार्य है। चरित्रवान् जनों को आश्वासन और शक्ति देनेवाला एकमात्र परमेश्वर है। अदृश्य रूपों से वह शक्ति प्रदान कर सकता है, परन्तु ऐसा करने में कोई विशेषता नहीं और न इससे आस्तिकता तथा विश्वास को बल मिलता। सज्जनों की शक्ति और उन्नति, कर्म-फल और पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त कही जा सकती है, परन्तु जब सत्पुरुष, चरित्रवान्, सज्जन अथवा साधु-जन दुष्कृतों के बीच में घिर जाते हैं, विश्वास की नौका जल से भरे समुद्र में वायु के थपेड़े लगने के समान डगमगाने लगती है, भयंकर भँवरों में जीवन घिर जाता है अथवा कठोर उत्पाती चट्टानों से टकराकर चूर-चूर होने को होता है, तब अवतार अविलम्ब खिवय्या बनकर उतरता है। ऐसा न हो तो कर्म और ज्ञान के मार्ग में कहीं आस्तिकता और भक्ति को स्थान न मिले। चरित्रवान् भक्त का जिस भाव से यह दृढ़ विश्वास बना रहता है कि घोर दुःखों के समुद्र में डूबते हुए को भगवान् स्वयं बचाने के लिये कूदता है, वह भाव ही ईश्वर को अवतार लेने के लिये बाध्य कर देता है।

अवतारी पुरुष अनेकों प्रकार से साधुजनों का परित्राण करते हैं—कहीं वे मित्र बनते हैं, कहीं सेवक, कहीं नेता, कहीं गुरु और कहीं दूत। जिस समय उनके जिस चरित्र और आचरण से लोक-कल्याण होता है, उस समय वे वैसा ही करते हैं।

दुष्कृतों का विनाश भी अवतारी पुरुषों की एक लीला होती है, जिसमें साम, दाम, दण्ड, भेद तथा सम्पूर्ण नीति का सुन्दर और सफल सदुपयोग होता है। श्रीराम ने प्रेम से पशुओं को मनुष्य बनाया और दण्ड-विधान से उनके तारक हाथों ने रावण को मारा नहीं, बल्कि तारा।

जो नहिं दण्ड करौं खल तोरा।
भ्रष्ट होय श्रुति मारग मोरा॥

यही एक भाव है जो दुष्कृतों का अन्त करने के लिये अवतारी पुरुषों को कभी-कभी प्रलयङ्कर कालरूप भी बना देता है।

जहाँ आवश्यकता पड़ती है वे अपने सम्पर्क से भी मानव को पवित्र करते हैं—

सन्मुख होय जीव मोहि जबही।
कोटि जन्म अघ नाशौं तबही॥

इस प्रकार साधु-रक्षा, दुष्कृत-विनाश और धर्म-संस्थापना का महाकार्य युग-युग में होता है और जब जितनी आवश्यकता होती है उतना ही होता है।

सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी काव्यमयी भाषा में लिखा है—

'उस समय मैं धर्मनिष्ठा का पक्ष लेकर साकार रूप से अवतार धारण करता हूँ, अन्धकार को निगल जाता हूँ··· साधु पुरुषों के हाथ से सुख की पताका खड़ी कराता हूँ,·· धर्म तथा नीति को एकत्र करके उन पर पुण्याक्षत छिड़कता हूँ,···जिसे यह रहस्य मालूम हो जाय उसी को इस संसार में सच्चा विवेकशील समझना चाहिये।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अवतार के दिव्य जन्म और कर्म के रहस्य को जानना, अपने में मिल जाने का साधन कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

जन्म, कर्म, च, मे, दिव्यम्, एवम्, यः, वेत्ति, तत्त्वतः, त्यक्त्वा, देहम्, पुनः, जन्म, न, एति, माम्, एति, सः, अर्जुन।

अर्जुन=हे अर्जुन, यः=जो, मे=मेरे, दिव्यम्=दिव्य, जन्म=जन्म, च=और, कर्म=कर्म को, एवम्=इस प्रकार, तत्त्वतः=तत्त्व से, वेत्ति=जानता है, सः=वह, देहम्=देह, त्यक्त्वा=त्याग कर, पुनः=फिर, जन्म=जन्म, न=नहीं, एति=लेता, माम्=मुझे, एति=प्राप्त कर लेता है ।

जो दिव्य मेरा जन्म कर्म रहस्य से सब जान ले।
मुझमें मिले तन त्याग अर्जुन ! फिर न वह जन जन्म ले ॥

अर्थ—हे अर्जुन जो मेरे दिव्य जन्म और कर्म को इस प्रकार तत्त्व से जानता है, वह देह त्याग कर फिर जन्म नहीं लेता, मुझे प्राप्त कर लेता है ।

व्याख्या—अवतारी पुरुषों का जन्म दिव्य होता है, उसे अलौकिक कहा जाता है । वह बन्धनों और संस्कारों से सर्वथा मुक्त रहता है । प्रकृति और गुण-कर्मों का प्रभाव दैवी-जन्म पर नहीं पड़ता । समय के भयंकर प्रवाह को वह अपनी शक्ति से मोड़ देता है ।

दैवी जन्म के दो रूप गीता में दिखाये गये हैं – एक भगवान् का अवतरण और दूसरा प्राणी का उच्चतम चेतना में निरन्तर प्रगति करते हुए दिव्य अवस्था को प्राप्त करना—नित्य नव-नव जन्म लेना, पग-पग पर जहाँ हैं वहाँ से आगे बढ़ना ।

पहिले प्रकार का जन्म स्वयं भगवान् ही लेते हैं और दूसरे प्रकार का जन्म प्रत्येक पुरुष भगवत्कृपा और सत्कर्मों से प्राप्त कर सकता है । भगवान् के दिव्य जन्म का प्रभाव मानव-जाति पर युग-युग तक रहता है, कर्मों विचारों, मनोवृत्तियों और जीवन पर स्थायी

प्रभाव डालता है। इस प्रभाव से जो अपने जीवन का रूपान्तर करते हैं, अवतार की प्रेरणा से नवीन चेतना ग्रहण करते हैं, भागवत-शक्तियों और गुणों को अपने अन्तःकरण में भर लेते हैं, वे सब दिव्य जन्म बना लेते हैं।

परिस्थितियों के दबाव से अथवा किसी भी प्रकार जब मानव-मन की व्याकुलता अपनी अन्तर की सत्ता को बाहर प्रकट करने में समर्थ होती है, तभी दिव्य जन्म होता है।

दिव्य जन्म के साथ दिव्य कर्म जुड़ा रहता है। दैवी गुणों से युक्त कर्मों को दिव्य-कर्म कह सकते हैं। मनुष्य देह में भगवान् का व्यवहार दिव्य-कर्म है और प्रकृति में रहकर कर्म करते हुए भी गुणों में आबद्ध न होना दिव्य-कर्म है। दिव्य-जन्मा अपने दिव्य कर्मों से धर्म का मार्ग बनाते हैं। जन्म लेकर वे इस प्रकार कर्म करते हैं कि उनके बनाये हुए मार्ग पर चलकर मानव-जीवन दिव्य हो जाय।

महर्षि वाल्मीकि ने नारद से प्रश्न किया था कि इस लोक में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मवेत्ता, कृतज्ञ, सत्यवादी, चरित्र-युक्त, सबका मित्र, हितकारी, विद्वान्, सुन्दर, समर्थ, धैर्यवान, क्रोध को जीतनेवाला, तेजस्वी, ईर्ष्या-रहित और युद्ध में क्रुद्ध होने पर देवों को भी भयभीत कर देनेवाला कौन है ?

महर्षि नारद ने इस महान् प्रश्न के उत्तर में राम का चरित्र कह सुनाया। 'रामो विग्रहवान् धर्मः'—राम धर्म के मूर्तिमान् रूप हैं, राम का चरित्र मानवता और धर्म की परिभाषा है, राम सत्य के अवतार हैं। धर्म की प्रतिष्ठा राम के चरित्र से हुई है।

चरित्र ही दिव्य-कर्म है, यही धर्म है। धर्म का भव्य-भवन दिव्य-कर्मों की आधार-शिला पर टिकता है। मन, वाणी और कर्मों से जो दिव्य कर्म होते हैं उन्हीं से धर्म की नयी-नयी व्याख्यायें बनती हैं। धर्म का कार्य जिन कर्मों से पूरा होता है वे सब दिव्य कर्म हैं।

धर्म इतना व्यापक शब्द है कि उससे ईश्वरीय, प्राकृतिक, नैतिक,

व्यावहारिक सभी के विधान का बोध होता है। ईश्वरीय नियमों का पालन, प्राकृतिक नियमों की रक्षा, सदाचार के नियमों के अनुसार चलन, सामाजिक और राजनैतिक विधान के अनुसार व्यवहार, धर्म कहा जाता है। अवतारी पुरुषों ने इसी धर्म के लिये दिव्य कर्म किये हैं।

श्रीकृष्ण अपने इसी दिव्य-कर्म की चर्चा करते हैं। श्रीकृष्ण का सारा जीवन दिव्य-कर्मों का स्रोत है। अवतरण से आरोहण तक श्रीकृष्ण का चरित्र मधुर और कलापूर्ण, सरस, भावभरा, समस्वर संगीतमय और लचीला है। वाणी से ही नहीं कर्म से बालकृष्ण ने माधुर्य और प्रेम की परिभाषा की है, प्रसाद उनका जन्म-जात गुण है। नन्द के आंगन में खेलते, बन में गौएँ चराते, ग्वालों की टोली में वंशी बजाते, कदम्ब की छाया में नृत्य करते, सर्प के सिर पर नाचते, कंस के अखाड़े में, द्वारका में, हस्तिनापुर में, कुरुक्षेत्र में और सम्पूर्ण जीवन में श्रीकृष्ण ने मलीनता और ग्लानि को पास नहीं आने दिया। उनका जीवन दिव्य-कर्मों का कलापूर्ण चित्र है, जिसकी प्रत्येक रेखा में महाशक्ति का प्रखर तेज और रहस्यमयी लीला है। इसीलिये उन्होंने पांचजन्य के गम्भीर घोष के साथ घोषणा की कि मानवीय स्वतन्त्रता का अपहरण कौन कर सकता है? दुष्कृत-उत्पीड़न और अनाचार की धारा धरा-धाम पर कितने दिन बह सकती है? युग-युग में मैं अपने दिव्य जन्म और दिव्य-कर्मों द्वारा साधु-परित्राण, दुष्ट-दमन और धर्म-संस्थापना का महान् कार्य करता हूँ।

श्रीकृष्ण के इन्हीं दिव्य-कर्मों को जानना मुक्ति-मार्ग पर बढ़ जाना है। दिव्य-कर्म आत्मा से निकलते हैं और आत्मा के ही प्रकाश में जाने जाते हैं। इसीलिये जो दिव्य-कर्मों को जानता है और उन्हें अंगीकार करता है, वह परमेश्वर में मिल जाता है, उसी प्रकार जैसे नदियां समुद्र में। ऐसे तद्रूप हुए महापुरुष अपने भागीरथ प्रयत्नों द्वारा पृथ्वी पर प्रेम और पवित्रता की निर्मल गंगा उतार लाते हैं।

ऐसे वीतराग पुरुषों के सम्बन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

वीतरागभयक्रोधाः, मन्मयाः, माम्, उपाश्रिताः,
बहवः, ज्ञानतपसा, पूताः, मद्भावम्, आगताः ।

वीतरागभयक्रोधाः=राग, भय और क्रोध से छूटे हुए, मन्मयाः=मुझमें रमे हुए, माम्=मेरा, उपाश्रिताः=आश्रय लिये हुए, बहवः=बहुत से पुरुष, ज्ञानतपसा=ज्ञानरूप तप से, पूताः=पवित्र होकर, मद्भावम्=मेरे स्वरूप को, आगताः=पा चुके हैं।

मन्मय समाश्रित जन हुए भय क्रोध राग विहीन हैं ।
तप ज्ञान से हो शुद्ध बहु मुझमें हुए लवलीन हैं ॥

अर्थ—राग, भय और क्रोध से छूटे हुए, मुझमें रमे हुए, मेरा आश्रय लिये हुए, बहुत से पुरुष ज्ञानरूप तप से पवित्र होकर मेरे स्वरूप को पा चुके हैं।

व्याख्या—दिव्य जन्म और कर्म को ठीक-ठीक जान लेने से प्रेम और परम-पुरुषार्थ द्वारा परमेश्वर से मिलने का अधिकार एवं ज्ञान प्राप्त होता है। परमेश्वर को वह प्राप्त करता है जो—

१. राग भय और क्रोध से छूट जाता है,
२. अपने तन-मन में भगवान् को भरे रहता है,
३. सब प्रकार से भगवान् का आश्रय लिये रहता है,
४. ज्ञानरूप तप से पवित्र हो जाता है,

उपरोक्त चारों साधनों से अनेकों नर-नारियों ने भगवान् को पाया है। भगवान् को प्राप्त करने का अभिप्राय है भगवान् के भाव में मनुष्य के जन्म को ढाल देना, अथवा मनुष्य जन्म में भगवान् को उतार लेना। इस प्रकार भगवान् को प्राप्त करना दिव्य जन्म है। इसी दिव्य जन्म के लिये भगवान् अवतार लेते हैं और जब जीव ऐसा

जन्म प्राप्त कर लेता है तभी धर्म की स्थापना होती है।

जो महापुरुष भगवान् में मिले हैं उन्होंने सबसे पहिले राग, भय और क्रोध को छोड़ा है। अपने अवगुणों और कमजोरियों को जानकर भी उन्हें पालते रहना और उनमें आसक्त रहना राग है। जब तक राग है तब तक मनुष्य में जागरूकता नहीं आती, उन्नति के मार्ग उसे नहीं दीखते, वह भगवद्भाव की ओर चलने में समर्थ नहीं होता।

स्वार्थ-हानि और कष्ट की सम्भावना में जिससे बेचैनी होती है उसका नाम भय है। भय मनुष्य की शक्तियों को खा लेता है। जो भयभीत है, उसमें भगवान् तक पहुँचने का बल नहीं रहता।

अपने मन के विरुद्ध व्यवहार होने पर जो उत्तेजना होती है, उसे क्रोध कहते हैं। क्रोध सद्भावों को जला देता है, ज्ञान तन्तुओं में आग भड़काता है और मनुष्य की बुद्धि को ढक लेता है। क्रोधी पुरुष की दृष्टि पर अज्ञान और मोह का परदा पड़ जाता है।

जब जीव में से राग, भय और क्रोध निकल जाते हैं तो उसमें भगवान् भर जाते हैं। इसी स्थिति को श्रीकृष्ण ने 'मन्मयाः' कहा है। मनुष्य भगवान् में रहे और भगवान् मनुष्य में रहे, किसी भी अवस्था में वियोग न हो, तब जो योग की स्थिति होती है उसमें टिके हुए मनुष्य के सब कर्म भगवान् के सहारे होते हैं। 'मामुपाश्रिताः' का यही अभिप्राय है। परमेश्वर का सहारा लेनेवाला परमेश्वर से अलग किसी दूसरे का सहारा नहीं ढूंढता। ऐसी स्थिति में उसे परमेश्वर का, उसके दिव्य जन्म और कर्मों का ज्ञान होता है। इस ज्ञान-तप में तपकर जिनका जीवन निखर आता है—पवित्र हो जाता है, वे अपने जन्म और कर्मों को दिव्य बना लेते हैं; ज्ञान द्वारा कर्म करते हुए वे भगवत्-सत्ता में निवास करते हैं, उनके कर्म परमेश्वर के कर्म हो जाते हैं। जो जितना इस प्रकार के कर्म-क्षेत्र में आगे बढ़ता है उसे भगवान् उतने ही मिलते हैं। श्रीकृष्ण ने मानवमात्र के लिये यही घोषणा की है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

ये, यथा, माम्, प्रपद्यन्ते, तान्, तथा, एव, भजामि, अहम्, मम, वर्त्म, अनुवर्तन्ते, मनुष्याः, पार्थ, सर्वशः ।

पार्थ=हे अर्जुन, ये=जो, यथा=जैसे, माम्=मुझे, प्रपद्यन्ते=भजते हैं, अहम्=मैं, तान्=उनको, तथा=वैसे, एव=ही, भजामि=भजता हूँ, मनुष्याः=मनुष्य, सर्वशः=सब प्रकार से, मम=मेरे (ही), वर्त्म=मार्ग पर, अनुवर्तन्ते=चलते हैं ।

जिस भांति जो भजते मुझे उस भांति दूं फल-भोग भी ।
सब ओर से ही वर्तते मम मार्ग में मानव सभी ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जो जैसे मुझे भजते हैं मैं उनको वैसे ही भजता हूँ, मनुष्य सब प्रकार से मेरे ही मार्ग पर चलते हैं ।

व्याख्या—तप और ज्ञान से जीवन शुद्ध होता है । शुद्ध जीवन में भक्ति की प्रतिष्ठा उसी भांति होती है, जैसे फूलों में सुगन्धि बसी रहती है । तप और ज्ञान से हीन भक्ति सुगन्धिहीन फूलों के समान है । जो तप और ज्ञान से पवित्र होकर भगवान की ओर जाते हैं, उन्हें विशुद्ध सच्चिदानन्द की प्राप्ति होती है, परन्तु जो पवित्र नहीं अथवा पवित्रता की ओर बढ़ रहे हैं वे जितनी दूर भगवान् की ओर चलते हैं, भगवान् भी उतने ही उनसे मिलने के लिये बढ़ते है । ज्ञान से, अज्ञान से, जाने में, अनजाने में, स्वार्थ से, दुःख से, जिज्ञासा से, और जिस प्रकार से भी जो परमेश्वर के पथ पर बढ़ते हैं, परमेश्वर उतने अंशों में और उन्हीं के मानसिक रूप में उन्हें मिलते हैं—

जाके मन भावना रहि जैसी । प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥

भगवान् को रूप देनेवाली और उनसे काम लेनेवाली भावना है । अनेक रूपों में मनुष्य अपने परमेश्वर के साथ रह सकता है । भक्ति-शास्त्र में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य आदि भक्तिभावों की

चर्चा की गई है। ज्ञानी भक्तों को भगवान् परम शान्त और अभेद रूप में मिलते हैं। हनुमान ने सेवक होकर दास्य भाव से अपने स्वामी को प्राप्त किया; अर्जुन, सुदामा आदि ने सखा बनकर मित्ररूप में भगवान् को पाया; कौशल्या, देवकी और यशोदा, दशरथ, वसुदेव और नन्द आदि ने वात्सल्य भक्ति द्वारा पुत्ररूप में भगवान् को हृदय से लगाया और गोपियों ने माधुर्य भाव से भगवान् के दर्शन किये। मन के प्रत्येक भाव से भगवान् मिलते हैं—जैसा भाव वैसे भगवान्। जगत् भगवान्मय बन जाये, यदि सेवक स्वामी को, मित्र मित्र को, माता-पिता बालकों को, और पत्नी पति को भगवद्-भाव से देखें।

भगवान् को और समय को मनुष्य अपना ही रूप देता है।

सन्त लोगों के लिये सदा सत्ययुग रहता है और उनके आँगन में भगवान् खेला करते है। आलसी और दुश्चरितों के लिये सदा कलियुग है। वासना-प्रिय नर-नारी भोगों और विलासों में भगवान् को घसीटते हैं और तपस्वी निष्काम जन आनन्द एवं परम-पुरुषार्थ में भगवान् को देखते हैं। गीता का यह श्लोक कर्म के निश्चित और स्पष्ट नियमों को पुष्ट करता है। जो जैसा करता है, वैसा भरता है।

सम्पूर्ण मार्ग ईश्वर के हैं, मनुष्य किसी ओर भी जाय अन्त में उसे परमेश्वर के पास पहुँचना है। संसार में प्रचलित मत, मान्यतायें सम्प्रदाय आदि सभी के मार्ग परमेश्वर में जाकर मिल जाते हैं—

सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति। सर्वजीवतिरस्कारः केशवं प्रतिगच्छति॥

सब देवताओं को और जीवमात्र को किया हुआ नमस्कार और सबसे किया हुआ अच्छा-बुरा व्यवहार परमेश्वर को ही पहुँचता है। सारे मार्ग परमेश्वर के ही रास्ते हैं। योग जप तप दान कर्म भक्ति ज्ञान सब जहाँ मिलकर एक हो जाते हैं; कोई किसी से अलग नहीं रहता, वहीं परमेश्वर रहते हैं।

सांसारिक मनुष्यों से, महापुरुषों से और देवताओं से भी जो कुछ मिलता है उस सबका देनेवाला एकमात्र परमेश्वर है। फिर भी मनुष्य अलग-अलग रास्तों से अपनी-अपनी कामना के अनुसार चलते हैं—

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

काङ्क्षन्तः, कर्मणाम्, सिद्धिम्, यजन्ते, इह, देवताः, क्षिप्रम्, हि, मानुषे, लोके, सिद्धिः, भवति, कर्मजा ।

इह=इस जगत् में, कर्मणाम्=कर्मों की, सिद्धिम्=सिद्धि, काङ्क्षन्तः=चाहनेवाले, देवताः=देवताओं को, यजन्ते=पूजते हैं, मानुषे=मनुष्य, लोके=लोक में, कर्मजा=कर्मों से उत्पन्न हुई, सिद्धिः=सिद्धि, क्षिप्रम्=शीघ्र, हि=ही, भवति=होती है

इस लोक में करते फलेच्छुक देवता आराधना ।
तत्काल होती पूर्ण उनकी कर्मफल की साधना ॥

अर्थ—इस जगत् में कर्मों की सिद्धि चाहनेवाले देवताओं को पूजते हैं, मनुष्य लोक में कर्मों से उत्पन्न हुई सिद्धि शीघ्र ही होती है ।

व्याख्या—तीन प्रकार के मनुष्य प्रायः देखे जाते हैं—

१. अविशुद्धचित्त, २. विशुद्धचित्त, और ३. अतिविशुद्धचित्त ।

जिनका अन्तःकरण निर्मल नहीं होता, उन्हें जगत् और जगत्पति स्पष्ट रूप से नहीं दिखते । अनेकों प्रकार के भ्रम और कामनायें उन्हें घेरे रहते हैं । वे अपनी कामनायें पूरी करने के लिये निश्चित मार्ग नहीं जान पाते और भटकते हैं, कभी मनुष्यों की ओर कभी देवताओं की—जिससे भी स्वार्थ-सिद्ध होता दिखता है उसकी पूजा करते हैं । अपनी कामनायें पूरी करने में ही वे सारा जीवन लगा देते हैं ।

कर्म करने से इस मनुष्य लोक में कामनायें तो शीघ्र ही पूरी होती हैं, परन्तु ऐसे कर्मों से नित्य तृप्ति, शान्ति अथवा परमानन्द की प्राप्ति नहीं होती । कामनाओं के पथ पर भटकते हुए जीवों का ध्येय भगवत्प्राप्ति नहीं होता, इसलिये वे भगवान् की ओर न जाकर स्वार्थ और भोगों की

ओर दौड़ते हैं। भगवान् भी उन्हें उन्हीं के कर्मों के अनुरूप फल दे दिया करते हैं।

दूसरी प्रकार के विशुद्ध चित्तवाले जीव हैं। अपने पवित्र अन्तःकरण से वे दुःख में, सुख में, कामना-पूर्ति के लिये, जिज्ञासा से और ज्ञान से परमेश्वर की ओर देखते हैं। भगवान् उन्हें भी उन्हीं के भावानुसार फल देते हैं और धीरे-धीरे उन्हें अपनी अनन्य भक्ति के पथ पर ले आते हैं, अथवा कर्म करने के लिये निश्चयात्मक बुद्धि प्रदान करते हैं। इस बुद्धि से कर्म करनेवालों को शीघ्र ही सिद्धि मिलती है।

तीसरी प्रकार के अतिविशुद्धचित्त—अत्यन्त पवित्र अन्तःकरण वाले जीव होते हैं। उन्हें सर्वत्र भगवान् दीखते हैं, उनकी मति गति सब परमेश्वर के प्रति ही होती है! भगवान् उनके हृदय में बैठकर प्रकाश करते हैं। उस प्रकाश में भगवान् का सहारा लेकर वे कर्म द्वारा सम्पूर्ण सिद्धि पूर्णता और परमानन्द प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार जो जैसे और जितना भगवान् की ओर बढ़ता है, भगवान् भी उसी प्रकार और उतने ही उसकी ओर बढ़ते हैं। देवताओं को जो केवल फल पाने के लिये पूजता है, उसे देवता कर्मों का फल दे देते हैं और जो देवताओं की ओर दैवी सम्पत्ति पाने के लिये बढ़ता है, उसे दैवी सम्पत्ति मिलती है। जो निष्काम भाव से मनुष्य देवता और परमेश्वर की सेवा करता है, वह क्रमशः मनुष्य देवता और परमेश्वर के पद को प्राप्त करता है।

मनुष्य लोक में कर्म प्रधान है। सन्त ज्ञानेश्वर ने इस लोक की व्याख्या करते हुए लिखा है—

'वे लोग अपने मन में अनेक प्रकार की कामनायें रखकर उचित विधियों और विधानों के अनुसार अपनी पसन्द के अनेक देवताओं और देवियों की आराधना करते हैं, फिर जो-जो वस्तु वे मांगते हैं वे सब वस्तु उन्हें प्राप्त होती हैं। पर यह बात तुम निश्चयपूर्वक समझ रखो कि ये सब किये हुए कर्मों के ही फल होते हैं। वास्तव में यह बात

निस्सन्देह है कि कर्म के सिवा यहां न तो कोई और देनेवाला है और न कोई लेनेवाला है। इस मनुष्य लोक में केवल कर्म ही फलदायक होते हैं। जिस प्रकार खेत में वही ऊगता है जो बोया जाता है, अथवा दर्पण में जो देखता है उसीका प्रतिबिम्ब उसमें दिखाई देता है अथवा जैसे पहाड़ के नीचे खड़े होकर जो कुछ कहा जाय उसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है, उसी प्रकार हे अर्जुन! यद्यपि इन समस्त देवियों और देवताओं के भजन का मैं ही मूल आधार हूँ तो भी उपासक की इच्छा के अनुसार उसे भजन का फल प्राप्त होता है।'

साधारण प्राणी उपासना को कामना का साधन बना कर जीवन में स्थान देते हैं। विचारशील नर-नारी जीवन को उपासनामय बनाने का प्रयत्न करते हैं।

सकाम उपासक देवताओं से सुख चाहते हैं, देवत्व नहीं चाहते। ऐसे उपासकों की कामनायें पूरी होती हैं परन्तु आराधना में ऐसी कामना होनी चाहिये जिसके पूरा होने पर फिर कोई कामना न रहे।

कर्मों के अनुसार फल मिलना निश्चित है। पूजन-वन्दन का महाफल कर्म-फल से कहीं अधिक है। इस अमृत-फल की महिमा वही जानते हैं जो किसी समय परमेश्वर को नहीं छोड़ते।

उपासना में जब कोई कामना नहीं होती तब भगवान् मिलते हैं। मनुष्य में इतना धैर्य नहीं है, इसलिये वह भटकता है।

'परमेश्वर की आराधना का सच्चा फल है मोक्ष। परन्तु वह तभी प्राप्त होता है कि जब कालान्तर से एवं दीर्घ और एकान्त उपासना से कर्म-बन्धन का पूर्ण नाश हो जाता है। इतने दूरदर्शी और दीर्घ-उद्योगी पुरुष बहुत ही थोड़े होते हैं।' —लो० तिलक

इस जगत् में सबकी रुचि, बुद्धि और कर्म-कुशलता भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। अतः अपने-अपने कर्म से पूर्णता प्राप्त करने के लिये सृष्टि की व्यवस्था और सुविधा के लिये भगवान् ने प्रजाओं का गुण-कर्मानुसार विभाजन किया है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

चातुर्वर्ण्यम्, मया, सृष्टम्, गुणकर्मविभागशः, तस्य, कर्तारम्, अपि, माम्, विद्धि, अकर्तारम्, अव्ययम् ।

गुणकर्मविभागशः=गुण और कर्म के विभागानुसार, मया=मैंने, चातुर्वर्ण्यम्=चार वर्ण, सृष्टम्=बनाये हैं, तस्य=उनके, कर्तारम्=कर्ता, माम्=मुझ, अव्ययम्=अव्यय को, अकर्तारम्=(तू) अकर्ता. अपि=ही, विद्धि=जान ।

मैंने बनाये कर्म-गुण के भेद से चहुँ वर्ण भी ।
कर्ता उन्हों का जान तू अव्यय अकर्ता मैं सभी ॥

अर्थ—गुण और कर्म के विभागानुसार मैंने चार वर्ण बनाये हैं, उनके कर्ता मुझ अव्यय को तू अकर्ता ही जान ।

व्याख्या—'कर्म प्रधान विश्व रचि राखा'—इस संसार में कर्म की बड़ी महिमा है। एतरेय आरण्यक में कर्म को सर्वश्रेष्ठ माना गया है—

प्रजापते रेतो देवाः । देवानां रेतो वर्षम् ।
वर्षस्य रेत ओषधयः । ओषधीनां रेतोऽन्नम् ॥
अन्नस्य रेतो रेतः । रेतसो रेतः प्रजाः ।
प्रजानां रेतो हृदयम् । हृदयस्य रेतो मनः ॥
मनसो रेतो वाक् । वाचो रेतः कर्म ।
तदिदं कर्म कृतमयं । पुरुषो ब्रह्मलोकः ॥

प्रजापति की महाशक्ति देवता हैं, देवताओं की शक्ति समय है, समय की शक्ति औषधियाँ हैं, औषधियों की शक्ति अन्न है, अन्न की शक्ति वीर्य है, वीर्य की शक्ति प्रजा है, प्रजा की शक्ति हृदय है, हृदय की शक्ति मन है, मन की शक्ति वाणी है और वाणी की शक्ति कर्म है। यह कर्म सब कुछ करनेवाला है, पुरुष और ब्रह्मलोक कर्म से हैं ।

भगवान् ने कर्म और गुण के अनुसार चार वर्णों की रचना की है; जिसमें जिस गुण की प्रधानता देखी और जिसके जैसे कर्म देखे उसे उन्हीं के अनुसार वर्ण दे दिया। यही वर्ण-व्यवस्था है।

वर्ण-व्यवस्था सृष्टि के संचालन के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा मनुष्य को अपनी स्वतन्त्र रुचि के अनुसार कर्म करते हुए पूर्णता प्राप्त करने का स्वतन्त्र अवसर मिलता है। जिसका जो कार्य है, वह निस्सन्देह उसमें कुशल होता है। ब्राह्मण अपने सात्त्विक गुणों द्वारा ब्रह्म की खोज करता रहे—संसार में आध्यात्मिक, नैतिक और चारित्रिक जीवन की प्रेरणा भरता रहे; क्षत्रिय शासन-व्यवस्था, राजनीति और शक्ति द्वारा धर्म की रक्षा के ध्येय से निर्बलों की सहायता और दुर्जनों की दण्ड-व्यवस्था करता रहे; वैश्य सत्य के व्यवहार से अन्न, पशु और व्यापार की वृद्धि करे; शूद्र सेवा-कर्मों से संसार को सुखी बनाये तो सर्वतोमुखी उन्नति के लिये एक व्यवस्थित संगठन और कार्य-विभाजन स्वयं हो जाता है। दूसरे देशों में विशेष कर्म के लिये विशेष मनुष्यों की खोज करनी पड़ती है पृथक्-पृथक् वर्ग बनाने पड़ते हैं, परन्तु भारतवासियों ने ये सुविधायें जन्म से ही प्राप्त करली हैं।

वर्ण-व्यवस्था को जन्मजात मान लेने से भारतीय समाज में अनेकों त्रुटियाँ और दुर्गुण भी प्रवेश कर गये हैं। बहुत से ब्राह्मणों के कर्म अत्यन्त गिरे हुए और बहुत से शूद्रों के कर्म उज्ज्वल तथा महान् देखने में आते हैं और वर्ण-व्यवस्था को जन्म से मानना कठिन हो जाता है। ऐसे संकट और सन्देह के अवसर प्राचीन समय में भी उपस्थित हुए हैं। उस समय महर्षियों ने जो निर्णय दिया उसी से आज भी हमारी संस्कृति और समाज की रक्षा की आशा है।

महाभारत शान्ति पर्व में वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में एक उदार और व्यापक सिद्धान्त मिलता है—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

वर्णों में कोई ऊँच-नीच का भेद नहीं है, क्योंकि यह सारा संसार ब्रह्ममय है, ब्रह्मा ने सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की और फिर कर्मों के अनुसार वर्ण बनते गये।

वर्ण पहिले कर्मों की व्यवस्था के लिये बने थे, फिर जिसने एक जन्म में जैसे कर्म किये उन्हीं गुणों के अनुसार दूसरे जन्म में उसे वर्ण मिला। इस प्रकार कर्म और जन्म दोनों से ही वर्ण बने। धर्म-ग्रन्थों में जन्म और कर्म दोनों से वर्ण-व्यवस्था के प्रमाण मिलते हैं—

यथा काष्ठमयो हस्तिः यथाचर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥

जिस भांति काठ का हाथी और चमड़े का मृग नाम को हाथी और हिरन कहे जाते हैं, ऐसे ही ज्ञान और कर्म से हीन ब्राह्मण नाममात्र को ब्राह्मण है।

ऐसे मनुष्य का पूर्व जन्म के कर्मों से सम्बन्ध होने के कारण ब्राह्मण वर्ण तो कहा जा सकता है, परन्तु वर्तमान जन्म के कर्मों से वह ब्राह्मण नहीं रहता।

कहीं-कहीं भारतीय धर्म के इतिहास में असाधारण तप और सात्त्विक गुणों द्वारा वर्ण में भी परिवर्तन हुआ है। विष्णु पुराण के अनुसार पृषध्र गौ-वध के दुष्कर्म से शूद्र हो गया। महाभारत में मनुष्य को उन्नति करने की स्वतन्त्रता स्पष्ट दी गई है और लिखा है—

शूद्रयोनौ हि जातस्य सद्गुणानुपतिष्ठतः।
वैश्यत्वं लभते ब्रह्मन् क्षत्रियत्वं तथैव च॥

शूद्र योनि में जन्म लेकर भी सद्गुणों का आचरण करनेवाला पुरुष वैश्य और क्षत्रिय बन सकता है और इसी प्रकार—

आर्जवे वर्तमानस्य ब्राह्मण्यमभिजायते।

सरलता और सात्त्विकता द्वारा ब्राह्मण बन सकता है।

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
तदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥
भागवत ७।११।३५

जिस पुरुष के वर्णसूचक जो लक्षण हैं वे यदि दूसरे वर्णों में भी देखे जायें तो उसको उसी वर्ण का मानना चाहिये। ब्राह्मण कर्म से गिर कर शूद्र और शूद्र शुभ कर्मों द्वारा ब्राह्मण हो सकता है।

चतुराई चूल्हे पड़े भाड़ पड़े संसार।
तुलसी हरि की भक्ति बिन चारों वर्ण चमार॥

मनुष्य स्वयं ही उच्च तथा नीच वर्ण में जाता है। वह जिस प्रकार से कर्म करता है और जैसा अपना स्वभाव बनाता है वैसे ही वर्ण का कहा जाता है। इस प्रकार वर्णों का कर्ता मनुष्य स्वयं है, परमेश्वर तो केवल उसके संस्कारों को जन्म-जन्मान्तर में उसे सौंपता रहता है और नियत वर्ण में नियुक्त कर देता है।

सबके कर्म देखकर उनके अनुसार व्यवस्था करनेवाला सर्व-नियन्ता भगवान् है, परन्तु जीवन के विकास की दृष्टि से जिसने जिस वर्ण में जन्म लिया है वहाँ से सात्त्विक आचरण करके उसे आगे बढ़ना चाहिये। भक्ति, ज्ञान और कर्म मनुष्य की उन्नति के द्वार खोलते हैं।

भगवान् को न ब्राह्मण से कोई प्रयोजन है, न शूद्र से। वह सब कुछ करके भी निर्लेप और अकर्ता रहता है। किसी का पक्ष करके अथवा किसी के साथ अन्याय करके वह अपनी शक्ति को नहीं छीजने देता, इसीलिये वह अव्यय है।

शक्ति को सुरक्षित रखने का उपाय इस श्लोक में स्पष्ट रूप से बताया गया है—कहीं किसी से भेदभाव न रखने से और अपने कर्म का अभिमान न करने से मनुष्य की शक्ति का व्यर्थ व्यय नहीं होता।

जाति-भेद से घृणा और अभिमान के भाव जब फूट निकलते हैं, तब भगवान् छूट जाते हैं और वर्ण-व्यवस्था एक जाति-चिह्न मात्र रह जाती है। मनुष्य का धर्म है भगवान् की ओर चलना और जैसे भगवान् सबके साथ सम-व्यवहार करते हैं उसी प्रकार व्यवहार करना।

गीता में श्रीकृष्ण ने अपना व्यवहार इस प्रकार बताया है—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्ध्यते ॥१४॥

न, माम्, कर्माणि, लिम्पन्ति, न, मे, कर्मफले, स्पृहा, इति, माम्, यः, अभिजानाति, कर्मभिः, न, सः, बद्धयते, ।

मे=मुझे, कर्मफले=कर्मों के फल में, स्पृहा=इच्छा, न=नहीं है, माम्=मुझे, कर्माणि=कर्म, न=नहीं, लिम्पन्ति=छू पाते, यः=जो, माम्=मुझे, इति=इस प्रकार, अभिजानाति=तत्त्व से जानता है, सः=वह, कर्मभिः=कर्मों से, न=नहीं, बद्धयते=बंधता ।

फल की न मुझको चाह बँधता मैं न कर्मों से कहीं ।
यों जानता है जो मुझे वह कर्म से बँधता नहीं ॥

अर्थ—मुझे कर्मों के फल में इच्छा नहीं है. मुझे कर्म नहीं छू पाते, जो मुझे इस प्रकार तत्त्व से जानता है वह कर्मों से नहीं बँधता ।

व्याख्या—दिव्य जीवन का अथवा जीवन-मुक्ति का रहस्य इस श्लोक में गीता ने स्पष्ट कर दिया है । भगवान् सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पुरुषोत्तम हैं । उन्होंने अपनी दो विशेषतायें कही हैं—

१. 'न मे कर्मफले स्पृहा'—मुझे कर्म-फल में इच्छा नहीं है, और
२–'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' मुझे कर्म नहीं छू पाते ।

ये दो साधन हैं जो पुरुष को स्वतन्त्र करते हैं अर्थात् सब बन्धनों से छुड़ा देते हैं ।

किसी चाह अथवा कामना से किया गया कर्म मनुष्य को किसी समय शान्ति से नहीं बैठने देता । व्यावहारिक दृष्टि से इससे बड़ा लाभ है । मनुष्य को निष्काम होकर कर्म करने की बात तभी समझ में आ सकती है, जब वह पहले तन-मन से अपनी कामना को पूरा करने के लिये कर्म करे, अन्यथा झूठी निवृत्ति उसे लोक और परलोक कहीं

का नहीं रहने देती। मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा होती है कि मुझे बिना परिश्रम किये ही कुछ मिल जाय। यह इच्छा सब पापों की जननी है। इसीसे द्वेष, छल, रिश्वत, काला बाजार और दोषपूर्ण राजनीति का विस्तार होता है। अतः निष्काम होने से पहिले अपनी कामना, अपनी इच्छा और अपनी आवश्यकतायें पूर्ण करने के लिये तन-मन से कर्म करना चाहिये। ऐसा करने में राग, द्वेष, भय, विषाद आदि की बाधायें आयेंगी, मन में अशान्ति और ग्लानि के तूफान उठेंगे और जीवन दुःखों से ऊबकर उपराम होना चाहेगा। ऐसी स्थिति में निष्काम कर्म की ओर मन जायगा और समझ में आयेगा कि अपने स्वार्थ के साथ थोड़ा-सा भी परमार्थ-भाव जोड़ देने से मन को सन्तोष मिलता है और फिर जितना, प्रेम, परमार्थ, सेवा अथवा यज्ञ का भाव बढ़ेगा उतना ही आत्मानन्द मिलेगा। परमेश्वर सच्चिदानन्द है, इसलिये कि उसके सारे कर्म परमार्थ भाव से होते हैं। सेवा, प्रेम और पवित्र-भाव से कर्म करना ही निष्काम कर्म है। ऐसा करने से करनेवाले को कर्म छू नहीं पाता। वह सब प्रकार के कर्म करता है, परन्तु कर्म से उत्पन्न होनेवाले विकार उसे नहीं लगते।

श्रीकृष्ण ने कौरवों पर क्रोध किया, परन्तु उस क्रोध में उन्होंने अपना धर्म नहीं छोड़ा, वे कर्त्तव्य-मार्ग से विचलित नहीं हुए। कौरव उन्हें पकड़ कर बांध लेना चाहते थे, परन्तु श्रीकृष्ण उन्हें बन्धनों से छुड़ाना चाहते थे। उनके एक ही अट्टहास से वे सब गिर पड़े, उनकी देह में से धर्मरूप प्राण निकल गये, पर श्रीकृष्ण को कोई कर्म छू नहीं पाता था, अतः वे प्रसन्न मन से चले गये। कौरव अपने इसी कर्म से मारे गये, पर श्रीकृष्ण को क्रोध, हिंसा, अथवा पाप का दोष नहीं छू सका।

काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार महापुरुषों को नहीं छू पाते। जो इस रहस्य को जान लेता है और जानकर अपना जीवन भी उसी प्रकार बनाता है, वह कर्म के बन्धनों से छूट जाता है।

इति मां योऽभिजानाति—इस प्रकार मुझ परमेश्वर को जो जान लेता है, वही मुक्त है। इस वाक्य में एक विशेष रहस्य है जिसे श्री शंकराचार्य ने बड़ी सुन्दरता से स्पष्ट किया है—

"इस प्रकार जो कोई दूसरा भी मुझे आत्मरूप से जान लेता है, वह भी कर्मों से नहीं बंधता।"

श्री आनन्दगिरी ने इसी भाव को दूसरे शब्दों में कहा है—

"जैसे ईश्वर वास्तव में अकर्ता है, ऐसे ही जीवात्मा को समझना चाहिये, नहीं तो ईश्वर को तो कोई भी विकारवान् नहीं जानता। ईश्वर को अकर्ता निर्विकार जानने से मोक्ष होता है।"

मुक्ति के लिये नित्य मनन करना चाहिये कि 'मुझे कर्म के फलों की कोई इच्छा नहीं है, मैं जो कुछ करता हूँ वह स्वधर्म के लिये करता हूँ, जिस कर्तव्य में मुझे नियोजित किया गया है उसे पूरा करने के लिये करता हूँ। मुझे कर्म का कोई विकार नहीं छू सकता। कर्तव्य-मार्ग में आनेवाली बाधायें मुझे नहीं डिगा सकतीं। परमेश्वर को हृदय में बैठा कर मैं उनके दिखाये हुए मार्ग पर चलूँगा।

कर्मभिर्न स बद्धयते—वह कर्मों से नहीं बँधता जो परमेश्वर से अनासक्ति की प्रेरणा प्राप्त करता है। कर्म से न बँधने का अभिप्राय है ममता, मोह, राग, द्वेष, अहंकार आदि दुर्गुणों के फेर में न पड़ना—बुरे कर्मों से दूर रहना और अच्छे कर्मों का अहंकार न करना। संसार में अच्छा-बुरा जो कुछ हो रहा है, दरिद्री दुःखी धनवान् सुखी और जो अनेक प्रकार के जीव हैं उनमें अच्छे-बुरे ऊँच-नीच का भाव न रख कर सबके साथ सम-व्यवहार करने के लिये सबकी सेवा करके सबसे अलग निष्प्रयोजन बने रहने के लिये जिस निष्काम कर्म की प्रतिष्ठा गीता ने की है, वह अराजकता दुःखं विकार और पराधीनता के बन्धन-रूपी सर्पों को गरुड़ की भांति खा लेता है।

यह ऐतिहासिक सत्य है कि—

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

एवम्, ज्ञात्वा, कृतम्, कर्म, पूर्वैः, अपि, मुमुक्षुभिः, कुरु, कर्म, एव, तस्मात्, त्वम्, पूर्वैः पूर्वतरम्, कृतम् ।

पूर्वैः=पहिले, मुमुक्षुभिः=मुमुक्षु पुरुषों ने, अपि=भी, एवम्=ऐसा, ज्ञात्वा=जानकर ही, कर्म=कर्म, कृतम्=किया है, तस्मात्=इसलिये, त्वम्=तुम भी, पूर्वैः=पूर्वजों द्वारा, पूर्वतरम्=सदा से, कृतम्=किये गये, कर्म=कर्म को, एव=ही, कुरु=करो ।

यह जान कर्म मुमुक्षु पुरुषों ने सदा पहिले किये ;
प्राचीन पूर्वज-कृत करो अब कर्म तुम इस ही लिये ॥

अर्थ—पहिले मुमुक्षु पुरुषों ने भी ऐसा जानकर ही कर्म किया है, इसलिये तुम भी पूर्वजों द्वारा सदा से किये गये कर्म को ही करो ।

व्याख्या—महापुरुषों के पद-चिह्नों पर चलने से प्रकाश और सहायता सुलभ हो जाती है । प्रत्येक समय में मुमुक्षु जन इस लोक को जीवन देते आये हैं । मुमुक्षु वे हैं जो संसार को हृदय और बुद्धि की दोनों आँखों से आर-पार देख लेते हैं, जिन्हें लोक या परलोक की वासना कर्त्तव्य-मार्ग से नहीं डिगा पाती और जो अपने दिव्य-कर्मों द्वारा मुक्ति को निमन्त्रण देते हैं ।

मुमुक्षु जन अनासक्त कर्म की प्रेरणा परमेश्वर से प्राप्त करके कर्म करते हैं, उनके कर्मों में परमेश्वर के दिव्य-जन्म और दिव्य-कर्मों की लीला होती है । उनका सम्पूर्ण जीवन दैवी कर्मों का क्षेत्र बन जाता है । उनका हृदय-द्वार परमात्मा के शुभागमन के लिये सदा खुला रहता है ।

मुमुक्षु जन परमेश्वर के दिव्य-जन्म और कर्म के रहस्य को जान कर उसी के अनुसार कर्म करते हैं । सारा संसार प्रभु से ओत-प्रोत है,

परमेश्वर सर्वत्र है, उसे जहाँ देख लिया जाता है वहीं सफलता, विजय और सुख मिलता है। परमात्मा को देखने ढूंढ़ने और जानने का साधन एकमात्र कर्म है। कर्म का त्याग जीवन का त्याग है।

भगवान् श्रीराम में कर्म की पूर्णता और धर्म का भव्य दर्शन होता है। उनका जीवन पग-पग पर स्वधर्म के आचरण से भरा हुआ है। सुख और दुःख उन्हें कहीं कर्त्तव्य-पालन से विचलित नहीं कर सके। अपने सुख के लिये नहीं—सत्य की प्रतिष्ठा, विश्व की सेवा और धर्म की संस्थापना के लिये उन्होंने सतत कर्म किया।

श्रीकृष्ण ने जो कुछ किया उसमें जननी जन्म-भूमि का उद्धार, माता-पिता और गुरुजनों की सेवा का भाव, सखाओं के संकट काटने के प्रयत्न और धर्मराज्य की स्थापना का लक्ष्य था।

यह जानकर ही मुमुक्षु जन नित्य निरन्तर अनासक्त भाव से कर्म करते हैं। महापुरुषों के जीवन और कर्मों को देखकर उन्हीं की भांति कर्त्तव्य-पालन के लिये तत्पर रहना मनुष्य का धर्म है।

प्रत्येक अवस्था में कर्म से जीवन का प्रवाह चलता है।

श्री शंकराचार्य ने अपने अनुभव से कहा है—

'यदि तू आत्मज्ञानी नहीं है तो अन्तःकरण की शुद्धि के लिये और यदि तत्त्वज्ञानी है तो लोक-संग्रह के लिये जनकादि पूर्वजों के द्वारा सदा से किये हुए कर्म कर।'

श्रीशंकराचार्य ने एक बड़े पते की बात और कही है—न अधुनातनं कृतं निर्वर्तितम्—नये-नये (जीवन को मृगतृष्णा भूल और भ्रमों में डालनेवाले) कर्म मत कर!

मनुष्य का मस्तिष्क एक विशाल यन्त्रालय है। वह अपनी कामना-पूर्ति के लिये समयानुसार नये-नये हिंसक छल-कपट एवं रागद्वेषपूर्ण यन्त्र आदि बना कर इन्द्रियों को सौंपता रहता है। उनके द्वारा नये-नये ढंगों से छल-पूर्ण कर्म होते हैं। ऐसे कर्मों से न तो अन्तःकरण ही शुद्ध होता और न लोकसंग्रह की साधना होती।

संसार में कर्म छोड़ना भी न पड़े और कर्म के बन्धन में भी न बंधना पड़े ऐसी मुक्त-अवस्था में रहने के लिये उन मुमुक्षु पुरुषों के पद-चिह्नों पर चलना चाहिये, जिन्होंने आत्मभाव को भली भांति समझ लिया है और जो मुक्ति के लिये कर्म करके सदा जीवन-मुक्त रहे हैं।

निरहंकार, इच्छा-रहित ममता-हीन होकर कर्म करने से मनुष्य कभी नहीं बंधता। प्राचीन समय के अनेक राज-ऋषियों और ब्रह्म-ऋषियों ने इसी प्रकार निष्काम कर्म किया है।

वेद ने भी मानव-कल्याण के लिये यही आदेश दिया है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (ईश० २)

इच्छा कर सौ वर्ष आयु की करता हुआ कर्म सविवेक।
यों कर्मों में लिप्त न होगा यही मार्ग है उत्तम एक॥

इन आदेशों और उपदेशों के होते हुए भी कर्म का मार्ग बड़ा टेढ़ा-मेढ़ा और ऊँचा-नीचा है। परम विदुषी भक्ति की साकार प्रतिमा मीरा भी इस मार्ग की कठिनाई को देख कर बोल उठी थी—

ऊँचो नीचो महल पिया को मो पै चढ़्यो न जाय।
पिया दूर म्हारो पंथ न जानूँ सुरत झकोला खाय॥

कर्म के मार्ग में कहीं कंकरीली, पथरीली ऊँची-नीची भूमि है, कहीं फूल हैं, कहीं कांटे हैं, कहीं जल ही जल है और कहीं अग्नि है। प्रह्लाद की भांति प्रत्येक जीव को भयंकरता में धक्के खाने पड़ते हैं। जो दृढ़ रहकर अपना ध्येय नहीं छोड़ते, अग्निपरीक्षाओं में सफल होते हैं, किसी भी पाप के पानी में नहीं डूबते, ऊँचे से नीचे गिर कर भी विचलित नहीं होते, निरन्तर अपने प्रभु को साथ लिये आगे चलने में ही जीवन मानते हैं, उन्हें संसार की धधकती हुई आग में भी शीतलता परमशान्ति और अभयदान देनेवाले परमेश्वर मिल जाते हैं।

कर्म के मार्ग को जानना प्रभु को पहिचानना है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १६

किम्, कर्म, किम्, अकर्म, इति, कवयः, अपि, अत्र, मोहिताः,
तत्, ते, कर्म, प्रवक्ष्यामि, यत्, ज्ञात्वा, मोक्ष्यसे, अशुभात् ।

कर्म=कर्म, किम्=क्या है, अकर्म=अकर्म, किम्=क्या है, इति=इस, अत्र=विषय में, कवयः=बुद्धिमान्, अपि=भी, मोहिताः=मोहित हो गये हैं, ते=तुमसे, तत्=वह, कर्म=कर्म, प्रवक्ष्यामि=(मैं) कहूँगा, यत्=जिसको, ज्ञात्वा=जानकर, अशुभात्=अशुभ से, मोक्ष्यसे=छुट जाओगे ।

क्या कर्म और अकर्म है भूले यही विद्वान् भी ।
जो जान पापों से छुटो वह कर्म कहता हूँ सभी ॥

अर्थ—कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषय में बुद्धिमान् भी मोहित हो गये हैं, मैं तुम से वह कर्म कहूँगा जिसको जान कर अशुभ से छुट जाओगे ।

व्याख्या—कर्म करना आजाय तो पुरुष पुरुषोत्तम से मिल जाय । और तो क्या—

नर नीकी करनी करे, नारायण ह्वै जाय ।

परन्तु कहने में यह जितना सरस और सरल है, करने में उतना ही शुष्क और कठोर है । यह निश्चित और स्पष्ट सत्य है कि कर्म की आधार-शिला पर ही जीवन का भव्य भवन खड़ा होता है । कर्म की नींव जितनी गहरी और दृढ़ होती है, जीवन उतना ही ऊँचा उठता है । संसार कर्म छोड़ने से छूटता नहीं, हाँ, दुःखमय बन जाता है ।

कर्म जीवन-नौका की पतवार है, चित्त-शुद्धि का उपाय है, मुक्ति का मार्ग है, भक्ति की माला है । कर्म के दाने-दाने पर जब भगवान् का नाम जपा जाता है तो आठों सिद्धियां और नव निधियां मनुष्य के

चरण चूमती हैं। कर्म के नष्ट होते ही सब कुछ नष्ट हो जाता है, जीवन पाप और मिथ्याचार से भर जाता है। अपने योग्य स्वभाव के अनुकूल कर्म चुनकर जो उसमें लग जाता है, उसका जीवन-पुष्प देवताओं के चरणों पर चढ़ जाता है, मस्तक की शोभा बढ़ाता है और हृदय को छू लेता है। कर्म का रहस्य जीवन का धर्म है। श्रुति और स्मृति तथा अन्यान्य धर्म-ग्रन्थ मनुष्य को केवल कर्म का बोध कराने के लिये हैं, परन्तु उनमें प्रायः इतनी विभिन्नता है कि अध्ययन करने पर भी बुद्धि किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँच पाती और ऐसी दशा में धर्म-ग्रन्थों को गुरुगम्य कह दिया जाता है। तब 'महाजनो येन गतः स पन्था' जिस रास्ते से होकर महापुरुष गये हैं, उसी पर चलना योग्य है, ऐसी प्रेरणा होती है। परन्तु इसमें भी उलझन है-समय-समय पर महापुरुषों ने देश और काल को देखकर जो-जो कर्म किये उनको जानना और उनके रहस्य को समझना एक जटिल समस्या है। अनेकों नर-नारी इसी समस्या को सुलझाने के लिये भटकते-भटकते जीवन खो देते हैं। गीता ने मनुष्य की इन कठिनाइयों को समझा और श्रीकृष्ण ने पाञ्च-जन्य के घोष के साथ मानो पञ्चों का मत निश्चित रूप में मानव-मात्र के सन्मुख रख दिया। गीता में संसार के अशुभ और दुःखों से छूटने के लिये कर्म करने का आदेश है वास्तव में यही निष्काम-कर्मयोग है।

गीता की विशेषता इसी कर्म-रहस्य को स्पष्ट करने में है। गीता किसी एक देशीय अथवा एक जातीय कर्म की ओर नहीं ले जाती और न ही किसी धार्मिक, सामाजिक अथवा राजनैतिक कर्म का प्रतिपादन करती है, वह तो मनुष्य को उस कर्म के करने की प्रेरणा देती है जिससे वह प्रत्येक परिस्थिति में धर्म का आचरण कर सके और सम्पूर्ण जीवन को भगवान् का लीलाधाम बना सके। ये ही वे कर्म हैं जिनके विषय में गीता ने आदेश दिया है—'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' जिसको जानकर मानव-मात्र अशुभ से छुटकर शुभ और श्रेय की ओर प्रगति करता है। ऐसे कर्मों की भूमिका बांधते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मणः, हि, अपि, बोद्धव्यम्, बोद्धव्यम्, च, विकर्मणः, अकर्मणः, च, बोद्धव्यम्, गहना, कर्मणः, गतिः ।

कर्मणः=कर्म का, बोद्धव्यम्=तत्त्व जानना चाहिये, च=और, विकर्मणः=विकर्म का, अपि=भी, बोद्धव्यम्=तत्त्व जानने योग्य है, च=और, अकर्मणः=अकर्म का, बोद्धव्यम्=रहस्य भी जानना आवश्यक है, हि=क्योंकि, कर्मणः=कर्म की, गतिः=गति, गहना=गहन है ।

हे पार्थ ! कर्म अकर्म और विकर्म का क्या ज्ञान है ।
यह जान लो सब कर्म की गति गहन और महान है ॥

अर्थ—कर्म का तत्त्व जानना चाहिये और विकर्म का भी तत्त्व जानने योग्य है, और अकर्म का रहस्य भी जानना आवश्यक है, क्योंकि कर्म की गति गहन है ।

व्याख्या—साधारणतया कर्म के तीन भेद हैं—कर्म, अकर्म और विकर्म । स्मृतियों में कर्म के पाँच भेद मिलते हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, प्रायश्चित और निषिद्ध ।

गीता के तीन कर्मों में इन पाँचों का समावेश हो जाता है । अधिकांश टीकाकारों ने परम-पुरुषार्थ को कर्म माना है । अकर्म कर्म के संन्यास को कहा है, और विकर्म में उन कर्मों को गिना है जो दूषित हैं—पापमय हैं, अथवा करने के योग्य नहीं होते ।

श्री शंकराचार्य के अनुसार—

कर्म—शास्त्र विहित क्रिया ।

अकर्म—चुपचाप बैठ रहना ।

विकर्म—शास्त्र-वर्जित कर्म ।

कुछ टीकाकारों का मत है कि अकर्म का अर्थ है कर्म में लिप्त न होना ।

संसार में प्रायः तीन प्रकार के जीव देखे जाते हैं—

१. जो कर्म करते हैं, परन्तु उसमें आसक्त रहने के कारण राग, द्वेष आदि विकारों से घिरे रहते हैं।

२. जो क्रिया-रहित आत्मा में निमग्न रहकर अथवा भगवद्भाव में रहकर कर्म करते हैं।

३. जो आलस्य, प्रमाद और अज्ञान के वश में होकर कर्म करते हैं, अथवा कर्म करते ही नहीं।

इन तीनों प्रकार के जीवों में से सर्वश्रेष्ठ तो वे हैं जो भगवान् की आज्ञा से, भगवान् की प्रसन्नता के लिये, भगवान् के साथ रहकर कर्म करते हैं। ऐसे श्रेष्ठ पुरुषों को गीता निष्काम कर्मयोगी कहती है। इनसे उतर कर वे नर-नारी हैं जो ईश्वर और धर्म में विश्वास रखते हैं, परन्तु त्रिगुणों, द्वन्द्वों और योग-क्षेम की चाह चिन्ताओं से घिरे रहने के कारण फल की कामना से कर्म करते हैं। सबसे निकृष्ट ऐसे नर-नारी हैं जो तामसी स्वभाव के कारण घोर कर्म करके दुःखी रहते हैं और दुःख फैलाते हैं।

कर्म शब्द गीता में स्वधर्म का सूचक है। वैसे तो संसार के सभी व्यवहार कर्म हैं, परन्तु जिन कर्मों से 'स्व' में स्थिति हो अर्थात् जीव स्वस्थ रहे, आत्मा का राज्य बढ़े, अर्थात् जीव स्वतन्त्र रहे, उन कर्मों को ही कर्म मानना चाहिये।

कर्म का त्याग होना एक क्षण के लिये भी सम्भव नहीं है। 'जब तक संसार, तब तक व्यवहार।' इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति के दो मार्ग प्रचलित हो गये। सब प्रवृत्ति मार्ग में लग जायें तो संसार अशान्ति, स्वार्थ और करुणा-क्रन्दन से भर जाये और सब निवृत्ति की ओर चल पड़ें तो आश्रम-धर्म नष्ट-भ्रष्ट हो जाये, संसार जड़ और स्थिर होकर पड़ा रहे और परमेश्वर का यज्ञ-चक्र रुक जाये। न प्रवृत्ति में शांति है न निवृत्ति में। ऐसी विकट उलझन में श्रीकृष्ण ने कहा—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

कर्मणि, अकर्म, यः पश्येत्, अकर्मणि, च, कर्म, यः, सः, बुद्धिमान्, मनुष्येषु, सः, युक्तः, कृत्स्नकर्मकृत् ।

यः=जो, कर्मणि=कर्म में, अकर्म=अकर्म, पश्येत्=देखता है, च=और, यः=जो, अकर्मणि=अकर्म में, कर्म=कर्म (देखता है), सः=वह, मनुष्येषु=मनुष्यों में, बुद्धिमान=बुद्धिमान् है, सः=वह, युक्तः=योगी, कृत्स्नकर्मकृत्=सम्पूर्ण कर्मों को करनेवाला है ।

जो कर्म में देखे अकर्म, अकर्म में भी कर्म ही ।
है योग-युत ज्ञानी वही, सब कर्म करता है वही ॥

अर्थ—जो कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता है वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह योगी सम्पूर्ण कर्मों को करनेवाला है ।

व्याख्या—गोस्वामी तुलसीदास ने एक बार कर्म की समस्या को सुलझाते हुए कहा था—

घर कीने घर जात है, घर छोड़े घर जाय ।
तुलसी घर बन बीच ही रहहु पर्ण-गृह छाय ॥

घर छोड़ने से परमात्मा का घर नहीं मिलता, और घर बनाने से भी परमेश्वर का घर नहीं मिलता ! गृहस्थ और संन्यास के बीच में अथवा दोनों को मिला देने से जो घर बनता है, उसीमें परमेश्वर मिलता है ।

गीता ऐसा ही घर बनाने का आदेश देती है । कर्म करते-करते मनुष्य को ऐसा रहना चाहिये जैसे उसने कुछ किया ही नहीं । यही कर्म में अकर्म का भाव है । कर्म करते-करते कर्तापन का अभिमान न

आये, कर्म का बोझ मन और बुद्धि को न झुकाये, उमङ्ग और उत्साह के हाथ-पर न टूटें, प्रसन्नता न कुम्हलाये, आत्मा सदा हँसता-खेलता रहे और सर्वत्र आनन्दमय ब्रह्म का दर्शन हो तो समझना चाहिये कि कर्म में अकर्म हो रहा है।

कोरा कर्म दुःखदायी है। किसान गहरा बोकर, यदि जल न दे तो अंकुर कभी न उभरें। इसी प्रकार कर्म करके अनासक्ति और प्रेम का जल न दिया जाय तो परमानन्द का अंकुर नहीं उभरता। कर्म में आत्मा को उँडेल देना ही उसे निर्मल और प्रज्ञामय बना लेना है।

कर्म के साथ आत्मा का योग होते ही भक्त के साथ भगवान् हो जाते हैं। सुदामा के मुट्ठी भर चावलों में उसका आत्मा था, गोपियों की लीला में देह नहीं, आत्मा नृत्य करता था; तभी तो कृष्ण उनके साथ नाचते थे। निष्काम कर्म अथवा कर्म में अकर्म वहीं होता है, जहां कर्म का सम्बन्ध बाहरी इन्द्रियों से नहीं, आत्मा से जुड़ जाता है। धर्म, सेवा, व्यापार, नौकरी, खेती और सम्पूर्ण कर्म उसी समय मुक्तिदायक बनते हैं, जब उनमें शरीर और आत्मा दोनों लग जाते हैं। सेवा के अनेकों कार्यों में अधर्म और अन्याय हो जाता है, भक्ति में मिथ्याचार मिल जाता है, ज्ञान अभिमान का कारण बन जाता है और शुभ कर्मों का परिणाम कभी-कभी दुःखद होता है; इन सबका कारण है कर्म में घोर आसक्ति—फल-कामना का जुड़ा रहना और कर्म में आत्मा अथवा परमात्मा का योग न होना। आत्मा के योग के बिना सारी हलचलें व्यर्थ हैं।

कर्म में जब आत्मा मिलता है तो बड़े-बड़े पहाड़ों जैसी कठिनाइयां सरलता से लांघ ली जाती हैं और तो क्या कर्म में परमात्मा के योग से मीरा ने विष को अमृत बना लिया। गौरांग महाप्रभु ने शत्रुओं को मित्र बना लिया। हनुमान् ने समुद्र को छोटे से गड्ढे की भांति पार कर लिया और प्रह्लाद ने आग को ठंडा कर लिया।

गरल सुधा, रिपु करहिं मिताई।
गोपद सिन्धु, अनल सितलाई॥

कर्म में अकर्म देखनेवाले की एक ही टेक होती है—'अपने धर्म की ओर चलना', वह हारना, थकना, निराश या दुःखी होना नहीं जानता। जल जैसे समुद्र की ओर निरन्तर चलता है, उसी प्रकार निष्काम कर्मयोगी चलता है। मार्ग में खाई, खन्दक, गड्ढा आ जाने से जल उसे भरकर ही आगे बढ़ता है, इसी प्रकार कर्मयोगी बाधाओं से रुकता नहीं; यदि गड्हे को भरने में जीवन-जल समाप्त हो जाये तो भी वह अपने को धन्य समझता है—'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्।'

यह है कर्म में अकर्म अथवा प्रवृत्ति में निवृत्ति देखना।

दूसरा है अकर्म में कर्म देखने का भाव। जीवन परम पुरुषार्थ के लिये मिला है। जीवन के सदुपयोग से आयु बढ़ती है, अमृत फल मिलता है, साथ ही एक सन्तोष और शान्ति भी मिलती है। जिन्हें कुछ नहीं करना है उन्हें लोक-संग्रह के लिये जीवन दे डालना चाहिये—यही अकर्म में कर्म है। अवतारी पुरुष, महात्मा, योगी, यति, अकर्म में कर्म देखकर जीवन को सेवा-कार्यों के लिये अर्पण करते हैं।

अष्टावक्र गीता में एक बड़े पते की बात कही गई है—

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥

अज्ञानी और मोह-मार्ग में भूले हुए मूढ़ जो दम्भ से, हठ से अथवा किसी तृष्णा से निवृत्ति मार्ग पर चलते हैं उनकी निवृत्ति घोर प्रवृत्ति है और विद्वान् जन जो निष्काम भाव से प्रेम, सेवा तथा परोपकार के कर्म करते हैं, उनकी प्रवृत्ति भी निवृत्ति ही है और वे कर्म में लगे रहकर भी कर्म-त्याग का फल पाते हैं।

इस प्रकार कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने से गीता कर्म के दोषों को पवित्र कर देती है, कर्म को ज्ञानमय बनाकर उसे भक्ति की मधुरता से भर देती है—यही गीता का पूर्ण योग है। इस योग को जाननेवाला ही मनुष्यों में बुद्धिमान्, ज्ञानी और पण्डित है और वह सर्वत्र सब कुछ करता हुआ पूर्णकाम तथा कृतकृत्य होता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१६॥

यस्य, सर्वे, समारम्भाः, कामसंकल्पवर्जिताः, ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्, तम्, आहुः, पण्डितम्, बुधाः ।

यस्य=जिसके, सर्वे=सम्पूर्ण, समारम्भाः=कर्मों के आरम्भ, कामसंकल्पवर्जिताः= कामना और संकल्प से रहित होते हैं, ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्=(और) जिसके कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हुए होते हैं, तम्=उसे, बुधाः=ज्ञानीजन, पण्डितम्=पण्डित, आहुः=कहते हैं ।

आरम्भ जिसके कामना-संकल्प-विरहित नित्य हैं ।
ज्ञानाग्नि में सब कर्म जलते, बुध उसे पण्डित कहें ॥

अर्थ—जिसके सम्पूर्ण कर्मों के आरम्भ, कामना और संकल्प से रहित होते हैं और जिसके कर्म ज्ञानाग्नि से भस्म हुए होते हैं, उसे ज्ञानी जन पण्डित कहते हैं ।

व्याख्या—जगत् में कर्म प्रधान है, जिसके कर्म श्रेष्ठ हैं वही श्रेष्ठ है । योग, जप, तप, भक्ति और ज्ञान सबका ध्येय है कर्म में कुशलता प्राप्त कर लेना । महामन्त्र गायत्री में भी उसी बुद्धि के लिये प्रार्थना की जाती है, जिससे सब कर्म सम्पन्न होते हैं ।

गीता ने ऐसी बुद्धि पाने की और पण्डित होने की एक अचूक साधना बताई है—मनुष्य को सम्पूर्ण कर्मों के आरम्भ कामना और संकल्प से रहित होकर करने चाहियें ।

मनुष्य स्वार्थ और कामनाओं के वश में होकर नित्य नये-नये कर्म करता है । कर्म न करे तो भी जीवन नहीं और कर्म करे और फिर अधूरा छोड़ दे तो भी जीवन नहीं । कर्म अधूरे छोड़ने से तो न करना अच्छा है । मनुष्य के कर्म अधूरे कब रहते हैं ? इसका सीधा सा उत्तर है कि जब मन और इन्द्रियाँ अलग-अलग दौड़ती हैं । शरीर काम

करना चाहे और मन साथ न दे तो भी कार्य अधूरा रहता है और मन करना चाहे पर शरीर साथ न दे तो भी कर्म पूरा नहीं होता। अतः शरीर और मन दोनों को मिलाना चाहिये। दोनों जहाँ मिलते हैं वहाँ मिथ्याचार मुँह छिपा लेता है और काम-संकल्प सन्मुख आते हुए लजाते हैं। जहाँ हृदय, मस्तिष्क और हाथ-पैर तीनों मिलते हैं अथवा प्रेम और ज्ञानपूर्वक कर्म होते हैं, वहीं प्रज्ञा खेलती है, कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है और अनहद शब्द सुन पड़ता है।

कर्मों के साथ हृदय न रहने से कर्म रूखा और भारी बन जाता है। हृदय मिलाने के लिये काम और संकल्प को बीच से निकाल देना होगा। जब तक कामना और संकल्प हैं तब तक कर्म, हृदय से नहीं होता, काम-बुद्धि से होता है।

साधारण अर्थों में काम कामना को और संकल्प मन की उधेड़-बुन को कहते हैं।

श्री मधुसूदन स्वामी ने फल-तृष्णा को काम कहा है और कर्तृत्व के अभिमान को संकल्प।

श्री शंकराचार्य ने "कामसंकल्पवर्जिताः" का सरल और बड़े काम का अर्थ किया है—"कामैस्तत्कारणैश्च संकल्पैः वर्जिताः" कामना से और कामना के कारणरूप संकल्पों से रहित।

यह भी सत्य है कि मनुष्य में काम-संकल्प न हों तो वह जड़ हो जाय। कामना प्रत्येक जीव में होती है, परन्तु एक वासना-प्रधान कामना है, जो मनुष्य की इच्छा-शक्ति को निम्नगामी संकल्पों से क्षीण कर देती है और उसे किसी योग्य नहीं छोड़तीः दूसरी श्रेय की उन्नत अभिलाषा अथवा अभीप्सा है, जो दैवी शक्तियों से इच्छा-शक्ति को पवित्र संकल्पवान् और बलवती बनाकर उसे देवत्व की ओर ले जाती है।

वासना-प्रधान कामना और उसकी पूर्ति के लिये संकल्प-विकल्पों से, द्वन्द्वों, राग-द्वेषों और अनेक प्रकार के विकारों का जन्म होता है। विकारों से तन-मन की शक्ति क्षीण होती है और मनुष्य को दैवी

शक्तियाँ छोड़ जाती हैं। लोक-संग्रह के लिये, अभ्युदय और श्रेय के लिये जो संकल्प होते हैं, उनसे राष्ट्रीय सम्पत्ति की वृद्धि होती है, अन्तःकरण से महाशक्ति का स्रोत उमड़ता है और अमृत बरसता है।

भगवान् श्रीराम ने युद्ध-भूमि में गिरे हुए निष्प्राण वानर-भालुओं की ओर एक दृष्टि से देख लिया, देखने मात्र से सब जीवित होगये। यह जीवन-शक्ति श्रीराम के सत्संकल्पों से उमड़कर हृदय से होती हुई आँखों से बरस रही थी।

भगवान् श्रीकृष्ण ने ग्वाल-बालों के साथ महा भयंकर असुर के मुख में प्रवेश किया था, परन्तु श्रीकृष्ण और उनके साथियों पर आसुरी विष का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि उनकी इच्छा-शक्ति बलवती थी, देश और धर्म की सेवा के लिये उनके संकल्प हृदय से उठे थे।

इस संसाररूपी असुर के मुख में पड़कर भी वे जीवित रहते हैं जिनके कर्म कामना और हेय संकल्पों से नहीं होते।

कर्म का आरम्भ करते समय कोई कामना हो तो कर्तव्य-पालन की हो। दीन और हीन कामनाओं से असफलता का मुख देखना पड़ता है। जो बिना विचारे करता है उसे तो पछताना ही पड़ता है, परन्तु जो कर्म का प्रारम्भ भय, अश्रद्धा, वासना और आधे हृदय से करता है, उसे भी पछताना पड़ता है।

अतः अपने कर्म के साथ हृदय को जोड़ दो। दोनों के योग से ज्ञान प्रकट हो जायगा। ज्ञान अग्नि के समान है, उसमें पड़ते ही कर्म के दोष भस्म हो जाते हैं। वासना और विकार की सूखी घास तभी तक रहती है, जब तक ज्ञान का दहकता हुआ अंगारा उसे नहीं छूता।

ज्ञान कहीं से लाना नहीं है, किसी से उधार नहीं लेना है और कहीं पड़ा भी नहीं मिलता। जैसे बिजली के दो तार मिलते ही प्रकाश हो उठता है, इसी प्रकार तन और मन अथवा कर्म और भक्ति के मिलते ही ज्ञान का प्रकाश स्वयं हो जाता है। जिसके पास यह ज्ञान है वही पण्डित है। ऐसे पण्डित सदा तृप्त रहते हैं। कर्म उनके शरीर को बोझा बनकर तोड़ता नहीं। संसार में वे इस प्रकार सुखी और सुरक्षित रहते हैं, जैसे काँटों में फूल।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

त्यक्त्वा, कर्मफलासङ्गम्, नित्यतृप्तः, निराश्रयः, कर्मणि, अभिप्रवृत्तः, अपि, न, एव, किंचित् करोति, सः ।

कर्मफलासङ्गम्=(जो) कर्म-फल की आसक्ति को, त्यक्त्वा=छोड़कर, नित्यतृप्तः=नित्य तृप्त, निराश्रयः=आश्रय रहित है, सः=वह, कर्मणि=कर्म, अभिप्रवृत्तः=करता हुआ, अपि=भी, किंचित्=कुछ, एव=भी, न=नहीं, करोति=करता ।

जो है निराश्रय तृप्त नित, फल कामनाएँ तज सभी ।
वह कर्म सब करता हुआ, कुछ भी नहीं करता कभी ॥

अर्थ—जो कर्म-फल की आसक्ति को छोड़ कर नित्य तृप्त, आश्रय रहित है, वह कर्म करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता ।

व्याख्या—कर्म करके भी कर्म-बन्धन में न बँधने के निश्चित और स्पष्ट उपाय इस मन्त्र में हैं—

कर्म-फल में आसक्त न होना—

जो कर्म के फल में आसक्त नहीं होता, उसके सब कार्य परमेश्वर करते हैं, यह अटल सत्य है ।

फल में आसक्ति न होने का अर्थ गीता ने बार-बार किया है और इसी पर सबसे अधिक बल दिया है । निर्भय-निर्विकार होकर सत्य के पथ पर दैवी गुणों की सहायता से लोकसंग्रह के लिये बढ़ना अनासक्त कर्म है । अनासक्त कर्म का फल नित्य-तृप्ति है । कामना से किये हुए कर्म से कभी तृप्ति नहीं होती ।

नित्य तृप्त रहना—

कामना को छोड़ने से जैसे कर्म करने की शक्ति बढ़ती है, इसी

प्रकार नित्य-तृप्त रहने से संसार की सारी सम्पत्ति और सुख आस-पास मंडराते हैं और तृप्त पुरुष की सेवा करने में अपने को सफल मानते हैं। कामना-प्रिय सबका सहारा ढूंढ़ता फिरता है पर जिसे कामना नहीं होती उसका सहारा सारा संसार लेना चाहता है। जिसकी तृष्णा सर्प की भांति जीभें निकालती है, उसके पास आते हुए शान्ति भय खाती है, परन्तु जो तृप्त है, प्रत्येक अवस्था में प्रसन्न है, उससे जगत् और जगत्पति हार्दिक प्रेम करते हैं।

तृप्त रहने का अर्थ यह नहीं है कि हम जैसे हैं, और जहाँ हैं, वहीं पड़े रहें; यह तो जड़ता और अकर्मण्यता है। कर्म में नहीं, कर्म के फल में तृप्ति होनी चाहिये। महाशक्ति, महाविद्या और महालक्ष्मी त्रयी-विग्रह प्राप्त करके ही मनुष्य जीवन-मुक्त होता है।

शक्तिहीन, विद्याहीन और धनहीन का जीवन अधूरा है। जैसे कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों के योग से पुरुष पुरुषोत्तम तक पहुँचता है, अथवा मनुष्य में देवत्व उतर आता है, इसी प्रकार शक्ति, विद्या और श्री के योग से पुरुष पूर्ण होता है। एक की भी कमी जीवन को तृप्त नहीं होने देती। अतः मिथ्याचार से अपने को नित्य-तृप्त मान लेना स्वयं का घात है, नित्यतृप्ति तो आत्म-अनुभूति का फल है। पूर्णता के बिना तृप्ति नहीं हो सकती। आत्मा उस समय तृप्त होता है जब मनुष्य पूर्णता प्राप्त करने के लिये सत्य का सहारा लेकर निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। यही नित्य-तृप्त होने का भाव है।

जो नित्य-तृप्त है, उसे अपने पर दृढ़ विश्वास होता है। वह अपनी किसी कामना के लिये किसी का सहारा नहीं खोजता, निराश्रय रहता है।

निराश्रय रहना—

निराश्रय का अर्थ प्रियजनों और परिजनों को छोड़ देना नहीं और न घर-नगर आदि छोड़ देना है। निराश्रय का सीधा अर्थ है— किसी के सहारे न बैठना। संसार का सहारा लेकर संसार में सफलता

पाने की कामना करना एक भ्रांति है। जो दूसरे का सहारा टटोलते हैं उनके कर्म अधूरे ही रहते हैं। सहारा तो अपना और अपने भगवान् का लेना चाहिये। यही 'निराश्रय' का अभिप्राय है।

नारद सूत्र में एक बड़े रहस्य की बात है—'अन्याश्रयाणां त्यागो अनन्यता'—सारे सहारों को छोड़ देने का नाम अनन्यता है। इसी को 'निष्केवल प्रेम' कहते हैं और यही निश्चयात्मिका बुद्धि है। अनाश्रित बुद्धि जाग्रत होने से मनुष्य स्वावलम्बी बनता है। जिसे अपने पर विश्वास हो जाता है उसी का भगवान् पर विश्वास जमता है। जो अपने पैरों पर खड़ा होता है उसे भगवान् सहारा देते हैं। दूसरे के पैरों पर खड़ा होनेवाला दीन, पराधीन और दुःखी रहता है।

इस प्रकार जो अनासक्त होकर कर्म करता है, नित्य-तृप्त है, निराश्रय है, वह कर्म में अकर्म देखता है। उसे कर्म के दोष नहीं घेरते। वह सब कुछ करता हुआ भी ऐसा रहता है जैसे कुछ न किया हो। वास्तव में वह कुछ नहीं करता, उसके लिये सब कुछ भगवान् ही करते हैं।

कर्म करके कुछ न करना—

कहावत प्रसिद्ध है कि करनेवाला परमेश्वर है, इस लोकोक्ति का मर्म वह जानता है जिसके कर्म परमेश्वर करते हैं अर्थात् जो स्वयं कुछ भी नहीं करता। ऐसे पुरुष का कुछ न करना ही सब कुछ करना हो सकता है।

सब कुछ करके परमेश्वर के अर्पण कर देना भी ऐसा है जैसे स्वयं कुछ न किया हो ऐसा करनेवाला कर्म-बन्धन में नहीं बँधता।

योग्यता, सचाई और परिश्रमपूर्वक कर्म में अपनी पूरी शक्ति लगा देने से बहुत कुछ करके भी ऐसा मालुम होता है जैसे कुछ न किया हो। जब न कर्म का अभिमान होता और न कर्म बोझल बनता है तब कर्म बन्धन-कारक नहीं होता।

जब ज्ञान और कर्म में भेद नहीं रहता, तब कर्म स्वयं बन्धन-हीन तथा सुखकारी हो जाता है। कर्त्तव्य-पालन करते समय जब कर्त्ता लक्ष्य में विलीन हो जाता है तो भी कर्म करते हुए वह कुछ नहीं करता-

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

निराशीः, यतचित्तात्मा, त्यक्तसर्वपरिग्रहः, शारीरम्, केवलम्, कर्म, कुर्वन्, न, आप्नोति, किल्बिषम् ।

निराशीः=जिसकी आशायें पूर्ण हो चुकी हैं, यतचित्तात्मा=जिसे चित्त और आत्मा पर अधिकार है, त्यक्तसर्वपरिग्रहः=जिसने भोग-सामग्रियों का त्याग कर दिया है, केवलम्=(वह) केवल, शारीरम्=शरीर-निर्वाह के लिये, कर्म=कर्म, कुर्वन्=करता हुआ, किल्बिषम्=पाप को, न=नहीं, आप्नोति=पाता ।

जो है निराशी, सर्वसंग्रह त्याग, मन वश में करे ।
केवल करे जो कर्म दैहिक पाप से है वह परे ॥

अर्थ—जिसकी आशायें पूर्ण हो चुकी हैं, जिसे चित्त और आत्मा पर अधिकार है, जिसने भोग-सामग्रियों का त्याग कर दिया है, वह केवल शरीर-निर्वाह के लिये कर्म करता हुआ पाप को नहीं पाता ।

व्याख्या—संसार सुन्दर भी है और भयंकर भी । रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में संसार कच्चे कुएँ के समान है, इस पर बड़ी सावधानी से पैर रखना चाहिये ।

जीवन चारों ओर से इस प्रकार घिरा रहता है जैसे बादलों में सूर्य अथवा दांतों में जीभ । इतना होने पर भी जीवन में विजय और मुक्ति सुलभ है । जिसे दोष विकार अथवा पाप न छुएँ वह जीव सदा मुक्त है । पापों से बचे रहने के लिये इस श्लोक में गीता ने तीन साधन कहे हैं—

१—निराशीः २—यतचित्तात्मा और ३—त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

१. निराशीः—

साधारण अर्थों में 'निराशी' उसे कहते हैं जिसकी आशायें पूरी हो गई हैं । पूर्णकाम भगवान् हैं और हैं भगवान् के भक्त, अथवा वे हैं

जिन्होंने ज्ञान से जगत् को और जगत्पति को देख लिया है। महाभारत में कहा गया है—

सर्वसंस्कारनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः।
तपसा इन्द्रियग्रामं यश्चरेन्मुक्त एव सः॥

मुक्त वही है जो सब प्रकार की उधेड़-बुन से छूट गया है, जिसमें द्वन्द्व और संग्रह करने की भावना नहीं है, जो कष्ट सहकर अथवा तप से इन्द्रियों को वश में किये रहता है।

ऐसे मुक्त पुरुष की आशायें सदा पूर्ण रहती हैं। वह किसी भी अवस्था में निराश नहीं होता। निराशा जीवन का अभिशाप है, नास्तिकता का फल है और आशा जीवन का आधार है, भगवान् का पुरस्कार है। संसार में जिसकी आशा टूट जाती है उसका जीवन पंगु हो जाता है। मनुष्य को पतन की ओर जाते देखकर—अपने ही पुत्रों को दुष्कर्म करते हुए देखकर भी परम पिता कभी निराश नहीं होता, वह आशावान् रहकर संसार के सुधार और उत्थान के लिये निरन्तर प्रयत्न करता है।

गीता किसी आशा के फेर में अकर्मण्य होकर बैठ जाने से रोकती है। जहां आशा पराधीनता में जकड़ती है, कर्म में शिथिलता लाती है, मन को चलायमान करती है, वासनाओं को पालती है, भोगों के साथ खेलती है और कभी तृप्ति का आनन्द नहीं लेने देती, वहां दोषपूर्ण है। निष्काम कर्म करने के लिये दोषपूर्ण आशा त्यागने योग्य है।

जगत् के घोर प्रपञ्चों में सबकी सब आशायें पूर्ण नहीं होतीं। जो घर-बार बनाकर बैठते हैं, उनके पीछे तो नित्य नयी कामनायें और अनन्त आशायें लगी ही रहती हैं, परन्तु जो सेवा और लोक-संग्रह के लिये जीवन दे देते हैं, उन्हें भी आशा नहीं छोड़ती यदि वे आशा छोड़ दें तो सेवा-कार्य ही समाप्त हो जाये। आशा का मर्म समझने में भी गीता का वही कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने का सिद्धान्त लागू होता है।

वेदों में ऐसे पुरुष का भी वर्णन है जिसकी सब आशायें पूर्ण हो जाती हैं और जो सच्चे अर्थों में निराशी होकर रहता है—

विप्रा अमृता ऋतज्ञा अस्य मद्वः।
पिबतमादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः॥

हे वेद ज्ञाता, अमृत पुत्रो! प्राकृतिक और नैतिक नियमों के विशेषज्ञो! इस ज्ञान-सुधा का पान करो और तृप्त हो जाओ! इस प्रकार तृप्त अर्थात् पूर्ण काम होकर ब्रह्मज्ञान के पथ पर चलो!

ब्रह्मज्ञान के पथ पर चलनेवाला निराशी होता है। जो ज्ञान-सुधा का पान करता है, प्राकृतिक और नैतिक नियमों को जानता है, विद्याओं का अमृत पीता है—वह तृप्त रहता है, ऐसे तृप्त पुरुष को निराशी कहते हैं। उसकी आशायें स्वयं ही पूर्ण हो जाती हैं। आशायें पूरी करने के लिये उसे प्रपञ्चों और राग-द्वेषादि द्वन्द्वों के दाँव-पेंच में नहीं पड़ना पड़ता। सत्य और सात्त्विक जीवन की प्रतिष्ठा करके वह समृद्धि की ओर बढ़ता है।

२ यतचित्तात्मा—

'जिसने चित्त अर्थात् अन्तःकरण और आत्मा अर्थात् बाह्य-कार्य करण के संघातरूप शरीर को वश में कर लिया है, वह यतचित्तात्मा कहलाता है।' —श्री शंकराचार्य

प्रायः टीकाकारों ने यतचित्तात्मा उसी को कहा है जो अन्तःकरण और इन्द्रियों को अपने आधीन कर लेता है। जो अपने चित्त को आत्मा में लगा लेता है उसे भी यतचित्तात्मा कह सकते हैं। (यतं चित्तं आत्मनि येन सः) गीता में चित्त को आत्मा में लगाने की बात को योग कहा गया है। योगस्थ होकर कर्म करने से इस योग का प्रारम्भ होता है (अ० २।४८)।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।

जब संयत हुआ चित्त आत्मा में निमग्न रहता है, तब गीता के योग की साधना होती है और जब कठिन-से-कठिन स्थिति में भी चित्त

आत्मारूप परमात्मा से अलग नहीं होता तब परमेश्वर का प्रसाद मिलता है और गीता के कर्मयोग की पूर्णता होती है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि । (१८।५८)

जो यतचित्तात्मा है वह सदैव ब्रह्म में रहकर कर्म करता है।

३ त्यक्तसर्वपरिग्रहः—

भोगों की सामग्रियों को छोड़नेवाले को त्यक्त-सर्वपरिग्रह कहते हैं। सादा रहन-सहन और ऊँचे विचार सतोगुणी पुरुष को सहायता और प्रकाश देते हैं। आडम्बरपूर्ण रहन-सहन से भोगों को उत्तेजना मिलती है और राजसी भाव बढ़ते-बढ़ते स्वभाव को तामसी बना देते हैं।

परिग्रह से ही पूँजीवाद का जन्म हुआ है। शोषण अनधिकार चेष्टायें और दूसरों के पेट काटकर अपना पेट भरने के भावों से परिग्रह पुष्ट होता है।

भारत की अर्थनीति में कहीं भी श्री की अवहेलना नहीं है, परन्तु सम्पत्ति को अपने स्वार्थ-भोगों के लिये जोड़ने और उसका दुरुपयोग करने का भी समर्थन नहीं है। श्री शुक्राचार्य ने इस सम्बन्ध में बड़ा उपयोगी सिद्धान्त दिया है—

अलब्धञ्चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत ॥

जो अप्राप्त है करो निरन्तर,
यत्न उसे पाजाने का।
प्राप्त हुए की रक्षा करके,
करो प्रयत्न बढ़ाने का ॥
बढ़े हुए को रखो पात्र में,
योग्य व्यक्तियों के लाभार्थ।
करते चलो सावधानी से,
जीवन में चारों पुरुषार्थ ॥

अर्थ की वृद्धि के बिना किसी भी पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती। स्वयं भगवान् श्रीपति हैं। परन्तु अर्थ जब अन्याय और अधर्म से बढ़ता

है और अपने अथवा पराये हित में नहीं लगता, तब वह अनर्थ का मूल हो जाता है। उस समय वह संचय करनेवाले को ले डूबता है।

पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ो दाम।
दोऊ हाथ उलीचिये, यही सुजन को काम ॥

प्राचीन अर्थनीति में एक विशेषता है। वहाँ त्याग में दरिद्रता नहीं है, अथवा ऐसा भी नहीं है कि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये दूसरों की ओर देखना पड़े। कबीर ने अर्थनीति को व्यक्त किया है—

साईं एता दीजिये, जामें कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥

आवश्यकता से अधिक जोड़ना परिग्रह है। भोग-विलास की सामग्रियों को एकत्रित करना परिग्रह है। ऐसा परिग्रह जब अधिक बढ़ जाता है तो विषमता फैलती है। एक भूखा तड़पता है और दूसरे के पास पड़ा हुआ अन्न सड़ता है, एक विलास और ऐश्वर्य में धन की होली जलाता है और दूसरा दरिद्रता की आग में स्वयं जल जाता है। जब यह विषमता बढ़ जाती है और मनुष्य अपने पर नियन्त्रण नहीं रख पाता तब वह जगन्नियन्ता स्वयं नियन्त्रण करता है, उसका तीसरा नेत्र खुलते ही जड़वाद भस्म हो जाता है। अतः जड़वाद पूँजीवाद भोग-विलास और आडम्बरपूर्ण जीवन में भस्म होने से बचने के लिये कर्मयोगी परिग्रह को छोड़ देता है।

नित्यतृप्त, पूर्ण-काम, संयत-चित्तवाला, अपरिग्रही कर्मयोगी रहता संसार में ही है और सब प्रकार कर्म भी करता है, परन्तु उसके कर्म शारीरिक निर्वाह के लिये, कर्तव्य और स्वधर्म की रक्षा के हित होते हैं। वह शरीर को विश्व और विश्वपुरुष की सेवा के लिये स्वस्थ और स्वाधीन रखता है और जो कुछ करता है वह कर्म में अकर्म की भावना से करता है। अतः किसी प्रकार के दोष चिन्तायें अथवा पाप की छाया उस पर नहीं पड़ती। उस पर तो भगवान् की छत्रच्छाया रहती है और वह कभी किसी कर्म के बन्धन में नहीं बँधता।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टः, द्वन्द्वातीतः, विमत्सरः, समः, सिद्धौ, असिद्धौ, च, कृत्वा, अपि, न, निबध्यते ।

यदृच्छालाभसन्तुष्टः=जो कुछ प्राप्त हो उसमें सन्तुष्ट रहनेवाला, द्वन्द्वातीतः=द्वन्द्वों से छूटनेवाला, विमत्सरः=ईर्ष्या-रहित, सिद्धौ=सिद्धि, च=और, असिद्धौ=असिद्धि में, समः=एक-सा रहनेवाला, कृत्वा=(कर्म) करके, अपि=भी, न=नहीं, निबध्यते=बँधता है ।

बिन द्वेष द्वन्द्व असिद्धि सिद्धि समान हैं जिसको सभी ।
जो है यदृच्छा-लाभ-तृप्त न बद्ध वह कर कर्म भी ॥

अर्थ—जो कुछ प्राप्त हो उसमें सन्तुष्ट रहनेवाला, द्वन्द्वों से छूटने वाला, ईर्ष्यारहित, सिद्धि और असिद्धि में एक-सा रहनेवाला कर्म करके भी नहीं बँधता है ।

व्याख्या—देनेवाले भगवान हैं, कर्म करनेवाला मनुष्य । यह भी कहा जाता है कि माँगना मरने के बराबर है—

तुलसी कर पर कर धरो, कर तल कर न धरो ।
जा दिन कर तल कर धरो, ता दिन जियत मरो ॥

हाथ देने के लिये दूसरे के हाथ पर झुके, किसी के हाथ के नीचे मांगने के लिये न फैले । मांगना तो जीते हुए मरने के समान है ।

जीवित मनुष्य कर्म से अतिरिक्त किसी फल की आशा नहीं रखते और जीवन्मुक्त कर्म के फल की भी आशा छोड़ देते हैं । वे किसी से कुछ मांगते नहीं, कर्तव्य-कर्म और स्वधर्म के आचरण से कभी पीछे नहीं हटते और जो कुछ प्राप्त होता है उसे भगवान् का प्रसाद समझकर ग्रहण करते हैं, उसे प्राप्त करके सन्तुष्ट रहते हैं; 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' का यही अभिप्राय है ।

अज्ञानवश अनेकों अकर्मण्य नर-नारी कहते हैं कि जो भगवान् दे देगा अथवा भाग्य से मिल जायगा, उसीमें हम सन्तोष कर लेंगे—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका यों कहें, सबके दाता राम॥

इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् दाता है, पक्षी और अजगर को भी वह पेट भरने को देता है। देता वह सबको है, परन्तु मनुष्य को उसने विचार करने के लिये बुद्धि, कर्म करने के लिये हाथ-पैर तथा कर्म और बुद्धि को एक सूत्र में बांधने के लिये हृदय दिया है। भगवान् की इस देन का अनादर करके जो आलसी, प्रमादी और अकर्मण्य होकर अपना पेट भी नहीं भर सकते, वे धरती माता और पिता परमेश्वर के भार बनकर रहते हैं। उनका जीवन पराधीन, प्रगतिहीन और पशुओं जैसा बन जाता है।

अतः जो कुछ मिल जाय उसमें सन्तोष रखने का अभिप्राय संसार में सबसे पीछे रहना नहीं है; दरिद्रता भोगना, रोगों और रागों से घिरे रहना और असन्तोष की ज्वाला में जलना 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' का अभिप्राय नहीं है।

एक सैनिक युद्ध-भूमि में जाकर जीवन की बाजी लगाकर युद्ध करता है। विजय और मृत्यु उसके सामने होती है। उस स्थिति में उसे भोजन, वस्त्र, विश्राम जैसा और जितना मिल जाय उसीमें वह प्रसन्न रहता है। भूखा रहकर भी वह लड़ता है, बिना विश्राम किये भी बढ़ता है और प्रत्येक स्थिति में स्वधर्म का आचरण करता है। वह तो इतना ही जानता है कि शरीर काम आगया तो स्वर्ग मिलेगा और जीवित रहा तो संसार के सुख मिलेंगे। यही 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' का सच्चा चित्र है। जैसे सैनिक को भोजन, वस्त्र और विश्राम देने की अच्छी से अच्छी व्यवस्था राजा करता है, इसी प्रकार प्रत्येक अवस्था में सन्तुष्ट रहकर कर्म करनेवाले का योग-क्षेम भगवान् किया करते हैं।

नित्य-तृप्ति का मधुर आनन्द उसीको मिलता है। जो द्वन्द्वों से

ऊपर उठ जाता है। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरण, अनुकूल-प्रतिकूल के जोड़े द्वन्द्व कहलाते हैं। द्वन्द्व चने में घुन की भांति मनुष्य को लगा रहता है। द्वन्द्वों से छूटने में पुरुषार्थ और भगवत्कृपा दोनों मिलकर सहायता करते हैं और ज्ञान से प्रकाश मिलता है। वासनाओं की ओर से मन जितना हटता है, द्वन्द्व उतने ही दूर होते जाते हैं।

द्वन्द्व जीवन को झकझोर कर पछाड़ देते हैं, जीते जी चिन्ता की चिता पर जलाते हैं और शक्ति को चूस जाते हैं। अतः द्वन्द्वातीत होना कर्मयोगी का प्रथम कर्तव्य है और यह कर्तव्य उसी समय पूरा होता है, जब 'मा शुचः—चिन्ता मत कर', यह अभय-दान परमेश्वर से मिल जाता है।

द्वन्द्वों से छूटने का एक और भी उपाय है—विमत्सर होना। द्वेष, वैर-विरोध, ईर्ष्या आदि सब मत्सर के पर्यायवाची हैं। जो परमेश्वर की सृष्टि के किसी भी प्राणी से ईर्ष्या करता है, वह परमेश्वर से ईर्ष्या करता है।

भगवान् श्रीराम ने पशुओं से भी प्रेम किया। फिर माता-पिता, बन्धु, परिजनों और प्रियजनों की तो बात ही क्या! अधम जाति की शबरी और परम तपस्वी महात्मा जनों की सेवा श्रीरामजी ने एक ही हृदय के प्रेम से की।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने पाने का रास्ता निष्केवल प्रेम ही कहा है—'निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।'

पाता मुझे वह जो सभी से वैरहीन विरक्त है।

गौतम बुद्ध ने मैत्री और मुदिता से जीव-मात्र में प्रेम का संचार कर दिया। प्रेम परमेश्वर है और ईर्ष्या प्रेत है।

एक विश्व-विद्यालय में भाषण देते हुए स्वामी विवेकानन्द ने बोर्ड पर खड़िया से एक लकीर खैंच दी और कहा कि कोई है जो इस लकीर को बिना मिटाये छोटा करदे? शिक्षक; विद्वान् और बड़े-बड़े समीक्षाचक्रवर्ती सब हक्के-बक्के खड़े रह गये कि बिना मिटाये लकीर

कैसे छोटी हो ? किसी को कुछ न सूझा तो स्वामीजी ने उस लकीर के बराबर दूसरी बड़ी लकीर खैंच दी। पहली लकीर छोटी रह गई।

किसी से ईर्ष्या करके, द्वेष करके अथवा किसी को मिटाकर या काटकर कोई बड़ा नहीं कहलाता। अपना चरित्र बड़ा बनाइये, सदाचार और सद्गुणों को धारण करके बड़े बन जाइये, प्रेम और सेवा से जीवन को महान् बनाइये, सारा संसार आपके सामने छोटा रह जायगा। ईर्ष्या मनुष्य को खा जाती है, पापों के पहाड़ खड़े कर देती है और उन्नति के रास्ते रोक देती है। प्रेम की धारा में ईर्ष्या के कूड़े को बहा दीजिये, 'सर्वभूतहिते रतः' सबके हित करने में जुट जाइये, आप विमत्सर हो जायेंगे।

परिश्रम, भाग्य और परमेश्वर की कृपा जिसे बढ़ाती है वह किसी के रोकने से रुकता नहीं; फिर भी संसार का स्वभाव है कि वह दूसरे की कीर्ति और वृद्धि सुन और देख नहीं सकता। यहाँ तक कि—

कंचन तजना सहज है, सहज तिया का नेह।
मान बड़ाई ईरषा, तजना दुर्लभ येह॥

अमानी और विमत्सर होने का उपाय है सिद्धि और असिद्धि में समान रहना। अच्छा मिले तो भगवान् की कृपा समझकर उसे अङ्गीकार करना एवं कर्म तत्पर रहना और बुरा मिले तो भी उसे स्वीकार करके भगवद्भाव तथा उत्साह से कर्म में लगे रहना। जिसे अपने कर्तव्य कर्म से अवकाश नहीं, वह बेचारा कब और कैसे किसी से द्वेष करेगा। जिनकी आँखों में प्रियतम की छवि है उनकी आँखों में राग-द्वेष कैसे समा सकता है। जिनकी हृदय की सराय में कर्म का पथिक ठहरा हुआ है, वहाँ दूसरे के लिये स्थान कहाँ रह सकता है।

कर्म परमेश्वर को पाने का सरल और सुगम पथ है। इस पथ की बाधाओं और दोषों को वह हटा देता है जो 'यथालाभ सन्तुष्ट' है, द्वन्द्वों से परे है, ईर्ष्या को छोड़ देता है और सिद्धि तथा असिद्धि में समान रहकर स्वधर्म का आचरण अथवा ज्ञानपूर्वक यज्ञ-कर्म करता है।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

गतसङ्गस्य, मुक्तस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः, यज्ञाय, आचरतः, कर्म, समग्रम्, प्रविलीयते ।

गतसङ्गस्य=आसक्ति से रहित, ज्ञानावस्थितचेतसः=ज्ञान में स्थित हुए चित्तवाले, यज्ञाय=यज्ञ के लिये, आचरतः=आचरण करनेवाले, मुक्तस्य=मुक्त जन के, समग्रम्=सम्पूर्ण, कर्म=कर्म, प्रविलीयते=विलीन हो जाते हैं ।

चित ज्ञान में जिनका सदा जो मुक्त संग-विहीन हों ।
यज्ञार्थ करते कर्म उनके सर्व कर्म विलीन हों ॥

अर्थ—आसक्ति से रहित, ज्ञान में स्थित हुए चित्तवाले, यज्ञ के लिये आचरण करनेवाले मुक्तजन के सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं ।

व्याख्या—कर्म करते हुए अकर्म की स्थिति में आना, मनुष्य की प्रगति और उन्नति का मूलमन्त्र है । पिछले चार श्लोकों में इसी के साधन कहे गये हैं ।

जो आसक्ति के दोषों से छूट जाता है, वही मुक्त है, वही ज्ञान में चित्त जमानेवाला है और वही यज्ञ के लिये कर्म करता है । संग-दोष मनुष्य का घातक शत्रु है । ज्ञान-ध्यान, पूजा-पाठ, जप-तप, समस्त साधन संग-दोष से मुक्त होने के लिये हैं । लोक-संग्रह और परमार्थ की भावना से संग-दोष धीरे-धीरे छूटता हैं । जितना यह दोष दूर होता जाता है उतनी ही ज्ञान में स्थिति दृढ़ होती है । ज्ञान की सफलता वहीं है जहाँ मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है ।

ज्ञान जब यज्ञ-कर्म का सहायक होता है, तभी उसकी सार्थकता है । यज्ञ का आचरण जिस ज्ञान का फल है उसी से मनुष्य की मुक्ति होती है । जिससे अभिमान बढ़ता हैं और जिससे कर्म की प्रेरणा

नहीं मिलती, वह शुष्क ज्ञान स्वयं एक बन्धन बन जाता है।

रावण धुरन्धर ज्ञानी था, वेद उसके कण्ठ से बँधे थे। वह बीस आंखों से देखता था, दस मस्तिष्कों से विचार करता था, पर उसका वह ज्ञान निष्काम कर्म में नहीं उतरा, उससे अभिमान की वृद्धि हुई, यज्ञ कर्मों की हानि हुई और अन्त में उस ज्ञान के अभिमान ने ही रावण जैसे महा विद्वान् को खा लिया।

ज्ञान में स्थित-चित्त जब यज्ञ अर्थात् देव-पूजा, संगति-करण और दान के कर्म करता है, तब संसार की सारी कमियां पूरी होती हैं, परस्पर सद्भावना और सात्विक व्यवहार बढ़ता है और मनुष्य मुक्त हो जाता है।

मुक्त होना जीवन से छूट जाना नहीं, बल्कि जीवित रहना है। राग, द्वेष, भय, क्रोध आदि विकारों में पड़े हुए मनुष्य बार-बार मरते हैं, वे कभी मुक्त नहीं होते। मुक्ति का अर्थ स्वतन्त्रता या स्वाधीनता है। जो अपनी आत्मा के तन्त्र और शासन में रहता है वह सदा मुक्त है, स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ यही है। जहां ऐसी स्वतन्त्रता होती है वहां मुक्ति द्वार पर पहरा देती है।

मुक्ति की अवस्था में रहनेवाले को कर्मों का भार नहीं लगता। बड़ी-बड़ी भयंकर उलझनें सुलझ जाती हैं और संकटों के संसार में भी शान्ति साथ नहीं छोड़ती। ऐसा होता उसी समय है, जब जन यज्ञ के कर्म करता है। परमेश्वर ऐसे भक्तों की पुकार पर दौड़ा आता है, जो सच्चे हृदय से जीवमात्र पर प्रेम और करुणा बरसाता है, सबमें मिलकर सबका रूप बन जाता है, और सबके काम आता है—यही जीवन का सत्य है, परम धर्म है। जो इस प्रकार अपने जीवन को यज्ञ-कर्मों के लिये अर्पित कर देते हैं, वे निःसन्देह ईश्वरीय-शक्ति का अनुभव करते हैं। कर्म उनके साधक बन जाते हैं, बाधक नहीं रहते।

यज्ञ-कर्मों का स्वरूप और विस्तार गीता ने इस प्रकार किया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

ब्रह्म, अर्पणम्, ब्रह्म, हविः, ब्रह्माग्नौ, ब्रह्मणा, हुतम्,
ब्रह्म, एव, तेन, गन्तव्यम्, ब्रह्मकर्मसमाधिना ।

अर्पणम्=अर्पण, ब्रह्म=ब्रह्म है, हविः=हवि, ब्रह्म=ब्रह्म है, ब्रह्माग्नौ=ब्रह्मरूप अग्नि में, ब्रह्मणा=ब्रह्म के द्वारा, हुतम्=हवन किया गया है, ब्रह्मकर्मसमाधिना= ब्रह्मकर्म में लगे हुए, तेन=उस पुरुष द्वारा, गन्तव्यम्=जो कुछ प्राप्त होता है, ब्रह्म=वह ब्रह्म, एव=ही है ।

मख ब्रह्म से, ब्रह्माग्नि में, हवि ब्रह्म, अर्पण ब्रह्म है ।
सब कर्म जिसको ब्रह्म, करता प्राप्त वह जन ब्रह्म है ॥

अर्थ—अर्पण ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्म के द्वारा हवन किया गया है, ब्रह्मकर्म में लगे हुए उस पुरुष द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है वह ब्रह्म ही है ।

व्याख्या—संसार को ब्रह्ममय बनाना प्रत्येक नर-नारी का कर्तव्य है । जो अपने कर्मों से ब्रह्मभाव बढ़ाता है वही महान् है ।

ब्रह्मकर्म के लिये अथवा कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने के लिये या यों कहें कि कर्म की गति को जानकर कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिये गीता ने निम्नलिखित उपाय निश्चित किये हैं—

(१) यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
(२) ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम् ।
(३) त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तः ।
(४) निराश्रयः । (५) निराशीः ।
(६) यतचित्तात्मा । (७) त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
(८) यदृच्छालाभसन्तुष्टः । (९) द्वन्द्वातीतः ।
(१०) विमत्सरः । (११) समः सिद्धावसिद्धौ च ।

(१२) गतसङ्गस्य। (१३) ज्ञानावस्थितचेतसः।
(१४) यज्ञायाचरतः कर्म। (१५) मुक्तः।

उपर्युक्त १५ साधन एक दूसरे के पूरक हैं और किसी एक को अंगीकार कर लेने से कर्म में प्रायः सभी उतर आते हैं। जिस कर्म में ये सब मिल जाते हैं, वही कर्म ब्रह्मकर्म बन जाता है।

शहद की मक्खियों में एक विशेषता है। रानी मक्खी जिधर चलती है उसीके पीछे सब मक्खियां चल देती हैं और जब वह एक बूँद मधु संचित करती है तो सब मक्खियां एक-एक बूँद जोड़कर छत्ते को शहद से भर देती हैं।

ऊपर कहे हुए साधनों में सभी रानी मक्खी हैं और एक-एक के पीछे अनन्त सद्गुण हैं। जहां एक भी साधन मनुष्य के हाथ लग जाता है वहीं मधुमय संसार बन जाता है—सर्वत्र ब्रह्मकर्म होने लगते हैं—ब्रह्म के अतिरिक्त और कहीं कुछ दीखता नहीं—कर्ता भी ब्रह्म होता है, क्रिया भी ब्रह्म होती है और कर्म का फल भी ब्रह्मरूप होता है।

इस महायोग की उपमा यज्ञ से दी गई है। यज्ञ में अर्पण-क्रिया, अर्पण करने की सामग्री, यज्ञाग्नि, हवन-कर्ता, हवन और यज्ञ द्वारा प्राप्त होनेवाला अमृत सब अपनी पवित्रता से ब्रह्मरूप हैं। इसी प्रकार कर्म में यज्ञ-भाव आजाने से ब्रह्मभाव भर जाता है।

संसार में सर्वत्र ब्रह्म है–'जित देखूं तित कान्ह', 'रोम रोम में राम' आदि वाक्य इसी सत्य के अनुभव हैं। ब्रह्ममय जग को जानकर ब्राह्मी-स्थिति में टिका हुआ पुरुष जो कुछ करता है उससे सम्पूर्ण विश्व में अलख की ज्योति जागती है, सत्यं, शिवं सुन्दरम् की प्रतिष्ठा होती है और संसार स्वर्ग सा उन्नत एवं सुखदायी बन जाता है।

सतत अभ्यास, सदाचार, चरित्र-निर्माण, तप तथा यज्ञ कर्मों से ब्रह्मकर्म की साधना होती है। यज्ञ-कर्म में सब शुभ और सात्त्विक भाव इस प्रकार समाये हुए हैं जैसे समुद्र में नदियाँ। यज्ञकर्मों का कोई अन्त नहीं है; यज्ञ-कर्म करने के लिये गीता ने यज्ञ के कुछ रूप इस प्रकार बताए हैं—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

दैवम्, एव, अपरे, यज्ञम्, योगिनः, पर्युपासते,
ब्रह्माग्नौ, अपरे, यज्ञम्, यज्ञेन, एव, उपजुह्वति ।

अपरे=दूसरे, योगिनः=कर्मयोगी जन, दैवम्=देवताओं के पूजन रूप, यज्ञम्=यज्ञ की, एव=ही, पर्युपासते=उपासना करते हैं, अपरे=अन्य कुछ, ब्रह्माग्नौ=ब्रह्माग्नि में, यज्ञेन=यज्ञ के द्वारा, यज्ञम्=यज्ञ को, एव=ही, उपजुह्वति=हवन करते हैं ।

योगी पुरुष कुछ देव यज्ञ उपासना में मन धरें ।
ब्रह्माग्नि में कुछ यज्ञ द्वारा यज्ञ ज्ञानी जन करें ॥

अर्थ—दूसरे कर्मयोगी जन देवताओं के पूजनरूप यज्ञ की ही उपासना करते हैं, अन्य कुछ ब्रह्माग्नि में यज्ञ के द्वारा यज्ञ को ही हवन करते हैं ।

व्याख्या—आत्मोन्नति के लिये मन, वचन और कर्म द्वारा, ब्रह्म-यज्ञ करने से प्रत्येक पदार्थ में ब्रह्म-दर्शन का भाव बन जाता है । ब्रह्म-भाव को बनाने के लिये और ब्रह्मयज्ञ की सिद्धि के लिये अनेकों कर्मयोगी नर-नारी देवयज्ञ करते हैं ।

ब्रह्ममय होने का प्रथम साधन उपासना-यज्ञ या देव-यज्ञ है । ब्रह्म के समीप बैठते-बैठते उसके गुणों और प्रभावों द्वारा जीवन का रूपान्तर होता है ।

देव-उपासना-यज्ञ का प्रारम्भ, माता-पिता, गुरुजन और देवताओं के पूजन से होता है । गीता देव-उपासना-यज्ञ द्वारा मनुष्य के अन्तःकरण को उदार और निर्मल बनाकर दैवी कर्म करने का आदेश देती है । सम्पूर्ण देवताओं का आराधन जब कर्मों द्वारा होता है और उनकी

दैवीशक्ति अन्तःकरण में प्रकट होती है, तब आसुरी भाव समूल नष्ट हो जाते हैं, विजय का वरदान मिलता है, महाशक्ति, महाविद्या और महालक्ष्मी प्रसन्न होकर जीवन को पूर्णकाम कर देती हैं।

कुछ योगी जन ज्ञान-यज्ञ करते हैं। ब्रह्मज्ञान की अग्नि में यज्ञ-कर्मों की आहुति सावधानी और कुशलता से देने को ज्ञान-यज्ञ कहते हैं। जब सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमय हो जाते हैं तब ज्ञान-यज्ञ पूरा होता है। ज्ञानयज्ञ में कहीं अविद्या और असावधानी नहीं रहती, तत्त्व-ज्ञान का निरन्तर श्रवण, मनन और निदिध्यासन चालू रहता है और जीव किसी भी स्थिति में ब्रह्म से अलग नहीं होता। व्यवहार में भी उसका वही ब्रह्मभाव प्रकट होता है।

संसार में अविद्या के अन्धकार को काटे बिना प्रकाश नहीं दीखता। ज्ञानयज्ञ करनेवाले ज्ञान के प्रकाश में प्रत्येक शुभ कर्म को करते हैं और उसके फल से भी ज्ञान की वृद्धि करते हैं।

स्थितप्रज्ञ होने के लिये—आत्मन्येवात्मना तुष्टः (२।५५) आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट होने की साधना ज्ञानयज्ञ द्वारा होती है। सत्कर्मों से मनुष्य यज्ञरूप बन जाता है। यज्ञरूप होकर अपने आपको आत्मा में मिला देने का नाम ज्ञानयज्ञ है।

ज्ञानयज्ञ वह है जिसमें प्रत्येक मानसिक संकल्प—शान्त, निर्विकार और पवित्र हो जाता है और हृदय में प्रत्येक समय ब्रह्म स्थित रहता है।

अविद्या को विद्या में हवन कर देना, विकारों को ब्रह्मज्ञान में भस्म कर देना, तन-मन के दोषों को ब्रह्म-ज्ञान रूप अग्नि में डाल देना अथवा सीधी भाषा में 'अहम्' का ब्रह्म में विलीन करके प्रपञ्चों से मन को हटाना और ब्रह्म में लगाना यही ब्रह्म-यज्ञ है।

ज्ञानयज्ञ को पूरा करने के लिये जिन यज्ञों की आवश्यकता है, उनका वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार किया है—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

श्रोत्रादीनि, इन्द्रियाणि, अन्ये, संयमाग्निषु, जुह्वति,
शब्दादीन्, विषयान्, अन्ये, इन्द्रियाग्निषु, जुह्वति ।

अन्ये=कुछ योगी जन, श्रोत्रादीनि=श्रोत्रादिक, इन्द्रियाणि=इन्द्रियों को, संयमाग्निषु=संयम की अग्नि में, जुह्वति=हवन करते हैं, अन्ये=और कुछ दूसरे, शब्दादीन=शब्दादिक, विषयान्=विषयों को, इन्द्रियाग्निषु=इन्द्रियों की अग्नि में, जुह्वति=होम देते हैं ।

कुछ होमते श्रोत्रादि इन्द्रिय संयमों की आग में ।
इन्द्रिय-अनल में कुछ विषय शब्दादि आहुति दे रमें ॥

अर्थ—कुछ योगी जन श्रोत्रादिक इन्द्रियों को संयम की अग्नि में हवन करते हैं और कुछ दूसरे शब्दादिक विषयों को इन्द्रियों की अग्नि में होम देते हैं ।

व्याख्या—संयम की जड़ जमी रहने से जीवन-वृक्ष सदा हरा-भरा रहता है । जैसे घोड़े के मुख में बागडोर न होने से वह अपनी चञ्चलता से सवार को गिरा देता है, इसी प्रकार इन्द्रियों पर संयम न होने से जीव को गिरना पड़ता है । आत्मारूप रथी की विजय के लिये 'संयम' एक प्रमुख साधन है ।

इन्द्रियों को संयम की आग में होमने का साधारण अर्थ है, सब व्यवहारों में नियमित-संयमित रहना । संयम से योग की साधना का प्रारम्भ होता है । छटे अध्याय में संयम के लिये आहार-विहार, सोना-जागना और सम्पूर्ण व्यवहार परिमित करने का आदेश दिया गया है ।

योग-दर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि तीनों के योग को संयम कहा है—'त्रयमेकत्र संयमः' ।

चित्त को अन्य सब विषयों से हटाकर एक तरफ करने को धारणा कहते हैं।

धारणा द्वारा चित्त वृत्तियों के प्रवाह को रोककर अपने निश्चित ध्येय में निमग्न हो जाने को ध्यान कहते हैं।

ध्यान करते-करते ध्येय में तल्लीन होकर उसके साथ नितान्त एक-तान हो जाने को समाधि कहते हैं।

ध्यान, धारणा और समाधि से जो संयम रूप अग्नि प्रकट होती है, उसमें अपनी प्रत्येक इन्द्रिय की आहुति डालना संयम-यज्ञ है।

संयम से बुद्धि का विकास होता है और कर्म में कुशलता प्राप्त होती है। संयम की शिथिलता से जीवन का ह्रास होता है। जहाँ संयम नहीं है वहीं दुष्कर्म ठहरते हैं। कर्म में, ध्यान में, अध्ययन में, व्यापार में, खेती में जहाँ भी मन लगाकर इन्द्रियों से कर्म करने की प्रवृत्ति होती है; जहाँ अपने कर्म में तल्लीनता आ जाती है अथवा जहाँ योग-बुद्धि से काम किया जाता है; वहीं शान्तिदायिनी सफलता मिलती है।

संयम-यज्ञ का वर्णन सूत्ररूप से गीता अध्याय २ श्लोक ५८ में हो चुका है। जैसे कछुआ अपने अंगों को सब ओर से समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ जब विषयों की ओर से हटी रहती हैं तब संयम स्वयं हो जाता है।

संयमी पुरुष रहता संसार में है और सब कर्म भी करता है, परन्तु उससे दुष्कृत नहीं बन पड़ते। लोहे की तलवार पारस से छुआ कर यदि सोने की बना दी जाय तो नाम और रूप में वह तलवार भले ही रहे, परन्तु उससे हिंसा-कर्म नहीं हो सकता।

संयमी पुरुष जो कर्म करता है उसे इन्द्रिय-यज्ञ कह सकते हैं गीता इन्द्रिय-यज्ञ करनेवालों का वर्णन इस प्रकार करती है—

शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।

कुछ ऐसे जन हैं, जो इन्द्रियों की अग्नि में शब्दादिक विषयों को होम देते हैं।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विषयों को इन्द्रियाँ भोगती हैं।

इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में राग और द्वेष होता है और प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय के वश में रहती है। जैसा आहार मिलता है, अर्थात् जैसे विषय भोगने को मिलते हैं, वैसी ही इन्द्रियाँ बन जाती हैं। पवित्र किये हुए विषयों का भोग करने से इन्द्रियों की चंचलता नष्ट हो जाती है और सदाचार की साधना सुलभ होती है। जो मन से इन्द्रियों को रोककर आसक्तिहीन होकर कर्मेन्द्रियों से कर्म करता है उस कर्मयोगी को महान् कहा गया है; वही इन्द्रिय-यज्ञ करनेवाला है। (अध्याय ३ श्लोक ७)

मीठा और सत्य बोलना, कान से किसी की बुराई न सुनना, बुरी दृष्टि से किसी को न देखना, हाथों से बुरा न छूना, पैरों से बुराई की ओर न जाना और सम्पूर्ण इन्द्रियों से दैवी कर्म करना, इन्द्रिय-यज्ञ है।

इन्द्रिय-यज्ञ करनेवाला राग-द्वेष-हीन होकर विषयों को भोगता है और उनमें अनासक्त रहने के कारण सदा प्रसन्न रहता है। (२।६४)

आँख, कान, रसना आदि इन्द्रियों पर संयम न होने से विषयों का स्पर्श चित्त में नित्य नयी-नयी तरंगे उठाता है। यही विषय-चिन्तन है जो मनुष्य की दुर्गति करता है। (गीता २।६२, ६३)

संयम-यज्ञ करनेवाला कभी पाप के मार्ग पर नहीं चलता। परमेश्वर ने मनुष्य को सब सुख दिये हैं यदि पाप पीछे न हो तो सदा मंगल आगे आता है।

इन्द्रियों को सदा संयम में रखने से मनुष्य विकार-भाव से अलग होकर निर्विकारी ब्रह्म में स्थित हो जाता है। उसमें शान्ति, समता, शील और सम्पूर्ण दैवी गुण फूलों की भांति खिलते और सुगन्धि छिड़काते हैं।

इन यज्ञों के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के भी यज्ञ हैं—

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

सर्वाणि, इन्द्रियकर्माणि, प्राणकर्माणि, च, अपरे,
आत्मसंयमयोगाग्नौ, जुह्वति, ज्ञानदीपिते ।

अपरे=कुछ योगीजन, सर्वाणि=सम्पूर्ण, इन्द्रियकर्माणि=इन्द्रियों के कर्मों, च=और, प्राणकर्माणि=प्राणों के व्यापार को, ज्ञानदीपिते=ज्ञान से प्रकाशित हुई, आत्मसंयमयोगाग्नौ=आत्मसंयम रूप योग की अग्नि में, जुह्वति=हवन करते हैं।

कर आत्म-संयमरूप योगानल प्रदीप्त सुज्ञान से ।
कुछ प्राण एवं इन्द्रियों के कर्म होमें ध्यान से ॥

अर्थ—कुछ योगी जन सम्पूर्ण इन्द्रियों के कर्मों और प्राणों के व्यापार को ज्ञान से प्रकाशित हुई आत्म-संयम रूप योग की अग्नि में हवन करते हैं।

व्याख्या—प्राण और इन्द्रियाँ परमात्मा में लग जायें तो कुछ करना नहीं रहता। आत्म-संयम यज्ञ उसी समय पूर्ण होता है जब इन्द्रियों के सम्पूर्ण कर्मों और प्राणों के व्यापारों को ज्ञान से प्रकाशमान परम-तत्त्व के साथ एक रूप कर दिया जाय।

योगी जन आत्म-संयम योग को समाधि कहते हैं, परन्तु गीता उस समाधि को महत्त्व देती है, जिसमें ज्ञान की ज्वाला जगमग करती रहे। निर्जीव समाधि गीता का ध्येय नहीं। चेतना और सावधानी से ज्ञान के प्रकाश में जब जीव प्राणों और इन्द्रियों के कर्मों को आत्मा में मिलाकर अखण्ड आनन्द में निमग्न हो जाता है, सम्पूर्ण क्रियाओं में प्राणों की चेष्टा में, श्वास-श्वास में जब आत्मा समा जाता है, सर्वत्र आत्मा का आभास हो जाता है, समता प्राप्त होती है, अनासक्ति छूट जाती है तब कर्मयोगी के सम्पूर्ण कर्म आत्म-संयम की अग्नि में हवन हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में ही आत्मा का साक्षात्कार होता है और जीव का ब्रह्म के साथ तादात्म्य भाव बन जाता है।

गीता में वर्णित यज्ञ महा मानवीय जीवन के लिये एक दिव्य विधान है। इस विधान में सब प्रकार के पुरुषों के लिये जीवन की प्रत्येक अवस्था में व्यवस्था बनाये रखने के लिये रचनात्मक नियम हैं। यज्ञ को और भी अधिक मौलिक स्वरूप में रखते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

द्रव्ययज्ञाः, तपोयज्ञाः, योगयज्ञाः, तथा, अपरे, स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः, च, यतयः, संशितव्रताः ।

तथा=इसी प्रकार, अपरे=कुछ, संशितव्रताः=पवित्र और दृढ़ व्रतों को धारण करनेवाले, यतयः=यत्नशील पुरुष, द्रव्ययज्ञाः=द्रव्य-यज्ञ, तपोयज्ञाः=तप-यज्ञ, योगयज्ञाः=योग-यज्ञ, च=और, स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः=स्वाध्याययज्ञ (और), ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं ।

कुछ संयमी जन यज्ञ करते योग तप से दान से ।
स्वाध्याय से करते यती कुछ यज्ञ करते ज्ञान से ॥

अर्थ—इसी प्रकार कुछ पवित्र और दृढ़ व्रतों को धारण करनेवाले यत्नशील पुरुष द्रव्य-यज्ञ, तप-यज्ञ, योग-यज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ और ज्ञान-यज्ञ करनेवाले हैं ।

व्याख्या—सत्य और व्रत यज्ञों के प्राण हैं । यत्न और दृढ़ता से व्रतों का तेज और मधुरता दिन प्रतिदिन बढ़ती है और यज्ञों में तन्मयता आती है । सावधान होकर हार्दिक प्रयत्नों से व्रतों की रक्षा करनेवाले यज्ञों के अमृत को प्राप्त कर लेते हैं । ऐसे दृढ़-व्रती कुछ नर-नारी द्रव्य-यज्ञ करते हैं ।

द्रव्य-यज्ञ—

द्रव्य-यज्ञ का अर्थ है सचाई और परिश्रम से उपार्जित द्रव्यों को जनता-जनार्दन की सेवा के पुण्य कर्मों में लगाना । स्वधर्म का आचरण, दान, बाग-बगीचे, देवालय, धर्मस्थान, शिक्षालय, धर्मशाला, औषधालय आदि का निर्माण द्रव्य से होता है । द्रव्य जब अनासक्त भाव से भगवत्-अर्पण किया जाता है, तभी उससे सात्त्विक यज्ञों का

सम्पादन सम्भव है। यश-मान के लिये किया गया द्रव्य-यज्ञ राजसी अथवा तामसी कहा जाता है।

द्रव्य-यज्ञ को सभी युगों में महत्त्व मिला है। दान दिये बिना न धन की वृद्धि होती और न सदुपयोग। गृहस्थाश्रम में सुख, सद्भावना और यज्ञ-भाव बढ़ाने का सबसे सरल साधन द्रव्य-यज्ञ ही है।

तुलसी या संसार में, कर लीजे दो काम।
देने को टुकड़ा भला, लेने को हरिनाम॥

द्रव्य को नर-नारायण की सेवा में लगाने से उसका भोग सीधा परमेश्वर के पास पहुँचता है और इस यज्ञ से बचे हुए अमृत का उपभोग करनेवाले पर परमेश्वर की कृपा छत्रच्छाया करती है।

तपयज्ञ—

साधारण शब्दों में स्वधर्म का आचरण करने के लिये कष्ट-सहन को तप कहते हैं। तप का वर्णन शास्त्रों में अनेक प्रकार से किया गया है—

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो,
दानं तपो यज्ञं तपो भूर्भुवः स्वर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः॥

(महानारायण १।१०)

प्राकृतिक और नैतिक नियमों को जानना और मानना तप है, सत्य तप है, सत्पुरुषों की वाणी सुनना और विद्याध्ययन करना तप है, शान्ति तप है, इन्द्रिय-दमन तप है, मन का शमन तप है, दान तथा यज्ञ तप हैं और सत्यरूप परमेश्वर का स्मरण चिन्तन मनन एवं आनन्द-ब्रह्म की प्राप्ति के लिये प्रयत्न भी तप है।

गीता में तप का अत्यन्त उपयोगी और सरल वर्णन है। शरीर से ब्रह्मचर्य सेवा पूजन पवित्रता अहिंसा नम्रता आदि द्वारा, वाणी से सच्चे मधुर हितकारी वचन बोलकर और स्वाध्याय के द्वारा तथा मन से सदा प्रसन्न रहकर सरलता एवं मनोनिग्रह के द्वारा तप पूरा होता है।

(गीता १७।१४, १५, १६)

तप से बल मिलता है, पाप दूर होते हैं और परमेश्वर की प्राप्ति होती है। तप संसार की अग्नि में पड़े हुए मनुष्य को सत्य और धर्म की कसौटी पर कसकर सदा उज्ज्वल प्रमाणित करता है। दुःखी अशान्त और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ समाज तप-यज्ञ से ही सहायता और प्रकाश प्राप्त कर सकता है। जिसमें तप नहीं होता उसकी सहनशीलता नष्ट हो जाती है, स्वभाव चिड़चिड़ा बन जाता है, भली बात भी उसे नहीं सुहाती और छोटी-छोटी घटनायें भी उसके जीवन को अशान्त तथा दुःखी बना देती हैं। तपयज्ञ से जीवन सहनशील, शक्तिशाली और तेजस्वी बनता है।

गोस्वामी जी के शब्दों में—

तप बल तें जग सृजइ विधाता। तप बल विष्नु भये परित्राता॥
तप बल संभु करहिं संघारा। तप बल सेपु धरइ महि भारा॥

योगयज्ञ—

योग अत्यन्त व्यापक और दिव्य शब्द है। योग का अर्थ है—संयम, जोड़, मेल एवं युक्ति। कर्म, भक्ति, ज्ञान आदि का आवरण योग है। गीता एक योग है जो पुरुष को पुरुषोत्तम से जोड़ता है।

योग के आठ अंग प्रसिद्ध हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

योग अनेक प्रकार का है—राजयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्ति-योग, मन्त्र-योग, हठयोग आदि।

गीता में योग-यज्ञ से जीवन के लिये उस योग का निर्देश किया गया है जिससे मनुष्य का सर्वतोमुखी विकास होता है और इन्द्रियों तथा अन्तःकरण पर शासन करने की शक्ति मिलती है। योग जीवन को प्रकाश और सहायता देकर दिव्य बनाता है। योग से स्वास्थ्य एवं स्वतन्त्रता की प्राप्ति होती है, स्वरूप का ज्ञान होता है और कर्म के प्रत्येक मार्ग पर चलने की सावधानी तथा कुशलता प्राप्त होती है।

चित्त-वृत्तियों के निरोध से योग का प्रारम्भ होता है। आनन्दमय जीवन का निर्माण करनेवाली चित्त-वृत्तियां और इन्द्रियाँ होती हैं, उन्हें

संयत रखकर—आत्मा अथवा परमात्मा के साथ जोड़कर कर्म किये जांय तो योग का साधन स्वयं हो जाता है।

स्वाध्याय यज्ञ—

जीवनोपयोगी ग्रन्थों का पढ़ना और मनन करना स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय दैनिक चर्चा का एक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अंग है, जिसके बिना जीवन का एक बड़ा कर्म अधूरा रह जाता है।

स्वाध्याय मनुष्य का सबसे श्रेष्ठ मित्र है, जो किसी समय भी साथ नहीं छोड़ता। स्वाध्याय से दुःखों में शान्ति और शान्ति में विकास के साधन मिलते हैं।

स्वाध्याय-हीन को धर्म-कर्म का ज्ञान छोड़ देता है, वह अंधेरे में भटकता है और पतवारहीन नाव के समान उसकी जीवन-नौका संसार-सिन्धु में डगमगाती रहती है।

स्वाध्याय-यज्ञ से ज्ञान और विद्या सुरक्षित रहती है, जीवन का नित्य नया और महान् रूपान्तर होता है और मनुष्य के लिये देवत्व की ओर जाने का मार्ग खुल जाता है।

सस्ते और हल्के साहित्य से मनोरंजन होता है, स्वाध्याय नहीं। यदि ग्रहण करने की भावना न हो तो केवल पुस्तकों के पाठ से स्वाध्याय नहीं बनता। ग्रन्थ-प्रकाशन-संस्थाओं में ज्ञान की बाढ़ आजाय और पुस्तकों के ढेर के ढेर बह चलें, परन्तु उनसे लाभ न उठाकर मोटी-मोटी जिल्दों में ज्ञान को ऐसी मजबूती से बाँध दिया जाय कि वह पुस्तकों से बाहर ही न निकल सके तो यह स्वाध्याय की विडम्बना है।

प्रकाशन-संस्थाओं को ज्ञान-लाभ के संस्कार बनाने का प्रयत्न भी करना चाहिये। अन्यथा ज्ञान का अनन्त प्रचार होते हुए भी मनुष्य स्वाध्यायहीन और खोखला ही बना रहेगा।

अपने अन्दर आध्यात्मिक उद्बोधन का प्रयत्न केवल स्वाध्याय से ही होना सम्भव है। मानसिक इच्छा-शक्ति, बुद्धि, विवेक आदि को जागृत करने का साधन स्वाध्याय है। स्वाध्याय से ज्ञान का आधार दृढ़

होता है। स्वाध्याय जितना शान्ति से, स्थिरता से, मनोनिवेश पूर्वक होता है उतनी ही उच्चतर ज्ञान की मनुष्य में प्रतिष्ठा होती है।

श्रुति भगवती की वाणी स्वाध्याय से सुन पड़ती है। स्वाध्याय ज्ञान-कमल को विकसित करने के लिये सूर्य के समान है।

ज्ञानयज्ञ—

जानने योग्य को जानना, पढ़ना और पढ़ाना ज्ञानयज्ञ है। मानव-समाज की उन्नति के लिये ज्ञान-यज्ञ अत्यन्त प्राचीन समय से प्रचलित है। प्रत्येक युग में देव-भूमि भारत में ज्ञान की गंगा ने प्रवाहित होकर पवित्रता, श्रद्धा और श्रेय के साधनों का वरदान दिया है। ब्रह्म-ऋषि, राज-ऋषि और विद्वान् सभी इस ज्ञान-गंगा में गोता लगाकर निष्पाप होते आये हैं। प्राचीन भारत में ज्ञान के प्रसार के लिये विश्व-विद्यालय, विद्वत्परिषदें, संस्थायें और सम्मेलन निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। उपनिषदों में अनेकों ज्ञान-सम्मेलनों का उल्लेख है।

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती।

ज्ञान के बिना कर्म में पूर्णता नहीं आती, ज्ञान के बिना भक्ति में अन्ध-विश्वास और मिथ्याचार के दोष प्रवेश कर जाते हैं।

इस लोक में ज्ञान का उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है जितना शरीर में आंखों का।

पठन-पाठन, सत्संग, सन्त-समागम और गुरु-कृपा से ज्ञान-यज्ञ सम्पन्न होता है। ज्ञान की स्थापना सुयोग्य और स्वस्थ शरीर में होती है। जैसे शान्त सुन्दर और स्फूरणा देनेवाले उषाकाल के पश्चात् सूर्योदय होता है, इसी प्रकार योग से पवित्र किये हुए प्राणों में ज्ञानोदय होता है।

शरीर और प्राणों को निर्मल और सुन्दर बनाने के लिये श्रीकृष्ण ने प्राणायाम-यज्ञ का वर्णन किया है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२६॥

अपाने, जुह्वति, प्राणम्, प्राणे, अपानम्, तथा, अपरे, प्राणापानगती, रुद्ध्वा, प्राणायामपरायणाः ।

अपरे=कुछ योगीजन, अपाने=अपान वायु में, प्राणम्=प्राण वायु की, तथा=और ऐसे ही, प्राणे=प्राण वायु में, अपानम्=अपान वायु की, जुह्वति=आहुति देते हैं, प्राणापानगती=(और) प्राण-अपान की गति को, रुद्ध्वा=रोककर, प्राणायामपरायणाः=प्राणायाम-परायण होते हैं ।

कुछ प्राण में होमें अपान व प्राणवायु अपान में ।
कुछ रोक प्राण अपान प्राणायाम ही के ध्यान में ॥

अर्थ—कुछ योगीजन अपान वायु में प्राणवायु की और ऐसे ही प्राणवायु में अपानवायु की आहुति देते हैं और प्राण-अपान की गति को रोककर प्राणायाम-परायण होते हैं ।

व्याख्या—प्राण-शक्ति को नियम में लाने का अभ्यास प्राणायाम कहलाता है । प्राणायाम से मन स्थिर होता है, बुद्धि का विकास होता है और अहंकार दब जाता है ।

प्राण-शक्ति से ही मनुष्य जीवित रहता है । मनुष्य का शरीर पांच भागों में विभाजित है—१. स्नायु-जाल, २. ग्रन्थि-समूह, ३. श्वासोपयोगी समूह, ४. रक्तवाहक अंग समूह, ५. पाचक अंग समूह ।

शरीर-विज्ञान-शास्त्र के अनुसार इन सब अङ्गों को फेफड़े, शुद्ध वायु देते हैं और दूषित वायु बाहर निकालते हैं ।

फेफड़ों में रक्त की बारीक-बारीक शिराएँ और वायु के छोटे-छोटे छिद्र हैं, जो लगभग सात करोड़ बीस लाख कहे जाते हैं । साधारण अवस्था में दो करोड़ वायु-छिद्र नित्य खुले रहते हैं और उनमें प्राणवायु पहुँचता रहता है । विश्राम के समय जितने वायु-छिद्र खुले रहते हैं उनसे

दूने चलते समय और तिगुने दौड़ते समय खुल जाते हैं, परन्तु प्राणायाम करते समय सम्पूर्ण छिद्र खुल जाते हैं और प्रत्येक अंग में वायु पहुँचाकर शरीर को शुद्ध करते हैं। नियमित रूप से प्राणायाम करनेवालों को रोग नहीं दबा पाते।

प्राणायाम अनेक प्रकार से किया जाता है, परन्तु किसी अनुभवी गुरु से उसकी विधि जानना आवश्यक है।

जाबाल उपनिषद् में प्राणायाम के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। जिस प्राणायाम के करने से पसीना आजाय उससे कोई लाभ नहीं होता और समझना चाहिये कि वह विधिपूर्वक नहीं हुआ। प्राणायाम के करने से शरीर में कम्पन होता हो तो भी प्राणायाम ठीक नहीं माना जाता। वह प्राणायाम श्रेष्ठ है जिससे शरीर हल्का लगने लगे, मस्तिष्क साफ हो जाय, हृदय एवं मन उठता हुआ-सा प्रतीत हो और प्रत्येक अंग में स्फूर्ति भर जाय।

विधिपूर्वक किये गये प्राणायाम से प्रकाश और पवित्रता मिलती है, आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार होता है, काम करने में मन लगता है और शरीर की थकान दूर हो जाती है।

अनुभवी योग्य गुरु द्वारा प्राणायाम सीखने का अवसर न मिले तो भी धीरे-धीरे सन्ध्या करते समय रेचक, पूरक और कुम्भक तीन-चार बार कर लेने से कोई हानि नहीं होती। जो इतना भी न कर सके उसके लिये परम भक्त तुलसीदास ने एक सरल साधन बताया है—

तुलसी 'रा' के कहत ही, निकसत पाप पहार।
पुनि आवन पावत नहीं, देत 'मकार' किवार॥

शान्ति और धैर्य से लम्बे स्वर में बार-बार रा... रा... रा... रा...म कहने से प्राणायाम की सिद्धि होती है।

इन्द्रियों और अंगों में शक्ति भरने के लिये और प्राणों को शुद्ध तथा बलवान् बनाने के लिये प्राणायाम-यज्ञ आवश्यक है। यही अपान में प्राण और प्राण में अपान का होम और यही प्राण और अपान की गति का निरोध करना है।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

अपरे, नियताहाराः, प्राणान्, प्राणेषु, जुह्वति,
सर्वे, अपि, एते, यज्ञविदः, यज्ञक्षपितकल्मषाः ।

अपरे=दूसरे, नियताहाराः=नियमित आहार करनेवाले, प्राणान=प्राणों का, प्राणेषु=प्राणों में, जुह्वति=हवन करते हैं, एते=ये, सर्वे=सब, अपि=ही, यज्ञक्षपितकल्मषाः=यज्ञों द्वारा पापों को नष्ट करनेवाले, यज्ञविदः=यज्ञवेत्ता हैं ।

कुछ मिताहारी हवन करते, प्राण ही में प्राण हैं ।
क्षय पाप यज्ञों से किये, ये यज्ञ-विज्ञ महान हैं ॥

अर्थ—दूसरे नियमित आहार करनेवाले प्राणों का प्राणों में हवन करते हैं, ये सब ही यज्ञों द्वारा पापों को नष्ट करनेवाले यज्ञवेत्ता हैं ।

व्याख्या—नियमित आहार सब शुद्धियों और सुखों का मूल स्रोत है । भोजन समय पर मिले, पवित्र हो और हल्का हो तो स्वास्थ्य कभी साथ नहीं छोड़ता, इन्द्रियाँ इधर-उधर नहीं दौड़तीं और मन आज्ञाकारी बना रहता है ।

नपे-तुले और नियत आहार का मन पर जितना प्रभाव पड़ता है उतना और किसी का नहीं पड़ता । सात्विक भोजन अन्तःकरण को पवित्र करनेवाला कहा गया है । समाज-शास्त्र के विधाता महर्षि मनु ने एक बड़े काम की बात कही है—

"योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः"

जो धन के लेन-देन में पवित्र है और जिसकी कमाई पवित्र है, जो परिश्रम और ईमानदारी से कमा कर खाता है, वह सदा पवित्र है ।

व्रतों और उपवासों से भी बहुत से नर-नारी भोजन का संयम

करते हैं। यज्ञ-कर्मों के सम्पादन, स्वास्थ्य और शक्ति-संचय के लिये उपवास करना एक अच्छा साधन है।

आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि परिमित आहार करने से विदेशी माद्दा (Foreign Matter) शरीर में एकत्रित नहीं होता, प्राण-संचार करनेवाली नाड़ियाँ कफ से नहीं भरतीं और वात-पित्त आदि के दोष शरीर में प्रवेश नहीं कर पाते।

नियताहार का अर्थ कहीं-कहीं इन्द्रियों को उनका आहार न देना भी किया जाता है। ऐसे अर्थ का अभिप्राय है इन्द्रियों को मन में होमना, मन को बुद्धि में और बुद्धि को आत्मा में हवन कर देना।

हठयोग में नियताहार का अर्थ—प्राण और अपान वायु को नियत करना माना जाता है।

ऊर्ध्व वायु का सम्पूर्ण शरीर में संचार करना और अधो वायु को ऊर्ध्व से पवित्र करके, दोनों की गति का निरोध करना प्राणायाम-यज्ञ है। इस यज्ञ के लिये प्राणों के भोजन अर्थात् वायु को नियमित रखना आवश्यक है। शुद्ध और नियत वायु के भोजन से प्राणों को बल मिलता है।

प्राणों को प्राणों में हवन करने का एक और भी अभिप्राय है—व्रत, उपवास आदि द्वारा जब शरीर को कम भोजन मिलता है तो प्राणों में भड़कन होती है और उनका वेग इन्द्रियों के बल को खा जाता है। इस प्रकार प्राणों में प्राणों को होम दिया जाता है। परन्तु ऐसा करने में यदि प्राणों को क्लेश पहुँचता है तो वह यज्ञ तामसी हो जाता है।

इस प्रकार योगीजन अनेकों प्रकार के यज्ञ करके जीवन को पवित्र और उन्नत बनाते हैं। ऐसे नर-नारी ही वास्तव में यज्ञ को जाननेवाले हैं और उनके पाप यज्ञ-कर्मों से नष्ट हो जाते हैं।

यज्ञ में भाग देकर भोजन करनेवाले अमृत पीते हैं। यज्ञ करनेवालों की महिमा का गुणगान गीता में इस प्रकार है—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

यज्ञशिष्टामृतभुजः, यान्ति, ब्रह्म, सनातनम्, न, अयम्, लोकः, अस्ति, अयज्ञस्य, कुतः, अन्यः, कुरुसत्तम ।

कुरुसत्तम=हे कुरुश्रेष्ठ, यज्ञशिष्टामृतभुजः=यज्ञों से बचे हुए अमृत का उपभोग करनेवाले, सनातनम्=सनातन, ब्रह्म=ब्रह्म को, यान्ति=प्राप्त होते हैं, अयज्ञस्य=यज्ञ न करनेवाले के लिये, अयम्=यह, लोकः=लोक (भी), न=नहीं, अस्ति=है, अन्यः=परलोक (तो), कुतः=कहाँ ।

जो यज्ञ का अवशेष खाते, ब्रह्म को पाते सभी ।
परलोक तो क्या, यज्ञ-त्यागी को नहीं यह लोक भी ॥

अर्थ—हे कुरुश्रेष्ठ ! यज्ञों से बचे हुए अमृत का उपभोग करनेवाले सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, यज्ञ न करनेवाले के लिये, यह लोक भी नहीं है, परलोक तो कहाँ !

व्याख्या—यज्ञ का भाव धर्म के समान व्यापक और उदार है ; यज्ञ से सारे धर्मों में प्राण पड़ते हैं । मनुष्य का प्रत्येक कर्म यज्ञ है, यदि वह बुद्धियोग और दैवी भाव से लोक-संग्रह के लिये किया गया है ।

यज्ञ से सबका घाटा पूरा होता है—कोई अभाव नहीं रहता । यज्ञ करनेवाला दूसरे को सुखी बनाकर सुखी होता है, सबको जीवन देकर जीता है । ब्रह्म-यज्ञ, देव-यज्ञ, संयम-यज्ञ, इन्द्रिय-यज्ञ, आत्म-संयम-यज्ञ, द्रव्य-यज्ञ, तप-यज्ञ, योग-यज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ, प्राणायाम-यज्ञ, प्राण-यज्ञ सभी का फल जीवन को स्वस्थ, सुखी, सम्पन्न और मुक्त करना है । यज्ञ करके अमृत प्रसाद खानेवाले ब्रह्म को पाते हैं ।

यज्ञ न करने से केवल स्वार्थ के कर्म होते हैं; जीवन के मार्गों पर दम्भ, छल, कपट, अनाचार, दुराचार तथा अन्याय का कूड़ा फैल जाता है, सारी व्यवस्थायें बिगड़ जाती हैं और मनुष्यलोक के सुखों पर पानी पड़ जाता है । जिसका यह लोक नहीं बनता, उसका परलोक भी नहीं बनता । लोक और परलोक को बनानेवाला यज्ञ ही है ।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

एवम्, बहुविधाः, यज्ञाः, विततः, ब्रह्मणः, मुखे, कर्मजान्, विद्धि, तान्, सर्वान्, एवम्, ज्ञात्वा, विमोक्ष्यसे ।

एवम्=ऐसे, बहुविधाः=बहुत प्रकार के, यज्ञाः=यज्ञ, ब्रह्मणः=ब्रह्म के, मुखे=मुख में, विततः=विस्तार से हैं, तान्=उन, सर्वान्=सबको, कर्मजान्=कर्म द्वारा होनेवाला, विद्धि=जान, एवम्=ऐसा, ज्ञात्वा=जानकर, विमोक्ष्यसे=बन्धन से मुक्त हो जायेगा ।

बहु भांति से यों ब्रह्म-मुख में यज्ञ का विस्तार है ।
होते सभी हैं कर्म से, यह जान कर निस्तार है ॥

अर्थ—ऐसे बहुत प्रकार के यज्ञ ब्रह्म के मुख में विस्तार से हैं, उन सबको कर्म द्वारा होनेवाला जान, ऐसा जानकर बन्धन से मुक्त हो जायगा ।

व्याख्या—वेदों में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन है । परमेश्वर ने बहुत प्रकार के यज्ञ बनाये हैं, जो जिस यज्ञ द्वारा परमात्मा की ओर बढ़ता है परमेश्वर उसे उसी मार्ग पर मिल जाता है ।

"वितता ब्रह्मणो मुखे" का अर्थ टीकाकारों ने अपने-अपने ढंग से किया है । ब्रह्म के अर्थ—ब्रह्म, वेद और ब्रह्मा तीनों हो सकते हैं । यज्ञ ब्रह्म से उत्पन्न हैं, ब्रह्मा ने सृष्टि के साथ-साथ यज्ञों की रचना की है और वेदों की वाणी में अनेकों प्रकार के यज्ञ कहे गये हैं । इनमें से कुछ का वर्णन गीता के उपर्युक्त श्लोकों में किया गया है ।

सब प्रकार के यज्ञ, कर्म से होते हैं । मन, वचन और शरीर तीनों के द्वारा ही यज्ञों की साधना होती है । केवल कर्मकाण्ड को ही यज्ञ नहीं कहते । जो अपने कर्मों से यज्ञ करता है उसीकी मुक्ति होती

है। यंत्रवत् स्वाहा-स्वाहा बोलकर अग्नि में हवन-सामग्री—तिल, जौ, घी, शक्कर आदि की आहुति डाल देने से यज्ञ सम्पन्न नहीं हो जाते। जो ऐसा जानकर शुभ और सात्विक कर्म करता है वही यज्ञों के जाननेवाला है।

यज्ञ-हीन कर्मों से अथवा स्वार्थ के कर्मों में मानवीय शक्ति व्यर्थ व्यय होती है, मन के विकार बढ़ते हैं, अशान्ति रहती है और किसी कार्य में पूरी शक्ति नहीं लग पाती। परन्तु जब कर्म में यज्ञभाव समा जाता है अर्थात् कर्म परमार्थ भाव से, ईश्वर-अर्पण-बुद्धि से और एकाग्रता से होने लगते हैं तो मनुष्य जो कुछ करता है वह यज्ञ होता है।

इस प्रकार कर्म द्वारा यज्ञ करने से मनुष्य बन्धन-मुक्त हो जाता है। स्वार्थ, विषय-भोग, काम, क्रोध, लोभ, मोह, घृणा आदि मनो-विकारों के वश में न रहना ही मुक्ति है।

यज्ञ की साधना तभी पूर्ण होती है जब काम, क्रोध आदि विकारों की बलि दे दी जाती है।

वास्तविक यज्ञ-कर्म वे हैं जिनको करके मनुष्य विषय-भोगों का दास नहीं रहता और ऊपर उठकर देवत्व को प्राप्त करता है तथा पुरुषोत्तम पद पाता है।

संसार में पापों-तापों, भय और विकारों का अन्त पाप-ताप, भय और विकारों का पोषण करने से नहीं होता। पवित्रतापूर्वक, दैवी-बल प्राप्त करके, निर्भयता से निर्विकार होकर कर्म करने से ही यज्ञ-कर्म पूर्ण होते हैं और उन्हीं कर्मों द्वारा मनुष्य सब बन्धनों से मुक्त होता है।

यज्ञों को जानकर जो कर्म में अकर्म देख लेता है वही पुरुष नित्य-मुक्त है। कर्म की गूढ़ गति का रहस्य यज्ञों को जान लेने में है। यज्ञ के कर्म करनेवाले से विकर्म अर्थात् त्यागने योग्य कर्म स्वयं दूर हो जाते हैं और कर्मों में पवित्रता, सत्य एवं परमार्थ भाव होने से अकर्म की साधना हो जाती है।

यज्ञों का रहस्य समझने के लिये एक और आवश्यक बात जानने योग्य है—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

श्रेयान्, द्रव्यमयात्, यज्ञात्, ज्ञानयज्ञः, परंतप,
सर्वम्, कर्म, अखिलम्, पार्थ, ज्ञाने, परिसमाप्यते ।

परंतप=हे परंतप, द्रव्यमयात्=द्रव्यमय, यज्ञात्=यज्ञ से, ज्ञानयज्ञः=ज्ञान-यज्ञ, श्रेयान्=श्रेष्ठ है, पार्थ=हे पार्थ, सर्वम्=सब प्रकार के, अखिलम्=सम्पूर्ण, कर्म=कर्म, ज्ञाने=ज्ञान में, परिसमाप्यते=समाप्त होते हैं ।

धन-यज्ञ से समझो सदा ही ज्ञान-यज्ञ प्रधान है ।
सब कर्म का नित ज्ञान में ही पार्थ ! पर्यवसान है ॥

अर्थ—हे परंतप ! द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है । हे पार्थ ! सब प्रकार के सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में समाप्त होते हैं ।

व्याख्या—सांसारिक वस्तुओं की सहायता से किये जानेवाले यज्ञ द्रव्यमय-यज्ञ कहलाते हैं । होम, अग्निहोत्र, दान, निर्माण-कार्य आदि सबको द्रव्यमय यज्ञ कहा जाता है । इन यज्ञों से चित्त की शुद्धि और लोकोपकार दोनों की ही साधना होती है, परन्तु यदि अज्ञानवश इनमें लोकैषणा वित्तैषणा आदि के भाव आ जाते हैं और केवल स्वर्ग-प्राप्ति की कामना से किये जाते हैं तो इनसे नैतिक उत्थान नहीं होता । यश-मान के लिये दम्भ से किये जानेवाले सभी प्रकार के यज्ञ राजसी और तामसी कहे जाते हैं । ज्ञान-यज्ञ से अन्तःकरण में आत्म-साक्षात्कार और लोक-संग्रह की भावना होने के कारण सात्विक भाव सदा बना रहता है । अकेला कर्म संसार से मुक्त नहीं करा सकता । लोक और परलोक दोनों में प्रसन्न रहने के लिये कर्म के साथ ज्ञान का योग ऐसा है जैसे फूल के साथ सुगन्धि । कर्मों की पूर्णता ज्ञान से होती है । जगद्गुरु श्री शंकराचार्य ने इसीलिये लिखा है—

कुरुते गंगासागरगमनं व्रतपरिपालनमथवा दानम् ।
ज्ञानविहीने सर्वमतेन मुक्तिर्भवति न जन्मशतेन ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते ।

क्या गंगा - सागर का जाना,
धर्म दान व्रत - नियम निभाना ।
ज्ञान बिना चाहे कुछ भी कर,
सौ-सौ जन्म न मुक्ति मिले नर ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते ।

ज्ञान, कर्म और भक्ति का झगड़ा लेकर किसी एक की प्रधानता दिखानी उसी प्रकार है जैसे सृजन, पालन और संहार के देवता में से किसी एक को प्रधान और सर्व-सर्वा मान लेना। सृष्टि को सुचारु रूप से चलाने के लिये जब तीनों मिलकर एक हो जाते हैं और एक दूसरे की पूर्ति करते हैं तभी सबकी सफलता है। ज्ञान, कर्म और भक्ति अलग-अलग रहने में अधूरे हैं। तीनों मिलकर जब एक हो जाते हैं तो त्रिवेणी-संगम बन जाता है और उसके किनारे भगवान् की कृपा का अक्षय-वट सदा छाया किये रहता है।

जिन यज्ञों से परमेश्वर का ज्ञान होता है और जो परमेश्वर में रहकर आचरण करने की प्रेरणा देते हैं वे सब ज्ञान-यज्ञ हैं। ज्ञान-यज्ञ में मन, बुद्धि, हृदय और शरीर सबका योग होता है। द्रव्य-यज्ञ प्रायः सांसारिक सुख, मान और स्वर्ग आदि की कामना से किये जाते हैं। उनमें ब्रह्म-प्राप्ति का ध्येय प्रधान नहीं होता। अतः उनसे ज्ञान-यज्ञ को श्रेष्ठ माना गया है।

ज्ञान और कर्म के मेल से होनेवाला यज्ञ ज्ञान-यज्ञ है और केवल कर्म से किये जानेवाला यज्ञ, यज्ञ तो अवश्य है और उससे लाभ भी है, परन्तु वह द्रव्यमय-यज्ञ कहा जाता है, उससे ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है।

अब प्रश्न उठता है कि कर्मों में कुशलता प्राप्त करने के लिये उन्हें ज्ञानमय कैसे बनाया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर श्रीकृष्ण ने इस प्रकार दिया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

तत्, विद्धि, प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन, सेवया, उपदेक्ष्यन्ति, ते, ज्ञानम्, ज्ञानिनः, तत्त्वदर्शिनः ।

तत्=उस ज्ञान को, प्रणिपातेन=नम्रता से प्रणाम, सेवया=(और) सेवा द्वारा, परिप्रश्नेन=शुद्ध भाव से प्रश्न करके, विद्धि=समझो, तत्त्वदर्शिनः=तत्त्व को जानने वाले, ते=वे, ज्ञानिनः=ज्ञानी, ज्ञानम्=(तुम्हें) ज्ञान का, उपदेक्ष्यन्ति=उपदेश देंगे ।

सेवा विनय प्रणिपात पूर्वक प्रश्न पूछो ध्यान से ।
उपदेश देंगे ज्ञान का तब तत्त्वदर्शी ज्ञान से ॥

अर्थ—उस ज्ञान को नम्रता से प्रणाम और सेवा द्वारा शुद्ध भाव से प्रश्न करके समझो ! तत्त्व को जाननेवाले वे ज्ञानी तुम्हें ज्ञान का उपदेश देंगे ।

व्याख्या—जानने की जिज्ञासा पूरी करने के लिये तत्त्वज्ञानियों के पास जाना चाहिये । उनके समीप बैठकर अत्यन्त विनम्र भाव से उन्हें नमस्कार करके श्रद्धा, सत्कार, सद्भावना और सेवा द्वारा उन्हें प्रसन्न करना चाहिये तथा निष्कपट भाव से उनके सामने प्रश्न द्वारा अपनी जिज्ञासा रख देनी चाहिये ।

इतना कर लेने पर ज्ञानी जन अवश्य ही ज्ञान का निश्चित और स्पष्ट मार्ग दिखाते हैं ।

शांकर भाष्य में ज्ञानी गुरुजनों की खोज करते समय एक ध्यान में रखने योग्य बात कही गई है—

'ज्ञानवन्तः अपि केचित् यथावत् तत्त्वदर्शनशीला अपरे नातो विशिनष्टि तत्त्वदर्शिन इति ।'

यथार्थ रूप से तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानवान् कोई-कोई ही होते हैं, तत्त्वज्ञान सबको नहीं होता। अतः ज्ञानी के साथ श्रीकृष्ण ने तत्त्वदर्शी विशेषण लगाया है।

केवल वाक्-पटुता, वेष-भूषा अथवा शास्त्रों को रट लेने से कोई ज्ञानी नहीं हो जाता। ज्ञान द्वारा कर्म करके जो तत्त्व का दर्शन कर लेता है, आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है और नित्य ब्रह्म में विहार करता है, उसी को तत्त्वदर्शी-ज्ञानी कहते हैं। ऐसे ज्ञानी के लक्षण इस प्रकार होते हैं—

जिसकी आँख में है स्नेह,
जिसका शुद्ध उज्ज्वल भाल।
जिसके अधर पर मुस्कान,
जिसका हृदय-सिन्धु विशाल॥
सुन्दर स्वस्थ प्रतिभावान्,
जिसके हैं महान् विचार।
जिसके कर्म गौरवपूर्ण,
जिसका विश्व है परिवार॥
जो कर्तव्य - तत्पर नित्य,
है तप तेज बल श्रीयुक्त।
सेवा सत्य सुख का रूप,
दिव्य दिनेश जीवन्मुक्त॥

तत्त्वदर्शी पुरुषों से ज्ञान की प्रतिष्ठा होती है। तत्त्वदर्शी गुरु से शिष्य के जीवन का विकास होता है। इसीलिये प्रसिद्ध है—'गुरुरेव परं ब्रह्म'—गुरु परब्रह्म है।

इस महावाक्य का दुरुपयोग करके रूढ़िवाद और अन्ध-विश्वास से यदि गुरुडम का प्रचार किया जाता है, गुरुजन ज्ञान की दुकानें खोल लेते हैं; सम्प्रदाय मठ और आश्रमों को चलाने के लिये ही शिष्य और शिष्यायें बनायी जाती हैं तो तत्त्वज्ञान का लोप हो जाता है।

इस अनर्थ से बचने के लिये एक आदेश है "गुरु कीजे जान" और इसी का समर्थन भगवान् श्रीकृष्ण ने किया है कि तत्त्वदर्शी-ज्ञानी ही उपदेश देकर संसार को ज्ञान का वरदान देते हैं। तत्त्वदर्शी ज्ञानीजन शिष्य की भीतरी और बाहरी परीक्षा करके, उसके गुणों और तत्त्वों को समझ कर, उसकी रुचि और शक्ति के अनुरूप ज्ञान देते हैं।

शिष्य और जिज्ञासु के भी कुछ कर्तव्य हैं। ज्ञान कहीं पड़ा नहीं मिल जाता, उसे प्राप्त करने के लिये सबसे पहिले विनय चाहिये। गुरु शुक्राचार्य ने अपनी नीति में कहा है—

न यस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्रनिश्चयात्।
विनयस्येन्द्रियजयस्तद्युक्तः ज्ञानमृच्छति ॥
(शुक्र० १।६१)

विनय से सम्पूर्ण नीतियाँ फूलती-फलती हैं, विनय शास्त्रों के विचार से मिलती है। विनय आजाने पर इन्द्रियाँ दब जाती हैं और इन्द्रियों पर विजय पानेवाले के पास ज्ञान आने के लिये आकुल रहता है।

विनय से अल्हड़पन और दर्प का विष नहीं चढ़ता। जहाँ विनय रहती है वहाँ पवित्र, शान्त और ज्ञानमय वातावरण बन जाता है। विनय से जो अन्तःकरण की भूमि बनती है, उस पर पड़ा हुआ ज्ञान का बीज शीघ्र ही जम जाता है और फिर जब उस पर सेवा का जल पड़ता है तो वह विशाल रूप में फूलता-फलता है।

अतः ज्ञान प्राप्त करने के लिये तत्त्वदर्शी-ज्ञानियों को नम्रतापूर्वक प्रणाम करना चाहिये और हृदय से उनकी सेवा में संलग्न होना चाहिये। इतना कर लेने पर प्रश्न करते ही गुरुजन जो उत्तर देते हैं उसे बुद्धि आगे बढ़कर ग्रहण कर लेती है।

अनुभवी ज्ञानियों से प्राप्त किया हुआ ज्ञान कर्म को दिव्य बना देता है; मोह को मार देता है और मुक्ति के पथ को प्रकाशित कर देता है। गुरुजनों से प्राप्त ज्ञान आकाश की भांति अनन्त होता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

यत्, ज्ञात्वा, न, पुनः, मोहम्, एवम्, यास्यसि, पाण्डव, येन, भूतानि, अशेषेण, द्रक्ष्यसि, आत्मनि, अथो, मयि ।

पाण्डव=हे अर्जुन, यत्=जिसको, ज्ञात्वा=जानकर (तुम), पुनः=फिर, एवम्=इस प्रकार, मोहम्=मोह में, न=नहीं, यास्यसि=फँसोगे, येन=(और) जिससे, अशेषेण=सम्पूर्ण, भूतानि=प्राणियों को, आत्मनि=तू अपनी आत्मा में, अथो=और, मयि=मुझमें, द्रक्ष्यसि=देखेगा ।

होगा नहीं फिर मोह ऐसे श्रेष्ठ शुद्ध विवेक से ।
तब ही दिखेंगे जीव मुझमें और तुझमें एक से ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जिसको जानकर तुम फिर इस प्रकार मोह में नहीं फँसोगे और जिससे सम्पूर्ण प्राणियों को तू अपनी आत्मा में और मुझमें देखेगा ।

व्याख्या—ज्ञान का फल मोह की निवृत्ति है । जहां मोह का अन्धकार है; राग-द्वेष, अज्ञान, भ्रम और मिथ्याचार हैं, वहां ज्ञान नहीं ठहरता और जहां ज्ञान का प्रकाश होता है, वहां मोह-जन्य विकार नहीं ठहर सकता—यही ज्ञान की महिमा है ।

गुरु वह बताता है जो जानना चाहिये । जो जानना चाहिये उसे जान लेने से फिर कुछ जानना नहीं रहता—वही ज्ञान है । ज्ञान होने पर मोह नहीं रहता जैसे प्रकाश होने पर अंधेरा नहीं रहता ।

गुरु के दिये हुए ज्ञान में निष्ठा रखना ही ज्ञान की सिद्धि है । सिद्ध-ज्ञान सदा सर्वदा ज्ञान रहता है उसमें मोह या अज्ञान किसी समय भी नहीं आ सकता ।

सेवा, विनय और शरणागति द्वारा प्राप्त ज्ञान स्थिर हो जाता है, उससे अपने स्वरूप का यथार्थ बोध होता है । अहंता, राग-द्वेष आदि विकार यथार्थ ज्ञान नहीं होने देते । गुरु के दिये ज्ञान से जब विकारों का अन्त हो जाता है तब ज्ञान स्वयं ही मिलता है ।

अज्ञान से बड़ा और कोई दुःख नहीं। मोह से बड़ा और कोई बन्धन नहीं। इन्द्रिय संयम, परमार्थ, सद्भावना, भूलों को न दुहराना, समय का सदुपयोग करना, कर्तव्य को जानना और उसमें त्यागपूर्वक लगे रहना यही ज्ञान है।

जो एकत्व में स्थित हो जाता है उसे न मोह रहता है न शोक—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (ईशोपनिषद् ७)

जब ज्ञानी जन के अनुभव में, सब प्राणी हों आत्म समान।
तब एकत्व - ज्ञान - दर्शन से, रहता नहीं शोक अज्ञान॥

मोह से उत्पन्न हुआ विषाद जीव को घोर दुःख में डाल देता है। चारों ओर अपने पराये का भाव भरा रहने के कारण मोहित जन को कर्तव्य-पथ नहीं सूझता। ऐसी अवस्था में सत्संग और ज्ञानी-जनों का उपदेश सहायता करता है और मोह में भूले हुए जीवों का हाथ पकड़कर प्रकाश की ओर ले जाता है। ज्ञान के प्रकाश में आकर सारा जगत् अपने में ही दीखने लगता है—कोई पराया नहीं जान पड़ता। सब एक ही परमेश्वर में और परमेश्वर सबमें मिले जान पड़ते हैं। गुरु से प्राप्त ज्ञान से ऐसा विश्व-दर्शन नहीं हुआ तो भी ज्ञान का कोई उपयोग नहीं होता। इसलिये महात्मा विदुर ने कहा है—

असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि।
उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम्॥ —महाभारत

समझा नहीं गया तो सारा,
व्यर्थ ज्ञानियों का उपदेश।
समझा हुआ व्यर्थ है जिसका,
हुआ नहीं आचरण विशेष॥

वह ज्ञान का भोजन व्यर्थ है जिससे आत्मा भूखा रहे या ज्ञान की डकार न आये। सम्पूर्ण जीव चराचर को एक में और एक को सबमें देखनेवाला ज्ञानी किसे धोखा दे सकता है, किसके साथ बुरा व्यवहार कर सकता है? जब सब एक हैं तो कौन किसी का शत्रु होगा?

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

अपि, चेत्, असि, पापेभ्यः, सर्वेभ्यः, पापकृत्तमः, सर्वम्, ज्ञानप्लवेन, एव, वृजिनम्, संतरिष्यसि ।

चेत्=यदि (तुम), सर्वेभ्यः=सब, पापेभ्यः=पापियों से अपि=भी, पापकृत्तमः=अधिक पाप करनेवाले, असि=हो, ज्ञानप्लवेन=(तो भी) ज्ञान की नौका द्वारा, सर्वम्=सारे, वृजिनम्=पापों को, एव=निस्सन्देह, संतरिष्यसि=पार कर जाओगे ।

तेरा कहीं यदि पापियों से घोर पापाचार हो ।
इस ज्ञान-नय्या से सहज में पाप सागर-पार हो ॥

अर्थ—यदि तुम सब पापियों से भी अधिक पाप करनेवाले हो तो भी ज्ञान की नौका द्वारा सारे पापों को निस्सन्देह पार कर जाओगे ।

व्याख्या—जब ज्ञान की आँख खुलती है, तब उसके प्रकाश में प्रत्येक वस्तु का स्वरूप स्पष्ट दीखने लगता है । ज्ञान की आँख दूर तक देखती है, उसमें कहीं कोई विकार नहीं होता । पापी जीव भी जब किसी प्रकार सत्संग से, गुरु-कृपा से, भगवत्-कृपा से अथवा भाग्य से ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो पापों से छूट जाता है ।

पाप और पुण्य का भेद भी बड़ा गम्भीर और रहस्यमय है । साधारण शब्दों में स्वधर्म के आचरण को पुण्य और स्वधर्म के विरुद्ध कर्म करने को पाप कहते हैं । जिन कर्मों के करने से भय लगता है उन सभी को पाप कहना चाहिये और जिन कर्मों के करने से प्रसन्नता बढ़ती है, उत्साह जागृत होता है तथा बुद्धि का योग दृढ़ होता है उन सबको पुण्य कहा जाता है ।

ज्ञान एक सहारा है, जिसे पाकर निर्बल भी शक्ति का अनुभव करने लगता है । ज्ञान का हाथ लगते ही स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है, सात्त्विक गुणों का विकास होने लगता है और ज्ञानी को विकारों की ओर जाने से स्वयं ही घृणा हो जाती है ।

रम्भा ने अपने यौवन की प्रेरणा से महामुनि परम ज्ञानी शुकदेव को एक दिन मधुवन में रोक लिया। मधुमास था, आमों पर बौर छा रही थी, कोयल कूक रही थी और रतिनाथ अपनी सेना सहित पड़ाव डाले हुए थे। पर शुकदेव ने अपनी ज्ञान की दृष्टि से तत्त्व का दर्शन कर लिया था—संसार की प्रत्येक वस्तु में, चराचर में उन्हें एक ही अभिन्न आत्म-तत्त्व का दर्शन होता था। रम्भा की काम-वासना जागृत करनेवाली वाणी, हाव-भाव और चेष्टायें शुकदेव को ज्ञान-मार्ग से न हटा सकीं।

उर्वशी और अर्जुन की भी ऐसी ही कथा है, परन्तु यह उन ज्ञानियों के इतिहास हैं, जो भूल कर भी कुमार्ग की ओर नहीं गये। ऐसे ज्ञानी नित्य-मुक्त होते हैं और आत्म-ज्ञान का ऐसा दृढ़ कवच पहने रहते हैं, जिस पर काम के पाँचों बाण—शब्द, स्पर्श, रूप रस गन्ध टकरा कर गिर पड़ते हैं।

आदि कवि महर्षि वाल्मीकि का इतिहास गीता के इस सत्य की साक्षी देता है कि घोर पापाचरण में लगे हुए व्यक्ति भी ज्ञान का सहारा पाकर कहीं के कहीं पहुँच जाते हैं। डाकू वाल्मीकि महर्षि नारद के उपदेश से भगवान् राम का पुण्य-चरित्र लिखनेवाले महर्षि और महाकवि बन गये।

तोते को पढ़ाते-पढ़ाते गणिका को ज्ञान हो गया। राम-नाम का उच्चारण करते-करते कुञ्जर तर गया। चार कच्चे तारों ने द्रौपदी को तार दिया। कुब्जा, शबरी, अजामिल, गीध आदि की कथायें मानो आज भी मुख से बोल रही हैं कि ज्ञान को अथवा ज्ञान के आधार भगवान् को प्राप्त करते ही मनुष्य सच्चा मनुष्य अथवा देवता बन जाता है। पाप-धारा में बहता-बहता ज्ञान की नैया पकड़ते ही पार हो जाता है।

ज्ञान चाहे आत्म-ज्ञान हो, चाहे कर्म का ज्ञान हो उससे जीवमात्र में एक परम-तत्त्व का दर्शन और एक तत्त्व से सम्पूर्ण जगत् चराचर का विस्तार जान लिया जाता है। ऐसे ज्ञान और भक्ति में कोई भेद नहीं।

जो महिमा भक्तों के भगवान् की है वही ज्ञानियों के ज्ञान की है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

यथा, एधांसि, समिद्धः, अग्निः, भस्मसात्, कुरुते, अर्जुन, ज्ञानाग्निः, सर्वकर्माणि, भस्मसात्, कुरुते, तथा ।

अर्जुन=हे अर्जुन, यथा=जैसे, समिद्धः=जलती हुई, अग्निः=अग्नि, एधांसि=ईंधन को, भस्मसात्=भस्म, कुरुते=कर देती है, तथा=वैसे ही, ज्ञानाग्निः=ज्ञानरूप अग्नि, सर्वकर्माणि=सम्पूर्ण कर्मों को, भस्मसात्=भस्म, कुरुते=कर देती है ।

ज्यों पार्थ ! पावक प्रज्वलित ईंधन जलाती है सदा ।
ज्ञानाग्नि सारे कर्म करती भस्म यों ही सर्वदा ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जैसे जलती हुई अग्नि ईंधन को भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देती है ।

व्याख्या—कर्म तीन भागों में बांटे जा सकते हैं—१. प्रारब्ध २. सञ्चित ३. क्रियमाण । इन तीन प्रकार के कर्मों में जीव बँधा रहता है ।

प्रारब्ध-कर्म उन कर्मों को कहते हैं, जो वर्तमान समय में फल दे रहे हैं ।

सञ्चित कर्म उन्हें कहते हैं जो किये जा चुके हैं, जिनसे संस्कार बन रहे हैं, परन्तु जिनका फल अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है ।

क्रियमाण वे कर्म हैं, जो इस समय किये जा रहे हैं ।

प्रारब्ध-कर्मों के विषय में कहा जाता है, कि वे भोग कर ही समाप्त किये जा सकते हैं । ज्ञानी, ध्यानी, योगी, भक्त, साधक, सिद्ध सबको प्रारब्ध कर्म भोगने पड़ते हैं ।

'देह धरे को दण्ड है, भुगतेंगे सब कोय ।
ज्ञानी भुगते ज्ञान से, मूरख भुगते रोय ॥'

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।'

'विधि कर लिखा को मेटन हारा ।'

'होनहार भावी प्रबल !'

इन उक्तियों से जान पड़ता है कि प्रारब्ध-कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं । ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान से शम, दम, तितिक्षा, उपरति आदि से इन कर्मों के विषाद, विकार और बन्धन में नहीं पड़ते, प्रसन्नता-पूर्वक दृढ़ता से उन्हें भोगकर समाप्त कर देते हैं ।

अब रहे सञ्चित कर्म और क्रियमाण कर्म, इन कर्मों को ज्ञान की अग्नि भस्म कर देती है। कर्म में अकर्म देखनेवाला निष्काम कर्मयोगी सम्पूर्ण कर्म सेवाभाव से करके जनता-जनार्दन के अर्पण कर देता है; अतः वह जिसको कर्म देता है वही उसके फल भोगता है। जो अपने स्वार्थ के लिये कर्म करता है उसका भोग भी उसे भोगना पड़ता है । इस प्रकार कर्मों के संस्कार ज्ञानी पुरुष को नहीं बाँधते, वह जो कुछ करता है उससे उत्तरोत्तर श्रेय और मुक्ति की ओर ही बढ़ता है ।

ज्ञानी के क्रियमाण कर्मों में समझदारी, सावधानी और कर्म-कुशलता के कारण राग-द्वेष द्वन्द्व आदि विकार नहीं आने पाते, अतः वे स्वयं ही मुक्तिदायक बन जाते हैं ।

लोकमान्य तिलक ने कर्मों का अर्थ कर्म-बन्धन किया है । ज्ञानी को कर्म किसी बन्धन में नहीं डालता, अर्थात् उससे ऐसे कर्म नहीं होते जिनसे मुक्ति का मार्ग नष्ट हो, लोक-संग्रह में बाधा पड़े, अथवा लोक-व्यवस्था बिगड़ जाय ।

ज्ञानी सदा स्वतन्त्र अर्थात् आत्मा के तन्त्र में रह कर कर्म करता है । अज्ञानी परतन्त्र अर्थात् इन्द्रियों के आधीन रह कर कर्म करता है । अतः ज्ञान कर्म के बन्धन को भस्म कर देता है और अज्ञान कर्मों का बन्धन बढ़ाता है ।

इस प्रकार ज्ञान की महिमा और उसके प्रभाव का वर्णन करके श्रीकृष्ण ज्ञान की सिद्धि का उपाय बताते हैं—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

न, हि, ज्ञानेन, सदृशम्, पवित्रम्, इह, विद्यते, तत्, स्वयम्, योगसंसिद्धः, कालेन, आत्मनि, विन्दति ।

हि=निस्सन्देह, इह=इस संसार में, ज्ञानेन=ज्ञान के, सदृशम्=समान, पवित्रम्=पवित्र करनेवाला (और कुछ), न=नहीं, विद्यते=है, योगसंसिद्धः=योग से अन्तःकरण पवित्र करनेवाला, तत्=उस ज्ञान को, कालेन=समय पर, स्वयम्=स्वयं, आत्मनि=अपने में, विन्दति=पा लेता है ।

इस लोक में साधन पवित्र न और ज्ञान समान है ।
योगी पुरुष पाकर समय पाता स्वयं ही ज्ञान है ॥

अर्थ—निस्सन्देह इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करनेवाला (और कुछ) नहीं है, योग से अन्तःकरण पवित्र कर लेनेवाला, उस ज्ञान को समय पर स्वयं अपने में पा लेता है ।

व्याख्या—ज्ञान अमृत है, ज्ञान की उपमा ज्ञान से ही दी जाती है । ज्ञान की पवित्रता ज्ञान में ही है । जैसे गंगा, अन्तर और बाह्य के मलों को धो डालती है, इसी प्रकार ज्ञान सम्पूर्ण विकारों को धोकर बहा देता है और मूल-सहित अज्ञान की निवृत्ति कर देता है ।

इस परम पवित्र ज्ञान को प्राप्त करने के लिये, शिव-संस्कार बनाने पड़ते हैं । जब सात्विक वृत्तियों का प्रवाह निरन्तर अन्तःकरण से उमड़ता रहता है, समत्व-बुद्धि प्रत्येक अवस्था में बनी रहती है, कर्म-कुशलता सिद्ध हो जाती है अथवा जीव और ब्रह्म का योग कभी टूटता नहीं, तब ज्ञान अपने आप आत्मा से फूट पड़ता है ।

इस श्लोक में "योगसंसिद्धः" का अर्थ महत्वपूर्ण है—

कर्मयोग का आचरण करते-करते कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने वाले को 'योगसंसिद्ध' कहते हैं ।

ज्ञान पाने का सरल और निश्चित साधन इस प्रकार है—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

श्रद्धावान्, लभते, ज्ञानम्, तत्परः, संयतेन्द्रियः, ज्ञानम्, लब्ध्वा, पराम्, शान्तिम्, अचिरेण, अधिगच्छति ।

तत्परः=तत्पर रहनेवाला, संयतेन्द्रियः=जितेन्द्रिय, श्रद्धावान्=श्रद्धावान् पुरुष, ज्ञानम्=ज्ञान, लभते=प्राप्त करता है, ज्ञानम्=ज्ञान को, लब्ध्वा=पाकर, अचिरेण=शीघ्र ही, पराम्=परम, शान्तिम्=शान्ति को, अधिगच्छति= प्राप्त हो जाता है ।

जो कर्म-तत्पर है जितेन्द्रिय और श्रद्धावान् है ।
वह प्राप्त करके ज्ञान पाता शीघ्र शान्ति महान् है ॥

अर्थ—तत्पर रहनेवाला, जितेन्द्रिय श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है, ज्ञान को पाकर शीघ्र ही परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है ।

व्याख्या—ज्ञान पाने के तीन उपायों की यहाँ चर्चा की गई है ।

१. श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त कर लेता है ।

२. कर्म में तत्पर रहनेवाला ज्ञान को पा लेता है ।

३. संयतेन्द्रिय पुरुष को ज्ञान मिलता है ।

ये तीनों साधन एक दूसरे के पूरक भी हैं और क्रमशः ज्ञान की ओर बढ़ने के सोपान भी ।

श्रद्धा—

श्रद्धा अन्तःकरण की वह स्थिति है, जो बाह्य चेतना को अन्तरात्मा से मिलाकर सत्य में टिकाती है और ज्ञान स्फुरित करती है । श्रद्धा मानसिक अनुभवों के आधार पर खड़ी होती है । श्रद्धा केवल बाहिरी मिथ्याचार नहीं है, वह तो अन्तरात्मा की सत्य अभिव्यक्ति और रचनात्मक क्रिया है ।

सत्य में अडिग विश्वास को श्रद्धा कहते हैं । श्रत्-धा—अर्थात्

सत्य की धारणा। वही सत्य हृदय में जमकर जीवन में प्रकट होता है, जिससे अनन्य धारणा हो जाती है। सत्य की पहिचान भी श्रद्धा से ही होती है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है—

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।
बिनु महि गन्ध कि पावहिं कोई॥

श्रद्धा सब धर्मों की नींव है। ऋग्वेद के श्रद्धासूक्त में श्रद्धा देवी का आवाहन किया गया है—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यं दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥

हम प्रातःकाल श्रद्धा का आवाहन करते हैं, मध्याह्न में फिर श्रद्धा को हृदय में आसन देते हैं, सायंकाल फिर उसी श्रद्धा की प्रतिष्ठा करते हैं और कामना करते हैं कि हे श्रद्धादेवि, तुम सदा हममें निवास करो!

जप, तप, पूजन, दान सबमें श्रद्धा की शक्ति होती है। जिसमें जैसी श्रद्धा होती है वह वैसा ही बन जाता है। अन्धश्रद्धा का फल अज्ञान है। सत्य और तत्परता के योग से श्रद्धा सात्विक बनती है, अन्ध-विश्वास और स्वार्थ-भावों से राजसी बनती है, और मूढ़ता अज्ञान तथा अकर्मण्यता से तामसी बन जाती है।

तामसी श्रद्धा से धर्म का लोप होता है, अज्ञान और दुराचार को उभरने का अवसर मिलता है और मिथ्याचार के अंकुर फूट निकलते हैं। अनेकों विद्वानों का मत है कि श्रद्धा कैसी भी हो उससे कुछ न कुछ लाभ होता है; यह साधन-अवस्था में चाहे उपयुक्त हो, परन्तु व्यावहारिक अवस्था में ऐसी मान्यता से अनेकों दोष उपजते हैं और पाखण्ड की जड़ जमती है।

सात्त्विक श्रद्धा से ही ज्ञान का मार्ग मिलता है। भागवत-चेतना, पवित्रता और सत्य श्रद्धावान् की सात्त्विक श्रद्धा का ही निमन्त्रण स्वीकार करते हैं।

श्रीकृष्ण ने श्रद्धावान् होने के साथ-साथ तत्पर रहने का आदेश दिया है। श्रद्धा के साथ कर्म-तत्परता न हो तो श्रद्धा जड़ हो जाती है, ज्ञान को ढूंढ लेने की शक्ति उसमें नहीं रह पाती। तत्परता मनुष्य को किसी भी समय आलस्य, अज्ञान और पतन की ओर नहीं जाने देती।

श्रद्धा और तत्परता दोनों के होते हुए भी कभी-कभी संगदोष से मनुष्य पथ-भ्रष्ट हो सकता है। अतः गीता संयतेन्द्रिय होने का आदेश देती है। गीता को वह श्रद्धा मान्य है जिसमें जिज्ञासा, तत्परता और संयम तीनों एक दूसरे से आगे बढ़ने की होड़ लगा रहे हों—तीनों अपनी पूरी शक्ति से लक्ष्य पर पहुँचने के लिये प्रयत्न कर रहे हों।

तत्परता और संयम के साथ जो श्रद्धा होती है वही सात्त्विक कही जाती है और उसीसे ज्ञान मिलता है। उपनिषदों में श्रद्धा की एक कहानी है—

एक बार महर्षि श्री सनत्कुमार ने महर्षि नारद से कहा कि इस संसार में केवल सत्य ही जानने योग्य है। जो सत्य को जानता है वही सत्य बोलता है।

जानता वह है जो विशेष रूप से मनन करता है। अतः मनन करनेवाली बुद्धि की जिज्ञासा करनी चाहिये।

मनन श्रद्धा से होता है—

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते,
श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति।

मनन उसी समय होता है जब मनुष्य श्रद्धा करता है। श्रद्धा के बिना मनन सम्भव नहीं है, अतः श्रद्धा की विशेष रूप से जिज्ञासा करनी चाहिये।

श्रद्धा एक प्रकार की आस्तिक बुद्धि है जो कर्म में विशेष रुचि उत्पन्न कर देती है और आत्मा का योग देती है। जिस कर्म को महत्त्व नहीं दिया जाता, जो लापरवाही से किया जाता है वह सदा अपूर्ण रहता है; इसलिये श्रद्धा का विज्ञान जानना चाहिये।

श्री नारदजी ने पूछा कि श्रद्धा का विज्ञान क्या है ?

सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि श्रद्धावान् वह होता है जिसमें निष्ठा होती है। बिना निष्ठा के श्रद्धा नहीं हो सकती।

निष्ठा उस समय होती है जब मनुष्य दृढ़ बुद्धि से हृदय का सहारा लेकर तत्परता से कर्म में लग जाता है। कर्म में लगने से निष्ठा स्वयं हो जाती है। अतः तत्परता श्रद्धा का साधन है।

यह तत्परता अथवा कर्म में निष्ठा उस समय आती है जब सच्चे सुख अथवा परमानन्द की जिज्ञासा होती है। परमानन्द अमृत है, उसकी ओर जानेवाला मुक्त हो जाता है। यह अमृत सर्वत्र है, परन्तु विषय में लगे हुए मन और बुद्धि से नहीं मिलता, अतः उस आत्मा—भूमा अथवा अमृत-तत्त्व को प्राप्त करने के लिये संयतेन्द्रिय होना चाहिये।

इस प्रकार जो अपनी श्रद्धा को बनाता है उसे ज्ञान मिलता है। ज्ञान का फल परम शान्ति है। ज्ञान का उद्देश्य सब दुःखों का अन्त करना है। सांसारिक पदार्थ और भौतिक विषय दुःख में डालनेवाले हैं। अज्ञान, दुःख, शोक, रोग, आधि-व्याधि, दुर्भाग्य आदि सबसे छुड़ानेवाला ज्ञान है।

सूर्य जैसे अन्धकार को मिटाता है, उसके उदय होते ही सब कुछ प्रत्यक्ष हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान अज्ञान को मिटाता है, उसके उदय होते ही पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य सबका वास्तविक रूप प्रकट और स्पष्ट दीखता है। ज्ञान जब कर्तव्य की ओर बढ़ता है तो परम-शान्ति उसका आलिङ्गन करती है।

जहां श्रद्धा होती है वहां कर्म-तत्परता अवश्य आ जाती है। कर्म-तत्पर वही हो सकता है जिसे अपनी इन्द्रियों पर संयम हो।

श्रद्धा + कर्म-तत्परता + जितेन्द्रियता=परम शान्ति।

इसके विपरीत जो श्रद्धावान् नहीं है और जिनके हाथ ज्ञान नहीं लगा है, उनका जीवन किसी काम नहीं आता।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायंलोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अज्ञः, च, अश्रद्दधानः, च, संशयात्मा, विनश्यति, न, अयम्, लोकः, अस्ति, न, परः, न, सुखम्, संशयात्मनः ।

अज्ञः=अज्ञानी, च=एवं, अश्रद्दधानः=श्रद्धाहीन, च=और, संशयात्मा=संशयों से घिरा हुआ, विनश्यति=नष्ट हो जाता है, संशयात्मनः=सन्देहों में फँसे हुए के लिये, न=न, सुखम्=सुख है, न=न, अयम्=यह, लोकः=लोक है, न=न, परः=परलोक, अस्ति=है ।

जिसमें न श्रद्धा ज्ञान, संशयवान् डूबे सब कहीं ।
उसके लिये सुख लोक या परलोक कुछ भी है नहीं ॥

अर्थ—अज्ञानी एवं श्रद्धाहीन और संशयों से घिरा हुआ नष्ट हो जाता है, सन्देहों में फँसे हुए के लिये न सुख है, न यह लोक है, न परलोक है।

व्याख्या—यजुर्वेद का यह महामन्त्र ऋषियों के अनुभव की घोषणा करता है—

अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः । (यजु० १६।३७)

परमेश्वर ने अश्रद्धा को झूठ में और श्रद्धा को सत्य में रखा है।

जिसमें श्रद्धा नहीं है, उसी में झूठ को निवास करने का स्थान मिलता है। अश्रद्धा अज्ञान का परिणाम है। जिसकी विवेक बुद्धि जागृत नहीं रहती, जो स्वधर्म को नहीं पहचानता, जिसे ब्रह्म-जीव और लोक-परलोक का ज्ञान नहीं होता तथा जो कर्म करने से जी चुराता है उसे अज्ञ कहते हैं।

महात्मा विदुर ने अज्ञ पुरुषों के लक्षण गिनाते हुए लिखा है—

अकामान्कामयति यः कामांश्च यः परित्यजेत् ।
बलवन्तश्च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ (विदुर० १।३७)

जो करने के कर्म न करता,
दुष्कर्मों का करता ध्यान।
बलवानों से द्वेष बांधता,
उसे मूर्ख कहते विद्वान्॥

जिसने पढ़ा-सुना कुछ नहीं, परन्तु अपने को पण्डित मान बैठा है, जो दरिद्री होते हुए भी महामना बनने का दम्भ करता है, जो बिना कर्म किये फल पाने की इच्छा करता है, उसे अज्ञ कहते हैं।

(विदुर० १।३५)

दम्भी, दुर्वचन बोलनेवाले, हठी और दूसरे के उपकार को न माननेवाले भी मूर्ख कहे जाते हैं।

विवेकहीन होने पर जिसमें श्रद्धा न हो वह ऐसा हो जाता है जैसे 'नीम चढ़ा करेला' और यदि वह संशय बुद्धिवाला हो, तब तो उसका पतन निश्चित ही है।

सारांश यह कि—

१. जिसमें न ज्ञान है, न श्रद्धा है और जो सदा संशय करता है, वह नष्ट हो जाता है।

२. जिसमें ज्ञान है पर श्रद्धा नहीं है, उसका ज्ञान भार बनकर उसे छल, कपट तथा संशयों में डाले रहता है, वह ज्ञान का कोई लाभ नहीं उठा पाता।

३. जिसमें श्रद्धा है पर ज्ञान नहीं उसमें नित्य नये-नये सन्देह उठते हैं, वह आलसी तथा अन्ध-विश्वासी बन जाता है।

किसी भी अवस्था में अज्ञान, भ्रम और सन्देहों से घिरा हुआ मनुष्य न इस लोक में सुखी होता और न परलोक में शांति पाता है।

जो कभी एक निश्चय पर नहीं पहुँच पाता, जिसका मन सदा भटकता रहता है, जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं होती, जिसका अपने में भी विश्वास नहीं जमता, जो कुतर्क और अविश्वास का सहारा लेता है और सर्वत्र दोष देखने की जिसकी दृष्टि बन गई है, वह संशयात्मा होता है।

अज्ञ पुरुष ज्ञानी बन सकते हैं, श्रद्धाहीनों में भी श्रद्धा जागृत हो सकती है, परन्तु संशय करनेवाले का पतन निश्चित है।

श्री सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी काव्यमयी भाषा में लिखा है—

"सुनो, जिस प्राणी को इस ज्ञान की रुचि नहीं है उसके जीवन के विषय में क्या कहा जाय, उसकी मृत्यु भली है। जिस प्रकार उजड़ा हुआ घर या प्राणहीन शरीर होता है, वैसे ही ज्ञान के बिना भ्रमपूर्ण जीवन है। अथवा किसी मनुष्य की ऐसी स्थिति हो कि उसे यह ज्ञान प्राप्त न हुआ हो, परन्तु मन में ज्ञान के प्रति आदर या प्रेम हो तो भी ज्ञान प्राप्त कर लेना सम्भव है। यदि ज्ञान भी न हो और ज्ञान के प्रति मन में आस्था भी न हो तो मनुष्य को संशय-अग्नि में पड़ा जानो...।

...ज्ञान के विषय में जो बेपरवाह, विषयों के सुख से जो सुखी होता है, वह निस्सन्देह संशय के वश में हो जाता है।

...जिसके शरीर में काल-ज्वर भर जाता है, वह जैसे शीत और उष्ण नहीं पहचानता, अग्नि और चांदनी समान ही समझता है, वैसे ही संशय में पड़ा मनुष्य सत्य और असत्य, अनुकूल और प्रतिकूल भला और बुरा नहीं समझता।

...जब अज्ञान का अन्धेरा बढ़ता है तब संशय का बल बहुत बढ़ जाता है और श्रद्धा का मार्ग ही टूट जाता है, फिर यह इतना बढ़ता है कि हृदय में समा नहीं सकता, वह बुद्धि को ग्रस लेता है और तब तीनों लोक संशयमय दिखाई देने लगते हैं।"

जहाँ स्वार्थ और वासनापूर्ति के लिये किसी पर विश्वास किया जाता है वहाँ विश्वास की जड़ में धोखा निकलता है। परन्तु जहाँ सत्य, सेवा और परमार्थभाव से विश्वास की जड़ जमाई जाती है, सारे सन्देहों को छोड़कर निश्चयात्मिका बुद्धि बना ली जाती है और जहाँ धोखा देने का भाव नहीं होता, वहाँ कभी धोखा नहीं मिलता।

समस्त बन्धनों से मुक्त होने का उपाय गीता इस प्रकार बताती है—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

योगसंन्यस्तकर्माणम्, ज्ञानसंछिन्नसंशयम्,
आत्मवन्तम्, न, कर्माणि, निबध्नन्ति, धनंजय ।

धनंजय=हे धनंजय, योगसंन्यस्तकर्माणम्=जिसने योग से कर्मों का संन्यास कर दिया है, ज्ञानसंछिन्नसंशयम्=ज्ञान से जिसके संशय कट गये हैं, आत्मवन्तम्=जो आत्मवान है, कर्माणि=(उसको) कर्म, न=नहीं, निबध्नन्ति=बाँधते ।

तज योग-बल से कर्म, काटे ज्ञान से संशय सभी ।
उस आत्मज्ञानी को न बांधे कर्म-बन्धन में कभी ॥

अर्थ—हे धनंजय ! जिसने योग से कर्मों का संन्यास कर दिया है, ज्ञान से जिसके संशय कट गये हैं, जो आत्मवान् है उसको कर्म नहीं बाँधते ।

व्याख्या—जीवन-मुक्त होने के तीन साधन हैं—

१. योग द्वारा कर्मों का संन्यास करना ।

२. ज्ञान से सब सन्देहों को दूर करना ।

३. आत्मवान् होना ।

१. योग द्वारा कर्मों का संन्यास—

योग के अर्थ गीता में इस प्रकार किये गये हैं—

१. समत्वं योग उच्यते (२—४८)

बुद्धि की समता का नाम योग है ।

२. योगः कर्मसु कौशलम् (२—५०)

कर्म की कुशलता का नाम योग है ।

३. योगयज्ञः (४—२८)

चित्त-वृत्तियों का निरोध योग है ।

४. भगवत्परायण होना योग है। (२—६१)

इस प्रकार समबुद्धि, कुशलता, चित्तवृत्तियों का निरोध और ब्रह्म से मेल का नाम योग है।

ज्ञान-योग से, कर्म-योग से, भक्ति-योग से अथवा अष्टाङ्ग-योग से किसी भी प्रकार जो कर्मों का संन्यास कर देता है अर्थात् कर्मों की व्यवस्था करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

कर्म-संन्यास उस समय होता है जब कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखा जाता है।

कर्मों को भगवत्-अर्पण कर देने से भी कर्म का संन्यास हो जाता है। (३—३०)

कर्म-संन्यास का अभिप्राय कर्म का त्याग नहीं है, क्योंकि कर्म का त्याग गीता को किसी भी अवस्था में मान्य नहीं है। कर्मों में ममता, आसक्ति और कामना न रखने से ही कर्म का संन्यास हो जाता है। नियत कर्म न छोड़नेवाले को कर्म के बन्धन छोड़ जाते हैं।

पञ्चतन्त्र में तीन प्रकार के कर्म करनेवालों का वर्णन है—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः सहस्रगुणितैरपि हन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति ॥

कर्म नहीं आरम्भ अधम-जन करते विघ्नों से डरकर।
बाधाओं को देख अधूरा कर्म छोड़ते मध्यम नर ॥
जीवन-पथ पर कोटि-कोटि आयें बाधायें या उलझन।
हाथ लगाकर कर्म बीच में नहीं छोड़ते उत्तम जन ॥

सत्य, सेवा, प्रेम और स्वधर्म-पालन के लिये किया गया कर्म, योग-बुद्धि से सञ्चालित होता है। ऐसा कर्म करते ही 'कर्म-संन्यास' हो जाता है। कर्म का यही रहस्य है। निष्काम कर्म, यज्ञ-कर्म और अनासक्त कर्म का यही अभिप्राय है।

२. ज्ञानसंछिन्नसंशयम्—

सच्चा ज्ञान वही है जिसके आने पर कोई सन्देह न रहे।

यह निश्चित है कि ज्ञान से सन्देह कट जाते हैं। ज्ञान से जब जानकारी बढ़ती है और सब विषय तथा सब विद्यायें प्रत्यक्ष हो जाती हैं, तब कहीं कोई भ्रम नहीं रहता।

गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है—

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होय नहिं प्रीती।
प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई। जिमि खगेश जल की चिकनाई॥

ज्ञान के बिना विश्वास नहीं जमता, अतः ज्ञान प्राप्त करके संशयों का अन्त कर देना चाहिये। सन्देह देह को दुःखों और अशान्ति के बन्धनों में जकड़े रहता है।

३. आत्मवान्—

आत्मा सर्वत्र है, परन्तु आत्मवान् उसीको कहते हैं जिसमें आत्मा का बल बोलता है और जो प्रत्येक अवस्था में निर्द्वन्द्व, सत्य में स्थित तथा चाह-चिन्ताओं से मुक्त रहता है। आत्म-बल का सहारा लेकर कर्म करनेवाला सदा स्वतन्त्र है। जो दूसरों का सहारा खोजते हैं उनका आत्म-बल दब जाता है।

इन्द्रियों और अन्तःकरण पर जो अपना अधिकार रखता है, उसे भी 'आत्मवान्' कहते हैं।

आत्मवान् प्रमाद-रहित होकर सावधानी से सदा जीवित रहता है। जैसे आत्मा को मृत्यु नहीं छू पाती, उसी प्रकार जिसके जीवन को मृत्यु के साथी विकार नहीं छू पाते वह 'आत्मवान्' है।

मनुष्य को आत्मवान् होने से रोकनेवाला सबसे बड़ा शत्रु प्रमाद है। आत्मवान् होने के अभिलाषी को छः दोष छोड़ देने चाहियें—

षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥ (विदुर० १।८३)

उन्नति चाहनेवाले व्यक्ति को निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य

और दीर्घसूत्रता अर्थात् आज के काम को कल पर छोड़ने की आदत ये छः दोष त्याग देने चाहियें।

आलस्य जीवन का सबसे बड़ा शत्रु है। आलसी व्यक्ति कभी समय पर काम नहीं करता और उसे कहीं सफलता नहीं मिलती।

जो आत्मा अथवा परमात्मा में स्थित हो जाता है उसके लिये जगत् का सम्पूर्ण वातावरण पवित्र, सत्य और आनन्दमय बन जाता है, उसके जीवन में कहीं विषमता नहीं रहती।

आत्मवान् में उच्चतर ज्ञान, अन्तर्मुखी चेतना, विशुद्ध संकल्प और क्रियाशीलता सदा जागृत रहती है।

जो ब्रह्म का योग पाकर आत्मवान् हो जाता है उसमें शान्ति, शक्ति और ज्ञान का सूर्योदय हो जाता है। आत्म-प्रकाश होने से कहीं मलिन और अन्धकारमय वातावरण नहीं रहता। वासना, चंचलता, व्याकुलता आवेग, कुविचार और किसी भी प्रकार का विकार आत्मवान् पुरुष को बांधने में असमर्थ रहता है।

जीवन में मनुष्य को अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव देखने पड़ते हैं, सुखदायक और भयंकर मोड़ आते हैं परन्तु जो आत्मवान् है वह ब्राह्मीस्थिति में रहता है, किसी परिस्थिति में विचलित नहीं होता। उसके कर्म ब्रह्मकर्म होते हैं; इसी कारण वह बन्धन में नहीं बँधता।

जगत की विषमता, विकृति; दैहिक, दैविक तथा भौतिक ताप और अनेक विरोध जीवन पर आक्रमण करते हैं परन्तु आत्मवान् उन आक्रमणों को धैर्य और साहस से सहन करता है तथा विजयी होता है।

जो आत्मवान् है वह सदा मुक्त है।

इस प्रकार योग से कर्म का संन्यास करनेवाले, ज्ञान से संशय को काटनेवाले आत्मवान् पुरुष को कर्म बन्धन में नहीं बांधता।

कर्म-तत्पर होने के लिये मनुष्य को जिस महान् उपदेश की आवश्यकता है, वह गीता ने इस प्रकार दिया है—

तस्माद्ज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

तस्मात्, अज्ञानसंभूतम्, हृत्स्थम्, ज्ञानासिना, आत्मनः,
छित्त्वा, एनम्, संशयम्, योगम्, आतिष्ठ, उत्तिष्ठ, भारत।

तस्मात्=इसलिए, भारत=हे भारत, अज्ञानसंभूतम=अज्ञान से उत्पन्न हुए, हृत्स्थम्=हृदय में स्थित, आत्मनः=अपने, एनम=इस, संशयम्=संशय को, ज्ञानासिना=ज्ञान की खड्ग से, छित्त्वा=काटकर, उत्तिष्ठ=उठो, योगम्=(और) योग में, आतिष्ठ=लग जाओ।

अज्ञान से जो भ्रम हृदय में, काट ज्ञान-कृपान से।
अर्जुन ! खड़ा हो युद्ध कर, हो योग आश्रित ज्ञान से ॥

अर्थ—इसलिये हे भारत ! अज्ञान से उत्पन्न हुए हृदय में स्थित अपने इस संशय को ज्ञान की खड्ग से काटकर उठो और योग में लग जाओ।

व्याख्या—दिव्य-कर्म और दिव्य-जन्म का रहस्य खोलने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने जिस ज्ञानमय कर्म का विधान दिया है उसकी पूर्णाहुति करते हुए कहा—कि ज्ञान की तलवार से उस संशय को काट दो, जो अज्ञान से तुम्हारे हृदय में जम गया है। संशय को दूर करने के लिये और ज्ञान को धारण करने के लिये मनुष्य को जागृत होकर कर्म में लगना चाहिये। ज्ञान का मार्ग कर्म करने से मिलता है। जब कर्म के पैर ज्ञान के पथ पर पड़ते हैं तो जीवन का पथ तुरन्त मिल जाता है, विघ्न और बाधायें रास्ता नहीं रोकतीं, सब सन्देह स्वयं दूर हो जाते हैं और कर्म की गति स्वयं समझ में आ जाती है।

मनुष्य को केवल उठना है—जो उठता है, उसके लिये भगवान् की कृपा का हाथ उठा रहता है और जो उठकर कर्म में लग जाता है उसके साथ भगवान् लग जाते हैं।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दिव्य-कर्म-बोधो
नाम चतुर्थोऽध्याय ॥ ४ ॥

गीताज्ञान

श्लोक, पदच्छेद, शब्दार्थ, पद्यानुवाद और सरल अर्थ सहित
श्रीमद्भगवद्गीता का जीवनोपयोगी भाष्य

५

पांचवां अध्याय

[मुक्त-कर्म]

भाष्यकार—
श्रीहरिगीता, गीता-अध्ययन, गीता के सप्तस्वर, उपनिषद्-ज्ञान आदि के लेखक
व्याख्यानवाचस्पति श्री पं० दीनानाथ भार्गव दिनेश

संशोधित तथा परिवर्धित द्वितीय संस्करण

रक्षा-बन्धन
सं० २०१५

मूल्य
१) रुपया

प्रकाशक—
मानवधर्म कार्यालय
पीपल महादेव
दिल्ली।

मुद्रक—
जमना प्रिंटिंग वर्क्स
पीपल महादेव
दिल्ली।

श्रीमद्भगवद्गीता

मुक्त-कर्म

५

संसार में सुख सब चाहते हैं, परन्तु पूर्ण सुखी कौन है? भोग-विलास और इन्द्रिय-सुखों की कामना से नित्य नये-नये दुःख, चिन्तायें और उलझनें उत्पन्न होती हैं. इनमें घिर जानेवाला जीवन पशुवत् बन जाता है और इनसे छूट जानेवाला पशुपति—शिवरूप हो जाता है।

महात्मा विदुर ने एक बड़े काम का आदेश दिया है—

येन खट्वां समारूढः परितप्येत् कर्मणा।
आदावेव न तत्कुर्यात् अध्रुवे जीविते सति॥

जीवन का क्या भरोसा है? अतः जिन कर्मों से खाट पर पड़े-पड़े दुःख भोगने पड़ें उन्हें पहले ही क्यों न छोड़ दिया जाय।

मुक्त जीवन जीने के लिये भगवान श्रीकृष्ण ने दिव्य जन्म और दिव्य कर्मों का रहस्य बताया, कर्म के बन्धनों से छूटने के लिये योग द्वारा कर्म-संन्यास का आदेश दिया और कर्म में अकर्म देखते हुए सब संशयों को छोड़कर कर्मयोग को दृढ़ता से पकड़कर खड़े हो जाने की प्रेरणा दी।

साधारण बुद्धि में श्रीकृष्ण की विलक्षण-वाणी समा नहीं पाती। कर्म करें या ज्ञान-मार्ग पर चलकर संन्यास ग्रहण करें? शान्ति का निश्चित और स्पष्ट मार्ग कर्म है या संन्यास? यह अबूझ पहेली-सी है।

अर्जुन जैसे तपस्वी और मनस्वी वीर भी इस उलझन में पड़ गये, बड़े-बड़े आचार्य कर्म और संन्यास में भेद दिखाते-दिखाते थक गये, पर कर्म श्रेष्ठ है या संन्यास? इसका अन्तिम निर्णय नहीं हो पाया।

मानव-मात्र के लिये इस गुत्थी को सुलझा देने का ध्येय लेकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से निवेदन किया—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगञ्च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

संन्यासम्, कर्मणाम्, कृष्ण, पुनः, योगम्, च, शंससि,
यत्, श्रेयः, एतयोः, एकम्, तत्, मे, ब्रूहि, सुनिश्चितम् ।

कृष्ण=हे कृष्ण, कर्मणाम्=कर्मों के, संन्यासम्=संन्यास की, च=और, पुनः=फिर, योगम्=योग की, शंससि=प्रशंसा करते हो, मे=मेरे लिये, एतयोः=इन दोनों में से, एकम्=एक, यत्=जो, सुनिश्चितम्=अच्छी तरह निश्चित किया हुआ, श्रेयः=श्रेयस्कर हो, तत्=उसको, ब्रूहि=कहिये ।

कहते कभी हो योग को उत्तम कभी संन्यास को ।
हे कृष्ण ! निश्चय कर कहो वह एक जिससे श्रेय हो ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! कर्मों के संन्यास की और फिर योग की प्रशंसा करते हो, मेरे लिये इन दोनों में से एक जो अच्छी तरह निश्चित किया हुआ श्रेयस्कर हो उसको कहिये ।

व्याख्या—मनुष्य कोई उलझन नहीं चाहता, वह अधिक-से-अधिक सरल और सीधा रास्ता खोजता है । यद्यपि गीता ने कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने का आदेश देकर, कर्म और संन्यास में कोई अन्तर नहीं रखा, परन्तु 'कामसंकल्पवर्जितः' 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्' 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' 'ध्यानावस्थितचेतसः' आदि आदेशों से ज्ञान अथवा संन्यास का महत्त्व जान पड़ता है, साथ ही 'कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे' 'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत' आदि वाक्यों से कर्मयोग की श्रेष्ठता जान पड़ती है । कर्मों का स्वरूपतः त्याग नहीं हो सकता और कर्म, बन्धन में बांधे बिना नहीं मानते, यह विकट समस्या अर्जुन के सामने खड़ी हो गई । उसे आगे बढ़ने का मार्ग न सूझा और कुछ अधीर-सा होकर उसने श्रीकृष्ण से कहा कि मुझे भली-भांति निश्चित करके एक रास्ता बता दीजिये जिस पर चलने में श्रेय ही श्रेय मिले । श्रीकृष्ण ने अर्जुन के गम्भीर प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥

संन्यासः, कर्मयोगः, च, निःश्रेयसकरौ, उभौ,
तयोः, तु, कर्मसंन्यासात्, कर्मयोगः, विशिष्यते,

संन्यासः=संन्यास, च=और, कर्मयोगः=कर्मयोग, उभौ=दोनों, निःश्रेयसकरौ=मुक्त करनेवाले हैं, तु=परन्तु, तयोः=उन दोनों में, कर्मसंन्यासात्=कर्म-संन्यास से, कर्मयोगः=कर्मयोग, विशिष्यते=विशेष है ।

संन्यास एवं योग दोनों मोक्षकारी हैं महा ।
संन्यास से पर कर्मयोग महान् हितकारी कहा ॥

अर्थ—संन्यास और कर्मयोग दोनों मुक्त करनेवाले हैं, परन्तु उन दोनों में कर्म-संन्यास से कर्मयोग विशेष है ।

व्याख्या—संन्यास का अर्थ है सम्यक् प्रकार से कर्म का न्यास । मन, वचन और शरीर से होनेवाली चेष्टाओं में जब मोह, ममता और अभिमान नहीं रहता, तो त्याग अथवा संन्यास स्वयं सिद्ध हो जाता है ।

कर्तृत्व का अभिमान संन्यास का घोर शत्रु है । महाभारत में एक अनुभव की बात कही गई है—

जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया ।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसङ्गः ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥

बुढ़ापा रूप को खा लेता है, आशा धीरज को तोड़ देती है, मृत्यु प्राणों को हर लेती है, निन्दा धर्म को नहीं सधने देती, क्रोध लक्ष्मी को नहीं ठहरने देता । नीचों का संग शील का अन्त कर देता है, काम लज्जा का अन्त कर देता है और अभिमान सर्वस्व हर लेता है ।

अभिमान को त्यागनेवाला संन्यासी है और सदा मुक्त है ।
कर्मों को भगवान् के अर्पण कर देना भी संन्यास है ।

(गी० ३।३०, १२।६, १८।५७)

'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।' (१८।२)

काम्य कर्मों के त्याग को विद्वान् जन 'संन्यास' कहते हैं।

ज्ञाननिष्ठा को भी 'संन्यास' कहा जाता है।

बोल-चाल की भाषा में बाह्य-कर्म छोड़ देने को संन्यास समझा जाता है। संन्यास के अनेक अर्थ होने पर भी उसका विशेष लक्ष्य त्याग है। त्याग भाव से चाहे कर्मों में भगवत्-अर्पण बुद्धि हो, चाहे सेवा और परमार्थ के कर्म हों और चाहे कर्म में अकर्म का दर्शन किया जाय; सबके द्वारा मनुष्य का उत्थान और सब प्रकार मंगल होता है।

कर्मयोग जीवन को मुक्त करने का अनुपम साधन है। जब परिश्रम और सत्य का सहारा लेकर परमेश्वर के प्रकाश में कर्म का अलख जागता है, तो मुक्ति के मार्ग स्पष्ट दीखने लगते हैं, अङ्गरक्षिका होकर सावधानी पीछे-पीछे चलती है, कुशलता संकेत पर बुद्धि की आज्ञा मानती है और पवित्रता, प्रेम, सद्भावना, सत्य आदि दैवी गुण कर्म में अपना-अपना योग देते हैं।

इस प्रकार संन्यास और कर्मयोग दोनों ही मनुष्य का महान् हित करनेवाले हैं, परन्तु कर्म-संन्यास से कर्मयोग में विशेषता है।

कर्म किये बिना कोई एक क्षण भी नहीं रह सकता और एकदम कोई स्वार्थों, कामनाओं एवं अहंकार को भी नहीं छोड़ सकता। करते-करते धीरे-धीरे कर्म सात्विक बनते जाते हैं और जीवन का रूपान्तर होता चलता है। कर्म की यही विशेषता है कि वह पुरुष को पुरुषोत्तम की ओर ले जाने के लिये सदा तत्पर रहता है। कर्म का प्रकाश प्रत्येक प्राणी को जगाता आगे बढ़ाता और रास्ता दिखाता है। संन्यास का प्रारम्भ कर्म से ही होता है।

संन्यास और कर्म दोनों में द्वेष, द्वन्द्व और कामना का अभाव होना नितान्त आवश्यक है। नित्यसंन्यासी की परिभाषा भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार की है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

ज्ञेयः, सः, नित्यसंन्यासी, यः, न, द्वेष्टि, न, कांक्षति,
निर्द्वन्द्वः, हि, महाबाहो, सुखम्, बन्धात्, प्रमुच्यते ।

महाबाहो=हे महाबाहो, यः=जो, न=न, द्वेष्टि=द्वेष करता है (और), न=न, कांक्षति=आकांक्षा करता है, सः=वह, नित्यसंन्यासी=नित्य-संन्यासी, ज्ञेयः=समझा जाना चाहिये, हि=क्योंकि, निर्द्वन्द्वः=द्वन्द्वों से रहित पुरुष, सुखम्=सुखपूर्वक, बन्धात्=बन्धन से, प्रमुच्यते=छूट जाता है ।

है नित्य-संन्यासी न जिसमें द्वेष या इच्छा रही ।
तज द्वन्द्व सुख से सर्व बन्धन-मुक्त होता है वही ॥

अर्थ—हे महाबाहो ! जो न द्वेष करता है और न आकांक्षा करता है, वह नित्य-संन्यासी समझा जाना चाहिये, क्योंकि द्वन्द्वों से रहित पुरुष सुखपूर्वक बन्धन से छूट जाता है ।

व्याख्या—जो द्वेष नहीं करता वह सदा संन्यासी है । जो किसी से वैर नहीं करता, ईर्ष्या रहित रहता है और मन के प्रतिकूल वस्तुओं को प्राप्त करके भी उद्वेग नहीं करता, वही द्वेषरहित कहा जाता है । द्वेष में पड़ा हुआ मनुष्य दूसरे के सद्गुणों को ग्रहण नहीं करता और राग में बंधा हुआ अपने दुर्गुणों को नहीं छोड़ता । जहां राग और द्वेष मिलकर खड़े हो जाते हैं, वहां विकास के मार्ग बन्द हो जाते हैं और मोह की ऐसी दीवारें खड़ी हो जाती हैं जो दैवी प्रकाश को चारों ओर से रोक लेती हैं ।

द्वेष और राग से सद्भाव और प्रेम का अन्त हो जाता है । बाहर भी संघर्ष, क्लेश और चिन्तायें फैली रहती हैं और अन्तर में भी व्याकुलता, अशान्ति, ग्लानि तथा उदासी भरी रहती है ।

यही आकांक्षा के दोष हैं । आकांक्षा करनेवाला कर्मों का जाल फैलाता है, परन्तु किसी भी कर्म को पूरा नहीं कर पाता । स्वार्थों की

बाढ़ उसके धीरज के किनारों को तोड़ देती है, वह किसी की भी घात करने में संकोच नहीं करता और उसकी तृष्णा कभी शान्त नहीं होती।

द्वेष और इच्छाओं से उत्पन्न होनेवाला ममत्व जितना बढ़ता है आत्म-भाव उतना ही कम होता जाता है। संसार को प्रपञ्च और झंझटों से भरनेवाली वासना है। वासना, ताड़का राक्षसी की भांति यज्ञों का विध्वंस करती है। वासना का साथी काम है यह कभी बड़ा और कभी छोटा हो जाता है; मारीच की भांति अनेक रूप बनाकर यह बड़े-बड़े महापुरुषों को भी संकट में डाल देता है। अतः संन्यासी वही है जो द्वेषों और कामनाओं से छूट जाता है।

राग, द्वेष और कामनाओं के कारण होनेवाले द्वन्द्व मनुष्य को दुःखी करते हैं। जो द्वन्द्वों को पालता-पोषता है उसके पापों का परिवार बढ़ता है और जो अपनी भूलों, अपराधों, पापों या बुराइयों को अपने में देखकर लज्जित होता है, उनसे बचने की कामना करता है, वह अनन्त तेजस्वी तथा महान् संन्यासी होकर प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है।

संन्यासी वह है जो द्वन्द्वों से छूट जाता है, इन्द्रियों पर संयम करके सुख-दुःख, लाभ-हानि, अच्छे-बुरे में सदा प्रसन्न रहकर स्वधर्म का आचरण करता है। जो द्वन्द्वों से छूट जाता है, उसे किसी भी अवस्था में किसी प्रकार का कष्ट नहीं रहता। प्यास बुझाना जल का काम है, प्रकाश देना सूर्य का काम है। अपने-अपने कर्म करने में न सूर्य को कष्ट होता है, न जल को, उनका सहज धर्म सदा उनके साथ रहता है; उन्हें पुण्य-पाप, लाभ-हानि, यश-अपयश की कोई बाधा नहीं होती। किसी से राग-द्वेष करना उनके लिये किसी भी अवस्था में सम्भव नहीं। इसी प्रकार संन्यासी द्वेष, कामना और द्वन्द्वों से अलग रहकर कर्म करता है, उसका कर्म, स्वाभाविक होता है, उसे उसके करने में कोई भार या कष्ट नहीं होता, वह सुख से बन्धन-मुक्त हो जाता है।

गीता का पवित्र कर्म ही संन्यास है। भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्म और संन्यास दोनों का फल एक ही कहा है—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

सांख्ययोगौ, पृथक्, बालाः, प्रवदन्ति, न, पण्डिताः, एकम्, अपि, आस्थितः, सम्यक्, उभयोः, विन्दते, फलम्।

सांख्ययोगौ—सांख्य और योग को, बालाः=अज्ञजन, पृथक्=अलग-अलग, प्रवदन्ति=कहते हैं, पण्डिताः=पण्डित, न=नहीं, एकम्=एक में, अपि=भी, सम्यक्=अच्छी तरह, आस्थितः=जम जानेवाला, उभयोः=दोनों के, फलम्=फल को, विन्दते=पा लेता है।

हैं 'सांख्य' 'योग' विभिन्न कहते मूढ़, नहिं पण्डित कहें ।
पाते उभय फल एक के जो पूर्ण साधन में रहें ॥

अर्थ—सांख्य और योग को अज्ञजन अलग-अलग कहते हैं, पण्डित नहीं। एक में भी अच्छी तरह जम जानेवाला, दोनों के फल को पा लेता है।

व्याख्या—सांख्य वह है, जिससे जानने योग्य विषयों को जान लिया जाय अथवा सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जाय। आत्म-विवेक, तत्त्व-ज्ञान और संन्यास के लिये भी सांख्य शब्द का व्यवहार किया जाता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने—

'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' (२।३९)

कहकर उस आत्म-ज्ञान का वर्णन किया है, जो सांख्य का फल है और वही योग अर्थात् कर्मयोग का भी फल है। यहां सांख्य और योग से संन्यास और कर्म का अभिप्राय समझना चाहिये।

वास्तव में कर्म और संन्यास दोनों मार्गों का फल एक ही है, दोनों के नाम भले ही अलग-अलग हैं, पर अन्तिम स्वरूप अभिन्न है। जो अहंकार को ब्रह्म के अर्पण कर देता है, जिसका अन्तःकरण ममता को छोड़कर समता में टिका रहता है, जिसकी इन्द्रियों के घर में विषयों

के पैर नहीं पड़ते और जो ज्ञान के प्रासाद में भक्ति के आसन पर आनन्द से निर्भय और निष्पाप होकर बैठता है वही 'संन्यासी' है और वही 'कर्मयोगी' है।

कर्म छोड़ना संन्यास का ध्येय नहीं है। संन्यासी कहे कि मैं लोक-संग्रह, सेवा और परमार्थ के कर्म नहीं करूँगा, तो उसका संन्यास नहीं रह सकता। संन्यास की महत्ता सब कर्मों के बन्धनों से मुक्त होने में है, कर्म छोड़ने में नहीं। संन्यासी ऐसी युक्ति से कर्म करता है कि कुछ न करता हुआ भी वह सब कुछ कर लेता है। इसी प्रकार कर्मयोगी कर्म में ऐसी योग-बुद्धि से लग जाता है कि सब कुछ करते हुए भी वह समझता है कि मैंने कुछ नहीं किया। कर्म और ज्ञान परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। कर्म और संन्यास को अलग-अलग समझना बालकों की-सी बात है।

जिन्होंने तत्त्व-ज्ञान नहीं जाना, अथवा जानकर भी जो ज्ञान को आचरण में नहीं लाये, उन्हें बालक या अज्ञ जानना चाहिये। करने योग्य कर्म न करनेवाले, कर्त्तव्य को न समझनेवाले, शास्त्रों के ज्ञाता होकर भी प्रज्ञावाद का आसरा लेकर स्वधर्म का आचरण न करनेवाले अज्ञ होते हैं। अज्ञ-जन केवल वाद-विवाद और ज्ञान-चर्चा में आसक्त रहते हैं, कर्मठ और सधा हुआ जीवन नहीं बना पाते।

पण्डित वह है जिसके विचार, ज्ञान और अनुभव से छनकर निकलते हैं, जो सत्य की खोज में जीवन को लगा देता है और प्रत्येक तत्त्व की गहराई में पहुँचकर ज्ञान-दृष्टि से देखे हुए रास्ते पर चलता है। ऐसे पण्डित की दृष्टि में कर्म और संन्यास एक ही है और वह जानता है कि दोनों में से किसी एक रास्ते को अच्छी तरह पकड़ लेने से जीवन का ध्येय पूर्ण हो जाता है। कर्मयोग और ज्ञान को साधन तथा साध्य भी कहा जा सकता है। ज्ञान के लिये कर्म करने का फल भी परम सुख है और ज्ञान पूर्वक कर्म करने का फल भी परमानन्द की प्राप्ति है। अतः एक के आचरण से दोनों का फल मिलता है।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥

यत्, सांख्यैः, प्राप्यते, स्थानम्, तत्, योगैः, अपि, गम्यते,
एकम्, सांख्यम्, च, योगम्, च, यः, पश्यति, सः, पश्यति ।

यत्=जो, स्थानम्=स्थान, सांख्यैः=सांख्य योगियों को, प्राप्यते=मिलता है, तत्=वही, योगैः=कर्मयोगियों द्वारा, अपि=भी, गम्यते=प्राप्त किया जाता है, च=और, यः=जो, सांख्यम=सांख्य, च=तथा, योगम्=योग को, एकम्=एक, पश्यति=देखता है, सः=वही, पश्यति=देखता है ।

पाते सुगति जो सांख्य ज्ञानी कर्म-योगी भी वही ।
जो 'सांख्य', 'योग' समान जाने तत्त्व पहिचाने सही ॥

अर्थ—जो स्थान सांख्य-योगियों को मिलता है वही कर्मयोगियों द्वारा भी प्राप्त किया जाता है और जो सांख्य तथा योग को एक देखता है वही देखता है ।

व्याख्या—जो कुछ ज्ञान-मार्ग से मिलता है वही कर्मयोग से मिलता है । यदि गहराई से देखा जाय तो जान पड़ता है कि योग से ज्ञान होता है और ज्ञान से योग होता है । ज्ञान और कर्म इस प्रकार हैं जैसे पेट और पीठ दोनों एक दूसरे के सहारे रहकर एक दूसरे को बल देते हैं ।

कर्म के बिना संन्यास नहीं सधता । प्रयत्न से ही पूर्णता मिलती है, निरन्तर चलता रहनेवाला ही आगे बढ़ता है । कर्म करते-करते दोषों का सामने आना स्वाभाविक है । मन में छुपे राग-द्वेष आदि विषय-वासनाओं का अन्त किया कि संन्यास सिद्ध हुआ । संन्यास होते ही कर्म में अपार शक्ति आजाती है, अन्तर में शक्ति का समुद्र हिलोरें लेने लगता है ।

संन्यासी की उपस्थिति मात्र से कर्म की महान् प्रेरणा मिलती

है। गुरु के संन्यास का प्रताप है कि उसके सन्मुख आते ही शिष्य सावधान होकर कर्म में लग जाता है।

हनुमान् लंका-दहन करके श्रीराम के पास आये। भगवान् राम ने उनकी पीठ पर हाथ फेरा और कहा—महावीर ! तुमने बड़ा परिश्रम किया, बलवान् राक्षसों से पालित लंका को जला डाला। मैं तुम्हारे लिये क्या करूँ ?

हनुमान् बोले—मैंने आपके प्रताप से ही अपना कर्तव्य पूरा किया है—आपकी स्नेह-भरी दृष्टि तथा कृपा के हाथ ने मेरी सब थकान दूर कर दी।

श्रीराम के संन्यास में चराचर को जीवन-शक्ति देने की अनन्त सामर्थ्य थी। मरे हुए भालु, कपि भी राम की स्नेह भरी दृष्टि से जीवित हो जाते थे।

संन्यास वही है, जिसमें जीवन और कर्म की अपार प्रेरणा भरी हो।

श्रीकृष्ण अनासक्त होकर जो कुछ करते थे वह सब संन्यास ही था। वे कर्मयोगी थे इसी कारण महान् ज्ञानी थे। कर्म और ज्ञान की एकता से ही श्रीकृष्ण ने अद्भुत कर्म किये और योगेश्वर पद पाया।

वास्तव में कर्म के बिना ज्ञान का कोई मूल्य नहीं और ज्ञान के बिना कर्म अधूरा है। संन्यासी हो या कर्मयोगी पूर्णता प्राप्त करने के लिये जितनी ज्ञान की आवश्यकता है उतनी ही कर्म की।

इस प्रकार जो कर्म और संन्यास को एक ही रूप में देखता है, वही देखता है। संन्यासी और कर्मयोगी दोनों लोक-संग्रह के लिये जीवन-अर्पण करते हैं। श्रीराम, जनक, व्यास, शुकदेव, श्रीकृष्ण, बुद्ध प्रभृति महापुरुष संन्यास और कर्म दोनों के आदर्श थे।

मनुष्य की शक्ति सामर्थ्य और स्वभाव के अनुसार कर्म तथा संन्यास की सिद्धि होती है। संन्यास की साधना का प्रारम्भ कर्म से होता है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

संन्यासः, तु, महाबाहो, दुःखम्, आप्तुम्, अयोगतः, योगयुक्तः, मुनिः, ब्रह्म, नचिरेण, अधिगच्छति ।

तु=परन्तु, महाबाहो=हे महाबाहो, अयोगतः=बिना योग के, संन्यासः=संन्यास को, आप्तुम्=पाना, दुःखम्=कठिन है, योगयुक्तः=योगयुक्त, मुनिः=मुनि, नचिरेण=शीघ्र ही, ब्रह्म=ब्रह्म को, अधिगच्छति=प्राप्त होता है ।

निष्काम-कर्म-विहीन हो पाना कठिन संन्यास है ।
मुनि कर्म-योगी शीघ्र करता ब्रह्म ही में वास है ॥

अर्थ—परन्तु हे महाबाहो ! बिना योग के संन्यास को पाना कठिन है, योग-युक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त होता है ।

व्याख्या—लोक-व्यवहार तथा जीवन-यात्रा को सरस तथा सुगम बनाने के लिये संन्यास की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है । कर्म किये बिना संन्यास की बात करना कोरी कल्पना है । व्यवहार की दृष्टि से भी कर्म करते हुए ही सिद्धि तक पहुँचना सम्भव है । संन्यास कर्म की उच्च अथवा सिद्धावस्था का नाम है । सिद्ध हुए बिना साधना को छोड़नेवाला नीचे गिर जाता है । कर्म मुक्ति का सोपान है, छत पर पहुँचे बिना सीढ़ी को छोड़नेवाला जैसे गिर पड़ता है अथवा पार पहुँचने से पहिले नाव को छोड़नेवाला जैसे डूब जाता है, उसी प्रकार कर्म को छोड़ने से जीवन का पतन होता है । कर्म को छोड़कर संन्यास पाना दुष्कर है ।

जो योग से युक्त है अर्थात् जो चित्तवृत्तियों का निरोध करके कर्म करता है—समबुद्धि से कर्म करता है, युक्ति-पूर्वक कुशलता से कर्म करता है, ईश्वर-अर्पण-बुद्धि से कर्म करता है अथवा कर्म करके ऐसे रहता है जैसे कुछ न किया हो—कर्तृत्व के अभिमान में नहीं फँसता, उस मननशील का नित्य-निरन्तर ब्रह्म में निवास रहता है ।

निष्काम कर्मयोग में त्याग, तप, आनन्द, ज्ञान और प्रकाश होने के कारण वह ब्रह्मकर्म हो जाता है। निष्काम कर्मयोग में विषमता, द्वन्द्व, तम और आसक्ति नहीं रहती अतः उसके बिना किसी प्रकार संन्यास सिद्ध नहीं होता।

निष्काम कर्मयोग अपनी ब्रह्म-शक्ति द्वारा जीव में ब्रह्म की प्रतिष्ठा करता है, अचल शान्ति, समता और आनन्द में स्थित करता है, विषय के स्पर्श से चित्त में वासना की तरंगें नहीं उठने देता यही ब्रह्म में स्थिति का भाव है।

"कर्मयोग में लगा हुआ मुनि—आत्म-मननशील पुरुष स्वयं ही आसानी के साथ कर्मयोग का सम्पादन करके अल्प समय में ही ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। ज्ञानयोग में लगा हुआ पुरुष बड़ी कठिनता से ज्ञान-योग का सम्पादन कर पाता है।" —श्री रामानुज

कर्मयोगी ही मुनि है। मुनि उसे कहते हैं जो विचार पूर्वक राग, भय और क्रोध को छोड़ देता है, जो अपनी मननशीलता से सुख और दुःखों में तथा प्रत्येक अवस्था में स्वधर्म का आचरण करता है। ऐसा कर्मयोगी मुनि शीघ्र ही ब्रह्म को पा लेता है।

ब्रह्म का अर्थ संन्यास भी किया जाता है। उपनिषदों में आनन्द को ब्रह्म कहा है। वेदान्त के अनुसार सच्चिदानन्द में टिका हुआ ज्ञानी तादात्म्य-भाव से ब्रह्मरूप हो जाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि,' 'शिवोऽहम्', 'सोऽहम्' आदि ब्रह्मलीन पुरुष के महाभाव हैं।

ब्रह्म चाहे साकार हो चाहे निराकार, सत्य रूप हो अथवा आनन्द रूप, उसकी शक्ति अनन्त है, वह अव्यय और सर्वोपरि है। कर्म में ही मनुष्य को ब्रह्म तक ले जाने की सामर्थ्य है। कर्म न करनेवाले का जीवन धोखा है, कर्म के बिना संन्यास मिथ्याचार है, कर्महीन के लिये ब्रह्म तो क्या, यह संसार भी नहीं है।

कर्म के दोष निकल जाने पर कर्म निष्काम कहा जाता है, उसमें और संन्यास में फिर कोई भेद नहीं रहता। निष्काम कर्म से जीवन-मुक्ति मिलती है, वह कर्ता को कभी बन्धन में नहीं बँधने देता।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।७।।

योगयुक्तः, विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रियः,
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्, अपि, न, लिप्यते ।

योगयुक्तः=योगयुक्त, विशुद्धात्मा=विशुद्ध अन्तःकरणवाला, विजितात्मा=आत्मजयी, जितेन्द्रियः=जितेन्द्रिय, सर्वभूतात्मभूतात्मा=सब प्राणियों का आत्मा जिसका आत्मा है (वह), कुर्वन्=कर्म करता हुआ, अपि=भी, न=नहीं, लिप्यते=लिप्त होता ।

जो योगयुत है, शुद्ध मन, निज आत्मयुत देखे सभी ।
वह आत्म-इन्द्रिय-जीत जन, नहिं लिप्त करके कर्म भी ।।

अर्थ—योग-युक्त, विशुद्ध अन्तःकरणवाला, आत्मजयी, जितेन्द्रिय, सब प्राणियों का आत्मा जिसका आत्मा है वह कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ।

व्याख्या—कर्म करके उसके विकारों में जो नहीं बँधता, वही जीवन्मुक्त कहा जाता है। कर्म से उत्पन्न होनेवाले राग, द्वेष, द्वन्द्व मनुष्य को उलझन में डाल देते हैं। प्रायः कर्म की कठिनाइयों और भीषणताओं को देखकर मनुष्य में क्षणिक वैराग्य हो जाता है। जो कर्म से दब जाते हैं, आलस्य और प्रमाद के वश में होकर कर्म से जी चुराते हैं, जिनकी बुद्धि और इन्द्रियाँ साथ नहीं देतीं वे ही कर्म से भागते हैं। ऐसे अकर्मण्य व्यक्ति देश और धर्म के शत्रु होते हैं। जीवन को जड़, तेजहीन और मिथ्या बनाकर वे अपनी घात करते हैं। संन्यास ऐसे व्यक्तियों के लिये नहीं है। कर्म और संन्यास की सिद्धि पाँच प्रकार के मनुष्यों को होती है—

१. योग-युक्त । २. विशुद्धात्मा । ३. विजितात्मा ।

४. जितेन्द्रिय। ५. सर्वभूतात्मभूतात्मा ।

योगयुक्त—

योगयुक्त, मुनि नित्य ब्रह्म में निवास करता है। जो मनोनिवेश-पूर्वक चित्त-वृत्तियों का निरोध करके कर्म करता है उसे योगयुक्त कहते हैं। वह भी योग-युक्त है जो प्रत्येक कर्म में कुशल होता है, जिसे समत्वबुद्धि का योग प्राप्त है और जो अपने आपको परमात्मा के साथ रखकर कर्म करता है।

इस जगत् में योग-युक्त होकर पुरुषार्थ करनेवाला कभी नीचा नहीं देखता। परमात्मा के सामने भी वह प्रसन्नता से प्रेम-पूर्वक आंखें मिलाकर खड़ा रहता है। योग-युक्त के उत्साह को कभी विषाद का राहु नहीं ग्रसता। महर्षि वाल्मीकि ने बड़े अनुभव से कहा है—

न विषादे मनः कार्यं विषादो दोषवत्तरः।
विषादो हन्ति पुरुषं बालं क्रुद्ध इवोरगः॥

विषाद बहुत बड़ा दोष है, मन में विषाद का घुन नहीं लगने देना चाहिये। क्रोध से भरा साँप जैसे बालक को भी काट खाता है, वैसे ही विषाद पुरुष को खा जाता है।

योग-युक्त होकर कर्म करनेवाला कभी विषाद के वश में नहीं आता। वह कभी निरुत्साह, दीन और अधीर होकर नहीं बैठता। परम पुरुषार्थ और परमेश्वर का सहारा लेकर वह भाग्य को भी दबा लेता है। यह अनुभूत सत्य है—

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम्।
न दैवेन विपन्नार्थः सोऽवसीदति॥

जिसमें अपने पुरुषार्थ से भाग्य को दबा देने की शक्ति है, वह भाग्य की बाधाओं से डरता नहीं, विपत्तियों को देखकर कभी उत्साह छोड़कर नहीं बैठता।

योग-युक्त में उत्साह उमड़ता रहता है, पुरुषार्थ उसके ललाट पर चमकता है, कर्म-कुशलता उसके हाथों में खेलती है और ज्ञान उसकी मुट्ठी में रहता है। योग-युक्त होकर कर्म करनेवाला अपने प्रत्येक

कर्म से परमेश्वर की पूजा करके उन्हें प्रसन्न रखता है, सच पूछा जाय तो वह स्वयं कुछ नहीं करता, परमेश्वर उसमें पैठकर कर्म करते हैं। इसीलिये वह कर्म करता हुआ भी कर्म-बन्धन से मुक्त रहता है।

२ विशुद्धात्मा—

विशुद्धात्मा का अर्थ है, निर्मल, पवित्र, सरल, निर्विकार अथवा अत्यन्त शुद्ध अन्तःकरणवाला।

शुद्ध अन्तःकरण में बुद्धि आकाशवत् निर्मल और स्वच्छ रहती है, मन गंगा जैसा पवित्र रहता है, चित्त ऐसा स्थिर रहता है जैसे बिना वायु के अविचल दीपक की ज्योति और अहंकार भगवान में मिलने के लिये ऐसे बहता है जैसे समुद्र में मिलने के लिये नदियाँ।

निर्मल अन्तःकरण क्षीरसागर के समान है, जिसमें शेष-शय्या रूप कुण्डलिनी पर भगवान् सदा विहार करते हैं।

निर्मल जन की हृदय-भूमि है, पावन भावन वृन्दावन।
सदा किया करते हैं क्रीड़ा उसमें यशुदा के नन्दन॥
मायाकाल न व्यापे उसमें तीन लोक से है न्यारा।
सुख की वंशी बजे चैन से छूटे कर्मों का बन्धन॥

जो निर्मल अन्तःकरण से भगवान् के सामने जाता है उसके सामने भगवान् खुले रूप में आते हैं।

ऐसा विशुद्ध अन्तःकरण बनाने के लिये विजितात्मा होना चाहिये।

३. विजितात्मा—

अपने दैहिक स्वभाव को जीत लेनेवाले को 'विजितात्मा' कहते हैं। शरीर पर नियन्त्रण न हो तो आलसी, असावधान, रोगी और छुई-मुई-सा शरीर संसार के संघर्ष को सहन करने के योग्य नहीं रहता। मनुष्य में पुरुषार्थ करने की दृढ़ इच्छा हो, मन और इन्द्रियाँ भी योग में लगी रहें, पर शरीर साथ न दे तो कर्म में पूर्णता नहीं आती। अतः जीवन-मुक्त होने के लिये दैविक दैहिक और भौतिक आपत्तियों से छूटना नितान्त आवश्यक है। त्रय तापों से क्षीण, दुर्बल अथवा जर्जरित

शरीर में अनेकों रोग घर कर लेते हैं, विषय रूप पक्षी उसमें घोंसला बना कर बस जाते हैं और वह बेचारा दीन और बलहीन रहकर जीवन के दिन काटता है। उपनिषदों का महावाक्य है—

'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'

निर्बल पुरुष को आत्मा नहीं मिलता।

शरीर पर विजय पाने के लिये जितेन्द्रिय होना चाहिये।

४. जितेन्द्रिय—

जितेन्द्रिय का अर्थ है—इन्द्रियों पर विजय पानेवाला। जिसकी इन्द्रियाँ इधर-उधर दौड़ती हैं, उसका मन भी चंचल रहता है। इन्द्रियाँ विषयों को भोगने में ऐसी लग जाती हैं कि उन्हें परमेश्वर, धर्म और अपने शरीर तक का ध्यान नहीं रहता। जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य ने कहा है—

सुखतः क्रियते रामाभोगः,
पश्चाद्धन्त शरीरे रोगाः।
यद्यपि लोके मरणं शरणम्,
तदपि न मुञ्चति पापाचरणम्॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।

भोग विलास किये सब सुख से,
फिर तन होता रोगी दुख से।
मरना निश्चित जग में जन को,
किन्तु न तजता पाप - चलन को॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ मते।

सब साधनों का मूल संयम है, इन्द्रियों पर संयम न हो तो धर्म और कर्म मिथ्याचार हैं। विषयों की ओर से इन्द्रियों को हटाकर जो उन्हें कर्म में लगा देता है, उसकी महाशक्ति से कर्म भारहीन और मुक्तिदाता बन जाता है। जितेन्द्रिय को सर्वत्र सफलता प्राप्त होती है। जिसकी इन्द्रियाँ व्यभिचार की ओर नहीं जातीं वह देवताओं का प्रिय होता है। इन्द्रियों के संयम से मनुष्य की शक्ति कभी छीजती नहीं।

कहा जाता है कि इन्द्रियों को जीतकर तप और ब्रह्मचर्य द्वारा देवताओं में मृत्यु को भी जीत लेने की शक्ति आजाती है।

भीष्म इन्द्रियों को वश में करके इच्छा-मृत्यु हो गये थे, उनके शरीर में अमृत भर गया था। प्रत्येक मनुष्य में अमृत का कुण्ड है, परन्तु इन्द्रियों द्वारा टपक-टपक कर वह बह जाता है। इन्द्रियों को दृढ रखने से शरीर के रोम-रोम में अमृत छलकने लगता है। जितेन्द्रिय हनुमान् में यही अमृत उमड़ आया था, उनकी देह स्वर्ण जैसी तेजस्वी थी, वे अतुलित बल के धाम थे।

अर्जुन को श्रीकृष्ण ने गीता सुनने के लिये चुना था। वह उनका सखा, सम्बन्धी और भक्त तो था ही, परन्तु उसकी जितेन्द्रियता पर भगवान् ऐसे रीझे कि कठिन-से-कठिन समय में भी उसका साथ न छोड़ा और अपना गीतारूपी हृदय खोलकर उसके सामने रख दिया।

संसार की सर्व-श्रेष्ठ सुन्दरी अप्सरा उर्वशी अर्ध रात्रि में अर्जुन के महल में गई और उससे एक उसीके समान वीर और तेजस्वी पुत्र की याचना की। जितेन्द्रिय अर्जुन के संयम को उर्वशी का रूप और काम-वासना न झुका सकी। उसने कहा, माँ! पुत्र जनने का कष्ट क्यों सहन करो, मैं इतना बड़ा पुत्र तुम्हारी सेवा में प्रस्तुत हूँ। अर्जुन ने उर्वशी में अपनी माता के स्वरूप का दर्शन किया और प्रणाम करते हुए कहा—

माता आई हो तो आओ!
अपना प्रेम - संदेशा लाओ!
ऐसा दे जाओ वर कोई,
किंचित् काम न व्यापे तन में!

श्रीराम ने एक बार लक्ष्मण से कहा था—

लछमन देखत काम अनीका।
रहहिं धीर तिनकी जगलीका॥

विषयों में बह जानेवाला संसार-सागर में गोते खाता रहता है। तुम्बे की तरह वह कभी डूबता है, कभी उछलता है, विषयों की लहरें थपेड़े मार-मारकर उसे इधर से उधर करती रहती हैं।

बेचारे विषयी—इन्द्रियों के दास, दया के पात्र हैं। दीन, दुर्बल, रोग-ग्रस्त रहकर वे जीवन में सुख चाहते हैं! कैसी विडम्बना है! सहस्रों होनहार युवक और युवतियों का जीवन विषय-वासनाओं का शिकार हो जाता है। चरित्र की रक्षा के लिये, सदाचारी और बुद्धिमान् होने के लिये तथा जीवन का सर्वतोमुखी विकास करने के लिये केवल एक ही साधन है, 'जितेन्द्रिय' होना।

इन्द्रियों पर विजय पाने के लिये आत्म-भाव की ज्योति जगा दो!

५. सर्वभूतात्मभूतात्मा—

सर्वभूतात्मभूतात्मा उसे कहते हैं, जो सब प्राणियों में अपने आत्मा को देखता है। जो परमात्मा एक में है, वही सब में है। संसार के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े जीव में अपने ही रूप को देखनेवाला सबमें परमेश्वर के दर्शन करता है। ऐसा आत्मदर्शी सबके साथ अपने जैसा व्यवहार करता है। मैत्री और करुणा का स्रोत उसमें से निरन्तर उमड़ता है, सब प्राणियों का आत्मा उसका आत्मा हो जाता है।

उपनिषदों में कहा गया है—

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'

जो सबमें एक को देखता है उसको मोह और शोक कहाँ!

ऐसा आत्मदर्शी न किसी से घृणा करता, न किसी से द्वेष करता। उसके अन्तर में प्रेम और सद्भावना की अखण्ड धारा बहती है, वह जो कुछ करता है अपने प्रियतम को प्रसन्न करने के लिये करता है, फिर उसे कर्म का बन्धन कैसा!

इस जगत् में रहकर संसारी पुरुष अथवा योगी कोई भी हो प्रकृति के गुणों के आधीन होकर जीवन-यात्रा के लिये कर्म सभी को करने पड़ते हैं। भोगी पुरुष दुःख, शोक, विकार, अहंकार और उलझनों में फँसे रहकर कर्म करते हैं और योगी जन राग-द्वेष से अलग रहकर योग-बुद्धि से निष्काम कर्म करते हैं—

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

न, एव, किंचित्, करोमि, इति, युक्तः, मन्येत, तत्त्ववित्, पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन्, श्वसन् । प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन्, उन्मिषन्, निमिषन्, अपि, इन्द्रियाणि, इन्द्रियार्थेषु, वर्तन्ते, इति, धारयन् ।

पश्यन=देखता हुआ, शृण्वन्=सुनता हुआ, स्पृशन्=स्पर्श करता हुआ, जिघ्रन्=सूँघता हुआ, अश्नन्=खाता हुआ, गच्छन्=चलता हुआ, स्वपन=सोता हुआ, श्वसन्=श्वास लेता हुआ, प्रलपन्=बोलता हुआ, विसृजन=छोड़ता हुआ, गृह्णन्=ग्रहण करता हुआ, उन्मिषन्=आँखों को खोलता हुआ (और), निमिषन्=बन्द करता हुआ, अपि=भी, इन्द्रियाणि=सब इन्द्रियाँ, इन्द्रियार्थेषु=अपने-अपने विषयों में, वर्तन्ते=वर्तती हैं, इति=ऐसा, धारयन्=समझते हुए, तत्त्ववित्=तत्त्व को जाननेवाला, युक्तः=योगी, इति=यह, मन्येत=माने (कि मैं), किंचित्=कुछ, एव=भी, न=नहीं, करोमि=करता हूँ ।

तत्वज्ञ समझे युक्त मैं करता न कुछ खाता हुआ ।
पाता, निरखता, सूँघता, सुनता हुआ, जाता हुआ ॥
छूते व सोते साँस लेते छोड़ते या बोलते ।
वर्तें विषय नित इन्द्रियाँ दृग बन्द करते खोलते ॥

अर्थ—देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, छोड़ता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखों को खोलता और बन्द करता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में वर्तती हैं ऐसा समझता

हुआ तत्त्व को जाननेवाला योगी यह माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

व्याख्या—मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ऐसा मानना, तत्त्ववित् योगी के लिये उचित और उपयुक्त है, क्योंकि उसे तत्त्वों का पूरा ज्ञान होता है और वह अनासक्त रहकर अहंकार को छोड़कर अपने को परमेश्वर के हाथों में सौंपकर जीवन-यात्रा करता है। परन्तु जो भोगी हैं, स्वार्थ, सुख और कामना के लिये कर्म करते हैं, जिनकी अहंकार-बुद्धि नहीं छुटी है, वे भला-बुरा करके कहें कि हम कुछ नहीं करते तो भारी अनर्थ हो जायगा। प्रायः नर-नारी दुष्कर्म करके कह दिया करते हैं कि जैसा भगवान् ने कराया, वैसा हमने किया, हम करनेवाले कौन?

जहाँ भोग, विषय-वासना, स्वार्थ-भाव और कामना नहीं होती और जहाँ जीवन-रथ को चलानेवाले मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के चारों घोड़ों की बागडोर भगवान् के हाथ में सौंप दी जाती है, वहाँ तो यह कहा जा सकता है कि सब कुछ करनेवाला भगवान् है, परन्तु जहाँ काम-कामी कामना-पूर्ति के लिये कर्म करता है, और कर्म करते समय भगवान् को भूल जाता है, वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान् करता है। क्योंकि—

'जहाँ काम तंह राम नहिं,
जहाँ राम नहिं काम।'

गीता में जहाँ भी कर्म करते हुए कुछ न करने की चर्चा है, वहाँ उसके साथ योग-युक्त, विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रिय, युक्त, तत्त्ववित् आदि विशेषण लगे रहते हैं। वास्तव में भक्त, ज्ञानी अथवा योग-युक्त के कर्म भगवान् करते हैं, वह स्वयं अपने स्वार्थ-भोगों के लिये कुछ नहीं करता। जो इन्द्रिय-सुखों और भोगों के लिये कर्म करते हैं उन्हें कर्मों की उलझन में उलझना पड़ता है।

युक्त और तत्त्वदर्शी कर्म के इस रहस्य को भली प्रकार जानते हैं और समझते हैं कि प्रत्येक कर्म करने में इन्द्रियां अपना स्वाभाविक व्यवहार कर रही हैं। मुझे इन्द्रियों के कर्म का कोई अहंकार नहीं है।

जीवन-यात्रा के लिये यह सब कुछ हो रहा है।

तत्त्वज्ञानी उसे कहते हैं—जो तत्त्वों के गुण-धर्मों को जानता है।

सांख्यदर्शन में पच्चीस तत्त्व कहे गये हैं—

मूल प्रकृति (सत्त्व, रज, तम गुणों की सम अवस्था) महत्तत्त्व, अहंकार, पांच तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन, पांच महाभूत (आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी) और आत्मा।

इन तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करनेवाला तत्त्ववित् है। ज्ञान, विज्ञान, पदार्थ-विद्या, आयुर्वेद, भौतिक विज्ञान, भूगोल और सम्पूर्ण विद्यायें तत्त्व-ज्ञान के अन्तर्गत हैं। शिक्षित वह कहा जाता है जो अमृत प्राप्त करा देनेवाली विद्याओं में निपुण होता है।

इन विद्याओं को जानकर जो इनके अनुसार आचरण करता है, उसे युक्त कहते हैं। तत्त्व-ज्ञानी, युक्त-पुरुष अपनी ज्ञान-दृष्टि से देख लेता है कि इन्द्रियों का स्वभाव विषयों में बर्तना है—आंख देखती है, कान सुनते हैं, जिह्वा स्वाद लेती है, हाथ छूते हैं, सब इन्द्रियां अपना-अपना कर्म करती हैं। जहां कर्म-कुशलता, बुद्धि-योग और दैवीभाव है वहां इन्द्रियों से दैवी-कर्म होते हैं परन्तु जहां आसुरीभाव होता है वहां बन्धन में बांधनेवाले कर्म होते हैं।

कर्म इतना व्यापक है कि आंख बन्द करने, खोलने और श्वास लेने तक को भी कर्म कहते हैं-। जो न करने से भी होता है, उससे कौन बच सकता है। उसके बन्धन से बचने का उपाय अवश्य है—वह यह कि कर्म में कर्तापन का अभिमान न हो, कर्म ज्ञान से किया जाय, कर्तव्य समझकर किया जाय, इन्द्रियों और मन को आत्मा के आधीन रखकर किया जाय। गीता की भाषा में कहें तो योग-युक्त होकर कर्म किये जांय। ऐसा कर्म करनेवाला कर्म में अकर्म देखता है। जो सब कुछ करके भी कुछ नहीं करता, वह कर्मों के बन्धन से मुक्त सच्चिदानन्द में टिका हुआ निर्विकार और निर्लेप है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

ब्रह्मणि, आधाय, कर्माणि, सङ्गम्, त्यक्त्वा, करोति, यः,
लिप्यते, न, सः, पापेन, पद्मपत्रम्, इव, अम्भसा ।

यः=जो, सङ्गम्=आसक्ति, त्यक्त्वा=छोड़कर, कर्माणि=सब कर्मों को, ब्रह्मणि=परमात्मा में, आधाय=अर्पण करके, करोति=करता है, सः=वह, अम्भसा=जल से, पद्मपत्रम्=कमल के पत्ते के, इव=समान, पापेन=पाप से, न=नहीं, लिप्यते=लिपायमान होता ।

आसक्ति तज जो ब्रह्म-अर्पण कर्म करता आप है ।
जैसे कमल को जल नहीं लगता उसे यों पाप है ॥

अर्थ—जो आसक्ति छोड़कर, सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके करता है, वह जल से कमल के पत्ते के समान पाप से लिपायमान नहीं होता ।

व्याख्या—ब्रह्म के अर्पण कर्म करना और अनासक्त होकर रहना, ये दो प्रमुख साधन हैं, जिनसे गीता पापों को धोती है और बुद्धि-योग प्रदान करती है ।

दोनों साधन अत्यन्त कठिन भी हैं और तत्परता तथा दृढ़ता हो तो सरल भी हैं । 'मैं' और 'मेरे' का अहं होते हुए और देह-भाव का स्मरण रहते हुए ब्रह्म के अर्पण कर्म करने की बुद्धि नहीं बनती ।

जनक विदेह थे, उनके प्रत्येक कर्म में ज्ञान की ज्योति जगमगाती थी और प्रत्येक चेष्टा ब्रह्ममय होती थी । शुकदेव ज्ञानी थे उन्हें सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म का दर्शन होता था । श्रीकृष्ण कर्म, भक्ति और ज्ञान के अधिपति योगेश्वर थे । इन सबके कर्म—ब्रह्म-भाव से, ब्रह्म में रहकर, ब्रह्म के लिये होते थे ।

शिवाजी ने अपने आपको समर्थ गुरु रामदास की झोली में डाल दिया। गुरु ने कहा—शिवाजी, अब तेरा तन और मन मेरा हो चुका है; तुझे इसका मोह और अभिमान नहीं होना चाहिये। शिवाजी ने गुरु-आज्ञा से देह-भाव को भी छोड़ दिया, तभी उनसे मातृ-पूजा की अथवा अर्पण की निष्काम साधना हुई।

कर्म को परमात्मा के अर्पण करने का प्रधान ध्येय है—अहंभाव को हटाना मानव के मन में कामनाओं के कारण जो युद्ध होता है उसमें विजय पाने के लिये अर्पण-बुद्धि सर्वोत्तम शस्त्र है। अर्पणभाव से शक्ति मिलती है, भगवत्-इच्छा अनुकूल बनती है और कर्म करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

अर्पण-बुद्धि से कर्म करने का अभिप्राय है—परमेश्वर का दिया हुआ कर्म करना, अच्छे-से-अच्छे ढंग से करना, प्रसन्नता से करना और परमेश्वर के लिये जीवित रहना।

अर्पण-बुद्धि वही है जिससे सत्य प्रकट हो। सर्व-बन्धन-मुक्त होकर मनुष्य एकमात्र परमेश्वर के पथ पर बढ़ता चले और ब्रह्म का सदा स्मरण बना रहे।

ब्रह्म के अर्पण कर्म कर देना, कर्म की सर्वश्रेष्ठ और परम पवित्र साधना है। कौन से कर्म ब्रह्म को अर्पण होते हैं इसका उत्तर इस प्रकार है—

१—युक्ति से कुशलतापूर्वक किये गये कर्म ब्रह्म को अर्पण हो जाते हैं।

२—बुद्धि-योग द्वारा मनोनिवेश-पूर्वक सावधानी से किये गये कर्म ब्रह्म को पहुँच जाते हैं।

३—सर्वभूतहितेरताः—सब प्राणियों के हित में लगे रहने के कर्म ब्रह्म के अर्पण होते हैं।

४—सत्त्व में स्थित होकर हृदय और बुद्धि के योग से किये गये कर्म ब्रह्म को प्रसन्न कर लेते हैं।

५—यज्ञ के लिये किये गये कर्म ब्रह्म-अर्पण होते हैं।

इन सब कर्मों में भी यदि स्वार्थ, अहंभाव और एषणा मिल जाती है तो ब्रह्म उन्हें स्वीकार नहीं करता। अतः गीता संग त्याग कर कर्म करने का आदेश देती है। आसक्ति से कर्म में मोह, दम्भ, दर्प, राग-द्वेष आदि भर जाते हैं और वे इतने बोझल हो जाते हैं कि उनमें ब्रह्म तक पहुँचने का बल नहीं रहता।

दुःख, शोक, चिन्ता देनेवाले और बेमन से किये गये कर्म ब्रह्म से बहुत दूर रहते हैं। जो कर्म ग्लानि, उदासी और थकान से रो-रोकर किया जाता है उससे अपनी ही आत्मा प्रसन्न नहीं होती, फिर ब्रह्म के अर्पण होने की तो बात ही नहीं उठती।

केवल वाणी द्वारा बोल देने से भी कर्म ब्रह्म के अर्पण नहीं हो जाते। वाणी कहे, मन और बुद्धि का योग हो जाय और सब इन्द्रियाँ त्याग-भाव से अपना-अपना सहयोग दें, तब कहीं कर्म ब्रह्म के अर्पण होता है।

इस प्रकार कर्म करनेवाला सदा मुक्त रहता है। कमल जैसे जल में रहता है, ऐसे ही वह संसार में रहता है। संसार में जहाँ देखते हैं, वहाँ पानी ही पानी है, पल-पल पर और पग-पग पर डूबने का डर है। पर कमल सदा ऊपर खिला रहता है, जल की बूँद उस पर पड़ती है तो अपने आप लुढ़क जाती है, कमल पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अनासक्ति के इसी भाव से भगवान् के नेत्रों की, हाथों की और पैरों की उपमा कमल से दी जाती है। कमल हिन्दू-संस्कृति का एक प्रतीक बन गया है। लक्ष्मी ने अपना वर्ण कमल जैसा बनाया और कमल पर ऐसी रीझी कि निवास भी उसी पर किया।

जैसे कमल को जल नहीं लगता, वैसे ही जो संगों को छोड़कर ब्रह्म के अर्पण कर्म करता है उसे संसार नहीं लगता। जल की बूँदें जैसे कमल को और भी अधिक सुन्दर तथा निर्मल करती हैं ऐसे ही कर्मयोगी के कर्म पवित्रता देकर उसका रूप निखारते हैं।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

कायेन, मनसा, बुद्ध्या, केवलैः, इन्द्रियैः, अपि, योगिनः, कर्म, कुर्वन्ति, सङ्गम्, त्यक्त्वा, आत्मशुद्धये ।

कायेन=शरीर, मनसा=मन, बुद्ध्या=बुद्धि (और), केवलैः=केवल, इन्द्रियैः=इन्द्रियों से, अपि=भी, सङ्गम्=संग को, त्यक्त्वा=छोड़कर, योगिनः=योगी जन, आत्मशुद्धये=आत्म-शुद्धि के लिये, कर्म=कर्म, कुर्वन्ति=करते हैं ।

मन, बुद्धि, तन से और केवल इन्द्रियों से भी कर्म। ।
तज संग, योगी कर्म करते आत्म-शोधन-हित सभी ॥

अर्थ—शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियों से भी संग को छोड़कर योगी जन आत्म-शुद्धि के लिये कर्म करते हैं ।

व्याख्या—कर्म चाहे शरीर से हो, चाहे मन से, बुद्धि से अथवा केवल इन्द्रियों से हो, सबके योग से हो अथवा सबके द्वारा पृथक्-पृथक्, यदि उसे ब्रह्म के अर्पण करना है तो वह नितान्त शुद्ध होना चाहिये । मूर्ति, गुरु, देवता, ऋषि, माता-पिता, नेता, जनता-जनार्दन आदि को यदि ब्रह्म का प्रतीक माना जाय तो कर्मों को पुष्पों की भांति पवित्र, सुन्दर और सुगन्धित बनाकर उनके अर्पण करना चाहिये ।

केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ कर्म में लगी रहें और इनमें ममत्व-भाव न हो तथा विकारों की ओर जाने का रास्ता बन्द कर दिया जाय तो जो कुछ होता है उससे आत्मा की शुद्धि ही होती है ।

आत्मा नित्य शुद्ध है, उसमें कोई विकार, मल या विक्षेप नहीं है । परन्तु संग-दोष से वह माया में लिपट जाता है । गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

भूमि परत भा डाभर पानी।
तिमि जीवहिं माया लिपटानी॥

निर्मल जल पृथिवी पर पड़ते ही धूल में मिलकर कीचड़ बन जाता है, इसी प्रकार पवित्र आत्मा संसार की माया अर्थात् संग-दोषों के साथ मिलकर ढक जाता है।

संग-दोष जैसे-जैसे छूटते जाते हैं वैसे-वैसे ही आत्मा पवित्र होता जाता है। कर्मयोगी जो कुछ करता है वह सब आत्मा की शुद्धि के लिये होता है। शरीर से सभी कर्म करते हैं, परन्तु एक आलस्य और प्रमाद में पड़ कर शरीर को मिट्टी बना देता है और दूसरा शिवि, दधीच और हरिश्चन्द्र की भांति उसे सत्य तथा सेवा में लगा कर खरा सोना बना लेता है—ऐसा सोना जो संसार की आग में जितना तपाया जाता है उतना ही उज्ज्वल निकलता है।

मन से भी जितने कर्म होते हैं उनमें यदि विशुद्धभाव रहता है तो उनसे जीवन का उत्थान होता है और यदि अशुद्धभाव होता है तो काम-वासनायें बढ़ती हैं।

'मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धश्चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्॥'

अशुद्ध मन तोते और बन्दर की भांति विषय-वासनाओं में अपने आप बँधा रहता है और शुद्ध मन गरुड़ की भांति काम-वासना के सर्पों को खा जाता है।

बुद्धि द्वारा यदि विकर्म अर्थात् दूषित कर्मों को जान लेने की शक्ति नहीं होती तो बुद्धि से किये गये कर्म भी व्यर्थ हो जाते हैं, परन्तु बुद्धि के योग से यदि कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देख लिया जाता है तो बुद्धि से किये गये कर्म मनुष्य को महान् बना देते हैं। बुद्धि कुमार्ग पर चलती है तो कहीं गति नहीं और बुद्धि सुमार्ग पर चलती है तो सर्वत्र सद्गति मिलती है। कुमति कष्ट देनेवाली है और सुमति लक्ष्मीनारायण से मिला देती है।

यही सिद्धान्त इन्द्रियों द्वारा किये गये कर्मों पर लागू होता है। अच्छे और बुरे सब कर्म इन्द्रियों से होते हैं। इन्द्रियाँ विषयों को भोगने के लिये यदि मन और बुद्धि को अपनी ओर मिला लेती हैं तो मनुष्य को घसीट कर गिरा देती हैं और इन्द्रियाँ आत्मा का साथ देकर दिव्य कर्म करती हैं तो मनुष्य सदा पवित्र बना रहता है।

योगी वही है जो तन, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से आत्मा की शुद्धि के लिये कर्म करता है और आत्मा में स्थित रहता है।

गीता में 'योगी' शब्द रहस्यमय है। गीता का योगी सदा परमात्मा के साथ रहता है, तन, मन, बुद्धि और इन्द्रियों में परमात्मा का भाव भर कर उन्हें दिव्य बनाता है और उनके द्वारा परमात्मा को प्रकट करता है।

पूर्ण कर्म, पूर्ण भक्ति और पूर्ण ज्ञान के समन्वय के बिना गीता के योग की साधना अधूरी रहती है। योगी पुरुष अन्नमय देह, प्राण, मन-बुद्धि, विज्ञान और आनन्द इन पांचों को सब प्रकार शुद्ध करके इनके द्वारा नित्य-निरन्तर अनन्त आनन्द में प्रतिष्ठित रहता है। उसके तन, मन-बुद्धि और इन्द्रियों से पूर्ण सत्, पूर्ण चैतन्य और पूर्ण आनन्द का विकास होता है।

योगी पुरुष तन, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के लिये नहीं—भगवान् की प्रसन्नता के लिये और भगवान् का कार्य पूरा करने के लिये योग करता है—आत्म-शुद्धि का अभिप्राय भी यही है।

आत्मा की शुद्धि करना भी योग है। आत्मा की शुद्धि उस समय होती है जब भीतर और बाहर समता और शान्ति का पवित्र वातावरण बन जाता है और इस वातावरण में सदा सर्वदा भगवत्-चेतना का प्रकाश रहता है। इस प्रकाश में रहनेवाला योगी युक्त कहलाता है, वह पूर्ण काम होकर जीवन का सुख पाता है और परमेश्वर का साक्षात्कार करता है।

युक्त और आसक्त जीव का भेद इस प्रकार है—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

युक्तः, कर्मफलम्, त्यक्त्वा, शान्तिम्, आप्नोति, नैष्ठिकीम्, अयुक्तः, कामकारेण, फले, सक्तः, निबध्यते।

युक्तः=युक्त पुरुष, कर्मफलम्=कर्म-फल को, त्यक्त्वा=त्याग कर, नैष्ठिकीम्=निष्ठा से भरी हुई, शान्तिम्=शान्ति को, आप्नोति=पाता है, अयुक्तः=सकामी पुरुष, फले=फल में, सक्तः=आसक्त होकर, कामकारेण=कामना के द्वारा, निबध्यते=बंध जाता है।

फल से सदैव विरक्त हो चिर शांति पाता युक्त है।
फल-कामना में सक्त हो बंधता सदैव अयुक्त है॥

अर्थ—युक्त पुरुष कर्म-फल को त्याग कर निष्ठा से भरी हुई शान्ति को पाता है; सकामी पुरुष फल में आसक्त होकर कामना के द्वारा बंध जाता है।

व्याख्या—कुशलता-पूर्वक समत्व-बुद्धि और ईश्वर-अर्पण-भाव से कर्म करनेवाला युक्त, कर्म के फलों में मोहित नहीं होता। कामना में आसक्त होकर अनर्थ नहीं करता; अतः उसे अपनी निष्ठा से परम शान्ति मिल जाती है।

निष्ठा मोक्ष का मार्ग है। निष्ठा वह स्थिति है जिसमें दृढ़ता से मनुष्य स्थिर हो जाता है।

कर्म ज्ञान और भक्ति के योग से जो युक्त हो जाता है, उसका पुरुषार्थ फल की कामनाओं से अथवा स्वार्थ-भाव से नहीं, परमार्थ-भाव से होता है। ज्ञान से वह कर्तव्य को जान कर स्वधर्म के लिये कर्म करता है और सर्वत्र परमेश्वर को देख कर अपने कर्म उन्हीं को सौंप देता है। ऐसा करने में दोहरा फल मिलता है कर्म में सफलता तो होती ही है, साथ ही परम शांति भी मिलती है, क्योंकि कर्म का बोझ नहीं लगता

और उलझनें व्याकुल नहीं करतीं।

परम शान्ति का अर्थ जड़ता नहीं है। पत्थर की भांति जो जड़ है उसके लिये क्या शान्ति और क्या अशान्ति। शान्ति का सुख वही जानता है जिसके सामने भयङ्कर कर्म खड़े रहते हैं।

भगवान् श्रीराम ने राज्य छोड़ कर वन में रह कर असुरों से घोर संघर्ष करते हुए भी शान्ति का अनुभव किया। श्रीकृष्ण एक क्षण के लिये भी सुख से नहीं बैठ सके उनका जीवन बाहरी संघर्षों और महाक्रान्तियों की ज्वालाओं में नृत्य करता था, परन्तु उनके अन्तर में शान्ति की वह बांसुरी बजती थी, जिसकी ध्वनि सम्पूर्ण विश्व को परम शान्ति देने में समर्थ है।

गौतम बुद्ध की मार-विजय प्रसिद्ध है। वैभव, भोग-विलास, ममता, क्रोध, मोह, लोभ आदि विकार उनके संकल्पों के मेरुदण्ड को नहीं झुका पाये। कर्म करने में जो आनन्द है वही शान्ति है।

जगत्पति, सर्वनियन्ता परमेश्वर एक पल के लिये भी शान्त नहीं बैठ पाते, फिर भी अपनी योग-बुद्धि और शक्ति से सब के, सब मनोरथ पूरे करते हुए वे 'शान्ताकार' कहे जाते हैं।

ऐसी परम-शान्ति केवल कर्म-योगी को ही प्राप्त होती है। जो युक्त नहीं है, ज्ञान और भक्ति के योग से जिसके कर्म नहीं होते, जो आलसी और असावधान है वह अपनी कामनाओं को पूरा करने के फेर में ही चक्कर खाता रहता है। उसे न कर्म में सफलता मिलती है और न शान्ति; बेचारा अपनी ही कामनाओं में बँधा रहता है, ईश्वर, धर्म और देश की सेवा के लिये न उसके पास मन होता और न अवकाश।

दुःखों से भरे संसार में शान्ति और सुख का वरदान गीता उसे देती है जो अपने कर्मों को निर्विकार करके कामना के विष को निकाल फेंकता है और निर्द्वन्द्व होकर आनन्द से विचरता है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

सर्वकर्माणि, मनसा, संन्यस्य, आस्ते, सुखम्, वशी,
नवद्वारे, पुरे, देही, न, एव, कुर्वन्, न, कारयन् ।

वशी=अन्तःकरण को वश में करनेवाला, देही=देहधारी, सर्वकर्माणि=सब कर्मों को, मनसा=मन से, संन्यस्य=त्याग कर, एव=निःसन्देह, न=न, कुर्वन्=करता हुआ, न=न, कारयन=कराता हुआ, नवद्वारे=नव द्वारों के, पुरे=पुर में, सुखम्=आनन्दपूर्वक, आस्ते=रहता है ।

सब कर्म तज मन से जितेन्द्रिय जीवधारी मोद से ।
बिन कुछ कराये या किये नव-द्वार-पुर में नित बसे ॥

अर्थ—अन्तःकरण को वश में करनेवाला देह-धारी सब कर्मों को मनसे त्याग कर निःसन्देह न करता हुआ, न कराता हुआ नव द्वारों के पुर में आनन्द-पूर्वक रहता है ।

व्याख्या—जिसने अपने मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, शरीर और इन्द्रियों को आत्मा के आधीन कर लिया है, उसे 'वशी' कहते हैं । ऐसे वशी के शरीर रूपी देश में सर्वत्र आत्मा का अनुशासन अर्थात् राम-राज्य रहता है । आत्मा के राज्य में सब कार्य नियम और संयम से चलते हैं । प्रत्येक अवस्था में व्यवस्था बनी रहती है । ऐसा लगता है कि वहां न किसी को अपने कर्म का अभिमान है, न भार है । सब, सब कुछ करके भी कुछ नहीं करते-से जान पड़ते हैं । 'पूर्ण कर्मयोग संन्यास है और पूर्ण संन्यास कर्मयोग है'—इस सत्य का दर्शन आत्मा के राज्य में ही होता है, इन्द्रियों के राज्य में नहीं ।

इन्द्रियों के शासन में कर्म बोझल बन जाता है, हाय-हाय दिन दूनी बढ़ती है, तृष्णा का मुंह सदा खुला रहता है, काम का कभी पेट

नहीं भरता, आलस्य का चोर शान्ति के घर में घुसने का अवसर ताका करता है, अपना काम स्वयं पूरा न करके दूसरों से काम कराने की प्रबल-इच्छा बनी रहती है और सभी एक दूसरे को उपदेश दिया करते हैं।

जिसका जीवन सधा हुआ बन जाता है, जो मन से कर्मों का संन्यास कर लेता है, अर्थात् सच्चा और पूर्ण कर्मयोगी बन जाता है, वह इस नौ दरवाजों के देह रूपी नगर में सदा सुख से रहता है।

जो सुख दूसरों की सहायता से मिलता है, उसका अन्त दुःख होता है और जो सुख दूसरों को दुःख देकर मिलता है उसका अन्त भी दुःख होता है। नित्य सुख किसी के सहारे से नहीं आता, वह तो निष्काम-अवस्था में रहकर स्वधर्म का आचरण करनेवाले के अन्तःकरण से स्वयं उमड़ता है और जितना बांटा जाता है उतना ही बढ़ता है।

सुखी और जितेन्द्रिय किसी कर्म में अपने मन को नहीं उलझने देता। मन से कर्मों का संन्यास करता है, मन और बुद्धि के योग से कर्मों की सारी उलझनें सहज-भाव से सुलझा देता है। यद्यपि कर्म किये बिना एक क्षण भी जीवन नहीं रहता, परन्तु जितेन्द्रिय और सुखी की 'रहनी' ऐसी होती है कि वह देखने में कुछ करता नहीं दीखता और न किसी से कुछ कराता। सत्य की खोज करनेवालों का अनुभव है कि जब मनुष्य की इच्छायें समाप्त हो जाती हैं तब उसके लिये परमेश्वर की इच्छा कार्य करती है। जहां मांगना बन्द हो जाता है वहां मिलने का आरम्भ होता है। जहाँ त्याग हो जाता है वहीं अक्षय-संचय होता है। जो अपने लिये कुछ नहीं करता उसके लिये परमेश्वर सब कुछ करता है।

मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने अच्छे कर्मों की गिनती करता है; यह मेरा है, मेरे इतने पुत्र हैं, इतना धन है आदि-आदि कहता है, परन्तु जब कुछ हाथ से चला जाता है तो कहता है कि 'परमेश्वर की इच्छा' न जाने क्यों भगवान् ने मेरे साथ ऐसा किया। गीता मनुष्य के इस भ्रम को दूर करने के लिये कहती है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

न, कर्तृत्वम्, न, कर्माणि, लोकस्य, सृजति, प्रभुः,
न, कर्मफलसंयोगम्, स्वभावः, तु, प्रवर्तते ।

प्रभुः=ईश्वर, न=न, लोकस्य=प्राणियों के, कर्तृत्वम्=कर्तापन को, न=न, कर्माणि=कर्मों को (और), न=न, कर्मफलसंयोगम्=कर्मों के फल के संयोग को, सृजति=रचता है, स्वभावः=स्वभाव, तु=ही, प्रवर्तते=सब करता है,

कर्तृत्व कर्म न कर्म-फल-संयोग जगदीश्वर कभी ।
रचता नहीं अर्जुन ! सदैव स्वभाव करता है सभी ॥

अर्थ—परमेश्वर न प्राणियों के कर्तापन को, न कर्मों को और न कर्मों के फल के संयोग को रचता है, स्वभाव ही सब करता है।

व्याख्या—स्वभाव वह है जो प्रकृति के सम्बन्ध से और संचित संस्कारों से बनता है, स्वभाव से ही कर्त्तव्य निश्चित होता है, कर्म होते हैं और तदनुसार फल मिलता है।

प्रत्येक प्राणी अपने स्वभाव के अनुसार चेष्टा करता है। मनुष्य मनुष्य के समान, पशु पशुओं के समान, देवता देवता के समान व्यवहार करते हैं। एक पिता के पुत्र होने के कारण सबके व्यवहार और चेष्टायें एक-सी होनी चाहिये, पर ऐसा होता नहीं; सब अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करते हैं।

'भिन्न रुचिर्हि लोकः'—इस लोक में सबकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है। एक स्वभाव के दो भी नहीं मिलते, ऋग्वेद की वाणी है—

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समावीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः ॥

(ऋग्० १०।११७।९)

दोनों हाथ देखने में चाहे एक से हों, परन्तु एक-सा काम नहीं

कर पाते, एक साथ प्रसूत हुई दो गौएँ भी एक-सा दूध नहीं देतीं, दो एक साथ पैदा होनेवाले बालक माता-पिता एक होने पर भी एक-से नहीं होते।

इस प्रकार अच्छा-बुरा, राग-द्वेष, प्रेम-घृणा संग-असंग जो कुछ हो रहा है, वह सब अपने-अपने स्वभाव से होता है।

सीता ने अपने स्वभाव के कारण वन के घोर दुःखों को सुख मान लिया। श्रीराम ने अपने प्रेम-पूर्ण सरल स्वभाव से पशुओं को भी मित्र बना लिया। श्रीकृष्ण ने अपने स्वभाव की पवित्रता और महत्ता से सम्पूर्ण दुःखों को सुख समझ कर उन्हीं में जीवन का विकास और चरित्र का निर्माण किया।

नदी में बहते हुए एक बिच्छू को महात्मा ने बाहर निकालना चाहा। बिच्छू ने उन्हें डंक मारा, पर महात्मा ने उसे हाथ में उठाया और पुचकारा। वह बार-बार डंक मारता रहा और महात्मा बार-बार उसे पानी से निकालने का प्रयत्न करते रहे। एक देखनेवाला उस महात्मा पर हँसा तो महात्मा बोले—बिच्छू का स्वभाव काटने का है और मेरा स्वभाव सेवा करने का है। कीट भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ता तो मनुष्य कैसे छोड़ दे।

सबका स्वामी होकर भी प्रभु किसी के कर्तापन कर्म और कर्म-फल की रचना नहीं करता, स्वभाव जीव को अपने आधीन कर नचाता है। अतः स्वभाव को सात्विक अथवा दैवी बनाने में ही सुख शान्ति है।

शरीर का स्वभाव कर्म करने का है। कर्म जब अहंकार से किया जाता है तो उसके संग से दुःख भी मिलता है और सुख भी। सुख मिलने पर मनुष्य कहता है 'जैसा मैंने किया, वैसा मिला' पर दुःखों में वह रो उठता है और कहता है—'हे परमेश्वर ! तूने मुझे दुःख क्यों दिया ?' ऐसा कहना भ्रम है। जब करने का मान और अहंकार हम अपने ऊपर लेते हैं तो कर्मों के फल को भी हमें ही भोगना पड़ेगा। परमेश्वर प्रत्येक दशा में अलिप्त रहता है। वह न किसी को कुछ करने के लिये कहता और न किसी के कर्म-फल से कुछ प्रयोजन रखता है—

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

न, आदत्ते, कस्यचित्, पापम्, न, च, एव, सुकृतम्, विभुः, अज्ञानेन, आवृतम्, ज्ञानम्, तेन, मुह्यन्ति, जन्तवः ।

विभुः=सर्वव्यापी परमात्मा, न=न, कस्यचित्=किसी के, पापम्=पाप को, च=और, न=न, सुकृतम्=पुण्य को, एव=ही, आदत्ते=ग्रहण करता है, अज्ञानेन=अज्ञान से, ज्ञानम्=ज्ञान, आवृतम्=ढका हुआ है, तेन=इससे, जन्तवः=सब जीव, मुह्यन्ति = मोहित हो रहे हैं ।

ईश्वर न लेता है किसी का पुण्य अथवा पाप ही ।
है ज्ञान माया से ढका यों जीव मोहित आप ही ॥

अर्थ—सर्वव्यापी परमात्मा न किसी के पाप को और न पुण्य को ही ग्रहण करता है, अज्ञान से ज्ञान ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं ।

व्याख्या—आत्मा अथवा परमात्मा एक देशीय नहीं हैं, अतः वह न किसी का सम्बन्धी है और न किसी का विरोधी । कोई पुण्य करे या पाप, सुखी रहे या दुःखी—विभु को इससे कोई प्रयोजन नहीं; न वह इनकी रचना करता है । वास्तव में पुण्य-पाप, सुख-दुःख, लाभ-हानि, विजय-पराजय सबकी रचना अपने अनुकूल या प्रतिकूल भावों से होती है ।

मनुष्य से अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के कर्म होते हैं । गीता चाहती है कि मनुष्य को न पुण्य का बन्धन हो और न पाप का । इसीलिये गीता में निष्काम कर्म का अलख जगाया गया है और कर्म करने की एक ऐसी विधि बता दी गई है, जिससे किया हुआ कर्म जीवन का विकास करने में निरन्तर प्रकाश तथा सहायता देता है और किसी भी अवस्था में पाप-पुण्य के बन्धन में नहीं बांधता ।

सकाम-कर्म में स्वार्थ, वासना, चाह, चिन्ता, अहंकार सब सम्मिलित रहते हैं; उसका फल मनुष्य स्वयं चाहता है। शुभ सकाम-कर्मों से उत्पन्न होनेवाला पुण्य मनुष्य को मिलता है, परमेश्वर इस पुण्य को छीन नहीं लेते। सकामी को भी परम प्रभु अपना भक्त मानते हैं। सकाम कर्म करते-करते यदि पाप हो जाता है, न करने के कर्म होते हैं और उनसे दुःख मिलता है तो उस दुःख से भी विभु का कोई सम्बन्ध नहीं। मनुष्य अपने किये हुए पापों को भगवान् के माथे नहीं मढ़ सकता और न उनसे छूट ही सकता है। मोह और अहंकार में लिप्त अज्ञानी के पाप-पुण्यों से परमेश्वर को कोई सरोकार नहीं होता।

सकामी स्वयं ही पुण्य-पाप में फँसा रहता है और निष्काम-कर्मयोगी पुण्य-पाप से ऊपर मुक्तावस्था में रहता है।

ज्ञानी अथवा कर्मयोगी पाप-पुण्य के पचड़े में ही नहीं पड़ता। वह तो निष्काम यज्ञ और तप के कर्म करता है। लोक-संग्रह और परमार्थ-भाव में लगा रहता है।

ज्ञान से किये गये कर्म सीधे परमेश्वर को पहुँचते हैं और मोह अज्ञान तथा अहंकार से किये गये कर्म, मनुष्य तक ही रह जाते हैं, क्योंकि अहंकार, वासना और इन्द्रिय-सुखों की दीवारें उन कर्मों को परमात्मा तक पहुँचने नहीं देतीं।

जिनका ज्ञान, अज्ञान से ढक जाता है वे परमात्मा के अविकारी और निर्लेप-भाव को नहीं समझ पाते और अनेकों प्रकार की कामनाओं में घिरे रहकर भी चाहते हैं कि परमेश्वर उन्हें सुख दे। इस सत्य को सदैव सन्मुख रखना चाहिये कि युक्त—निष्काम-कर्मयोगी के कर्म भगवान् तक पहुँचते हैं। परन्तु अयुक्त—कामनाप्रिय के कर्म, कामनाओं में घिर कर करनेवाले को ही बांधे रहते हैं। सकामी और अज्ञानी जीव मोहवश पुण्य-पाप करता है, परमात्मा करने न करने के लिये बाध्य नहीं करता।

जब तक अज्ञान रहता है तब तक पाप और पुण्य के कर्मों का बन्धन नहीं छूटता। मोह के हटते ही ज्ञान का प्रकाश हो जाता है।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

ज्ञानेन, तु, तत्, अज्ञानम्, येषाम्, नाशितम्, आत्मनः, तेषाम्, आदित्यवत्, ज्ञानम्, प्रकाशयति, तत्, परम् ।

तु=परन्तु, येषाम्=जिनका, तत्=वह, अज्ञानम्=अज्ञान, आत्मनः=आत्मा के, ज्ञानेन=ज्ञान से, नाशितम्=नष्ट हो गया है, तेषाम्=उनका, ज्ञानम्=ज्ञान, आदित्यवत्=सूर्य के समान, तत्=उस, परम्=परम-तत्त्व को, प्रकाशयति= प्रकाशित करता है ।

पर दूर होता ज्ञान से जिनका हृदय-अज्ञान है ।
करता प्रकाशित 'तत्व' उनका ज्ञान सूर्य-समान है ॥

अर्थ—परन्तु जिनका वह अज्ञान आत्मा के ज्ञान से नष्ट हो गया है, उनका ज्ञान सूर्य के समान उस परम-तत्त्व को प्रकाशित करता है ।

व्याख्या—अज्ञान में पड़े रहनेवाले जगत् के अन्धकार में भटकते हैं और अपना जीवन खो देते हैं । पूजा-पाठ, जप-तप, दान और धर्म सब ऊषाकाल के समान हैं । सूर्योदय से पहले जैसे ऊषा की लालिमा आकाश में सर्वत्र छा जाती है, इसी प्रकार ज्ञान के उदय होने से पहले सद्गुणों का विकास होता है ।

पापों और पुण्यों को जब मनुष्य ग्रहण नहीं करता, दोनों से ऊपर उठता है तब उसे परमेश्वर का मङ्गल-मार्ग मिलता है । इस मार्ग को पाने के लिये चार साधन कहे गये हैं—

१—क्रिया-साध्य साधन, (सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, यम-नियम धर्म और योग के अङ्ग जो नित्य व्यवहार में आने योग्य हैं) ।

२—अभ्यास-साध्य साधन, (जप, तप, प्रार्थना, स्वाध्याय आदि जिनसे सत्य में स्थित होने का अभ्यास दृढ़ होता है) ।

३—बोध-साध्य साधन, (अन्धेरे से प्रकाश में प्रवेश करना,

अनुभव और ज्ञान प्राप्त करना, श्रवण मनन आदि द्वारा ज्ञान की वृद्धि करते रहना)।

४—भगवत्-साध्य साधन, (भगवान् की कृपा प्राप्त करने के लिये अपने निर्मल कर्म उनके अर्पण करना, नित्य उनके साथ रहना और प्रभु की प्राप्ति के लिये धैर्य तथा श्रद्धा से नित्य तत्पर रहना)।

उपर्युक्त चारों साधनों के योग से जो ज्ञान होता है, उसके सामने अज्ञान का अँधेरा नहीं ठहरता।

ज्ञान होते ही सूर्य के समान परमेश्वर का प्रकाश हो जाता है। दीपक जैसे प्रज्वलित होते ही तुरन्त अन्धकार का अन्त करता है इसी प्रकार ज्ञान रूप सूर्य के प्रकाशित होते ही अज्ञान का किञ्चित् भी अँधेरा नहीं रहता।

अज्ञान की अवस्था में मनुष्य आत्म-भाव में नहीं रहता, अविद्या के कारण आत्मा का तिरस्कार करता है। मोहरूप अन्धकार में उसे कुछ सूझता नहीं। झूठ, पाप, अकर्मण्यता, आलस्य, अविद्या—अन्धकार के प्रतीक हैं। ज्ञान का उदय होते ही सम्पूर्ण दुरित और अज्ञानमय अन्धकार का अन्त हो जाता है। यही मुक्ति की अवस्था है।

दर्शन-शास्त्रों के अनुसार ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। अन्धकार में बन्धन और प्रकाश में मुक्ति है।

भगवान् बुद्ध के सन्मुख ज्ञान का प्रकाश हुआ था। ज्ञान प्राप्त करके बुद्ध जीवन-मुक्त हुए। महापुरुष इसी ज्ञान का अलख जगाये रहते हैं।

जब जीव को मोहनेवाली अविद्या अथवा माया छिन्न-भिन्न हो जाती है तब मनुष्य निजानन्द में टिकता है उस अवस्था में वह निर्मल और निष्पाप होकर अपने आपको परम प्रभु के हाथों में सौंप देता है, उसे सर्वत्र एक ही तत्त्व का दर्शन होता है और वह उस परम-तत्त्व में अचल होकर टिक जाता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

तद्बुद्धयः, तदात्मानः, तन्निष्ठाः, तत्परायणाः,
गच्छन्ति, अपुनरावृत्तिम्, ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।

तद्बुद्धयः=उसी में बुद्धिवाले, तदात्मानः=उसीमें मनवाले, तन्निष्ठाः=उसीमें निष्ठावाले, तत्परायणाः=उसीके परायण रहनेवाले, ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः=ज्ञान से पाप-रहित होकर, अपुनरावृत्तिम्=परम-गति को, गच्छन्ति=प्राप्त होते हैं ।

तन्निष्ठ तत्पर जो उसीमें, बुद्धि मन धरते वहीं ।
वे ज्ञान से निष्पाप होकर जन्म फिर लेते नहीं ॥

अर्थ—उसीमें बुद्धिवाले, उसीमें मनवाले, उसीमें निष्ठावाले, उसीके परायण रहनेवाले, ज्ञान से पाप-रहित होकर परम-गति को प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या—ब्रह्म का साक्षात्कार ज्ञान के प्रकाश में होता है, मोह और अविद्या के अन्धकार में नहीं । ज्ञान की दृष्टि खुलते ही सर्वत्र एक परम-तत्त्व का दर्शन होता है, उसे देखकर और जानकर भी जो उसे छोड़ देते हैं वे गिर जाते हैं । परन्तु जो बुद्धि, मन, निष्ठा और परायणता द्वारा उसीमें जमे रहते हैं अथवा उसे पकड़े रहते हैं, वे वास्तव में निष्पाप हो जाते हैं । उन्हीं के पाप ज्ञान से धुलते हैं ।

मिथ्याचार, अन्ध-विश्वास, हठ और मूढ़ता से पापों का मैल नहीं धुलता । बारम्बार सुख-दुःख के पहियों के साथ उसे ही घूमना पड़ता है, जो पापों को पकड़े रहता है । अँधेरे में रहकर अथवा विकारों या पापों के चोर को अपने भीतर छुपाकर किसी भी प्रकार से ज्ञान का प्रकाश नहीं मिलता ।

अर्जुन एक ही बार गीता सुनकर पार हो गये । परीक्षित ने एक ही बार भागवत की कथा सुनी और सुनकर ब्रह्मलीन होगये ।

गीता-रामायण के सहस्रों पारायण भी उसके लिये व्यर्थ हैं; जो उनके ज्ञान से अपने मैल नहीं धोता।

भगवान् के नाम का साबुन लगा-लगाकर जब गुरु के हाथों से बारम्बार शिष्य का अन्तःकरण धुलता है, तब कहीं निर्मलता में उस परम-तत्त्व की प्रतिष्ठा होती है, तभी जीवन पर आब आती है, सत्यं शिवं और सुन्दरम् अथवा कर्म, भक्ति और ज्ञान के योग की दिव्य ज्योति जगमगाती है। उस ज्योति को एक बार पाकर जो मन्द नहीं होने देते उन्हें फिर कहीं आना-जाना नहीं पड़ता।

"जिनके पिय परदेस बसत हैं लिख-लिख भेजत पाती।
'मीरा' के प्रभु हैं घट भीतर ना कहुँ आती जाती॥"

भोजनालय में बैठकर भोजन की बात करने से पेट नहीं भरता।

"षट् रस भोजन बहु प्रकार कोउ दिन अरु रैन बखाने।
बिन बोले सन्तोष जनित सुख खाय सोई पै जाने॥"

इसी प्रकार दीपक-दीपक रटने से अँधेरा नहीं मिटता। शरीर के दीपक में कर्म की बत्ती और भक्ति के तेल द्वारा जब ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित की जाती है तभी अँधेरा दूर होता है।

जीव जब अपनी प्रकृति में रहता है तभी अज्ञान के कर्म होते हैं। जब प्रकृति के स्वामी परमेश्वर में बुद्धि टिकती है, मन लगता है, निष्ठा ब्रह्ममय हो जाती है, उसके लिये कर्म करने की तत्परता सदा बनी रहती है तब बुद्धि मन और शरीर के मैल धुल जाते हैं; उस समय प्रकृति पीछे रह जाती है और ब्रह्मभाव सम्मुख रहता है। इस ब्राह्मी-स्थिति में भगवान् के कर्त्तृत्व का परम प्रकाश होता है।

परमेश्वर जब मिलता है तो व्यवहार में प्रकट होता है, आंखों में प्रकाशित होता है और मुख से बोलता है, उसके परायण होनेवाला और उसमें मन-बुद्धि को टिकानेवाला निष्ठावान् कुछ और ही हो जाता है, उसकी व्यावहारिक दृष्टि, शरीरों का भेद तोड़कर सबके अन्तर में बैठे परमात्मा को देख लेती है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि,
शुनि, च, एव, श्वपाके, च, पण्डिताः, समदर्शिनः ।

विद्याविनयसम्पन्ने=विद्या एवं विनय से युक्त, ब्राह्मणे=ब्राह्मण, गवि–गौ, हस्तिनि=हाथी, शुनि=कुत्ते, च=और, श्वपाके=चाण्डाल में, च=भी, पण्डिताः=पण्डित जन, समदर्शिनः=समदर्शी, एव=ही होते हैं ।

विद्या-विनय-युत-द्विज, श्वपच, चाहे गऊ, गज, श्वान है ।
सबके विषय में ज्ञानियों की दृष्टि एक समान है ॥

अर्थ—विद्या एवं विनय से युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी पण्डितजन समदर्शी ही होते हैं ।

व्याख्या—परम-तत्त्व की प्राप्ति का लक्षण समदृष्टि है। सूर्य किसी उच्च अथवा धनी पर अपना सारा प्रकाश बखेर नहीं देता और किसी नीच या निर्धन से अपना मुँह नहीं छिपाता। अच्छा-बुरा, ऊँचा-नीचा जो सामने आता है, उसी पर सूर्य अपने स्नेह-भरे हाथ रखता है। परमेश्वर ने सबके लिये यह संसार बनाया है—

'ईश्वर के सब जीव हैं कीड़ी कुञ्जर दोय ।'

विद्या एवं विनय से सम्पन्न विद्वान् ब्राह्मण और चाण्डाल दोनों में एक ही आत्मा है। दोनों एक ही पिता के पुत्र हैं। मनुष्य-समाज में दोनों का अपना-अपना महत्वपूर्ण स्थान है। नाटक के खेल में राजा हो या चाण्डाल, जिसका अभिनय श्रेष्ठ और सब प्रकार सुन्दर होता है उसीकी सब सराहना करते है। इसी प्रकार संसार में जो कर्म-कुशल और सावधान रहता है वही श्रेष्ठ है।

राष्ट्रपति अपने कार्य में शिथिल अथवा अयोग्य हो तो भी शासन नहीं चलेगा और एक झाड़ू देनेवाला अपने कार्य में कुशल तथा

सावधान न हो तो भी सम्पन्नता नहीं आयेगी। व्यावहारिक दृष्टि से दोनों को सुख, मान, जीवन बिताने की सुविधायें, भोजन, वस्त्र और रहने का स्थान चाहिये। ज्ञान वही सफल होता है, जहां सबके साथ समान—स्नेहमय, आत्म-भाव से व्यवहार हो।

समदर्शन में भगवान् बसते हैं 'मैं, मेरा,' ममता का मूल है, 'सब कुछ भगवान् का' समता का मूल है। अपने स्वार्थ और सुखों को चाहनेवाला दूसरे के दुःखों को कब देखता है? दूसरे के दुःखों को देखनेवाला, दीनों की सहायता करनेवाला दीन-बन्धु है। 'दीन-बन्धु' भगवान् का नाम है। ज्ञानी अथवा भक्त, संन्यासी या कर्मयोगी वही है जो सबके लिये मित्रता का हाथ बढ़ाता है। जो सबसे प्रेम करता है, उससे भगवान् प्रेम करते हैं।

एक दिन स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने अपनी माता से पूछा कि 'ब्रह्म के दर्शन कहां और कैसे करूँ'? माता ने कहा—"प्राणिमात्र में समदृष्टि से ब्रह्म का दर्शन मिल जाता है।"

माता भोजन बनाने के लिये चली गई कुछ देर पीछे रामकृष्ण को भोजन के लिये बुलाया। भोजन करने जाते समय रास्ते में उन्हें एक बिल्ली मिली। रामकृष्ण ने बिल्ली की पीठ पर इतनी जोर से छड़ी मारी कि उसके गहरा निशान पड़ गया।

वे भोजन करने बैठे तो उन्होंने देखा कि माता की पीठ पर एक लम्बा छड़ी लगने का निशान पड़ा है और उससे रक्त उमड़ रहा है।

रामकृष्ण बोले—मां! किस दुष्ट ने तुम्हें यह चोट पहुँचाई?

मां ने कहा—बेटा! अभी तुम्हीं ने तो छड़ी मारी है! किसी भी जीव के साथ निर्दयता का व्यवहार अपने ही साथ होता है। दूसरे के लगी हुई अपने ही लगती है। यह बात जिसको लग जाती है, वही ब्रह्म-दर्शी है।

रन्तिदेव की कथा प्रसिद्ध है, बहुत दिनों के बाद उन्हें भोजन मिला था। वे अपने परिवार सहित भोजन करने बैठे ही थे कि एक

भूख से पीड़ित ब्राह्मण आ गया। रन्तिदेव से उसका दुःख नहीं देखा गया और अपना भोजन ब्राह्मण को दे दिया। उसी समय एक भूखा चाण्डाल आया, रन्तिदेव ने उसे भी भोजन दिया। संयोगवश एक भूखा कुत्ता आ गया और वह आंखें गड़ा-गड़ा कर भोजन की तरफ देखने लगा। जो कुछ बचा था वह कुत्ते को दे दिया गया।

रन्तिदेव और उसका परिवार दूसरों की भूख मिटा कर प्रसन्न हुए। उनके इस महायज्ञ से भगवान् ने उन पर कृपा की और रन्तिदेव से बोले, "तुम्हारे जैसा महायज्ञ करनेवाले को मन-मांगा वर मिलता है। जगत् और जगत्पति उसे हृदय से लगा कर उसकी सब इच्छायें पूरी करते हैं। तुम्हारी कोई इच्छा हो तो मुझे बताओ ?"

रन्तिदेव मुस्कराते हुए बोले—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

सुख राज्य स्वर्ग की मैं न कामना करता,
मैं नहीं मांगता अपनी मुक्ति अमरता।
सन्तप्त दुखी प्राणी दुःख से छुट जायें,
मुझ में इस अभिलाषा का झरना झरता॥

संसार के दुःखियों का दुःख दूर करने की अभिलाषा जिसमें जाग उठती है, उसी की सम-दृष्टि होती है, वही ब्रह्म-ज्ञानी है।

भगवान श्रीकृष्ण ने इसी प्रकार की सम-दृष्टि वाले को पण्डित माना है। ब्राह्मण का या चाण्डाल का दुःख, हाथी, गौ अथवा कुत्ते का दुःख देखकर जिसका हृदय पसीजता है और जो बिना किसी भेद-भाव के उसे दूर करने में जुट जाता है वही समदर्शी पण्डित है। उससे किसी भी दशा में ऐसा कर्म नहीं होता जो बन्धन में बांधनेवाला हो, अथवा जिससे ब्रह्म-भाव नष्ट हो।

सम-दर्शन से भेदभाव के गड्ढे भर जाते हैं और जीवन की विषमतायें नष्ट हो जाती हैं। भंगी, चमार, नाई, धोबी, वैश्य, क्षत्रिय

अथवा ब्राह्मण सब परमेश्वर के पुत्र हैं, सब एक दूसरे के भाई हैं, भाई भाई से घृणा करे तो पिता का हृदय दुखता है।

जिनका जन्म दूसरों की सेवा के लिये होता है, वे ही धन्य हैं! सेवक को छोटा माननेवाला अथवा सेवक के साथ दुर्व्यवहार करनेवाला परमेश्वर की सृष्टि में दास-भाव बढ़ाता है अतः उसे दासता की यातनायें भोगनी पड़ती हैं।

श्रीराम ने वानर-जाति के हनुमान् को उनकी सेवा से प्रसन्न होकर सबसे ऊँचे आसन पर बैठा दिया! कोटि-कोटि नर-नारी हनुमान् जी की पूजा करते हैं। पर कितने हैं जो हनुमान् का सेवाभाव अपनाते हैं और अपने राम की सेवा में लग जाते हैं?

साधारण दृष्टि वाले मनुष्य ब्रह्म की असाधारणता नहीं देख पाते। ज्ञान के फलस्वरूप जब समदृष्टि प्राप्त होती है तब उसके प्रकाश में 'सर्वब्रह्ममयम्' भासमान होता है।

ज्ञानी पुरुष संसार में प्रेम, आत्म-भाव और समता बढ़ाता है। अपने-पराये, छोटे-बड़े, दरिद्री-धनवान् आदि से वह विषम-व्यवहार नहीं करता—सबका सुख-दुःख अपने जैसा मानता है।

सम्पूर्ण आत्माओं की एकता जानना ही सच्चा ज्ञान है। संसार में जो कुछ विषमता है वह प्रकृति की है, आत्मा की नहीं।

संसार में अनेकों बढ़ते हुए वाद—साम्यवाद, समाजवाद, वेद-वाद, गांधीवाद और किसी भी प्रकार के सम्प्रदाय-वाद से यदि विवाद ही बढ़ता है तो सब व्यर्थ हैं। परस्पर भेदभाव की दीवारें खड़ी करनेवाला कोई भी कार्य, चाहे वह व्यक्तिगत हो और चाहे किसी संस्था द्वारा हो, परमेश्वर को प्रसन्न नहीं कर सकता। जातियां, उपजातियां सम्प्रदाय, संस्थायें और अनेकों प्रकार के वाद परस्पर भेद-भाव बढ़ाकर देश का अनहित ही करते हैं। इस लोक में उन्हीं से सुख बढ़ता है जो सारे संसार को अपना परिवार बनाते हैं और अपने प्रेम-भरे उदार अंक में सबको सम-भाव से भर लेते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

इह, एव, तैः, जितः, सर्गः, येषाम्, साम्ये, स्थितम्, मनः, निर्दोषम्, हि, समम्, ब्रह्म, तस्मात्, ब्रह्मणि, ते, स्थिताः ।

येषाम्=जिनका, मनः=मन, साम्ये=समता में, स्थितम्=स्थित है, तैः=वे, इह=जीवन में, एव=ही, सर्गः=संसार को, जितः=जीत लेते हैं, हि=क्योंकि, ब्रह्म=ब्रह्म, निर्दोषम् = निर्दोष (और), समम् = सम है, तस्मात् = अतः ते=वे, ब्रह्मणि=ब्रह्म में, स्थिताः=स्थित रहते हैं ।

जो जन रखें मन साम्य में, वे जीत लेते जग यहीं ।
पर ब्रह्म सम निर्दोष है, यों ब्रह्म में वे सब कहीं ॥

अर्थ—जिनका मन समता में स्थित है वे जीवन में ही संसार को जीत लेते हैं, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, अतः वे ब्रह्म में स्थित रहते हैं ।

व्याख्या—जो विषमता को मिटाते हैं वे ब्रह्म को बसाते हैं और जो भेद-भाव बढ़ाते हैं वे ब्रह्म को संसार से हटाने की चेष्टा करते हैं;

जहां ममता है वहां समता नहीं रहती ।

जिनका मन सबमें समानता मानता है, जिनका हृदय सबके लिये समभाव से खुला रहता है और जो सबके हित के लिये कर्म करते हैं, वे संसार को जीत लेते हैं—सर्वत्र विजय पाते हैं—मुक्त हो जाते हैं ।

संसार को जीत लेने का अभिप्राय है—सबको अपना बना लेना, मोह और ममता से मुक्त हो जाना, सांसारिक-प्रपञ्चों, कमजोरियों और विकारों को अपने आधीन कर लेना । यह दुष्कर-कार्य उसी समय सरल होता है जब सबके साथ समान-व्यवहार किया जाता है । जहां दोष तथा भेदभाव रहते हैं, वहां समता नहीं आती । मनुष्य एक दम सब

दोषों से नहीं छूटता। निर्दोष तो केवल ब्रह्म ही है। ब्रह्म को सर्वत्र देखनेवाला और ब्रह्म में टिके रहने का प्रयत्न करनेवाला धीरे-धीरे दोषों से छूट जाता है।

घृणा सबसे बड़ा दोष है, कहावत प्रसिद्ध है कि "पापी से नहीं पाप से घृणा करो।" जो पापों से घृणा करता है, उसके पास समता आती है और जो पापी से घृणा करता है उसे पहले अपने से घृणा करनी चाहिये। दूसरे से घृणा पाप है।

संसार में उसी की जीत होती है जो सबसे प्रेम करता है।

दोष न कहीं पशु में है, न चाण्डाल में, न किसी बड़े से बड़े पापी अथवा नीच में, दोष कर्मों में है। जो दोष-पूर्ण कर्मों को छोड़ देता है, वह चाहे कोई भी हो, ब्रह्म के समान निर्दोष हो जाता है और जो दोष भरे कर्म करता है वह विद्वान, महात्मा, नेता अथवा कोई भी हो, विकारों में उलझकर नीच हो जाता है। नीचों को भी जो उठाता है, वही सबसे ऊँचा है; वही जीवन में विजयी होता है और वही निर्दोष होने के कारण अपने समभाव से सदा ब्रह्म में बसा रहता है। ऐसे ब्रह्म में स्थित जीवन-मुक्त नर-नारियों के आचरण से धर्म की परिभाषा होती है।

जो दोषों से घिरा रहता है और विषमता बढ़ाता है, वह सदा हारता है और जो दोषों को हटाता है तथा समता का भाव बढ़ाता है, वह नित्य विजयी कहीं हारना नहीं जानता, भयभीत नहीं होता, नीचा नहीं देखता और ब्रह्म से नहीं छूटता।

समभाव रखनेवाला संसार के दोषों को जीतकर निर्दोष हो जाता है। जो निर्दोष है वह ब्रह्मरूप है; अतः सबके साथ समान व्यवहार करनेवाला नित्य ब्रह्म में स्थित रहता है।

ब्रह्मलीन नर-नारी संसार में सुख बढ़ाते हैं, देश को जागृत रखते हैं, जड़ता और अकर्मण्यता को पंगु करके एक तरफ बैठा देते हैं, उनके आचरण गीता ने इस प्रकार बताये हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

न, प्रहृष्येत्, प्रियम्, प्राप्य, न, उद्विजेत्, प्राप्य, च, अप्रियम्, स्थिरबुद्धिः, असंमूढः, ब्रह्मवित्, ब्रह्मणि, स्थितः ।

प्रियम्=प्रिय को, प्राप्य=पाकर, न प्रहृष्येत्=हर्षित न हो, च=और, अप्रियम्=अप्रिय को, प्राप्य=पाकर, न उद्विजेत्=दुःखी न हो (ऐसा) स्थिरबुद्धिः=स्थिर बुद्धि, असंमूढः=मोह-रहित, ब्रह्मवित्=ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मणि=ब्रह्म में, स्थितः=स्थित है ।

प्रिय वस्तु पा न प्रसन्न, अप्रिय पा न जो सुख-हीन है ।
निर्मोह दृढ़-मति ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में लवलीन है ॥

अर्थ—प्रिय को पाकर हर्षित न हो और अप्रिय को पाकर दुःखी न हो, ऐसा स्थिर-बुद्धि, मोह-रहित ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में स्थित है ।

व्याख्या—प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार की वस्तुओं से यह जगत् भरा पड़ा है । जिसे कुछ वस्तुयें प्रिय होती हैं उसे कुछ न कुछ अप्रिय भी लगता है । यह स्वयं-सिद्ध सत्य है कि अपने मन के अनुकूल वस्तु पाकर हर्ष होता है और मन के प्रतिकूल अप्रिय वस्तु मिलने से दुःख होता है ।

गीता सुख-दुःख से ऊपर उठने की बात कहती है । सदा प्रसन्न रहना, सुखी रहना और संसार को सुख से भरते चलना, मनुष्य का धर्म है । विषय-जनित क्षण-भंगुर प्रसन्नता और इन्द्रिय-सुख धर्म-मार्ग के बाधक हैं । जब तक इन्द्रियों को प्रसन्न करनेवाला विषय-सुख रहता है, तब तक आत्मा के अखण्ड आनन्द का स्रोत नहीं उमड़ता । बाहरी सुख कितना ही रहे, परन्तु अन्तर में अशान्ति है तो प्रज्ञा प्रतिष्ठित नहीं होती । मस्तिष्क की शान्ति (Peace of mind) के लिये इन्द्रिय-जनित

सुख-दुःखों के प्रवाह में न बहकर आत्मा के अमृत-कुण्ड में नित्य निमग्न रहना नितान्त आवश्यक है।

स्थित-प्रज्ञ के लक्षण बताते हुए गीता में बाहरी वस्तुओं से प्राप्त सुख और दुःखों से अलग रहने का आदेश दिया गया है (गी० २।५६, ५७)। स्वधर्म का आचरण करने वाले व्रत-शील नर-नारियों को भी इन्द्रियों के राग-द्वेष से बचे रहने का सन्देश गीता में है (गी. ३।३४)। कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखने के लिये तथा नित्य ब्रह्म में स्थित रहने के लिये भी गीता की यही निश्चित घोषणा है कि इन्द्रियों को अच्छी लगने वाली मनचाही वस्तुओं को प्राप्त करके सुख में फूल जाना भूल है और अप्रिय की प्राप्ति से दुःखी होना जीवन को खोना है। जो सुख और दुःख में एकरस रहता है, जिसके आत्मानन्द का स्रोत कभी रुकना नहीं जानता, जो परिस्थितियों से नहीं दबता और जो किसी प्रकार के सुख-दुःख में पड़कर कर्तव्य-कर्म को नहीं छोड़ता, वही ब्रह्म में विहार करता है।

प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति से विचलित न होने वाले तीन प्रकार के नर-नारी ब्रह्म में विहार करते हैं—१. स्थिर-बुद्धि, २. असंमूढ, ३. ब्रह्मविद्।

१. स्थिर-बुद्धि—

जिसकी बुद्धि स्थिर है वह सदा मुक्त है। स्थित-प्रज्ञ गीता के कर्मयोग और संन्यास का सर्वश्रेष्ठ आदर्श है। स्थित-प्रज्ञ में कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों मिलकर एक हो जाते हैं, वह तीनों गुणों से पार होकर मन, वचन और कर्म से 'सत्यं शिवं और सुन्दरम्' को अङ्गीकार करता है, उसके लिये तीनों लोकों में कोई बाधा नहीं रहती। वह जीवन-मुक्त होकर अपने को और संसार को ब्रह्म-सुख से भर देता है।

स्थिर-बुद्धि अपनी बुद्धि को पवित्र और एकाग्र रखता है। चंचल बुद्धि से जीवन में विजय और सुख नहीं मिलता। स्थिर बुद्धि अर्थात् शुद्ध प्रज्ञा, प्रकाश और सहायता देकर जीवन का विकास करती है।

२. असंमूढ—

जिसकी बुद्धि मोहित नहीं होती, संशयों में नहीं फँसती, सावधानी और तत्परता को नहीं छोड़ती, उसे असंमूढ कहते हैं।

श्री के मद से मोहित होने वाले, प्रभुता पाकर दूसरे की न सुननेवाले और काम की ज्वाला से टकरा कर पतंगे के समान जीवन खो देनेवाले, वास्तव में अपने स्वरूप को भूल जाते हैं। ऐसे संमूढ जनों के लिये मुक्ति का सुख नहीं है। मुक्ति अथवा स्वतन्त्रता से वही लाभ उठाता है, जो असंमूढ है, जिसकी बुद्धि कहीं मोहित नहीं होती। शुक्र-नीति में मोह-रहित पण्डित का भव्य-दर्शन है—

"निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥"

"जो निश्चय का महामेरु हो—करता कर्मों का आरम्भ।
जिसे नहीं विचलित कर पाते पथ से बाधायें भय दम्भ ॥
दाब नहीं पाती हैं जिसको, समय परिस्थिति की उलझन।
वह महान है जो अपने पर, करता संयम से शासन ॥"

३. ब्रह्मविद्—

ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्मविद् कहा जाता है। ब्रह्म-ज्ञानी आत्म-दर्शी और अनन्यभक्त, एक प्रकार से ब्रह्मविद् ही हैं। अथर्ववेद के ऋषि का कितना सुन्दर अनुभव है—

'ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्'

जो मनुष्य में ब्रह्म को देखते हैं वे ही परमात्मा को जानते हैं।

सम्पूर्ण विश्व और विश्व में बसनेवाले प्राणी ब्रह्म के रूप हैं। सम-दर्शन से ही ब्रह्म को देखने की दिव्य-दृष्टि प्राप्त होती है। जो एक बार ब्रह्म को जान लेते हैं, वे प्रत्येक क्षण ब्रह्म में स्थिर रहते हैं और सदा के लिये उसी में बस जाते हैं। ब्रह्म-सुख का अनुभव उन्हें होता है जो इन्द्रियों के बाहरी सुखों से अपने मन को हटा लेते हैं—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाह्यस्पर्शेषु, असक्तात्मा, विन्दति, आत्मनि, यत्, सुखम्, सः, ब्रह्मयोगयुक्तात्मा, सुखम्, अक्षयम्, अश्नुते,

बाह्यस्पर्शेषु=बाहरी विषयों में, असक्तात्मा=अनासक्त रहनेवाला, आत्मनि=अन्तःकरण में, यत्=जो, सुखम्=सुख है (उसे), विन्दति=पाता है, सः=वह, ब्रह्मयोगयुक्तात्मा=ब्रह्मयोग में युक्त पुरुष, अक्षयम्=अक्षय, सुखम्=सुख का, अश्नुते=अनुभव करता है ।

नहिं भोग विषयासक्त जो जन आत्म सुख पाता वही ।
वह ब्रह्मयुत, अनुभव करे अक्षय महासुख नित्य ही ॥

अर्थ—बाहरी विषयों में अनासक्त रहनेवाला अन्तःकरण में जो सुख है उसे पाता है, वह ब्रह्मयोग में युक्त पुरुष अक्षय सुख का अनुभव करता है ।

व्याख्या—शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध आदि विषयों के दुःख का अनुभव प्रत्यक्ष होता है । दुःखों से छूटने का एक ही रास्ता है—इन्द्रिय-सुखों की तरफ से धीरे-धीरे मन को हटाना ! ऐसा करने से शान्ति मिलेगी, शक्ति बढ़ती हुई जान पड़ेगी, हृदय में आनन्द उमड़ेगा और प्रसाद मुख पर झलकने लगेगा। जितना आत्मिक आनन्द बढ़ता है, उतना ही मस्तिष्क निर्मल होता है, दृष्टि उतनी ही दूर तक देख सकती है और अन्तःकरण में ब्रह्म की प्रतिष्ठा होने लगती है । ब्रह्म-योग होते ही आत्मा का सुख अक्षय हो जाता है, फिर मन इन्द्रिय-सुखों की ओर नहीं दौड़ता, इन्द्रिय-सुख मिलने पर भी चित्त उनमें नहीं फँसता ।

प्रार्थना, ध्यान, उपासना, संध्या-वन्दन, जप-तप आदि साधन इसीलिये हैं कि इन्द्रियों के झूठे और क्षण-भंगुर सुखों से मनुष्य कुछ देर के लिये अलग रह सके ।

आत्म-सुख की एक बूँद भी अमृत की भांति जीवन देती है । विषयों से हटते ही एक स्फूर्ति जागती है, कर्म में चित्त लगता है, उत्साह और उमङ्ग मन को पवित्र शक्ति देती है. एक अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है—यही 'आत्म-सुख' है । यह जितना अधिक बढ़ता है, जीवन का उतना ही विकास होता जाता है ।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

ये, हि, संस्पर्शजाः, भोगाः, दुःखयोनयः, एव, ते, आद्यन्तवन्तः, कौन्तेय, न, तेषु, रमते, बुधः,

ये=जो, संस्पर्शजाः=इन्द्रियों और विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले, भोगाः=भोग हैं, ते=वे, हि=निस्सन्देह, दुःखयोनयः=दुःख की योनियां, एव=ही हैं, कौन्तेय=हे कौन्तेय, आद्यन्तवन्तः=(वे) आदि और अन्तवाले हैं, तेषु=उनमें, बुधः=बुद्धिमान, न=नहीं, रमते=रमता ।

जो बाहरी संयोग से हैं भोग, दुख कारण सभी ।
है आदि उनका अन्त, उनमें विज्ञ नहिं रमता कभी ॥

अर्थ—जो इन्द्रियों और विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले भोग हैं वे निस्सन्देह दुःख की योनियाँ ही हैं, हे कौन्तेय ! वे आदि और अन्तवाले हैं, उनमें बुद्धिमान् नहीं रमता ।

व्याख्या—इन्द्रियों और विषयों के संयोग से भोग होते हैं । प्रायः भोगों की ओर मन स्वयं ही जाता है । अनेकों जितेन्द्रिय महात्माओं की कथायें प्रसिद्ध हैं । भोगों में फँसकर उनके जीवन नष्ट ही हुए हैं । भोगों को बढ़ाना आसान है, परन्तु कम करना अथवा छोड़ देना कठिन है ।

इन्द्रिय-सुखों से मन कभी नहीं भरता, राग और द्वेष नित्य नये-नये रूपों में सामने आते हैं, शान्ति नष्ट हो जाती है, चित्त चञ्चल रहता है और तृष्णा सुरसा की भांति मुंह फाड़ती जाती है । सारे संसार को पेट में रख लेने पर भी इन्द्रियों की भूख नहीं मिटती ।

इन्द्रिय-सुखों में भय रहता है, आत्मा का सुख निर्भयता देता है । इन्द्रिय-सुख आने और जानेवाले हैं, आत्मा का सुख एक बार मिलकर जीवन भर नष्ट नहीं होता । ऐसे अनन्त सुख का अनुभव करने के लिये

मनुष्य को ज्ञान और अभ्यास का सहारा लेकर विषय-भोगों से बचना चाहिये।

भोग किसी भी प्रकार के हों, उनसे मनुष्य की तृप्ति नहीं होती। भोग जितने अधिक भोगे जाते हैं, उतनी ही अधिक भोगने की इच्छा प्रबल होती है। भयंकर विषधर के समान भोग प्राणी को डस लेता है।

अंधेरे में पड़े हुए अज्ञानी जन भोगों को पाकर अपने को कृतकृत्य और भाग्यवान् मानते हैं। वास्तव में भोगों से ही संसार के सारे दुःख और रोग उत्पन्न होते हैं। भोगों को जुटाने में दुःख होता है, भोगने में दुःख मिलता है और भोगने के पश्चात घोर दुःख होता है। भोगों के मिलने में दुःख, न मिलने में दुःख, एक बार मिल जायें तो बार-बार पाने का राग और दुःख, सर्वत्र दुःख ही दुःख है।

भोगी दूसरों को भोग भोगते देखकर भी दुःखी होता है। असन्तोष और ईर्ष्या भोगी को जला डालती है।

भोग स्वप्न की भांति आते हैं कपूर की तरह उड़ जाते हैं। आना और जाना उनका स्वभाव है। भोगी कभी सुखी नहीं हुआ है।

बुद्धिमान् भोग के परिणाम को जान लेते हैं और कभी उनमें पड़कर पथ-भ्रष्ट नहीं होते। भोग से दुःख और योग से सुख मिलता है। भोग बाहरी विषयों के संयोग से होते हैं और योग आत्मा के सहयोग से। आत्मा से आनन्द का अखण्ड झरना झरता है और बाहरी भोगों से दुःखों का ज्वालामुखी फूटता है, जो स्वयं धधकता है और आस-पास के जन-समाज को भी जलाता है।

खाना-पीना और सुख भोगना जिनके जीवन का ध्येय बन जाता है, वे बाहर से कितनी ही तड़क-भड़क और ऐश्वर्य दिखायें, पर उनके अन्तर में अशान्ति की अग्नि धधकती रहती है। जिसके मन में शान्ति है और जिसका मस्तिष्क सम-तुल रहता है वही सुखी है। सुखी होने के लिये गीता अचूक साधन बताती है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

शक्नोति, इह, एव, यः, सोढुम्, प्राक्, शरीरविमोक्षणात्, कामक्रोधोद्भवम्, वेगम्, सः, युक्तः, सः, सुखी, नरः ।

यः=जो, इह=इस लोक में, शरीरविमोक्षणात्=शरीर छूटने से, प्राक्=पहले, एव=ही, कामक्रोधोद्भवम्=काम और क्रोध से उठनेवाले, वेगम्=वेग को, सोढुम्=सहन करने में, शक्नोति=समर्थ है, सः=वह, नरः=पुरुष, युक्तः=योगी है, (और) सः=वही, सुखी=सुखी है ।

जो काम-क्रोधावेग सहता है मरण पर्यन्त ही ।
संसार में योगी वही नर सुख सदा पाता वही ॥

अर्थ—जो इस लोक में शरीर छूटने से पहले ही काम और क्रोध से उठनेवाले वेग को सहन करने में समर्थ है वह पुरुष योगी है और वही सुखी है ।

व्याख्या—जो जीवन-पर्यन्त काम-क्रोध के वेग को रोकते हैं उनमें अदम्य प्रतिभा का विकास होता है । काम और क्रोध मारीच और सुबाहु के समान यज्ञों को विध्वंस करते हैं, उन्हें मारनेवाला राम के समान है । काम-क्रोध के वेग को जीतनेवाला जगत् को जीत लेता है ।

काम ज्ञान को ढक लेता है, पापों से मित्रता करता है, धर्म से द्वेष रखता है और जीवन को खा जाता है । काम का वेग शरीर में उत्तेजन करके उसे मथ डालता है और जीवन के सार-रूप वीर्य को नष्ट कर शरीर को निस्तेज तथा शिथिल कर देता है ।

क्रोध, बुद्धि को मलिन कर देता है, ज्ञान को पछाड़ देता है और विकारों को भड़कने की शक्ति देता है । क्रोध महा विष है, इस विष को पी जानेवाला शिवरूप हो जाता है । जो जीवन के सुनहले दिनों में ही काम-क्रोध का वेग सहन कर लेते हैं, उन्हें शिथिलता नहीं देखनी पड़ती; वे सदा सुखी रहते हैं; उन्हीं को योगी मानना चाहिये ।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

यः, अन्तःसुखः, अन्तरारामः, तथा, अन्तर्ज्योतिः, एव, यः, सः, योगी, ब्रह्मनिर्वाणम्, ब्रह्मभूतः, अधिगच्छति ।

यः=जो, अन्तःसुखः=अन्तर-आत्मा में सुखी है, अन्तरारामः=आत्मा में ही विहार करनेवाला है, तथा=और, यः=जो, अन्तर्ज्योतिः=आत्मा की ज्योतिवाला है, सः=वह, योगी=योगी एव=निश्चय ही, ब्रह्मभूतः=ब्रह्म-रूप हुआ, ब्रह्मनिर्वाणम्=ब्रह्मनिर्वाण को, अधिगच्छति=प्राप्त होता है ।

जो आत्मरत अन्तःसुखी है ज्योति जिसमें व्याप्त है ।
वह युक्त ब्रह्म-स्वरूप हो निर्वाण करता प्राप्त है ॥

अर्थ—जो अन्तर-आत्मा में सुखी है, आत्मा में ही विहार करनेवाला है और जो आत्मा की ज्योतिवाला है, वह योगी निश्चय ही ब्रह्म-रूप हुआ ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त होता है ।

व्याख्या—योगी काम और क्रोध को जीत लेता है—

१—वह अपनी आत्मा में सुख पाता है ।

२—वह अपनी आत्मा में विहार करता है ।

३—वह आत्मा की ज्योति को धारण करता है ।

१. अन्तःसुखी—

बाहरी उपकरणों की सहायता से मिलनेवाला सुख नश्वर है । विषयों के आधीन अथवा वस्तुओं के आधीन रहनेवाले का सुख-दुःख विषयों और वस्तुओं की अनित्यता के कारण नित्य नहीं रहता ।

इन्द्रियां स्वभाव से ही देखने, सुनने, बोलने, छूने और अपने-अपने कर्म करनेवाली होती हैं । इन्द्रियों को बाहरी विषयों से हटाने के लिये कहीं न कहीं लगाना चाहिये ।

"विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ।" —योगदर्शन

विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन को स्थिर करती है।

इन्द्रियों को जब आत्मा से भोजन और बल मिलता है, तब वे विषयवती हो जाती हैं। आत्मा के योग से विषय पवित्र हो जाते हैं। दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श, दिव्य रूप, दिव्य रस और दिव्य गन्ध के भोग से आत्मिक-सुख मिलता है। कान शुभ सुनते हैं, हाथ पवित्रता को छूते हैं, आंखें सर्वत्र परमतत्त्व का दर्शन करती हैं, वाणी सत्य में स्थित होती है, समस्त इन्द्रियों से किये जानेवाले कर्म निर्विकार, निर्द्वन्द्व सात्त्विक और दैवी होते हैं। उन कर्मों द्वारा—'विशोका वा ज्योतिष्मती'—शोक-रहित और प्रकाशपूर्ण प्रवृत्ति होने से मन, आत्मा में टिक जाता है और अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है। (योगदर्शन १।३६)

२. अन्तरारामः—

दिव्य विषय भोगनेवाली इन्द्रियां अन्तर्मुखी होती हैं। वे आनन्द-ब्रह्म के साथ विहार करती हैं। आत्मा में टिकनेवाला योगी ब्रह्म-कर्म करता हुआ सदा मुक्त रहता है।

अन्तर्ज्योतिः—

जिसमें आत्मा का अलख जागता है वह योगी, ब्रह्म-रूप हो जाता है। वह ममता, मोह, अहंकार, काम, क्रोधादि विकारों को विषहीन कर लेता है, उसी प्रकार जैसे वैद्य संखिये को शोध लेते हैं। ऐसे ब्रह्म-रूप मनुष्य से सत्य, तप और ब्रह्मचर्य आदि धर्म के लक्षण जीवन पाते हैं। उसके अन्तर की ज्योति उसके मुख पर प्रकट होकर उसे परम तेजस्वी और भव्य बना देती है।

ब्रह्म के तद्रूप होना जीवन्मुक्त की सर्वोच्च स्थिति है। केवल मुख से 'अहं ब्रह्मास्मि' अथवा 'सोऽहम्' कह देने से ऐसी स्थिति नहीं हो जाती। जो अव्यय, असीम में मिलकर इन्द्रियों की सीमा से परे पहुँच जाता है, आत्मरूप हो जाता है, वही निःसन्देह ब्रह्म में लीन होनेवाला विदेह पुरुष ब्रह्मरूप होता है। इसी का नाम 'ब्रह्म-निर्वाण' है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

लभन्ते, ब्रह्मनिर्वाणम्, ऋषयः, क्षीणकल्मषाः,
छिन्नद्वैधाः, यतात्मानः, सर्वभूतहिते, रताः ।

क्षीणकल्मषाः=निष्पाप, छिन्नद्वैधाः=छल-कपट रहित, यतात्मानः=संयत आत्मावाले (और), सर्वभूतहिते=सब प्राणियों के हित में, रताः=लगे रहनेवाले, ऋषयः=ऋषि, ब्रह्मनिर्वाणम्=ब्रह्मनिर्वाण लभन्ते=प्राप्त करते हैं ।

निष्पाप जो कर आत्म-संयम द्वन्द्-बुद्धि-विहीन हैं ।
रत जीवहित में, ब्रह्म में होते वही जन लीन हैं ॥

अर्थ—निष्पाप, छल-कपट-रहित, संयत आत्मावाले और सब प्राणियों के हित में लगे रहनेवाले ऋषि ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करते हैं ।

व्याख्या—ब्रह्म-निर्वाण कहीं बँटता नहीं, आशीर्वाद में भी नहीं मिलता । यह तो योग-साधना का प्रत्यक्ष फल है । मिथ्या ज्ञान और मिथ्या ब्रह्मभाव, ब्रह्म-निर्वाण तक नहीं पहुँच पाते । ऋषि ही निर्वाण पद तक पहुँचने के अधिकारी होते हैं ।

ऋषि उसे कहते हैं जिसकी आंखों में अनुभव का प्रकाश चमकता है, जिसकी वाणी में सत्य बोलता है और जिसकी बुद्धि में स्वयं ब्रह्म बैठकर कार्य करता है । ऋषि मन्त्र-द्रष्टा होते हैं, उनकी वाणी वेद होती है और उनका हृदय उदार तथा विशाल होता है । ऋषि जीवन्मुक्त होते हैं, ब्रह्म-निर्वाण उनका अभिषेक करता है ।

ब्रह्म-निर्वाण पानेवाले ऋषियों के चार लक्षण हैं—

१—क्षीणकल्मषाः—निष्पाप ।

२—छिन्नद्वैधाः—छल कपट और संशय रहित ।

३—यतात्मानः—आत्म-संयमी जितेन्द्रिय ।

४—सर्वभूतहिते रताः—सब प्राणियों के हित में लगे हुए ।

१. क्षीणकल्मषाः—

तन, मन और वचन से होनेवाले पापों के रहते हुए मुक्ति नहीं मिलती। न करने योग्य कर्म करना पाप है, स्वधर्म का आचरण न करना पाप है। हृदय जिन कर्मों के करने का समर्थन नहीं करता; जो कर्म आत्मा की चोरी से किये जाते हैं, जिनके करने से मन चिन्तित और भयभीत रहता है, जिन कर्मों में बुद्धि को छल, कपट और चालाकी से काम लेना पड़ता है, वे सब पाप कर्म कहे जाते हैं।

पाप कर्म मनुष्य को बन्धन में बाँधते हैं। उनसे राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि में प्रवृत्ति होती है। पापकर्म सर्वत्र अशान्ति, दुःख और दासता को बढ़ाते हैं। पापों को साथ रखकर आत्मा-परमात्मा, धर्म और मुक्ति की अभिलाषा आकाश में महल बनाने के समान है। पाप जीवन को निस्तेज बनाता है, विकास की जड़ काट देता है और चरित्र को उभरने नहीं देता। ऋषिजन तप और पवित्रता से पापों को अपने पास नहीं आने देते। जो निष्पाप है वही जीवन-मुक्त है।

२. छिन्नद्वैधाः—

दूसरों के साथ छल-कपट करनेवाला स्वयं अपने को ही छलता है, वह सदा दुविधा में पड़ा रहता है, उसे न जग मिलता है न जगत्पति।

कहावत प्रसिद्ध है—

दुविधा में दोनों गये, माया मिली न राम।

निष्पाप होने के लिये दुविधा, संशय और छल-कपट को छोड़कर बुद्धि को निश्चयात्मक बनाना पड़ता है। जिसके निश्चय का मेरु-दण्ड टूट जाता है, उसमें कहीं खड़े होने की शक्ति नहीं रहती।

ऋषि ब्रह्म में टिकने के लिये निश्चयात्मक और दृढ़-बुद्धि बना लेते हैं, किसी प्रकार के छल और कपट को अपने पास नहीं फटकने देते, सब प्रकार के संशयों से मुक्त रहते हैं।

३ यतात्मानः—

इन्द्रियों को आत्मा के आधीन कर देनेवाला और उनसे निष्काम सात्त्विक कर्म करानेवाला 'यतात्मा' कहलाता है। यतात्मा अपनी इन्द्रियों को नियम और संयम में रखकर दिव्य-कर्म करता है। उसके कर्मों में काम-वासना, इन्द्रिय-सुख और स्वार्थ का अभाव रहता है। उसका उदार हृदय प्राणिमात्र की सेवा के लिये सदा खुला रहता है।

४ सर्वभूतहिते रताः—

सब प्राणियों के हित में लगे रहनेवालों को 'सर्वभूतहिते रताः' कहा जाता है। जो सबका हित करता है, उसका हित भगवान् करते हैं। जो केवल अपने ही हितों की चिन्ता करता है, उसकी चिन्ता कोई नहीं करता। भगवान् दीनबन्धु हैं। दीनों का दुःख दूर करनेवाले के साथ भगवान् अपना अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं।

भगवान् को सबसे अधिक प्रिय सेवा है। प्राणिमात्र की सेवा भगवान् की अनन्य भक्ति है। परहित के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। प्रेम, सेवा और परोपकार के बिना धर्म सारहीन है। सबका हित करने के लिये ही महापुरुष जन्म लेते हैं। वे प्राणिमात्र के लिये मित्रता का हाथ बढ़ाते हैं, उनके हृदय में सबके लिये करुणा उमड़ती है, उनकी एक ही कामना होती है—सब सुखी हों, भगवान सब पर दया करे !'

इस प्रकार जो निष्पाप, संशय-रहित, जितेन्द्रिय और सब प्राणियों का हित करनेवाला है, वह 'ऋषि' है।

ऋषियों के लिये कहीं सुख-दुःख का बन्धन नहीं है, वे सदा ब्रह्म में विहार करते हैं।

ब्रह्म-निर्वाण प्राप्त करने के लिये काम और क्रोध को जीतना सबसे पहला साधन है। काम के रहते हुए स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता, पाप पीछा नहीं छोड़ते, दुविधा बनी रहती है, संयम बन नहीं पड़ता और पर-हित का भाव नहीं उठता। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने काम और क्रोध पर विजय प्राप्त करने के लिये विशेष बल दिया है—

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

कामक्रोधवियुक्तानाम्, यतीनाम्, यतचेतसाम्,
अभितः, ब्रह्मनिर्वाणम्, वर्तते, विदितात्मनाम् ।

कामक्रोधवियुक्तानाम्=काम-क्रोध से रहित, यतचेतसाम्=संयत-चित्त, विदितात्मनाम्=आत्मा को जाननेवाले, यतीनाम्=यतियों को, अभितः= सब ओर से, ब्रह्मनिर्वाणम्=ब्रह्मनिर्वाण, वर्तते=मिलता है ।

यति काम-क्रोध-विहीन जिनमें आत्म-ज्ञान प्रधान है ।
जीता जिन्होंने मन उन्हें सब ओर ही निर्वाण है ॥

अर्थ—काम-क्रोध से रहित, संयत-चित्त, आत्मा को जाननेवाले यतियों को, सब ओर से ब्रह्मनिर्वाण मिलता है ।

व्याख्या—संसार में आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दायें-बायें सब ओर ब्रह्म ही ब्रह्म है । जो सावधानी से काम-क्रोध को पैरों के नीचे दबाते हुए, ज्ञान की खुली आंखों से देखते चलते हैं, उन्हें सर्वत्र ब्रह्म मिलता है ।

ब्रह्म को देखनेवाला ब्रह्म को प्राप्त करता है और जो संसार को देखता है, उसे संसार मिलता है । जो संसार को पकड़ता है, उसे संसार बन्धन में जकड़ता है और जो ब्रह्म को देखता हुआ चलता है, उसके आस-पास ब्रह्म रहता है, वह सदा मुक्त रहता है ।

काम और क्रोध का त्याग, चित्त का संयम और आत्मा का ज्ञान तीनों प्रायः एक साथ रहते हैं, संयम इनका नेतृत्व करता है ।

संयम के लिये ज्ञान और कर्म दोनों की समान आवश्यकता है । ज्ञान और कर्म के योग से संयम होता है और संयम से महायोग । महायोग ही ब्रह्म-निर्वाण है । जितेन्द्रिय संयमी पुरुष के लिये निर्वाण सर्वत्र उपस्थित रहता है ।

ऐसी ब्रह्म-दृष्टि ध्यान से बनती है, ध्यान-योग का प्रारम्भ गीता ने इस प्रकार किया है—

**स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥**

स्पर्शान्, कृत्वा, बहिः, बाह्यान्, चक्षुः, च, एव, अन्तरे, भ्रुवोः, प्राणापानौ, समौ, कृत्वा, नासाभ्यन्तरचारिणौ,

बाह्यान=बाहर के, स्पर्शान=विषय-भोगों को, बहिः=बाहर, एव=ही, कृत्वा=करके, च=और, चक्षुः=नेत्रों को, भ्रुवोः=भृकुटि के, अन्तरे=बीच में (करके), नासाभ्यन्तरचारिणौ=नासिका में विचरनेवाले, प्राणापानौ=प्राण और अपान वायु को, समौ=सम, कृत्वा=करके,

**धर दृष्टि भृकुटी-मध्य में तज बाह्य विषयों को सभी ।
नित नासिकाचारी किये सम प्राण और अपान भी ॥**

अर्थ—बाहर के विषय-भोगों को बाहर ही करके और नेत्रों को भृकुटि के बीच में करके नासिका में विचरनेवाले प्राण और अपान वायु को सम करके—

व्याख्या—सदा जागृत रहना, चैतन्य और सावधान रहना, किसी स्थिति में ज्ञान से अलग न होना और काम-क्रोध को दबाये रखना साधारण बात नहीं है। विशुद्ध और स्वच्छ अन्तःकरण होने पर ही ऐसा सम्भव है। जिस प्रकार किसी मन्दिर या भवन को साफ करने के लिये प्रातः-सायं झाड़ने की आवश्यकता होती है इसी प्रकार अन्तरंग-शुद्धि के लिये ध्यान-योग है।

नित्य नियम से ध्यान, प्राणायाम आदि करते हुए जब अभ्यास पक जाता है तो बुद्धि सदा जागी रहती है, मन पर संयम हो जाता है और ज्ञान कभी साथ नहीं छोड़ता।

ध्यान करते समय बाहरी-विषयों को बाहर ही निकाल देना चाहिये जिससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की कोई बाधा न रहे और विषयों का मन में चिन्तन न हो। विषयों का चिन्तन आते ही उनमें

आसक्ति हो जाती है, फिर कामना और क्रोध आ धमकते हैं, फिर मोह उत्पन्न हो जाता है—माया का परिवार जुड़ कर स्मृति को ढक लेता है और सारा किया-कराया नष्ट हो जाता है (२। ६२, ६३)।

माया से मुक्त रहने के लिए ध्यान के साधन इस प्रकार हैं—

१. बाहर के विषयों को बाहर छोड़कर शान्ति और एकाग्रता से भौंहों के बीच में दृष्टि जमाना।

२. श्वास-प्रश्वास को समान करना।

इन दोनों साधनों का सम्बन्ध शरीर और मन दोनों के साथ है। इनसे शरीर और प्राण दोनों को बल मिलता है।

पहले साधन में अभ्यास न पकने तक प्रारम्भ में प्रायः सिर में पीड़ा होने लगती है और मन में बेचैनी बढ़ती है, परन्तु धीरे-धीरे एक-एक पल क्रमशः अभ्यास बढ़ाने से शनैः-शनैः शान्ति का अनुभव होता है और कुछ दिनों पश्चात् मन स्थिर हो जाता है। अभ्यास में यदि किसी अंग को कष्ट हो तो हठ नहीं करनी चाहिये, परन्तु साथ ही आलस्य, असावधानी और दम्भ भी छोड़ देना चाहिये। श्रद्धा और सत्य सहित अभ्यास को महत्व देने से साधना में सफलता मिलती है।

दूसरा साधन प्राणायाम है। प्राणायाम प्राणों की शुद्धि का सर्व-श्रेष्ठ अभ्यास है। श्वास और उच्छ्वास सम बने रहें, तो मन निश्चल हो जाता है, शरीर स्वस्थ रहता है और बुद्धि का विकास होता है।

रोग की अवस्था में श्वासों में समता नहीं रहती, अतः सदा नीरोगी बने रहने के लिये नित्य-नियमित रूप से प्राणायाम का अभ्यास करके प्राण और अपान वायु को समान रखना चाहिये।

नेत्रों को भृकुटि पर जमाने से ध्यान में स्थिरता आती है और फिर प्राणायाम द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होती है। जो ध्यान और प्राणायाम का अभ्यास कर लेते हैं और अभ्यास द्वारा विषयों से मुक्त रहते हैं, वे सदा के लिये मुक्त हो जाते हैं।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिः, मुनिः, मोक्षपरायणः,
विगतेच्छाभयक्रोधः, यः, सदा, मुक्तः, एव, सः,

यः=जो, यतेन्द्रियमनोबुद्धिः=मन बुद्धि और इन्द्रियों को जीतकर, मोक्षपरायणः=मुक्ति के लिये प्रयत्न करता रहता है, विगतेच्छाभयक्रोधः= इच्छा भय और क्रोध को छोड़ देता है, सः=वह, एव=ही. मुनिः=मुनि, सदा=सदा, मुक्तः=मुक्त है ।

वश में किये मन बुद्धि इन्द्रिय मोक्ष में जो युक्त है ।
भय क्रोध इच्छा त्याग कर वह मुनि सदा ही मुक्त है ॥

अर्थ—जो मन, बुद्धि और इन्द्रियों को जीत कर मुक्ति के लिये प्रयत्न करता रहता है, इच्छा, भय और क्रोध को छोड़ देता है, वह ही मुनि सदा मुक्त है ।

व्याख्या—मुनि की बुद्धि में ग्रहण करने की शक्ति बढ़ी रहती है, वह ज्ञान का संचय करता है और उससे मुक्ति का मार्ग बनाता है । उस मार्ग पर चलते-चलते जब उसके अन्तःकरण पर विषयों की छाया नहीं पड़ती, इन्द्रियां—इधर-उधर नहीं भटकतीं, इच्छायें प्रगति के मार्ग पर रोड़े नहीं बिछातीं, भय और क्रोध रास्ता नहीं रोकते, तब मुक्ति सदा साथ चलती है ।

मुक्ति के लिये प्रयत्न उस समय प्रारम्भ होते हैं जब मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं । इन्द्रियों पर विजय पाने का सबसे सुगम उपाय है तन्मयता अर्थात् ध्यान । ध्यान हो और उसी के अनुकूल आचरण होता रहे: शुद्ध मन में जो विचार उठें उन्हीं से जीवन-कर्मों की रचना हो, तब मुक्ति के प्रयत्न में सफलता मिलती है । इच्छाओं से छूटकर 'जप', रोगों से छूटकर 'ध्यान' और भय से छूटकर 'आचरण' करनेवाला मुनि सदा मुक्त है ।

मुनि भली प्रकार जानता है कि निष्काम कर्मों का भोगनेवाला भगवान् है । उसका यही ज्ञान उसमें शान्ति का सङ्गीत छेड़े रहता है ।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

भोक्तारम्, यज्ञतपसाम्, सर्वलोकमहेश्वरम्, सुहृदम्, सर्वभूतानाम्, ज्ञात्वा, माम्, शान्तिम्, ऋच्छति ।

माम्=मुझे, यज्ञतपसाम्=यज्ञों और तपों का, भोक्तारम्=भोगनेवाला, सर्वलोकमहेश्वरम्=सब लोकों का महान् ईश्वर (और) सर्वभूतानाम्=सब प्राणियों का, सुहृदम्=सुहृद्, ज्ञात्वा=जान कर, (मुनि) शान्तिम्=शांति को, ऋच्छति=पा लेता है ।

जाने मुझे तप-यज्ञ-भोक्ता लोक स्वामी नित्य ही ।
सब प्राणियों का मित्र जाने शांति पाता है वही ॥

अर्थ—मुझे यज्ञों और तपों का भोगनेवाला सब लोकों का महान् ईश्वर और सब प्राणियों का सुहृद् जानकर मुनि शान्ति को पा लेता है ।

व्याख्या—परमेश्वर के विशेष गुणों का वर्णन इस श्लोक में है—

१. परमेश्वर यज्ञ और तपों को भोगता है । यज्ञों और तपों से परमेश्वर की स्थिति है । सृष्टि का संचालन यज्ञ और तप से होता है ।

२. सब लोकों का स्वामी परमेश्वर है । ऋत और सत्य अर्थात् प्राकृतिक और नैतिक नियम परमेश्वर से शक्ति पाते हैं । सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथ्वी, अन्न, वनस्पति और जीव सब परमेश्वर से हैं । परमेश्वर है तो सब हैं, परमेश्वर के बिना सब कुछ नहीं के समान है ।

३. परमेश्वर सब का सुहृद् है । प्राणिमात्र का पिता परमेश्वर है, वह सब का समान रूप से हित करता है, उसका द्वार सब के लिये खुला हुआ है, कोई भी उसके पास पहुँचकर निराश नहीं रहता ।

परमेश्वर कोटि-कोटि हाथों से सबका भला करता है, सबके हित की चिन्ता करता है । मनुष्य उसकी ओर मुख करके एक डग बढ़ता है तो वह कोटि-कोटि पगों से दौड़कर आता है और उसे हृदय से लगा लेता है । इस रहस्य को जाननेवाला शान्ति पाता है ।

ऊँच-नीच, राजा-रंक, कर्मयोगी-संन्यासी कोई हो, जो इस अध्याय में वर्णन किये गये मुक्ति के कर्म करेगा उसे शान्ति मिलेगी ।

ॐतत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मुक्तकर्म-योगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

श्लोक, पदच्छेद, शब्दार्थ, पद्यानुवाद और सरल अर्थ सहित
श्रीमद्भगवद्गीता का जीवनोपयोगी भाष्य

६

छठा अध्याय

[संयम-योग]

भाष्यकार—
श्रीहरिगीता, गीता-अध्ययन, गीता के सप्तस्वर, उपनिषद्-ज्ञान आदि के लेखक
व्याख्यानवाचस्पति श्री पं० दीनानाथ भार्गव दिनेश

संशोधित तथा परिवर्धित द्वितीय संस्करण

विजयदशमी
सं० २०१५

मूल्य
१।।) रुपया

प्रकाशक—
मानवधर्म कार्यालय
पीपल महादेव
दिल्ली।

मुद्रक—
जमना प्रिंटिंग वर्क्स
पीपल महादेव
दिल्ली।

श्रीमद्भगवद्गीता

संयम-योग

६

"यह वही छठा अध्याय है—जिसमें आदि माया स्तब्ध होकर बैठी है, जहां वेदों का बोलना बन्द हो जाता है और जहां से गीतारूपी वल्ली का अंकुर निकलता है।"
—सन्त ज्ञानेश्वर

आत्म-संयम, आत्म-विश्वास और आत्म-सम्मान ये तीन मानव को महामानव और देव को महादेव बनाने में समर्थ हैं।

सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत आत्म-संयम है।
संयम में जीवन के विकास का क्रम है॥

संयम के बिना मनुष्य उस घोड़े की भांति है जिसकी आंखों पर कनपट्टी नहीं लगी है और जो सीधे रास्ते पर न चलकर इधर-उधर दौड़ता है।

संयम जीवन की जड़ है। सच्चा जीवन बिताने के लिये मानसिक विकारों, शिथिलता और आलस्य को छोड़कर संयम का सहारा लेना अनिवार्य है। जैसे जड़ को छोड़कर वृक्ष ऊपर नहीं उठ सकता, इसी प्रकार संयम को छोड़ देनेवाला गिर जाता है।

काम, क्रोध आदि विकारों के वेग में पड़े प्राणी बह जाते हैं, बाहरी विषयों में फँसकर अन्तर के आनन्द को खो देते हैं। विकारों से बचनेवाले का अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। अन्तःकरण की पवित्रता से निष्काम कर्म होता है। कर्म-धर्म और सब साधनों की मूल-भूमि अन्तःकरण की पवित्रता है। अन्तःकरण की पवित्रता के लिये गीता के इस छठे अध्याय में संयम-योग का अपूर्व वर्णन है।

पांचवें अध्याय के अन्त में भगवान् श्रीकृष्ण ने बाहरी विषयों को छोड़ देने के लिये जिस ध्यान-योग का प्रारम्भ किया है उसीकी पूर्णता के लिये गीता का यह छठा अध्याय है।

केवल कर्म से शान्ति और सुख नहीं मिलता, इसीलिये गीता ने कर्म के साथ ज्ञान को जोड़ा है और कर्मयोग उसे माना है जिसमें ज्ञान-सहित कर्म हो। ज्ञान-सहित कर्म होते ही कर्म में अकर्म हो जाता है; इसीका नाम निष्काम अथवा अनासक्त कर्म है। निष्काम कर्म और संन्यास दोनों एक ही हैं और दोनों से जीवन-मुक्ति मिलती है। जीवन-मुक्ति ही ब्रह्म-निर्वाण है।

जीवन-मुक्त होने के लिये निष्काम कर्म बहिरङ्ग साधन है। अन्तरङ्ग साधन है—संयम-योग। गृहस्थी हो या संन्यासी, किसी भी देश और धर्म का माननेवाला हो, संयम-योग सबके लिये समान रूप से हितकारी और आवश्यक है।

गीता का संयम-योग सुगम, सरल और सरस है। इसकी योगप्रणाली में कोई हठ भ्रम अथवा उलझन नहीं है। गीता के साधन-योग में सारी चित्तवृत्तियां, उपासना और ज्ञान की अनुगामिनी बन जाती हैं। भक्ति, कर्म, ज्ञान, यज्ञ, तप आदि धर्मानुष्ठानों में तन्मय होने के लिये गीता का साधन-योग आबाल-वृद्ध, नर-नारियों के लिये एक स्वतन्त्र और मौलिक ढङ्ग से कहा गया है।

साधन-योग से भीतरी और बाहरी पवित्रता मिलती है, कल्याणकारी कर्म सहज भाव से ही बिना प्रयास होने लगते हैं, संसार में कहीं दुर्गति नहीं होती और ज्ञान तथा भक्तिपूर्ण पुरुषार्थ की योग-सिद्धि होती है।

गीता का साधन-योग सांसारिक-वासना और अंध-साधना दोनों को पवित्र क्रियाशीलता देता है और कर्मयोग को सब साधनों का सहायक मानता है। इसीलिये इसका प्रारम्भ करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

अनाश्रितः, कर्मफलम्, कार्यम्, कर्म, करोति, यः, सः, संन्यासी, च, योगी, च, न, निरग्निः, न, च, अक्रियः।

यः=जो, कर्मफलम्=कर्म फल का, अनाश्रितः=आश्रय छोड़कर, कार्यम्=करने योग्य, कर्म=कर्म, करोति=करता है सः=वही, संन्यासी=संन्यासी, च=और, योगी=योगी है. निरग्निः=अग्निहीन, च=और, अक्रियः=क्रियाहीन, न=न योगी है, च=और, न=न संन्यासी।

फल-आश तज, कर्तव्य कर्म सदैव जो करता, वही—
योगी व संन्यासी, न जो बिन अग्नि या बिन कर्म ही ॥

अर्थ—जो कर्मफल का आश्रय छोड़कर करने योग्य कर्म करता है वही संन्यासी और योगी है। अग्निहीन और क्रियाहीन न योगी है और न संन्यासी।

व्याख्या—पाँचवें अध्याय के सार को एक ही वाक्य में इस प्रकार कहा जा सकता है कि जो कर्म के फल की कामना छोड़ देता है, जिसमें देह-बुद्धि, अहंकार, वासना और विकार नहीं रहते, वही कर्मयोगी है और वही संन्यासी। कर्म में अकर्म मिला देने से कर्मयोग हो जाता है और अकर्म में कर्म मिला देने से संन्यास हो जाता है। वासना-त्याग, पवित्रता और परमार्थ-भाव दोनों में एक समान रहते हैं। कर्म या संन्यास किसी में भी अकर्मण्यता आलस्य और प्रमाद का स्थान नहीं है।

स्वधर्म का आचरण अथवा कर्तव्य-कर्म कर्मयोगी को भी उतना ही दत्त-चित्त होकर करना पड़ता है, जितना संन्यासी को।

कार्य-कर्म का अभिप्राय है कर्तव्य-कर्म—करने योग्य कर्म। जो अपने स्वधर्म के अनुसार नित्य कर्मों को नियमित रूप से करता है वही यथार्थ कर्म करनेवाला है।

जो मन-माने कर्म करता है, जिसके कर्मों में नियम-संयम और कर्तव्य-पालन का भाव नहीं है, वह तो पशु है। महर्षि व्यासजी ने नर-पशुओं की यही पहचान बतायी है—

जिनके मन में घुन लग जाता,
आलस, अहंकार, तृष्णा का,
बड़े - बड़े मनसूबे करके,
बैठे रहते हैं प्रमाद में,
जो रातों तक घूमा करते,
कर्म नहीं करते करने के,
नहीं भोगने योग्य भोगते,
नहीं जानते क्या करना है,
नहीं समझ पाते अवसर को,
वे मानव पशु कहलाते हैं।

जो करने योग्य कर्मों को आलस्य और प्रमादहीन होकर तत्परता से करता है वह मनुष्य है। उसमें जो मनुष्यता है वही योग और संन्यास है। जिसमें कर्तव्य-कर्म करने की मनुष्यता नहीं है वह न योगी है और न संन्यासी, वह तो मनुष्य रूप में पशु है।

क्रियाहीन होकर रहनेवाले का जीवन भूमि का भार है। वह स्वयं ही अपना शत्रु है। इस जगत् में निष्क्रिय तो कोई एक पल के लिये भी नहीं रह सकता, परन्तु कर्तव्य-कर्म अथवा स्वधर्म को छोड़नेवाला अक्रिय क्रियाहीन अथवा कर्महीन कहा जाता है।

योगदर्शन के अनुसार—

"तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥"

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को 'क्रियायोग' कहते हैं।

जो तप, दान, अध्ययन, यज्ञ-कर्म आदि श्रेष्ठ कर्मों को छोड़ देता है वह 'क्रियाहीन' है। संन्यासी अथवा योगी कोई भी कर्म-हीन होकर नहीं रह सकता। क्रियाहीन या निरग्नि, न योगी है न संन्यासी।

निरग्नि का अर्थ है—अग्नि न रखनेवाला। गृहस्थ-धर्म के अनुसार मनुष्य को अग्नि जाग्रत रखनी आवश्यक है। वेदों का प्रारम्भ अग्नि की उपासना से हुआ है—

"अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।"

अग्नि प्रकाशमान देवता है जातवेदस् है। अग्नि का सबके साथ समान व्यवहार है, मानो समदृष्टि का पाठ पढ़ाने के लिये अग्नि, भगवान् का अनासक्त और चैतन्य रूप है। जिसके भीतर भी अग्निरूप परमेश्वर जाग्रत रह कर मल को भस्म करता है, वैश्वानर रूप से अन्न पचाता है और बाहर भी लौकिक कार्यों के लिये ज्योतिर्मय अग्नि रहता है, वह कर्म-शील व्यक्ति सदा सुखी है।

अग्नि के बिना गृहस्थ का कोई कार्य नहीं चलता। गृहस्थ-आश्रम में अग्नि द्वारा यज्ञ करना, भोजन बनाना आदि कर्म करने पड़ते हैं, परन्तु संन्यासी होने पर भिक्षा से पेट-पालन होता है। अतः संन्यासी को अग्नि-रक्षा की आवश्यकता नहीं रहती, परन्तु केवल अग्नि-त्याग से संन्यास पूरा नहीं हो जाता। काम्य-बुद्धि और फल-आशा का त्याग-करना ही सच्चा संन्यास है।

प्रत्येक कर्म में अग्नि की उपस्थिति सक्रियता का चिह्न है। ज्ञान, तेज, रस और प्रकाश द्वारा होनेवाले कर्म को मुक्तकर्म कह सकते हैं। ऐसे कर्म के बिना अथवा अग्नि-त्याग या निष्क्रियता से न योग की साधना होती और न संन्यास की।

संन्यास और कर्मयोग दोनों का मूलाधार सक्रियता है।

बाहर से दम्भ के लिये नाममात्र को निरग्नि हो जाय और अन्दर आशा और तृष्णा की अग्नि धधकती रहे तो संन्यास नहीं होता। इसीलिये गीता का कहना है कि केवल कर्म छोड़ देने से अथवा अग्नि छोड़ देने से कोई कर्मयोगी या संन्यासी नहीं बन जाता। छोड़ने योग्य तो कर्म के फल का सहारा है। आशा-तृष्णा और संकल्प-विकल्प, न रहें तो जो कर्मयोग है वही संन्यास है—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

यम्, संन्यासम्, इति, प्राहुः, योगम्, तम्, विद्धि, पाण्डव, न, हि, असंन्यस्तसंकल्पः, योगी, भवति, कश्चन,

पाण्डव=हे पाण्डव, इति=ऐसा, विद्धि=(तुम) जानो (कि), यम्=जिसे, संन्यासम्=संन्यास, प्राहुः=कहते हैं, तम्=वही, योगम्=योग है, हि=क्योंकि, असंन्यस्तसंकल्पः=संकल्पों का त्याग न करनेवाला, कश्चन=कोई भी, योगी=योगी, न=नहीं, भवति=होता ।

वह योग ही समझो जिसे संन्यास कहते हैं सभी ।
संकल्प के संन्यास बिन बनता नहीं योगी कभी ॥

अर्थ—हे पाण्डव ! तुम ऐसा जानो कि जिसे संन्यास कहते हैं वही 'योग' है, क्योंकि संकल्पों का त्याग न करनेवाला कोई भी योगी नहीं होता ।

व्याख्या—कर्म में अकर्म का भाव रखने से 'कर्मयोग' होता है और अकर्म में कर्म का भाव रखने से 'संन्यास' हो जाता है । कर्मयोग हो चाहे संन्यास—दोनों में कर्तापन का अभिमान नहीं होता, स्वार्थ और मोह नहीं रहता, ममता और आसक्ति की छाया भी नहीं पड़ती, मन और इन्द्रियों पर संयम का पहरा बैठ जाता है, ज्ञान की ज्योति निरन्तर जगमगाती है और दोनों में ब्रह्म से एक क्षण के लिये भी वियोग नहीं होता । केवल नाम का भेद है, दोनों का साधन एक ही है और दोनों का फल भी एक ही है । जब तक संकल्प-विकल्प अर्थात् संसार के चिन्तन में मन की दौड़ है, मोह-ममता की उलझनें हैं, बुद्धि में कुशलता और स्थिरता नहीं है, तब तक कोई भी नर-नारी कर्मयोगी नहीं हो सकता ।

पूर्ण कर्मयोग सच्चा संन्यास है और पूर्ण संन्यास सच्चा कर्मयोग है। कर्म और संन्यास एक ही के दो रूप हैं और दोनों अभिन्न हैं।

श्रीराम को संन्यासी मान लें तो उनके साथ लक्ष्मण, कर्मयोगी थे। संकल्पों का अभाव दोनों में था। दोनों के कर्मों में सेवा और परमार्थ का स्रोत उमड़ता था। श्रीराम ने कठोर-कर्मरूप धनुष को बिना प्रयास ही तोड़ दिया तो लक्ष्मण ने सावधान होकर पृथिवी को दहलने और व्याकुल होने से बचाया। श्रीराम पूर्णकाम थे। उनके कर्म, लोक-संग्रह और लोक-कल्याण के लिये होते थे। लक्ष्मण श्रीराम में मिलने के लिये कर्म करते थे। दोनों में अनन्य-भाव था। ऐसा ही अनन्य-भाव कर्म और संन्यास में है।

शास्त्र-ज्ञान को संन्यास कहा जाय तो उसका आचरण कर्मयोग है।

श्रीकृष्ण ज्ञान के भण्डार थे। उनके साथ अर्जुन कर्मयोगी थे। श्रीकृष्ण को कुछ करना नहीं था—वे पूर्ण-काम थे, परन्तु धर्म-स्थापना के लिये वे अनासक्त कर्म करते थे। अर्जुन को बहुत कुछ करना था। उनके सामने कुरुक्षेत्र के रूप में कर्म का लम्बा-चौड़ा मैदान था, पर अर्जुन ने अपनी बागडोर श्रीकृष्ण के हाथ में देदी और कह दिया "करिष्ये वचनं तव—जैसा आप कहेंगे मैं करूँगा।" अर्जुन के ऊपर कर्म का कोई भार नहीं था, कोई बन्धन नहीं था, अपने आत्म-समर्पण के महाभाव से वह श्रीकृष्ण में मिल गया था। अर्जुन के कार्य श्रीकृष्ण करते थे और श्रीकृष्ण के कार्य अर्जुन। इन दोनों जैसा ही संन्यास और कर्मयोग का सम्बन्ध है—जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों हैं वहीं संसार में श्री, विजय और नीति है। कर्म और संन्यास के योग से मनुष्य पूर्ण-काम होता है।

मन और इन्द्रियों पर संयम न हो तो न कर्म होता है, न संन्यास। परन्तु संयम न होने पर भी जो निरन्तर कर्म करता है, बार-बार मन और बुद्धि को कर्म में लगाता है, इन्द्रियों को किसी-न-किसी प्रकार अभ्यस्त करता है, वह एक-न-एक दिन सफल हो जाता है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

आरुरुक्षोः, मुनेः, योगम्, कर्म, कारणम्, उच्यते, योगारूढस्य, तस्य, एव, शमः, कारणम्, उच्यते ।

योगम्=कर्मयोग पर, आरुरुक्षोः=दृढ़ता से चढ़ने के अभिलाषी, मुनेः=मुनि के लिये, कर्म=कर्म, कारणम्=साधन, उच्यते=कहा जाता है, योगारूढस्य=जो योगारूढ हो गया, तस्य=उसका, कारणम्=साधन, शमः=शम, एव-ही, उच्यते=कहा जाता है ।

जो योग-साधन चाहता मुनि, हेतु उसका कर्म है ।
हो योग में आरूढ़, उसका हेतु उपशम धर्म है ॥

अर्थ—कर्मयोग पर दृढ़ता से चढ़ने के अभिलाषी मुनि के लिये कर्म साधन कहा जाता है, जो योगारूढ़ हो गया उसका साधन शम ही कहा जाता है ।

व्याख्या—कर्म के रास्ते पर जिसे चलना है, उसे कर्म—निरन्तर कर्म करना चाहिये । कर्म ही पूर्णता देनेवाला है । जो मुनिजन मननशील हैं, आत्मा और परमात्मा का चिन्तन करनेवाले हैं, जो कर्मयोग के मार्ग पर चल कर मुक्ति की खोज करते हैं, उनके लिये कर्म से अच्छा और कोई साधन नहीं है । कर्म और संन्यास में गीता की दृष्टि से कोई भेद नहीं है । ज्ञान-पूर्वक कर्म करने से संन्यास होता है ।

कर्म करने से ज्ञान मिलता है । भक्ति, ज्ञान, मुक्ति, सबका साधन और आधार कर्म है । कर्म करते-करते कर्म में निष्णात हो जाने पर फिर 'शम' साधन हो जाता है । शम का अर्थ है—मन और इन्द्रियों को शुद्ध करके संयम में कर लेना, सब प्रकार के उपद्रवों को आत्मा में अथवा परमात्मा में मिला कर शान्त कर देना ।

अक्षय-सुख प्राप्त करनेवाले योगारूढ का लक्षण भगवान श्रीकृष्ण ने इस प्रकार बताया है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

यदा, हि, न, इन्द्रियार्थेषु, न, कर्मसु, अनुषज्जते,
सर्वसंकल्पसंन्यासी, योगारूढः, तदा, उच्यते,

यदा=जब, न=न, इन्द्रियार्थेषु=इन्द्रियों के विषय में (और), न=न, कर्मसु= कर्मों में, हि=ही, अनुषज्जते=आसक्त होता, तदा=तब, सर्वसंकल्पसंन्यासी= सारे संकल्पों का त्यागनेवाला, योगारूढः=योगारूढ, उच्यते=कहा जाता है ।

जब दूर विषयों से, न हो आसक्त कर्मों में कभी ।
संकल्प त्यागे सर्व, योगारूढ कहलाता तभी ॥

अर्थ—जब न इन्द्रियों के विषयों में और न कर्मों में ही आसक्त होता, तब सारे संकल्पों का त्यागनेवाला 'योगारूढ' कहा जाता है ।

व्याख्या—यथाशक्ति सत्य और पवित्रता से निष्काम-कर्म करते-करते जब विषय-रहित अन्तःकरण में निश्चलता और अक्षय-आनन्द भर जाता है और प्रत्येक कर्म, निर्लेप रहकर उसी आनन्द से होता है, तब मनुष्य 'योगारूढ' कहा जाता है ।

योगारूढ सिद्धावस्था में पहुँचा हुआ पुरुष है, उसका चित्त सदा सधा रहता है, मन चलायमान नहीं होता, बुद्धि जाग्रत रहती है और इन्द्रियां आत्मा के संकेत पर चलती हैं । वह शम को नहीं छोड़ता । मन और इन्द्रियों की साधना करके लोक-सेवा में लग जाना उसके जीवन का एकमात्र ध्येय रहता है ।

योगारूढ अर्थात् सिद्धयोगी विधेयात्मा पुरुष कभी कर्म नहीं छोड़ते, परन्तु कर्म करते हुए कर्म में उनकी आसक्ति नहीं होती । मोह, ममता, स्वार्थ, कामना, वासना, राग-द्वेष और क्रोध आदि इन्द्रिय-विषय उसे अपने पवित्र ध्येय से हटाने में समर्थ नहीं होते । वह माया के किसी प्रलोभन में नहीं पड़ता और काया के लिये उठनेवाले संकल्प-विकल्प उसके मन को अशान्त नहीं करते ।

ऐसा महान जितेन्द्रिय होने के लिये जिस साधना की आवश्यकता है उसका प्रारम्भ गीता इस प्रकार करती है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

उद्धरेत्, आत्मना, आत्मानम्, न, आत्मानम्, अवसादयेत्, आत्मा, एव, हि, आत्मनः, बन्धुः, आत्मा, एव, रिपुः, आत्मनः ।

आत्मना=आत्मा से, आत्मानम्=आत्मा का, उद्धरेत्=उद्धार करना चाहिये, आत्मानम्=अपने को, न=न, अवसादयेत्=नीचे गिरने दो, हि=निस्सन्देह, (मनुष्य) आत्मा=आप, एव=ही, आत्मनः=अपना, बन्धुः=बन्धु है (और), आत्मा=आप, एव=ही, आत्मनः=अपना, रिपुः=शत्रु है ।

उद्धार अपना आप कर निज को न गिरने दे कभी ।
नर आप ही है शत्रु अपना, आप ही है मित्र भी ॥

अर्थ—आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिये, अपने को नीचे न गिरने दो ! निस्सन्देह मनुष्य आप ही अपना बन्धु है और आप ही अपना शत्रु है ।

व्याख्या—जो अपनी सहायता स्वयं करता है, उसकी सहायता सारा संसार करता है । जो अपने पैरों पर खड़ा नहीं होता, उस पर संसार हँसता है और उसे नादान समझता है । जगत् में दूसरे का सहारा खोजने से कुछ नहीं मिलता । भगवान् भी उसी के होते हैं जो स्वयं अपना होता है ।

अपना उद्धार अपने हाथ में है । यही ज्ञान और कर्म का रहस्य है । जिसने इस महावाक्य को नहीं जाना उसने कुछ नहीं जाना ।

हनुमान् ने समुद्र लाँघने के लिये छलांग मारी, भगवान् तुरन्त उसकी गति में भर गये और सहारा देकर पार पहुँचा दिया । अङ्गद ने हृदय की सत्यता और आत्म-विश्वास के साथ रावण के दरबार में पैर जमा लिया और कह दिया कि 'तुम में से कोई मेरा पैर हटा दे तो राम बिना युद्ध किये ही समुद्र के किनारे से वापिस लौट जायंगे ।'

विश्वास, सत्य और हृदय के योग से जो कर्म होता है उसमें परमेश्वर की योग-शक्ति रहती है। ऐसे कर्म से सर्वत्र विजय मिलती है। विजय उसके गले में जयमाला नहीं डालती जो परावलम्बी होता है और दूसरे के सहारे विजय का आलिंगन करना चाहता है। निर्बल और निस्तेज को विजय-सुन्दरी वरण नहीं करती।

आत्म-विश्वास और दृढ़ता से आगे बढ़नेवाले के लिये कुछ भी कठिन नहीं। बलहीन को न इन्द्रिय-सुख मिलते हैं और न आत्म-ज्ञान।

गीता की प्रेरणात्मक वाणी मनुष्य को झकझोर कर जगाती है और एक अनुभूत मुक्ति का मार्ग दिखाती है—ऐसा मार्ग जिसपर संसार के विजयी पुरुष चले हैं और चलते रहेंगे।

जो मार्ग में आनेवाले भय, संकट और बाधाओं की चिन्ता में पड़ा रहता है, वह जीवन भर पड़ा ही रहता है। अतः अपने को मूढ़, कामी, क्रोधी और गिरा हुआ मत मानो! मन को मारकर आत्म-ग्लानि में मत पड़े रहो! महान् संकल्प करो! उमङ्ग और उत्साह से कर्म करते हुए आत्मा में अवसाद मत आने दो! अपने को गिरने मत दो! ऐसा करो जिससे आत्म-विश्वास उभरता रहे और अहंकार भी पास आने से डरता रहे। अपने तन-मन में उच्चतम प्रेरणा भरनेवाले तर जाते हैं और अपने को तुच्छ, असमर्थ, जड़, दीन-हीन मानकर रोनेवाले मर जाते हैं।

भगवान् तुम्हें तुम्हारी ही भावना से मिलता है। मन्त्र मन की शक्ति से सिद्ध होता है। कर्मक्षेत्र में पुरुषार्थ, साहस और दृढ़ता से बढ़नेवाला ही सफल होता है। जो निर्बल है, जिसके पैर डगमगाते हैं, जो संकटों के सामने घुटने टेक देता है, वह अपने-आप अपना शत्रु है।

सूरदास अंधे थे, पर भगवान् को देखते थे। भगवान् उनके साथ खेलते थे और जब हाथ छुड़ाकर भागते थे, तो अंधे सूरदास उन्हें पकड़ने के लिये आंखवालों से तेज दौड़ते थे। फिर भी भगवान्

हाथ छुड़ाकर भागते तो सूरदास गिड़गिड़ाते नहीं थे—अपने को बलहीन नहीं मानते थे, बल्कि भगवान् को एक प्रेमभरी चुनौती देते थे—

बांह छुड़ाये जात हो निबल जानिकै मोय।
जो हिरदै तै जाओगे सबल बदोंगो तोय॥

इस आत्म-विश्वास ने सूरदास का उद्धार किया। मीरा ने इसी दृढ़ आत्म-विश्वास से विष को अमृत बना लिया। बालक ध्रुव ने भगवान् को बुला लिया। प्रह्लाद आग के साथ खेला। सीता अङ्गारों पर चली।

इस जगत् में विकारों को ठुकराकर जो आत्म-विश्वास को दृढ़ करते हैं, उनके लिये श्री है, विजय है, शान्ति है और आनन्द-सुधा-सिन्धु है।

ऐसा आत्म-विश्वास जमाने के लिये अपने आप अपने मित्र बने रहो! अपनी घात न करो! अपने को धोखा न दो!

आत्मा ही परमात्मा है। जो सत्य, साहस, शील, सौजन्य, दृढ़ता आदि गुणों से अपने जीवन में परमात्मा को उभारे रखता है वह अपने-आप अपना उद्धार करता है और कभी नहीं गिरता।

परमात्मा पर विश्वास रखना सुख का एक साधन है परन्तु परमात्मा उसके होते हैं जो अपने को आगे बढ़ाने के लिये सदा कमर कसे रहता है—

सच्चा है विश्वास हमारा, पर उसके होते भगवान्।
जिसके चलने से जग हिलता, जिसकी स्वासों में तूफान॥

मनुष्य ऊपर उठने के लिये है, नीचे गिरने के लिये नहीं। नित्य निरन्तर आगे बढ़नेवाला ही ऊँचा उठता है वही अपना उद्धार करता है। स्वास्थ्य, सफलता, श्री और विजय उसीके लिये हैं—जो कभी अपने को गिरने नहीं देता। गिरने का अर्थ है—आत्मा का पतन, निर्बलता, विषयासक्ति, अकर्मण्यता, आलस्य आदि दोषों में आसक्त होना।

कौन अपने-आप अपना शत्रु है और कौन अपने-आप अपने से मित्रता करता है? इसका वर्णन गीता ने इस प्रकार किया है—

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

बन्धुः, आत्मा, आत्मनः, तस्य, येन, आत्मा, एव, आत्मना, जितः, अनात्मनः, तु, शत्रुत्वे, वर्तेत, आत्मा, एव, शत्रुवत्,

येन=जो, आत्मना=आत्मा से, आत्मा=आत्मा को, जितः=जीत लेता है, तस्य=उस मनुष्य का, आत्मा=आत्मा, एव=ही, आत्मनः=अपना, बन्धुः=मित्र है, तु=और, अनात्मनः=(जो) आत्मा को नहीं जीत पाता (वह), आत्मा=आप, एव=ही (अपने साथ), शत्रुवत्=शत्रु-जैसी, शत्रुत्वे=शत्रुता, वर्तेत=करता है ।

जो जीत लेता आपको वह बन्धु अपना आप ही ।
जीता न अपने को स्वयं रिपु-सी करे रिपुता वही ॥

अर्थ—जो आत्मा से आत्मा को जीत लेता है, उस मनुष्य का आत्मा ही अपना मित्र है और जो आत्मा को नहीं जीत पाता, वह आप ही अपने साथ शत्रु-जैसी शत्रुता करता है ।

व्याख्या—जो अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों पर संयम रखता है, वह अपना मित्र है । इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार तथा यह सारा संसार मनुष्य की सुविधा, सेवा और सहायता के लिये है । इनका जो सदुपयोग करता है, वह सदा सुखी रहता है । जो इनके द्वारा अनुचित और अयोग्य कर्म करता है, वह दुःखों और सङ्कटों को निमन्त्रण देता है ।

किसी भी प्रकार से साधना का प्रारम्भ संयम के बिना नहीं होता । संयमी अपने आपको नित्य नूतन स्फूर्ति और शक्ति देता है, इसलिये वह अपना मित्र है ।

सेवक जिसके वश में नहीं रहते, उसके कार्यों की व्यवस्था

बिगड़ जाती है। इसी प्रकार सेवा करनेवाली इन्द्रियाँ जब अपने आधीन नहीं रहतीं, उच्छृङ्खल और उद्दण्ड हो जाती हैं, तो कोई साधन काम नहीं आता, शक्ति छीज-छीजकर बह जाती है, बुद्धि निस्तेज हो जाती है, मन में मलिनता भरी रहती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य अपने हाथों से अपनी हत्या करता है।

जो देवत्व और अमरत्व की प्राप्ति के लिये सदा प्रयत्नशील रहता है, तन और मन को सत्य और निःश्रेयस की साधना में लगाता है वह स्वयं अपना सच्चा मित्र है। ऐसे जीव में शक्ति सदा जागृत रहती है; प्रकाश, प्रेम, आनन्द, समता और पवित्रता की सहायता से वह प्रत्येक कार्य को कुशलता से पूरा करता है।

जो स्वयं अपना मित्र है उसकी मन-शक्ति और प्राण-शक्ति विकसित रहती है, वह आत्मानन्द का अमृत पान करता है, उसकी मानसिक वृत्तियाँ सत्य और परमेश्वर के आधार पर स्थिर रहती हैं, उसमें उदारता और विशालता का स्रोत उमड़ता है।

जब जीव अपने आत्म-रूप को नहीं जानता और अपने मन तथा इन्द्रियों पर विजय नहीं पाता, तब वह स्वयं अपने साथ शत्रुता करता है। उसमें अनेक दोष, पाप और बुराइयाँ भर जाती हैं। उसका जीवन मोह, अज्ञान, अपवित्रता और असत्य से घिरा रहता है।

बुद्धि का प्रकाश और सत्य एवं ज्ञान का विकास उसी में होता है जो अपने साथ मित्रता का व्यवहार करता है।

जो अपना मित्र है, उससे संसार मित्रता करता है और जो आप ही अपना शत्रु है उसका कोई मित्र नहीं होता। अतः संसार को सुधारने के लिये पहले अपने साथ मित्रता का सम्बन्ध दृढ़ करना चाहिये। संयम इस मित्रता के सम्बन्ध को दृढ़ करता है। संयम से अपने पर भी विजय मिलती है और जगत् पर भी। 'जितात्मा' होना जीवन की साधना है।

जितात्मा क्या करता है और कैसे रहता है? इस सम्बन्ध में गीता इस प्रकार कहती है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

जितात्मनः, प्रशान्तस्य, परमात्मा, समाहितः,
शीतोष्णसुखदुःखेषु, तथा, मानापमानयोः ।

प्रशान्तस्य=शान्त और प्रसन्न अन्तःकरणवाले, जितात्मनः=जितात्मा का, परमात्मा=परमात्मा, शीतोष्णसुखदुःखेषु=शीत-ऊष्ण सुख-दुःख, तथा=और, मानापमानयोः=मान-अपमान में, समाहितः=समाहित रहता है ।

अति शान्त जन, मन-जीत का आत्मा सदैव समान है ।
सुख, दुःख, शीतल, ऊष्ण अथवा मान या अपमान है ॥

अर्थ—शान्त और प्रसन्न अन्तःकरणवाले जितात्मा का परमात्मा शीत-ऊष्ण, सुख-दुःख और मान-अपमान में समाहित रहता है ।

व्याख्या—प्रत्येक जीव में आत्मा की ज्योति है । आत्मा से ही सारा प्रकाश, ज्ञान और सम्पूर्ण हलचलें हैं ।

मन, इन्द्रिय और शरीर को मिलाकर भी 'आत्मा' कहते हैं ।

ज्योतिर्मय, अजर, अमर, अव्यय, अविनाशी परमेश्वर का अंश जिससे जीवन, शक्ति और प्राण हैं, वह भी आत्मा है ।

जो मन, बुद्धि और इन्द्रियों पर संयम नहीं रखता, उसे 'अनात्मा' कहते हैं; परमात्मा अथवा आत्मा उसके अन्दर रहता हुआ भी नहीं रहता । विकार और विषय-भोग उसे ढक लेते हैं, उसकी शक्ति को दबाये रहते हैं, परन्तु जिसने अन्तःकरण और इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है वह सदा शान्त, प्रसन्न और सुखी रहता है, उसका परमात्मा में मन लगा रहता है, उसका आत्मा अच्छे-बुरे में, मान-अपमान में, सुख-दुःख में प्रत्येक अवस्था में सदा सम और अविचल बना रहता है ।

अन्तःकरण और इन्द्रियों के पवित्र और स्वाधीन (आत्मा के आधीन) होने पर मनुष्य मुक्त हो जाता है और इन्हीं के अपवित्र होने से मनुष्य दुःख और नरक में पड़ा रहता है। सारांश यह है कि—

पराधीन—मन और इन्द्रियों के आधीन रहनेवाला विकारवान् पुरुष अनात्मा कहा जाता है।

इन्द्रियों से सुख-दुःख आदि विकारों को भोगनेवाला और प्रकृति के गुणों में घिरा रहनेवाला 'जीवात्मा' कहलाता है।

चरित्र, सदाचार और संयम के योग से सदा मुक्त अथवा स्वतन्त्र रहनेवाला परमात्मा है।

परमात्मा (परम-आत्मा) अथवा पवित्र मनवाला, सदा जितेन्द्रिय रहता है। वह भली प्रकार जानता है कि कब और कैसे कौनसा कर्म करना योग्य है।

निश्चल, स्वाधीन और पवित्र होने के कारण जितेन्द्रिय पुरुष का परम आत्मा (पवित्र मन) सदा निर्भय रहता है। जो निर्भय है वही सदा प्रसन्न रहता है और जो प्रसन्न है उसी को शान्ति मिलती है। सदा प्रसन्न रहना दैवी-गुणों का सर्वोत्तम उपहार है और भगवान की कृपा का प्रत्यक्ष फल है।

उदास, मलिन, दुःखी, निराश और उत्साहहीन का चित्त कभी समाहित नहीं होता, न वह जगत् के कर्म में स्थिर होता और न परमात्मा में। संसार के साधारण उतार-चढ़ाव. गर्मी-सर्दी, सुख-दुःख और मान-अपमान उसे विचलित कर देते हैं। उसकी शान्ति सदा संकटों के घनों से घिरी रहती है, उसे प्रसन्नता का अमृत नहीं मिलता। वह अमर-पद नहीं पाता—जीवन में न जाने कितनी बार मरता है। असंयत आत्मा सदा दीन रहता है अपने को क्षीण हारा हुआ खण्डित अनुभव करता है। जो समाहितचित्त है, वह प्रत्येक परिस्थिति पर शासन करता है।

परमात्मा में चित्त लगानेवाले, प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रहने वाले अथवा योगयुक्त के लक्षण इस प्रकार हैं—

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, कूटस्थः, विजितेन्द्रियः,
युक्तः, इति, उच्यते, योगी, समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा=ज्ञान-विज्ञान से तृप्त आत्मा, कूटस्थः=कूटस्थ, विजितेन्द्रियः=जितेन्द्रिय, समलोष्टाश्मकाञ्चनः=मिट्टी पत्थर और सोने को समान समझनेवाला, योगी=कर्मयोगी, युक्तः=युक्त है, इति=ऐसा, उच्यते=कहा जाता है ।

कूटस्थ इन्द्रियजीत जिसमें ज्ञान है विज्ञान है ।
वह युक्त जिसको स्वर्ण पत्थर धूल एक समान है ॥

अर्थ—ज्ञान-विज्ञान से तृप्त आत्मा, कूटस्थ, जितेन्द्रिय, मिट्टी, पत्थर और सोने को समान समझनेवाला, कर्मयोगी युक्त है ऐसा कहा जाता है ।

व्याख्या—युक्त वह है जो सदा अपने ध्येय के साथ अभिन्न रहता है । जो कर्मयोग में युक्त है वह कर्तव्य-पालन का ध्यान रखता है जो ज्ञान में युक्त है वह ज्ञानी बनता है और जो परमेश्वर में युक्त है वह सर्वत्र परमात्मा को ही देखता है ।

युक्त पुरुष जहाँ चाहता है वहीं अपने मन को जमा लेता है । वह ज्ञान और विज्ञान से भरा रहता है । जीव, जगत् और जगदीश्वर के सम्बन्ध की वास्तविक जानकारी को ज्ञान कहते हैं । ज्ञान बोधरूप है । ज्ञान को समझकर प्रत्यक्ष-अनुभव करने का नाम 'विज्ञान' है । विज्ञान से ज्ञान का सदुपयोग होता है । युक्त पुरुष जो कुछ सीखता, समझता और जानता है, उसीके अनुसार आचरण करता है । वह प्रत्येक कर्म में कुशल हो जाता है । कब क्रोध करना और कब शान्त रहना, किस

समय आत्म-सम्मान के लिये जीवन तक न्योछावर कर देना और किस समय मान और अपमान की ओर ध्यान न देना, कौन सी परिस्थिति में मिट्टी और सोने को समान समझना और किस समय मिट्टी से मिट्टी का काम लेना तथा सोने से सोने का काम लेना, इन सब बातों को वही जानता है जिसमें ज्ञान और विज्ञान दोनों हों। काम, क्रोध आदि विकारों का भी ज्ञान-विज्ञान से शुद्ध स्वरूप और सदुपयोग हो जाता है। ज्ञान न हो तो संसार में जड़ता ही बढ़ती है। ज्ञान और विज्ञान से ही इन्द्रियों पर संयम होता है।

जो जितेन्द्रिय है, ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, जिसके लिये संसार में दुर्लभ कुछ नहीं है और जिसकी सामर्थ्य से बाहिर कुछ नहीं है, वह कूटस्थ की भांति संसार की चोटों को सहता है और दृढ़ता से स्थिर रहता है। सुनार जिस लोहे पर सोना-चांदी कूटता है उसे कूटस्थ कहते हैं।

मन और इन्द्रियों पर उसका ऐसा अधिकार होता है कि कर्तव्य-पालन के पथ पर पत्थर-रोड़े और धूल-मिट्टी हो तो भी वह नहीं रुकता और सोना-चाँदी मिले तो भी वह किसी लोभ में नहीं फँसता।

युक्त गीता का आदर्श पुरुष है। युक्त होना साधारण बात नहीं, परन्तु ऐसा भी नहीं है कि कोई युक्त न हो सके। जो जैसा बनने का विचार और प्रयत्न करता है, वह वैसा बन जाता है। मन को अपने हाथ में रखनेवाले में बड़ी शक्ति होती है, वह जैसा चाहता है वैसा करने में सफल होता है। संसार में बिना प्रयास कुछ नहीं मिलता। जिन्हें जीवन-मुक्त होना है, अखण्ड आनन्द का अमृत-पान करना है, उन्हींके लिये संयम और साधना का उपदेश है; अकर्मण्य और मिथ्याचारी के लिये नहीं। युक्त होना ही जीवन की पूर्णता है।

मनुष्य की शक्ति व्यर्थ के कर्मों और राग-द्वेष आदि विकारों में न छीजे, तो उसकी सामर्थ्य की सीमा नहीं है, परन्तु वह अपने पंख स्वार्थों की कैंची से काट लेता है और ऊँचा उठने में असमर्थ रह जाता है। श्रेष्ठ पुरुष समबुद्धि के सहारे आगे बढ़ते हैं—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु,
साधुषु, अपि, च, पापेषु, समबुद्धिः, विशिष्यते ।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु=सुहृद मित्र शत्रु उदासीन मध्यस्थ द्वेषी बन्धुओं में (एवं), साधुषु=साधु, च=और, पापेषु=पापियों में, अपि=भी, समबुद्धिः=समबुद्धि पुरुष, विशिष्यते=विशेष है ।

वैरी, सुहृद्, मध्यस्थ, साधु, असाधु, जिनसे द्वेष है ।
बान्धव, उदासी, मित्र में समबुद्धि-पुरुष विशेष है ॥

अर्थ—सुहृद्, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी, बन्धुओं में एवं साधु और पापियों में भी समबुद्धि पुरुष विशेष है ।

व्याख्या—जहाँ विषमता है वहाँ अशान्ति रहती है । संसार में समता लाने के लिये जितेन्द्रियता की प्रथम आवश्यकता है । इन्द्रियों पर विजय, संयमित उपभोग, सेवा और त्याग से बुद्धि में समता के अंकुर जमते हैं और व्यवहार में प्रस्फुटित होकर शान्ति का फल देते हैं । ज्ञान-विज्ञान, आत्मा-परमात्मा सबका बोध उपर्युक्त चार भावों से ही होता है ।

समबुद्धि और समव्यवहार हो जाने से एक विशेष योग्यता मिलती है, उस योग्यता से छोटे-बड़े का भेद मिट जाता है और विरुद्ध स्वभाववालों के प्रति भी राग-द्वेष नहीं रहता ।

मित्र, शत्रु, उदासीन आदि में अनात्मभावों की कल्पना न करनेवाले आत्मवान् पुरुष को विशेष पुरुष कहा जाता है ।

सुहृद्—बिना किसी कारण के उपकार करनेवाला, सदा शुभचिन्तक ।

मित्र—सुख-दुःख में सदा साथ रहनेवाला स्नेही।

अरि—बदला लेने की इच्छा से बैर बांधनेवाला और आगे-पीछे बुरा चाहनेवाला।

उदासीन—जो न किसी का बुरा चाहता हो और न भला, न किसी का मित्र हो और न शत्रु।

मध्यस्थ—किसी का भी पक्ष न लेकर न्याय करनेवाला।

द्वेष्य—कारण से और बिना कारण भी बुरा चाहनेवाला।

बन्धु—जिसके साथ विशेष सम्बन्ध हो, साधु, धर्म-परायण, जितेन्द्रिय, सबका भला करनेवाला।

पापी—इन्द्रियों का दास, अशुभ और दुष्कर्म करनेवाला, सदा भयभीत और अशांत रहनेवाला।

प्रायः किसी न किसी प्रकार के नर-नारियों से संसार में संयोग होता है और राग-द्वेष, प्रेम-घृणा, सुख-दुःख भी होता है, परन्तु इन सबके साथ जो आत्म-भाव से व्यवहार करता है, वह योग-युक्त, प्रशान्त-आत्मा, जितात्मा सदा अपने परमात्मा में टिका रह कर विशेष-पद पाता है।

समबुद्धि होना गीता की ब्रह्मविद्या है; समत्व ही योग है। जिसकी बुद्धि में समता है वह विषम परिस्थिति में भी विचलित नहीं होता।

सम बुद्धिवाला आत्मा के शासन में रहता है, सबके प्रति प्रेम भरा मधुर व्यवहार करता है, सहिष्णु रहता है और जीवन में सामञ्जस्य बनाये रखता है। समबुद्धि-पुरुष का वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय और धार्मिक जीवन एकता और स्नेह से भरा रहता है।

व्यावहारिक दृष्टि से सम-व्यवहार करना अथवा सबमें सम-दृष्टि रखना सम्भव नहीं जान पड़ता। परन्तु यदि किसी के अधिकार न दबाये जायें और सबके साथ विवेक-बुद्धि से काम लिया जाय, अथवा सत्य और न्याय का व्यवहार किया जाये तो सम-बुद्धि की सिद्धि हो जाती है।

ऐसी सिद्धि के लिये जिस संयम की आवश्यकता है उसका वर्णन गीता में इस प्रकार किया गया है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगी, युञ्जीत, सततम्, आत्मानम्, रहसि, स्थितः,
एकाकी, यतचित्तात्मा, निराशीः, अपरिग्रहः ।

योगी=योगीपुरुष, रहसि=एकान्त में, एकाकी=अकेला, स्थितः=स्थित होकर, यतचित्तात्मा=चित्त और आत्मा का संयम करके, निराशीः=आशा को छोड़कर (और), अपरिग्रहः=संग्रह को त्याग कर, आत्मानम्=अपने-आपको, सततम्=निरन्तर, युञ्जीत=योग में लगाये ।

चित-आत्म-संयम नित्य एकाकी करे एकान्त में ।
तज आश-संग्रह नित निरन्तर योग में योगी रमें ॥

अर्थ—योगी पुरुष एकान्त में अकेला स्थित होकर चित्त और आत्मा का संयम करके आशा को छोड़कर और संग्रह को त्याग कर अपने-आप को निरन्तर योग में लगाये ।

व्याख्या—योगारूढ होने के लिये शारीरिक और मानसिक संयम का पाठ यहां से प्रारम्भ होता है । साधन में लगे हुए पुरुष को 'योगी' कहते हैं । संन्यास की साधना में लगा हुआ, पातञ्जल योग के अभ्यास में लगा हुआ, परमेश्वर के ध्यान में लगा हुआ अथवा कर्म की पूर्ति करने में जुटा हुआ मनुष्य 'योगी' है ।

प्रत्येक साधना में चित्त और इन्द्रियों को एकाग्र और स्वाधीन करना अनिवार्य है ।

योगी आत्मानं सततं युञ्जीत—योग की इच्छा करनेवाले को निरन्तर अपने-आपको योग-साधना में लगाये रहना चाहिये ।

जीवन छोटा है और करने को बहुत है । भीष्म और अर्जुन का युद्ध हो रहा था । भीष्म ने दस हजार पाण्डवों को मारने की प्रतिज्ञा

की थी और अर्जुन ने उत्साह-पूर्वक गाण्डीव उठा लिया था। उसने भीष्म पितामह के सारे बाण काट गिराये। अर्जुन की तत्परता और कुशलता से भगवान् प्रसन्न थे। युद्ध करते-करते अर्जुन के माथे पर पसीना आगया। उसने पसीना पूंछने के लिये माथे पर हाथ फेरा कि भीष्म को अवसर मिल गया और उन्होंने इतनी ही देर में हजारों पाण्डव मार गिराये।

जीवन में निरन्तर युद्ध होता रहता है, विरोधी शक्तियां तनिक-सी असावधानी होते ही दबा लेती हैं। इसलिये जीवन का एक पल भी व्यर्थ खो देना बड़ा भारी अपराध और पाप है। इस अपराध से बचने के लिये संयम का पहला पाठ है—निरन्तर योग-साधना में लगे रहना।

निरन्तर के दो अभिप्राय हैं—

१—जब तक संसार तब तक व्यवहार। जीवन-पर्यन्त कभी आलस्य और प्रमाद में समय न खोना।

२—किसी भी प्रकार की साधना के समय मन में अन्तर न आने देना—किसी भी कर्म की पूर्ति तक चित्त को इधर-उधर न जाने देना।

चित्त को दृढ़ और पवित्र बनाने तथा एक तरफ लगा देने के पांच साधन हैं—

१—अकेलापन।

२—एकान्त।

३—चित्त और आत्मा का संयम।

४—आशाओं का त्याग।

५—संग्रह का त्याग।

अकेलापन—

अकेलापन अपने मन से होता है, बन पहाड़ों और निर्जन स्थानों में भी मन का एकान्त न हो तो हवा के चलने का शब्द, निर्जनता, अन्धेरा और उजाला भी अशान्ति उत्पन्न कर सकते हैं। चित्त-वृत्तियों

को एकाग्र करने का अभ्यास हो जाय तो जन-समूह में तथा कोलाहल से भरे संसार में भी अकेलेपन का अनुभव हो सकता है। जिसे किसी के संग की बाधा न हो, उसीको अकेला समझना चाहिये।

एकान्त—

साधना के समय एकान्त स्थान होने से निश्चलता प्राप्त होती है। पूजा, पाठ, उपासना जप, ध्यान, योग-साधना करते समय एकान्त स्थान सिद्धि में सहायक होता है। व्यवहार में भी किसी गम्भीर कार्य को करते समय एकान्त लाभदायक है। चित्त-वृत्तियां एक स्थान पर टिक जायें तो बड़े-बड़े कठिन कार्य सरल हो जाते हैं।

एकान्त के बिना एकाग्रता नहीं होती, परन्तु जिसे चित्त की एकाग्रता सुलभ हो जाती है उसके लिये सर्वत्र एकान्त रहता है।

श्रीकृष्ण को अपनी चित्त-वृत्तियों पर इतना संयम था कि भयङ्कर युद्ध-भूमि में, बरसते हुए बाणों के बीच में, रथों की घड़-घड़ाहट, हाथियों की चिङ्घाड़ और तलवारों की झन-झनाहट में भी वे एकाग्रता से संध्या-वन्दन करने बैठते थे। अर्जुन को तीर छोड़ते समय इतनी एकाग्रता रहती थी कि अपने लक्ष्य को छोड़ कर उन्हें और कुछ नहीं दीखता था।

खेती, व्यापार, नौकरी, पठन-पाठन, युद्ध, शांति की व्यवस्था, ध्यान और साधना सब में एकाग्रता से सफलता मिलती है।

एकान्त हो पर अकेलेपन की प्रतीति न हो और आत्म-संयम न हो तो मानसिक व्यभिचार का अवसर मिल जाता है।

एकाग्रता का वास्तविक अभिप्राय—एक परमेश्वर की तरफ दृढ़ता से मन को लगा देना है। संसार की भयङ्करता को देखते हैं तो जान पड़ता है कि कहीं शांति नहीं है—एक आग सुलग रही है, सभी उसमें जल रहे हैं। संसार की आग धाँय-धाँय करती हुई भीतर और बाहर से मनुष्य को रात-दिन जला रही है। इस आग के रहते हुए योग, जप, तप, ध्यान प्रार्थना कुछ नहीं बन पड़ता। सत्संग, प्रार्थना, सन्ध्या-वन्दन

आदि में बैठते हैं तो कभी मन दौड़ता है और कभी नींद आने लगती है। एकाग्रता किसी ही भाग्यवान् साधक को मिलती है।

अकेले जङ्गल में, पहाड़ों की चोटियों पर या गुफाओं में बैठकर भी यदि मन और बुद्धि पर अधिकार नहीं होता तो एकाग्रता नहीं मिलती। इच्छा और वासनाओं से जकड़े हुए मनुष्य के लिये कहीं एकान्त नहीं होता। एकान्त सुख का स्वर्गिक अनुभव तो मन को आत्मा में लगाने से होता है। संयम-विहीन मानव सदा नरक में पड़ा रहता है।

चित्त और आत्मा का संयम—

चित्त की वृत्तियों को अपने आधीन रखने; बुराइयों, दोषों और कुटेवों को छोड़ने तथा विषय-भोग-वासना पर विजय पा लेने के सत्य-प्रयत्न का नाम संयम है।

चित्त को आत्मा में लगाने के लिये बाहरी विषमता से हटकर अन्दर की ओर सत्यता से देखना पड़ता है। जो जितना अपने अन्तर में झांकता है, वह उतना ही शक्तिशाली, संयमी और बुद्धिमान् होता है।

चित्त-वृत्तियों और इन्द्रियों की शक्ति को भोग-विलास में लगाने से शक्ति छीजती है। इसी शक्ति को एकत्रित करके किसी महान् कार्य में, सत्य की खोज में, वैज्ञानिक अनुसन्धान में अथवा परमानन्द में लगा दें तो इस शक्ति की अद्भुत वृद्धि होती है और नित्य नये-नये चमत्कार देखने में आते हैं।

चित्त-वृत्तियों को भोग-विलासों की ओर से हटाकर आत्मा में लगाने को चाहे संयम कहें, चाहे ब्रह्मचर्य कहें, चाहे तप या साधना कहें, उससे मनुष्य में विलक्षण कर्म-कुशलता और बुद्धि की तीव्रता प्रस्फुटित होती है और आनन्द के शीतल तथा मधुर स्रोत उमड़ते हैं।

क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ तीनों चित्त-वृत्तियों का निरोध करने से एकाग्रता प्राप्त होती है। चित्त-वृत्तियों का निरोध ही योग है।

चित्त-वृत्तियों का निरोध करने अथवा मन को आत्मा में लगाने के लिये भोगों को सात्त्विक और सीमित करना चाहिये।

आशाओं का त्याग—

आशाओं के त्याग का अभिप्राय है—तृष्णा से छूटना। तृष्णा और ममता में फँसा हुआ मनुष्य झूठी आशायें बांधा करता है। श्रीशङ्कराचार्य ने आशा में बँधे हुए जीव का करुणाजनक चित्र खींचा है—

अंगं गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं, तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम्॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।

सारे अंग शिथिल सिर मुण्डा, टूटे दांत हुआ मुख तुण्डा।
वृद्ध हुए तब दण्ड उठाया, किन्तु न छूटी आशा माया॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते।

बाहरी वस्तुओं के लिये मनुष्य जितना हाथ फैलाता है और जीवन को जितना विलासी तथा आडम्बरपूर्ण बनाता है, उतनी ही उसे आशायें बढ़ानी पड़ती हैं। तामसी और आसुरी आशाओं से छूटने का उपाय परिग्रह का त्याग है।

संग्रह का त्याग—

उपभोगों को सीमित करने से संग्रह की आवश्यकता नहीं रहती। स्वभाव को पराधीन बनाने से विलास और भोग की सामग्रियाँ जुटानी पड़ती हैं। स्वभाव को सरल बनाने से बाहरी-वस्तुओं का सहारा नहीं ढूँढ़ना पड़ता। पूजा-पाठ, सेवा और प्रत्येक व्यवहार में बाहरी वस्तुओं का सहारा जितना कम लिया जाता है उतनी ही सफलता मिलती है।

शांत और सुखी जीवन के लिये गीता ने जिस संयम और साधना का प्रारम्भ किया है, उसमें सर्वप्रथम एकाग्रता, चित्त एवं आत्मा का योग, त्याग और सीमित उपभोग की आवश्यकता है। इनके लिये जो साधन है, उसे 'ध्यान-योग' कहा जा सकता है। ध्यान में ध्येय को खींच लाने की शक्ति है। ध्यान, दैवी जीवन का आधार है। ध्यान के लिये गीता के निम्नलिखित आदेश हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

शुचौ, देशे, प्रतिष्ठाप्य, स्थिरम्, आसनम्, आत्मनः,
न, अति-उच्छ्रितम्, न, अतिनीचम्, चैलाजिनकुशोत्तरम्,

शुचौ=शुद्ध, देशे=स्थान में, न=न, अति-उच्छ्रितम्=बहुत ऊंचा, न=न, अतिनीचम्=बहुत नीचा, आत्मनः=अपना, स्थिरम्=स्थिर, आसनम्=आसन, प्रतिष्ठाप्य=जमा कर, चैलाजिनकुशोत्तरम्=कुशा मृगछाला और वस्त्र बिछाये ।

आसन धरे शुचि-भूमि पर स्थिर, ऊँच नीच न ठौर हो ।
कुश पर बिछा मृगछाल, उस पर वस्त्र पावन और हो ॥

अर्थ—शुद्ध स्थान में न बहुत ऊँचा, न बहुत नीचा अपना स्थिर आसन जमा कर कुशा मृगछाला और वस्त्र बिछाये ।

व्याख्या—परिस्थितियों के सदुपयोग से जीवन का विकास होता है और परिस्थितियों में घिर कर निराश होने तथा रोने से दुःख अधिकाधिक बढ़ते हैं ।

प्रातःकाल नियम पूर्वक ध्यान-प्रार्थना आदि करने से दिन भर कर्म करने की शक्ति और प्रभु-कृपा मिलती है । छोटा-बड़ा, धनी-निर्धन कोई भी हो ध्यान से मनुष्य मात्र को निर्मलता, प्रसन्नता, उत्साह, प्रेरणा और शान्ति प्राप्त होती है ।

ध्यान के लिये पवित्र स्थान पर बैठना चाहिये ।

पवित्र-स्थान—

पवित्र स्थान में मन का समाधान होता है । स्थान दो प्रकार से पवित्र माना जाता है ।

१—स्वभावतः पवित्र ।

२—संस्कारों से पवित्र किया गया ।

स्वभावतः पवित्र स्थान—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् । धिया विप्रोऽअजायत (यजु० २६।१५)

विवेकशील साधक निश्चल बुद्धि से पहाड़ों की एकान्त भूमि और नदियों के संगम जैसे प्राकृतिक, सौन्दर्य-पूर्ण, पवित्र और एकान्त स्थान में ध्यान लगाते हैं।

अपां समीपे नियतो नैत्यिकीं विधिमास्थितः।
सावित्रीमप्यधीयेत गत्वारण्यं समाहितः ॥ (मनु)

जल के समीप एकान्त स्थान में नियत चित्त होकर दैनिक प्रार्थना के लिये गायत्री आदि का जप और पूजन-वन्दन करना चाहिये।

इस प्रकार के स्वभावतः पवित्र स्थान में साधना करने के दो लाभ हैं—

१—प्रातःकाल निश्चित रूप से वायु-सेवन सुलभ हो जाता है।

२—एकाग्र होने में सहायता और दैवी-प्रकाश मिलता है।

सन्त ज्ञानेश्वर ने अपनी काव्यमयी भाषा में पवित्र स्थान का वर्णन इस प्रकार किया है—

"प्रथम ऐसा स्थान ढूँढना चाहिये कि जहाँ समाधान की इच्छा से बैठते ही उठने की इच्छा न हो, जिसे देखते ही वैराग्य की दुगुनी बाढ़ आजाये, जिसे सन्तों ने बसाया हो, जो सन्तोष का सहकारी हो और मन को धैर्य का प्रोत्साहन देता हो। जहाँ रमणीयता ऐसी बढ़ी हो कि अभ्यास ही स्वयं साधक के वश में होजाय तथा अनुभव आप ही-आप हृदय में आ बसे, जिसके समीप से निकलते ही नास्तिकों को भी श्रद्धा उत्पन्न होकर तपश्चर्या की इच्छा हो, जहाँ यदि कोई सकाम भी मार्ग चलते-चलते अकस्मात् पहुँच जाय तो उसे फिर लौटने का स्मरण न हो। इस प्रकार ऐसा स्थान ढूँढना चाहिये जो न रहनेवालों को रखले, भटकनेवालों को भी स्थिर करदे और वैराग्य को थपकी लगाकर जगादे, जिसे देखते ही विषय-सुखों में लम्पट को ऐसा जान पड़े कि संसार का सुन्दर राज्य छोड़ कर यहीं शान्ति से बैठ जाऊँ। वह

स्थान उत्तम तथा निर्मल होना चाहिये। वहाँ आँखों को साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप ही दिखायी पड़ता हो। उस स्थान में एक विशेष गुण यही होना चाहिये कि वहाँ योगाभ्यास करनेवाले साधकों की बस्ती हो और लोगों के पाँव की धूल से मलिन न हुआ हो।"

कारण-वश ऐसा स्थान सुलभ न होने पर संस्कारों से स्थान को पवित्र करना चाहिये।

संस्कारों से पवित्र किया गया स्थान—

अपने निवास-स्थान से दूर प्राकृतिक सुषुमा और पवित्रता से भरे स्थानों पर जाने का अवकाश न मिले तो घर में ही एक पवित्र साधना का स्थान बनाना चाहिये। उस स्थान को निरन्तर संस्कारों से ऐसा पवित्र किया जाय कि वहाँ बैठते ही शान्ति और दैवी सम्पत्ति साधक का मन आकर्षित कर ले। प्रेरणात्मक वाक्यों और चित्रों से वह स्थान सुन्दर बनाया जा सकता है। दिव्य गन्ध और पुष्पों द्वारा सात्विक भावों की धूनी वहाँ लगायी जा सकती है और नियमित प्रार्थना द्वारा अलख की ज्योति जगाई जा सकती है।

दुर्गन्धि-पूर्ण अन्धेरे घरों में, प्रकाशहीन स्थानों में जहाँ स्वच्छ-वायु भी न मिलती हो, जहाँ चारों ओर सामान बिखरा पड़ा हो और जहाँ बालकों तथा नर-नारियों का कोलाहल शान्ति के पीछे दौड़ता हो वहाँ साधना के लिये बैठना ऐसा है जैसे नदी के किनारे रेत की दीवार खड़ी करना।

दुर्भाग्य-वश न प्राकृतिक—स्वभावतः पवित्र स्थान मिले और न संस्कारों से बना हुआ स्थान मिले तो साहस और धैर्य बटोर कर जहाँ हो, वहीं पर सात्विक और पवित्र-हृदय द्वारा प्रार्थना करनी चाहिये।

प्रत्येक कर्म करने में स्थान का विशेष प्रभाव पड़ता है। एक प्राचीन कथा है—'शिवजी के गले में पड़े हुए सर्प गरुड़ को देखकर फुंकारने लगे। उस समय गरुड़ बेचारा क्या करता। उसने गम्भीरता से कहा—

जानामि नागेन्द्र तव प्रभावम् कण्ठे स्थितो गर्जसि शङ्करस्य ।
स्थानं प्रधानं न बलं प्रधानम् स्थाने स्थिताः के पुरुषाः न सिंहाः ॥

'हे नागेन्द्र ! मैं तुम्हारे प्रभाव को अच्छी तरह जानता हूँ, भगवान् शंकर के गले में स्थित होकर तुम गरज रहे हो ! बल की नहीं, स्थान की प्रधानता होती है, अपने स्थान पर कौन शेर नहीं होता !'

पवित्र स्थान पर बैठनेवाला निःसन्देह सफल प्रयत्न होता है ।

ऐसी है पवित्र स्थान की महिमा ! ऐसे स्थान पर ध्यान-योग के लिये स्थिर आसन लगाकर बैठना चाहिये । आसन न बहुत ऊँचा होना चाहिये और न बहुत नीचा । आसन जहां जमाया जाये वहाँ न बहुत तीव्र वायु होनी चाहिये और न वायु की गति रुकनी चाहिये ।

आसन ऊँचे-नीचे स्थान पर न हो इसका साधारण अभिप्राय है, समतल भूमि पर आसन लगाना, जहां बैठने में सुख मिले, मन स्थिर रहे और किसी भी प्रकार की बेचैनी अथवा हिलना-डुलना न हो ।

किसी-किसी टीकाकार के मत से बहुत ऊँचे आसन पर बैठने से कम्पन होता है और भय भी रहता है । नीचा आसन लगाने से शुद्ध वायु नहीं मिलती । आसन ऐसा होना चाहिये जिस पर बैठकर किसी प्रकार की असुविधा न रहे, जहां भय, शङ्का, निद्रा, तन्द्रा और आलस्य साधक को न घेरें ।

ध्यान के समय शरीर में एक विशेष प्रकार की विद्युत्-शक्ति दौड़ती है । प्रायः इस शक्ति का प्रथम स्पर्श ही एक अपूर्व शान्ति और प्रकाश प्रदान करता है । जो ध्यान की शक्ति को धारण करने में जितना अधिक सफल होता है, उसका मस्तिष्क उतना ही अधिक निर्मल और हृदय पवित्र हो जाता है, उसे दिव्य-प्रकाश और परम शान्ति का अनुभव होता है ।

ध्यान से उत्पन्न विद्युत्-शक्ति को धारण करने के लिये 'आसन' ऐसा बनाना चाहिये कि सबसे पहले कुशा हो, उसके ऊपर मृगछाला हो और उस पर एक पवित्र वस्त्र हो ।

कुशासन तामसी भाव नहीं आने देता, मृगछाल राजसी-वृत्तियों को दूर रखता है और निर्मल तथा पवित्र वस्त्र प्रसन्नता प्रदान करके सात्त्विक भावों को जगाता है।

ध्यान के समय पृथ्वी-तत्त्व की वृद्धि अथवा क्षीणता से आलस्य और नींद आने लगती है। अग्नि-तत्त्व की विषमता से अशान्ति होती है और स्थिरता नहीं आती। वायु और जल तत्त्व की घटा-बढ़ी से मन में चंचलता बढ़ती है और न जाने कहां-कहां के विचारों, कल्पनाओं और कामनाओं से मन घिर जाता है। तत्त्वों की समता रखने के लिये कुशा, मृगछाला और पवित्र वस्त्र बिछाकर बैठना चाहिये।

काठ और पत्थर का आसन कड़ा होता है, उस पर अधिक देर बैठने से कुछ कष्ट होने लगता है और स्वभावतः मन, ध्यान से हट जाता है। रेशमी गुदगुदे अथवा अनेकों प्रकार के आराम देनेवाले आसनों पर बैठते ही नींद आने लगती है। अतः मन को स्थिर करने के लिये गीता ने आसन-विज्ञान के अनुसार कुशा, मृगछाला और पवित्र वस्त्र बिछाकर बैठने का आदेश दिया है।

यह भी एक प्रश्न है कि किस आसन से बैठा जाय ? योगशास्त्रों में पद्मासन, सिद्धासन, सुखासन, स्वस्तिकासन, वीरासन, वज्रासन, आदि आसनों का वर्णन है। गुण और स्वभाव के अनुसार अपने लिये उपयुक्त आसन पर बैठने से ध्यान लग जाता है। किसको किस आसन से बैठना चाहिये ? यह ज्ञान गुरु-गम्य है, परन्तु महर्षि पतञ्जलि ने एक सर्व-सुगम आदेश दिया है—"स्थिरसुखमासनम्—जिस आसन से स्थिरतापूर्वक सुख से बैठा जा सके वही आसन उत्तम है।"

बैठना इस प्रकार चाहिये— १—मेरुदण्ड झुकने न पाये।
२—शरीर की प्रत्येक नाड़ी में रक्त-प्रवाह अबाध्य रहे।
३—कोई अङ्ग शिथिल न हो, दबकर सुन्न न पड़े और हल्कापन बना रहे।

आसन की स्थिरता पर ध्यानयोग की सफलता निर्भर है। स्थिर आसन से पवित्र स्थान पर बैठ कर—

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

तत्र, एकाग्रम्, मनः, कृत्वा, यतचित्तेन्द्रियक्रियः,
उपविश्य, आसने, युञ्ज्यात्, योगम्, आत्मविशुद्धये ।

तत्र=वहाँ, आसने=आसन पर, उपविश्य=बैठकर, यतचित्तेन्द्रियक्रियः=चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को स्वाधीन किये, मनः=मन को, एकाग्रम्=एकाग्र, कृत्वा=करके, आत्मविशुद्धये=अन्तःकरण की शुद्धि के लिये, योगम्=योग का, युञ्ज्यात्=अभ्यास करना चाहिये ।

एकाग्र कर मन, रोक इन्द्रिय चित्त के व्यापार को ।
फिर आत्म-शोधन हेतु बैठे नित्य योगाचार को ॥

अर्थ—वहाँ आसन पर बैठ कर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को स्वाधीन किये, मन को एकाग्र करके अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करना चाहिये ।

व्याख्या—श्रद्धा, उत्साह, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा, इन पांचों के संयोग से योग होता है । योग साधना द्वारा जब बुद्धि विकारों और वासनाओं के साथ बार-बार नहीं बदलती और शुद्ध हो जाती है, मन तथा इन्द्रियों के कार्यों पर नियन्त्रण हो जाता है और चित की वृत्तियां स्थिर हो जाती हैं तब आत्म-शोधन का कार्य प्रारम्भ होता है ।

आत्म-शोधन के लिये—

१—पवित्र स्थान में ध्यान लगाना चाहिये ।

२—दृढ़ आसन पर बैठ कर मन को एकाग्र करना चाहिये ।

३—चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को अपने आधीन रखना चाहिये ।

एकाग्रता का सम्बन्ध, धारणा-शक्ति से है । योगदर्शन में कहे गये अष्टांग योग में यम की साधना के लिये नियम हैं । नियमों का

पालन करने के लिये आसन की दृढ़ता है। आसन की दृढ़ता के लिये प्राणायाम है। प्राणायाम से चित्त-शुद्धि होती है। चित्त-शुद्धि होते ही धारणा हो जाती है। धारणा से एकाग्रता मिलती है। यही एकाग्रता ध्यान की आधार-शिला है। ध्यान के द्वारा आत्मा की शुद्धि होती है और तभी प्रज्ञा जागती है।

एकाग्र हुए बिना चित्त और इन्द्रियों की क्रिया, आत्मा के आधीन नहीं होती। चित्त और इन्द्रियाँ, जब तक सामान्य-बुद्धि के साथ रहती हैं और मन की तरङ्गों पर चलती हैं, तब तक किसी भी प्रकार के योग की साधना में सफलता नहीं मिलती।

एकाग्रता के लिये—

किसी 'एक' के सन्मुख मन को कर लेना ही 'एकाग्रता' है। वह 'एक' परमेश्वर है। ब्रह्म, आनन्द, सत्य, प्रेम, सेवा और यज्ञ सब परमेश्वर के रूप हैं। किसी भी मार्ग से परमेश्वर के किसी रूप में, अनन्य-भाव से मन को टिका देना एकाग्रता का ध्येय है। एकाग्र होने के लिये ओम्, मूर्ति, शास्त्र, गुरु आदि में श्रद्धा और मान्यता के अनुसार मन को जमाना एक अनुभूत साधन है।

ध्यान अथवा साधना की अवस्था में चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को रोक कर बैठने का अभ्यास जितना बढ़ता है उतनी ही अन्तःकरण की शुद्धि होती है।

प्रति-दिन कम-से-कम इतना अभ्यास अवश्य करना चाहिये कि एक बार विषयों की स्मृति न रहे, शरीर-भाव आत्मा के साथ एक-तान हो जाय ; सांसारिक-ताप सहजानन्द के प्रशान्त-सागर में विलीन हो जायें और प्रज्ञा-कमल खिल कर तन-मन को प्रसन्नता तथा नवजीवन से भर दे।

इस प्रकार आत्मानन्द में लय होकर नित्य-नव-शक्ति, स्फूर्ति और प्रज्ञा प्राप्त करने के लिये जिन नियमों का पालन करना चाहिये, वे इस प्रकार हैं—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

समम्, कायशिरोग्रीवम्, धारयन्, अचलम्, स्थिरः,
संप्रेक्ष्य, नासिकाग्रम्, स्वम्, दिशः, च, अनवलोकयन् ।

कायशिरोग्रीवम्=शरीर शिर और गर्दन को, समम्=सीधा, च=और, अचलम्=अचल, धारयन्=करके, स्थिरः=स्थिर होकर, दिशः=अन्य दिशाओं को, अनवलोकयन्=न देखता हुआ, स्वम्=अपने, नासिकाग्रम्=नासिका के अग्रभाग को, संप्रेक्ष्य=देख कर ।

होकर अचल, दृढ़, शीश ग्रीवा और काया सम करे ।
दिशि अन्य अवलोके नहीं नासाग्र पर ही दृग धरे ॥

अर्थ—शरीर शिर और गर्दन को सीधा और अचल करके स्थिर होकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ अपने नासिका के अग्रभाग को देख कर ।

व्याख्या—स्थिर होकर सुख और शान्ति पूर्वक आसन पर इस प्रकार बैठना चाहिये कि शरीर, सिर और गर्दन में अचलता और समता रहे, कहीं टेढ़ न हो और बार-बार हिलना-झुलना न हो ।

मन में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिये निश्चल होकर बैठना अत्यन्त आवश्यक है । अचंचल तन में ही अचंचल मन रह सकता है ।

शरीर सीधा और तना हुआ रखना आसन दृढ़ करने की पहली शर्त है । शिथिल होकर, झुककर टेढ़े होकर, सहारा लेकर बैठने से आसन की सिद्धि सम्भव नहीं है ।

जिस प्रकार चर्खे की तकली (सूआ) में थोड़ी-सी भी टेढ़ आ जाने पर सूत ठीक नहीं कतता, इसीप्रकार साधना के समय शरीर के किसी भाग में टेढ़ आजाने से ध्यान का तार टूट जाता है । मेरु-दण्ड झुका हुआ रहने से शिथिलता और आलस्य का आक्रमण होता है और साधक को झुकना पड़ जाता है ।

ध्यान की अवस्था में बाहरी वस्तुओं और दृश्यों की ओर से दृष्टि हटाकर अन्तर में जमानी चाहिये। इधर-उधर देखने से मन पर बाहरी दृश्यों का विरोधी प्रभाव पड़ता है और मन स्थिर नहीं हो पाता।

इन्द्रियों की शक्ति बड़ी प्रबल है। सूरदास ने बाहर की ओर से आंखें बन्द कर ली थीं. तभी उन्हें अन्तर-दृष्टि मिली थी। मीरां आंखें मूँदकर अपने घनश्याम को देखा करती थी।

गान्धारी की कथा प्रसिद्ध है—उसने अपने पतिव्रत-धर्म को निभाने के लिये अपनी आंखों पर पट्टी बांध ली थी। जिस समय दुर्योधन युद्ध में जाने लगा तो गान्धारी ने कहा—"बेटा! तुम शरीर के सारे वस्त्र उतार कर एक बार मेरे सामने आ जाओ!"

गान्धारी ने अपनी दृष्टि की महाशक्ति को व्यय नहीं होने दिया था। उसने एक बार दुर्योधन को ऊपर से नीचे तक देख लिया। दुर्योधन का सारा शरीर वज्र-जैसा हो गया। जिस भाग में लँगोटी बँधी हुई थी, केवल वही क्षीण रह गया और वहीं से उसका शरीर टूटा।

जिस इन्द्रिय की शक्ति को व्यय नहीं किया जाता, उसीमें अद्भुत शक्ति भर जाती है। अतः ध्यान के समय सम्पूर्ण इन्द्रियों और मन को बाहरी व्यापार से रोककर साधना में लगाना चाहिये। सर्वप्रथम नेत्रों का संयम आवश्यक है, इधर-उधर न देखकर दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर जमाने से वह संयम होता है।

नेत्रों को बन्द करके बैठने से प्रायः नींद आ जाती है और खोल कर बैठने से बाहरी दृश्य दखते हैं तथा मन एकाग्र नहीं हो पाता। अतः अर्ध-उन्मीलित नेत्रों से नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाने से ध्यानावस्थित होने का अभ्यास दृढ़ हो जाता है।

आंखों की चंचलता नष्ट करने के लिये नासाग्र पर दृष्टि जमाना एक अनुभूत साधन है। नेत्र जितने पवित्र होते हैं उतना ही अधिक तत्त्व-चिन्तन और तत्त्व-दर्शन सुलभ होता है।

अन्य इन्द्रियों की साधना भी इतनी ही आवश्यक है—

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

प्रशान्तात्मा, विगतभीः, ब्रह्मचारिव्रते, स्थितः,
मनः, संयम्य, मच्चित्तः, युक्तः, आसीत, मत्परः ।

प्रशान्तात्मा=शान्त अन्तःकरणवाला, विगतभीः=निर्भय, ब्रह्मचारिव्रते=ब्रह्मचर्य-व्रत में, स्थितः=स्थित, मनः=मन को, संयम्य=रोककर, मच्चित्तः=मुझमें चित्त लगानेवाला, युक्तः=योग युक्त, मत्परः=मेरे परायण हुआ, आसीत=बैठे ।

बन ब्रह्मचारी, शान्त मन, संयम करे भय-मुक्त हो ।
हो मत्परायण चित्त मुझमें ही लगाकर युक्त हो ॥

अर्थ—शान्त अन्तःकरणवाला, निर्भय, ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित, मन को रोककर मुझमें चित्त लगानेवाला, योग-युक्त मेरे परायण हुआ बैठे ।

व्याख्या—इन्द्रियों के संयम से अन्तःकरण प्रशान्त होता है । काम-कामी जन कभी शान्ति नहीं पाता । शान्ति के बिना कोई सुख नहीं मिलता । प्रसन्नता से किये गये साधन, पूजा-पाठ, जप-तप और सांसारिक व्यवहार सभी सफल होते हैं । प्रसन्नता, निर्मलता का प्रसाद है, प्रसन्नता के सामने दुःख निस्तेज पड़ जाते हैं । प्रसन्नता, शान्ति और स्वास्थ्य तीनों साथ रहते हैं और दिव्य-कर्मों की साधना में विशेष योग-दान देते हैं ।

साधना के लिये बैठते समय मन से राग-द्वेष, विकार, मोह, काम, क्रोध आदि दूर करके शान्त और प्रसन्न चित्त रहना अत्यन्त आवश्यक है ।

विगतभीः—निर्भय,

निर्भय होकर बैठनेवाला आनन्द-ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है । भय तो केवल अनुचित और अयोग्य-कर्म करने से होना चाहिये । भय

से साधक की शक्तियाँ दब जाती हैं, चित्त स्थिर नहीं रहता और वह दूसरों का सहारा खोजने लगता है।

असफलता का भय, अपनी किसी कमी का भय अथवा किसी भी प्रकार का भय पापों को जन्म देता है। भय वहीं आता है जहाँ पाप का चोर रहता है। साधक को केवल भगवान् का भय होना चाहिये। जिसे भगवान् का भय होता है वही निर्भय होकर कर्म करता है।

ब्रह्मचर्य-व्रत—

'ब्रह्मचर्य' का साधारण अर्थ है—इन्द्रियों को संयम में रखकर अथवा स्वाधीन करके व्यवहार करना। शारीरिक और मानसिक-बल की रक्षा का सर्वश्रेष्ठ उपाय ब्रह्मचर्य है। वीर्य, ओज और तेज का संचय केवल ब्रह्मचर्य से होता है।

ब्रह्मचर्य से मनुष्य देवता बनता है और देवता मृत्यु पर विजय पाते हैं। समस्त रोगों से छूटने के लिये ब्रह्मचर्य अमृत है। ब्रह्मचारी वह है, जो सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम करके ब्रह्म में रहकर कर्म करता है और नित्य निरन्तर ब्रह्म के मार्ग पर चलता है।

ब्रह्मचर्य के बिना साधना का कोई मूल्य नहीं। आसन पर बैठकर भी मन की चंचलता न मिटी, श्रद्धा न जमी और आशा-तृष्णा न छूटी तो केवल मिथ्याचार से ध्यान नहीं लगता। अतः ध्यानावस्थित होने के लिये तन, मन और इन्द्रियों के ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है।

मन का संयम—

इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन का संयम न हो तो इन्द्रियाँ भी उच्छृङ्खल बनी रहती हैं और आत्मा का शासन स्वीकार नहीं करतीं। संसार में सारा खेल मन का है। मन ही मनुष्य को बनाने और बिगाड़नेवाला है। मन परमात्मा में लग जाय तो परमात्मा को पाये बिना नहीं रहता। अच्छाई में-बुराई में, जिसमें मन लगता है उसी की सिद्धि होती है। सब ओर से हटाकर साधना में मन लगाते ही साधक, सिद्ध हो जाता है।

मच्चितः—मुझमें चित्त लगानेवाला—

संसार का एकमात्र आधार परमेश्वर है। परमेश्वर आनन्दरूप है, मनुष्य जिस सुख की खोज करता है वह वास्तव में परमेश्वर ही है। जब तक परमेश्वर नहीं मिलता तब तक सुख नहीं मिलता। परमेश्वर में चित्त को जमानेवाला प्रत्येक अवस्था में सुखी रहता है।

ध्यान के लिये कोई न कोई ध्येय होना चाहिये। ध्येय के बिना ध्यान का कोई प्रयोजन ही नहीं है। कहीं न कहीं किसी न किसी पर चित्त जमाना पड़ता है।

श्रीकृष्ण गीता में ब्रह्मरूप होकर बोलते हैं। परात्पर ब्रह्म और पुरुषोत्तमतत्त्व, श्रीकृष्ण के प्रत्येक वचन और कर्म में ओत-प्रोत हैं: अतः वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि "मुझमें चित्त धरो।" भगवान् के पास पहुँचते ही चित्त-वृत्तियों का निरोध हो जाता है। प्रियतम में जितना प्रेम होता है, उतना ही उसमें मन लगता है। अनन्य-प्रेम होने पर प्रेमी, प्रियतम से एक क्षण के लिये भी अलग नहीं हो सकता।

भगवान् में अनन्य भाव से चित्त रखना ही योग-युक्त होना है। यही साधना की सिद्धि है।

मत्परः—मेरे परायण होना—

बछड़े को खूंटे से बाँध देने पर वह उसीके चारों ओर घूमता रहता है। सारी शक्ति लगाकर भी जब वह खूंटे को नहीं तोड़ पाता, तब हार कर बैठ जाता है। निरन्तर भगवान् के साथ रहनेवाले के मन की भी यही दशा होती है। वह जहाँ जाता है भगवान् के प्रेम में बँधा रहता है, उसकी चञ्चलता क्षीण पड़ जाती है और वह भगवान के परायण होकर बैठता है।

अपनी चेतना को सदा दिव्य या आध्यात्मिक चेतना की ओर खोले रखना ही भगवान् के परायण होना है। भगवत्-परायण प्राणी कर्म करता हुआ भगवान् को नहीं भूलता, भगवत्-परायण होने से सम्पूर्ण जीवन अखण्ड सुख और शान्ति से भर जाता है—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

युञ्जन् एवम्, सदा, आत्मानम्, योगी, नियतमानसः, शान्तिम्, निर्वाणपरमाम्, मत्संस्थाम्, अधिगच्छति।

एवम्=इस प्रकार, आत्मानम्=आत्मा को, सदा=निरन्तर, युञ्जन=योग में लगाता हुआ, नियतमानसः=स्वाधीन मनवाला, योगी=योगी, मत्संस्थाम्=मुझमें स्थित, निर्वाणपरमाम्=निर्वाणरूपी परम, शान्तिम्=शान्ति को, अधिगच्छति=पा लेता है।

यों जो नियत-चित युक्त योगाभ्यास में रत नित्य ही।
मुझमें टिकी निर्वाणपद-प्रद शांति पाता है वही॥

अर्थ—इस प्रकार आत्मा को निरन्तर योग में लगाता हुआ स्वाधीन मनवाला योगी, मुझमें स्थित निर्वाणरूपी परम-शान्ति को पा लेता है।

व्याख्या—एकान्त में पवित्र-भूमि पर स्थिर आसन लगाकर साधना के नियमों के अनुसार बैठनेवाला, जब नियत-चित्त से निरन्तर अभ्यास करता है तो उस परम-शान्ति को पा लेता है, जो भगवान् में रहती है और जो जीवन में ही मुक्ति दिला देनेवाली है।

शान्ति भगवान में ही बसती है, भगवान् शान्ताकार हैं। जो भगवान् के साथ रहता है वह सदा शान्ति पाता है। भगवान् से अलग होते ही व्याकुलता, चिन्ता और चाह से जीवन घिर जाता है।

शान्ति पा लेना ही निर्वाण है। जो संसार की भयंकरता में रहते हुए भी सदा शान्ति से प्रगति करता है, जिसके अन्तर में निरन्तर श्रीकृष्ण की मधुर वंशी बजती रहती है वही जीवन-मुक्त है।

गीता प्रत्येक परिस्थिति में मानव-मात्र को शान्ति पाने का रचनात्मक कार्य-क्रम देती है। वस्तुओं के संग्रह और विभाजन से शान्ति नहीं मिलती। शान्ति मिलती है स्वधर्म के आचरण से और जीवन की सुव्यवस्था से। जीवन का सदुपयोग गीता का महायोग है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

न, अति, अश्नतः, तु, योगः, अस्ति, न, च, एकान्तम्, अनश्नतः,
न, च, अतिस्वप्नशीलस्य, जाग्रतः, न, एव, च, अर्जुन ।

अर्जुन=हे अर्जुन, न=न, तु=तो, अति=बहुत, अश्नतः=खानेवाले का, च=और, न=न, एकान्तम्=बिल्कुल, अनश्नतः=न खानेवाले का, च=तथा, न=न, अतिस्वप्नशीलस्य=बहुत सोनेवाले का, च=और, न=न, जाग्रतः= जागनेवाले का, एव=ही, योगः=योग, अस्ति=होता है ।

यह योग अति खाकर न सधता है न अति उपवास से ।
सधता न अतिशय नींद अथवा जागरण के त्रास से ॥

अर्थ—हे अर्जुन, न तो बहुत खानेवाले का और न बिल्कुल न खानेवाले का तथा न बहुत सोनेवाले का और न जागनेवाले का ही योग होता है ।

व्याख्या—मोहमयी मां की गोद में न्याय नहीं मिलता और स्वार्थी-सेवक की गोद में स्नेह नहीं मिलता । मोह में तथा स्नेह के अभाव में खाने-पीने, सोने-जागने और किसी व्यवहार में नियम नहीं रहता । न्याय और स्नेह परमेश्वर की आनन्दमयी गोद में मिलते हैं । योगी सदा जीवन को नियमित बनाकर प्रकृति और परमेश्वर की आनन्दमयी गोद में रहता है ।

स्वाद के लिये बहुत खानेवाला रोगी रहता है । नींद, आलस्य, प्रमाद और भोग, बहुत खानेवाले का पीछा नहीं छोड़ते ।

अधिक भोजन करने से कफ, पित्त और वायु के दोष उत्पन्न होते हैं, अन्नमय कोष विकृत हो जाता है और पाचन क्रिया दब जाती है ।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥ —मनु

अति भोजन करने से रोग उत्पन्न होते हैं, आयु घट जाती है,

स्वर्ग की हानि होती है, पुण्य के कृत्य नहीं हो पाते और लोक में निन्दा होती है। अतः अधिक भोजन नहीं करना चाहिये।

बहुत कम भोजन करने से भी योग की साधना नहीं होती। जठराग्नि को अन्न की आहुति नहीं मिलती तो वह शरीर को भस्म करने लगती है। सब प्राणी अन्न से हैं। अन्न से ही शरीर में बल का संचार होता है। शरीर को यथोचित भोजन मिलने से ही वह चलता है।

शरीर-विज्ञान के अनुसार पेट के दो भाग अन्न से और तीसरा भाग जल से भरना चाहिये, चौथा भाग वायु सञ्चरण के लिये रिक्त रखना चाहिये। प्रत्येक दशा में अधिक खाने से कम खाना लाभदायक है।

इसी प्रकार विश्राम की बात है, कुम्भकर्ण की भांति अधिक सोनेवाला तामसी स्वभाव का बन जाता है, उसके लिये संसार में सुख और उन्नति के द्वार बन्द रहते हैं।

लक्ष्मण ने नींद को जीत लिया था, अर्जुन गुडाकेश थे, उन्हें नींद पर पूरा-पूरा संयम था, परन्तु यह उनकी योग-साधना की विशेष सिद्धि थी। साधारण मनुष्य के लिये न बहुत सोना लाभकारी है और न बहुत जागना। स्वास्थ्य के लिये विश्राम नितान्त आवश्यक है। बहुत सोने से विश्राम नहीं मिलता, परन्तु नींद न भरे तो भी तन-मन स्वस्थ नहीं रहते। अतः आवश्यकता के अनुसार योग-निद्रा अर्थात् गहरी नींद में, समय निश्चित करके सोने का अभ्यास करना चाहिये।

जागने के लिये भी यही नियम है, कर्तव्य-पालन के समय आलस्य को छोड़कर जाग्रत और सावधान रहने का अभ्यास बनाना चाहिये।

गीता का योग जीवन को नियम में लाने से पूरा होता है। सारे जीवन में समय का ठीक-ठीक विभाजन हो, समय पर भोजन हो, नियमित और अल्प हो, समय पर सोना-जागना हो, तो योग की साधना स्वयं हो जाती है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

युक्ताहारविहारस्य, युक्तचेष्टस्य, कर्मसु,
युक्तस्वप्नावबोधस्य, योगः, भवति, दुःखहा ।

युक्ताहारविहारस्य=नियम-संयम से आहार-विहार करनेवालेका, कर्मसु= कर्मों में, युक्तचेष्टस्य=यथायोग्य चेष्टा करनेवाले का, (तथा) युक्तस्वप्नावबोधस्य= नियत परिमाण में सोने-जागनेवाले का, दुःखहा=दुःखहारी, योगः=योग, भवति=होता है ।

जब युक्त सोना-जागना आहार और विहार हो ।
हो दुःखहारी योग जब परिमित सभी व्यवहार हो ॥

अर्थ—नियम-संयम से आहार-विहार करनेवाले का, कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करनेवाले का तथा नियत परिमाण में सोने जागनेवाले का दुःखहारी योग होता है ।

व्याख्या—आहार-विहार और कर्मों में विषमता न रहे तो जीवन में समता भर जाती है । जीवन में जितनी समता आती है उतनी ही पवित्रता और एकाग्रता बढ़ती है । आहार-विहार नपा-तुला हो, कर्मों में संतुलन रहे, सोना-जागना- यथा-योग्य उचित परिमाण में हो तो योग की सिद्धि स्वयं हो जाती है । समता में सुख है और विषमता में दुःख ।

जीवन में दुःखों का मुँह न देखना पड़े और मन में सदा पवित्रता बनी रहे, इसका एक ही निश्चित साधन है—

'आहार, विहार और कर्मों में नियम संयम रखना ।'

आहार में युक्त होने का अर्थ है—

१—जितना आवश्यक और उपयोगी है उतना खाना-पीना ।

२—निश्चित समय पर खाना ।

३—सात्त्विक आहार करना ।

विहार में भी युक्त होना चाहिये। चलने-फिरने, आमोद-प्रमोद आदि को विहार कहते हैं। जीवन के लिये विहार की जितनी आवश्यकता है उतना उसे अवश्य मिलना चाहिये। मंगल-मोद, मनोरञ्जन न हों तो जीवन में उत्साह, स्फूर्ति तथा कर्म-कुशलता नहीं रहती। आमोद-प्रमोद और मनोरञ्जन में ही समय बिता दिया जाय, तो भी तेज और शक्ति नष्ट हो जाती है। अतः जो समय जिस काम के करने का हो, उसी समय नियम-संयम से उसे पूरा करना चाहिये—युक्त होने का यही अभिप्राय है।

युक्त-पुरुष, ईश्वरीय और प्राकृतिक नियमों का उल्लङ्घन नहीं करता। उसके सब कर्म और चेष्टायें स्वधर्म, स्वास्थ्य और शास्त्र के अनुकूल होते हैं। युक्त अपनी प्रत्येक इन्द्रिय पर संयम का पहरा बैठा देता है और निश्चित समय पर निश्चित कर्म करके नियम से देखता है कि कोई कर्म व्यर्थ तो नहीं हुआ? खाना-पीना, चलना-फिरना, सांसारिक-भोग भोगना, सोना-जागना और प्रत्येक व्यवहार उसी समय पूर्ण और सुखकारी होता है जब वह परिमित हो, यथा-समय हो और यथा-योग्य हो।

प्रत्येक मनुष्य में गुण हैं, अमृत है, दैवी चेतना या कुण्डलिनी शक्ति है जो प्रायः सुप्त रहती है। जब सब कर्म और व्यवहार सधे हुए—नियम संयम पूर्वक नपे-तुले और सात्विक होते हैं तब दिव्य-चेतना जागती और अपना कार्य करती है। सुप्त चेतना को जगाना ही योग है।

जीवन में नियम-संयम रहने से चित्त संयत हो जाता है, उसे इधर-उधर भटकने का समय नहीं मिलता, सात्त्विक कर्म करने का अभ्यास सिद्ध हो जाता है; चिन्ता, शोक, भय, राग, द्वेष और कामना-जनित दुःख उसके सामने नहीं आते। जो प्राकृतिक नियमों की भांति जीवन के नियमों को सत्य तथा सुन्दर बना लेता है, उस नियमित पुरुष को युक्त कहते हैं।

नियमित संयमित और योग-युक्त पुरुष की परिभाषा इस प्रकार है—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

यदा, विनियतम्, चित्तम्, आत्मनि, एव, अवतिष्ठते,
निःस्पृहः, सर्वकामेभ्यः, युक्तः, इति, उच्यते, तदा ।

विनियतम्=नियत किया गया, चित्तम्=चित्त, यदा=जब, आत्मनि=आत्मा में, एव=ही, अवतिष्ठते=ठहरता है (और), सर्वकामेभ्यः=सब कामनाओं से, निःस्पृहः=स्पृहा-रहित हो जाता है, तदा=तब, इति=ऐसा, उच्यते=कहा जाता है कि, युक्तः=युक्त है ।

संयत हुआ चित आत्म ही में नित्य रम रहता जभी ।
रहती न कोई कामना नर युक्त कहलाता तभी ॥

अर्थ—नियत किया गया चित्त जब आत्मा में ही ठहरता है और सब कामनाओं से स्पृहा-रहित हो जाता है, तब ऐसा कहा जाता है कि 'युक्त' है ।

व्याख्या—मन, बुद्धि और इन्द्रियों की क्रियाओं पर नियन्त्रण करने के लिये नियम से कर्म करना चाहिये । कर्म जितना नियम से होता है उतना ही चित्त आत्मा में ठहरता है अथवा चित्त अच्छी तरह से आत्मा में उस समय ठहरता है, जब सम्पूर्ण चेष्टायें और कर्म, नियम में बँध जाते हैं, अनियमितता को कहीं स्थान नहीं मिलता और तनिक भी विषमता आते ही संयम उसे बाहर निकाल फेंकता है ।

प्रातःकाल से सायंकाल तक और सायंकाल से प्रातःकाल तक होनेवाले कर्मों में आलस्य, अनैतिकता और विकार न आयें तो चित्त को आत्मा या परमात्मा में ठहरा हुआ समझना चाहिये ।

आत्मा में स्थित होने पर कोई इच्छा नहीं रहती । जहां कामनायें उठती हैं, वहीं मनुष्य स्वधर्म का पथ भूलता है और आत्मा से बिछुड़ जाता है । अतः योग-युक्त होने के लिये—

१—चित्त को नियम में लाकर आत्मा में लगाना चाहिये ।

२—कामनाओं को छोड़कर स्वधर्म का तत्परता के साथ आचरण करना चाहिये।

आत्मा या परमात्मा उसी कर्मशील को मिलता है, जो समय पर सावधानी से यथोचित कर्म करता है, जिसके जीवन के खाते में सारा हिसाब ठीक-ठीक होता है, एक-एक क्षण का लेखा-जोखा सही होता है, कहीं भूल-चूक नहीं होती तथा दो और दो चार की भांति जिसके कर्म होते हैं।

कामना करनेवाला परमात्मा का साथ पाकर भी गिर सकता है। प्रेम और मित्रता वहीं रहती है, जहां अपना स्वार्थ नहीं होता। अधिकारियों का मित्र जब अपने स्वार्थों को पूरा करने की इच्छा से अधिकारियों पर प्रभाव डालता है तो एक-दो बार किसी प्रकार कामना-पूर्ति हो सकती है, परन्तु तीसरी बार मित्रता नहीं रहती। यही नियम प्रकृति और परमेश्वर का है। आत्मा परमात्मा और प्रकृति को प्रसन्न कर लेनेवाला भी यदि कामनाओं के फेर में पड़ता है तो उसकी विशेषता धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है।

उन्नत और निर्विकार जीवन की नींव निष्कामता है। सकामी सदा असन्तुष्ट अशान्त और चिन्तित रहता है। आत्म-युक्त वह है जो कामना रहित है अथवा जिसकी उदार और उच्च कामनाएँ आत्मा के योग से पूर्ण होती हैं।

अतः 'युक्त' वह कहा जाता है जो अपने नियमित और पवित्र जीवन को आत्मा में ठहराता है और सब प्रकार सुखी, सन्तुष्ट तथा समर्थ रहकर किसी कामना के फेर में नहीं पड़ता।

मन सदा सचेतन है परन्तु उसकी चेतना संयम से ही जागृत होती है, जागृत मन भी थक जाता है अतः उसे विश्राम के लिये आत्मा में टिकाना चाहिये। आत्मा में अनन्त शक्ति का स्रोत है, मन जब आत्मा में टिकता है तो उसमें दिव्य शक्ति भर जाती है।

सांसारिक झंझावात, युक्त को कर्तव्य-मार्ग से विचलित नहीं कर पाते—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

यथा, दीपः, निवातस्थः, न, इङ्गते, सा, उपमा, स्मृता, योगिनः, यतचित्तस्य, युञ्जतः, योगम्, आत्मनः ।

यथा=जिस प्रकार, निवातस्थः=वायुरहित स्थान में, दीपः=दीपक, न=नहीं, इङ्गते=चलायमान होता, सा=वैसी ही, उपमा=उपमा, आत्मनः=आत्मा के, योगम्=योग में, युञ्जतः=लगे हुए, यतचित्तस्य=संयत चित्त, योगिनः=योगी की, स्मृता=कही गयी है ।

अविचल रहे बिन वायु, दीपक-ज्योति जैसे नित्य ही ।
है चित्त-संयत योग-साधक युक्त की उपमा वही ॥

अर्थ—जिस प्रकार वायु-रहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा, आत्मा के योग में लगे हुए संयत-चित्त योगी की कही गयी है ।

व्याख्या—दीपक की ज्योति की भांति योगी का चित्त ज्योतिर्मय होना चाहिये । जिसका चित्त बुझा हुआ है; जो निराश, दुःखी अथवा निर्जीव-सा रहकर जीता है, वह योग-युक्त नहीं हो सकता ।

जीवन वही है, जो तेजोमय और गौरवशाली है । दीपक जैसे अंधेरे को मिटाता है, उसी प्रकार कर्मयोगी का जीवन संसार के अज्ञान और अंधकार को दूर करता है ।

संसार मायामय है, यहाँ बड़े-बड़े महात्माओं और ज्ञानियों का आसन हिल जाता है । संसार की वायु उठती हुई ज्योतियों को हिलाकर बुझा देती है । युक्त वह है जिसका चित्त संसार की वायु में दीपक की ज्योति की भांति निरन्तर ऊपर को उठता रहे ; कभी बुझना मन्द होना, इधर-उधर विचलित होना न जाने; अचल और प्रकाशमान होता हुआ सतत प्रकाश फैलाता रहे ।

जहाँ वायु न हो वहाँ भी दीपक बुझ जाता है और जहाँ वायु का प्रवाह तीव्र होता है वहाँ भी दीपक बुझ जाता है। युक्त पुरुष संसार में रहता है, संसार की वायु से बुझता नहीं, बल्कि जीवन-प्राप्त करता है।

युक्त का चित्त दीपक की चैतन्य-ज्योति के समान अचल और प्रकाशमान कहा गया है, किसी जड़ पर्वत, भवन आदि के समान नहीं। निर्जीव, अचेतन और जड़ तो स्वयं ही अचल पड़े रहते हैं, उनमें कोई प्रकाश नहीं होता। युक्त में जीवन और प्रकाश होता है। जैसे वायु लगने पर दीप-शिखा हिलती है, इसी प्रकार सांसारिक वायु लगने पर चित्त चञ्चल हो जाता है। युक्त की विशेषता यही है कि वह संसार में रहकर भी संसार की वायु से बुझता नहीं और विचलित भी नहीं होता।

अंधकार माया है, पाप है, गिरानेवाला है; प्रकाश आत्मा है पुण्य है, उन्नत करनेवाला है। युक्त सदा दीप-ज्योति की भांति प्रकाशित रहता है। उसकी ज्योति, विघ्न-बाधाओं से नहीं बुझती, पुण्य स्नेह के अभाव में क्षीण नहीं होती और कामनाओं की वायु से विचलित नहीं होती।

युक्त पुरुष अपनी ज्योति को दिव्य ज्योति में मिलाता है और ज्ञान तथा प्रकाश के लिये ज्योतिर्मय आत्मा के साथ अखण्ड सम्बन्ध जोड़े रखता है, किसी भी अवस्था में विचलित नहीं होता।

युक्त होने का प्रत्यक्ष लाभ है। युक्त प्रत्येक कर्म में अपनी एकाग्रता से सफलता पाता है, जैसे दूध से भरा कटोरा लेकर चलनेवाला सावधान रहता है और जैसे तूफान में घिर जाने पर नाविक प्रयत्नशील रहता है, उसी प्रकार 'युक्त-पुरुष' जागरूक रहता है। प्रत्येक परिस्थिति में जो युक्त है वही योगी है। युक्त में समस्त दैवीगुण रहते हैं। भागवत-शक्तियों से संयुक्त रहनेवाला युक्त-पुरुष सदा योग-साधन करता है और सन्तुष्ट रहकर परम-सुख का अनुभव करता है। योग अक्षय सुखदाता है। योग की महिमा अनन्त है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

यत्र, उपरमते, चित्तम्, निरुद्धम्, योगसेवया, यत्र, च, एव, आत्मना, आत्मानम्, पश्यन्, आत्मनि, तुष्यति ।

यत्र=जहाँ, योगसेवया=योग के अभ्यास से, निरुद्धम्=निरुद्ध हुआ, चित्तम्=चित्त, उपरमते=उपराम हो जाता है, च=और, यत्र=जिस अवस्था में, आत्मना=आत्मा से, आत्मानम्=आत्मा को, पश्यन्=देखता हुआ, आत्मनि=आत्मा में, एव=ही, तुष्यति=सन्तुष्ट होता है ।

रमता जहाँ चित योग-सेवन से निरुद्ध सदैव है ।
जब देख अपने आपको सन्तुष्ट आत्मा में रहे ॥

अर्थ—जहाँ योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त उपराम हो जाता है और जिस अवस्था में आत्मा से आत्मा को देखता हुआ आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है ।

व्याख्या—योग-सेवन से निरुद्ध हुआ चित्त उपराम—शांत हो जाता है ।

योग-साधन का सरल और संक्षिप्त वर्णन गत श्लोकों में इस प्रकार किया गया है—

१—एकान्त और अकेले स्थान पर साधक को बैठना चाहिये ।

२—वासना और संग्रह की इच्छा छोड़कर चित्त को आत्मा में लगाना चाहिये ।

३—पवित्र स्थान पर स्थिर-आसन से बैठना चाहिये ।

४—कुश, मृगछाला और पवित्र वस्त्र बिछाकर उस पर आसन लगाना चाहिये ।

५—चित्त और इन्द्रियों के सम्पूर्ण व्यापारों को संयमित करके मन को एकाग्र करना चाहिये ।

६—सिर, गर्दन और शरीर को एक सीध में रखकर दृढ़ता से बैठना चाहिये।

७—इधर-उधर न देखकर नासाग्र पर दृष्टि टिकानी चाहिये।

८—शान्त और निर्भय होकर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए साधना में बैठना चाहिये।

९—मन का संयम करके, आत्मा में चित्त लगाकर परमात्मा के परायण होकर बैठना चाहिये।

निर्विघ्न और नियम-पूर्वक सुगमता से साधना करते रहने के लिये निम्नलिखित पथ्य हैं—

१—बहुत अधिक अथवा बहुत कम नहीं खाना चाहिये।

२—न अधिक सोना और न अधिक जागना चाहिये।

३—आहार-विहार आदि सब कर्म और चेष्टायें संयमित तथा परिमित होनी चाहियें।

४—संयमित-नियमित रहकर यथा-योग्य उचित व्यवहार तथा सधे हुए जीवन से निष्काम-कर्म की साधना करनी चाहिये।

सब ओर से हटकर एक में लगा हुआ चित्त शान्ति और प्रसन्नता पाता है। नदियाँ कल्लोल करती हुई समुद्र में मिलकर जैसे शान्त हो जाती हैं; इसी प्रकार योग का अभ्यास करनेवाला अपने आपको आत्मा अथवा परमात्मा में लय कर देता है। तल्लीनता, निरन्तर अभ्यास से प्राप्त होती है। अभ्यास की अवस्था में भी यदि चञ्चलता नहीं मिटती तो शान्ति का आलिंगन नहीं मिलता।

चील एक माँस के टुकड़े को लेकर उड़ती है, उसके पीछे बहुत सी चीलें दौड़ती हैं और कहीं उसे शान्ति से नहीं बैठने देतीं। जब वह उस टुकड़े को छोड़ देती है तो दूसरी चीलें उसका पीछा छोड़कर टुकड़े की ओर झपटती हैं। यही दशा चित्त की है. चित्त जब किसी कामना के पीछे दौड़ता है तो राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि उसे घेरते हैं। कामना को छोड़ते ही विषय-विकार पीछा छोड़ देते हैं।

ध्यान की अवस्था में अभ्यास द्वारा चित्त-वृत्तियों को सब ओर से हटाकर, एक ओर लगाकर, परम शान्ति में टिकाना चाहिये। अग्नि को जब ईंधन नहीं मिलता तो वह स्वयं शान्त हो जाती है। इसी प्रकार चित्त-वृत्तियों को जब आहार नहीं मिलता तो उनकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है।

चित्त को शान्त और एकाग्र कर लेने पर अन्तर की आँख खुलती है, उस आँख से आत्मा का दर्शन होता है। पवित्र और अचञ्चल-बुद्धि से सर्वत्र आत्म-दर्शन सुलभ हो जाता है। योग का लक्ष्य आत्मा अथवा परमात्मा से मिलाना है। यह मेल अथवा योग ही जीवन का ध्येय है। जब पवित्र अन्तःकरण द्वारा आत्मा का दर्शन होता है तो मनुष्य आत्मा में ऐसा सन्तुष्ट हो जाता है कि उसे किसी प्रकार का अभाव प्रतीत नहीं होता—आनन्द का अखण्ड स्रोत उसमें निरन्तर उमड़ता है; इस अवस्था में कर्म-समाधि सिद्ध होती है, तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति होती है और ईश्वरीय स्पर्श का अनुभव होता है।

चित्त की क्षिप्त-विक्षिप्त और मूढ़ वृत्तियों से जो कुछ किया जाता है, वह सब नश्वर, निस्सार और दुःखदायी होता है। चित्त-वृत्तियों का निरोध करके जो कुछ किया जाता है, उससे आत्मा का अनुभव होता है और केवल उसी के द्वारा आनन्द, शांति, शक्ति, तृप्ति और मुक्ति सबकी सहज प्राप्ति होती है।

अपने आप अपने भीतर झांको, साहस में न्यूनता न आने दो, आत्मनिरीक्षण करते-करते विकारों को धो डालो, सुनने, देखने, बोलने और करने में आत्मा हो; इतना करलो कि हमारा दर्शन परमात्मा का दर्शन-सूचक बन जाय, हमारी वाणी ईश्वरीय वाणी बन जाय, आचरण धर्म हो जाय, हम अपने अन्दर बैठे आनन्द ब्रह्म को व्यवहार में बाहर प्रकट कर सकें, आत्मा को जानकर उसके निर्मल निर्विकार ज्योतिर्मय भाव में रम जायें और उसके साथ सदा समावस्था में रहें। यही योग की सबसे उच्च विश्रांत-स्थिति है—यहां चित्त का निरोध करके ही पहुंचना सम्भव है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

सुखम्, आत्यन्तिकम्, यत्, तत्, बुद्धिग्राह्यम्, अतीन्द्रियम्, वेत्ति, यत्र, न, च, एव, अयम्, स्थितः, चलति, तत्त्वतः ।

यत्र=जिस अवस्था में, अतीन्द्रियम्=इन्द्रियों से परे, बुद्धिग्राह्यम्=बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाने योग्य, यत्=जो, आत्यन्तिकम्=अनन्त, सुखम्=सुख है, तत्=उसका, वेत्ति=अनुभव करता है, च=और (जहां), स्थितः=स्थित हुआ, अयम्=यह योगी, तत्त्वतः=तत्त्व से, एव=ही, न=नहीं, चलति=विचलित होता ।

इन्द्रिय-अगोचर बुद्धि-गम्य अनन्त सुख अनुभव करे ।
जिसमें रमा योगी न डिगता तत्त्व से तिल भर परे ॥

अर्थ—जिस अवस्था में इन्द्रियों से परे बुद्धि द्वारा ग्रहण किया जाने योग्य जो अनन्त सुख है उसका अनुभव करता है और जहाँ स्थित हुआ यह योगी तत्त्व से ही विचलित नहीं होता ।

व्याख्या—योग के अभ्यास से आत्मा का साक्षात्कार होता है और वह अन्तिम तथा अनन्त-सुख प्राप्त होता है जिससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं ।

यह सुख इन्द्रिय-सुखों से परे का है, विषय-रस के भूखे, अमृत-रस का आनन्द नहीं ले सकते । सुप्रसिद्ध सन्त तुकाराम कहा करते थे—

"अनुभव से कहता हूँ मैंने उसे कर लिया है बस में ।
जो चाहे सो पिये प्रेम का अमृत भरा है इस रस में ॥"

आत्मानन्द अमृत है, इन्द्रिय-सुख विष है । इन्द्रियों के सुखों को भोगनेवाले अनजाने में हल्का-हल्का विष खाते हैं और रोग, बुढ़ापे एवं मृत्यु को बुलाते हैं । आत्मा के सुख को पानेवाले अमृत पीते हैं, स्वास्थ्य उनका सहचर होता है, बुढ़ापा उनसे भयभीत रहता है और

मृत्यु उनसे हार जाती है; वे दीर्घायु, स्वस्थ, सम्पन्न और सब प्रकार सुखी रहते हैं।

इस लोक में आत्म-सुख से श्रेष्ठ और कोई सुख नहीं है। नाशवान् और मोह में डालनेवाले सुखों से कभी शान्ति नहीं मिलती।

आत्मानन्द बुद्धि-ग्राह्य है। कर्म, ज्ञान और भक्ति से पवित्र बुद्धि, आत्मा के अथाह सुख तक पहुँच सकती है। एक बार जिसे इस सुख का प्रसाद मिल जाता है, वह फिर उसे नहीं छोड़ता।

जीविका के क्लेश, सुर-सुन्दरियों के कटाक्ष, काम के वेग, क्रोध के आक्रमण और माया के खेल उसी समय तक विचलित करते हैं जब तक आत्मानन्द का प्रसाद नहीं मिलता।

आत्मानन्द के राज-मार्ग पर चलने के लिये इन्द्रियों को कुप्रवृत्तियों से निवृत्त करना पड़ता है, अपनी कमजोरियों को पहचान कर उन्हें साहस से, सत्य के सहारे निकालना पड़ता है। धैर्य और शान्ति से भगवान् को और उसकी कृपा को अपने अन्दर अवतरित होने दीजिये—तभी वह अनुभव होगा जिसमें एक बार स्थित होकर दूसरी ओर जाने की रुचि ही नहीं रहेगी।

परिस्थिति, संग अथवा आसक्तिवश होकर विषय-सुख में फँस जाने से बुद्धि दब जाती है। आत्म-सुख की अवस्था में बुद्धि उभरती है। विषय-सुख में भूले हुए भोग-विलास में आसक्त जो नर-नारी, धर्म योग आदि की चर्चा से दूर रहते हैं, उन्हें दुःखों में घिर जाने पर उनसे छूटने के उपाय नहीं सूझते। सञ्चित कर्म-भोग समाप्त हो जाने पर उन्हें लगता है कि जीवन व्यर्थ ही गया। संसार में अनीश्वरवाद, भोग-विलास और काम-भोगों की जितनी वृद्धि होती है उतने ही अधिक दुःख फैलते हैं।

गीता का योग दुःखों से छुड़ाकर अनन्त-सुख की ओर लाता है, और अपने प्रसाद से इन्द्रियों की पवित्रता तथा शक्ति बढ़ाता है।

योग में स्थित होना ही उत्तम लाभ प्राप्त करना है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

यम्, लब्ध्वा, च, अपरम्, लाभम्, मन्यते, न, अधिकम्, ततः,
यस्मिन्, स्थितः, न, दुःखेन, गुरुणा, अपि, विचाल्यते ।

यम्=जिसको, लब्ध्वा=पाकर, ततः=उससे, अधिकम्=अधिक, अपरम्=दूसरा, लाभम्=लाभ, न=नहीं, मन्यते=मानता, च=और, यस्मिन्=जिसमें, स्थितः=स्थित हुआ (योगी), गुरुणा=भारी, दुःखेन=दुःख से, अपि=भी, न=नहीं, विचाल्यते=विचलित होता ।

पाकर जिसे जग में न उत्तम लाभ दिखता है कहीं ।
जिसमें जमे जन को कठिन दुख भी डिगा पाता नहीं ॥

अर्थ—जिसको पाकर उससे अधिक दूसरा लाभ नहीं मानता और जिसमें स्थित हुआ योगी भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता ।

व्याख्या—आत्म-योग हो जाने पर जो अलौकिक आनन्द मिलता है, उसका सुख वाणी से नहीं कहा जा सकता । ऐसा अनुभव होता है कि इस आनन्द से परे और कोई आनन्द नहीं है ।

एक बार महर्षि नारद ने श्रीसनत्कुमार से प्रश्न किया था कि परम सुख क्या है ?

श्री सनत्कुमार ने कहा—

"यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् ।" —(छान्दोग्य०)

भूमा अर्थात् ब्रह्म-सुख ही परम-सुख है और सब सुख इस सुख से तुच्छ हैं ।

अल्प और अपूर्ण सुखों में तृष्णा बनी रहती है, भूमा—पूर्ण सुख प्राप्त होने पर कुछ प्राप्त करना नहीं रह जाता । आत्म-सुख प्राप्त करने की जिज्ञासा करनेवाले सत्य का व्यापार करते हैं ।

आत्म-सुख के जिज्ञासु एक सन्त की कितनी सुन्दर वाणी है—

साधु हम सत्य नाम के व्यापारी।
कोइ कोइ लादे कांसा पीतल कोइ कोइ लौंग सुपारी।
हम तो लाद्यों नाम धनी को निरभय गैल हमारी॥
पूँजी न टूटे नफा चौगुना वनज किया हम भारी।

आत्म-सुख की प्राप्ति से बड़ा और कोई लाभ नहीं है। 'यस्मात्परं न परमस्ति किञ्चित्'—वास्तव में लाभ वही है जिससे अधिक श्रेष्ठ और कुछ न हो, जिससे जीवन कृतकृत्य हो जाये और जिसे प्राप्त करके कुछ प्राप्त करना न रह जाये।

आत्म-सुख का लाभ हो जाने पर विषय-वासना-जनित सुख फीके पड़ जाते हैं। अमृत-फल को पाकर विष-फल कौन खायेगा?

भय, प्रलोभन और किसी भी प्रकार का भीषण दुःख आत्मानन्द में स्थित साधक को विचलित करने में समर्थ नहीं होता। आधि-व्याधि, असमर्थता, संशय, प्रमाद, आलस्य, तृष्णा, भ्रांति, मन की शिथिलता, अविश्वास आदि विघ्नों के सिर पर पैर रखकर जो आत्मानन्द तक पहुँच जाता है, वह फिर किसी प्रकार भी उस परम-सुख को नहीं छोड़ता।

प्रह्लाद ने कष्टों को कष्ट नहीं माना। न मानने से भारी से भारी दुःख हल्के पड़ गये और उसे परम-तत्त्व से नहीं हटा सके।

ध्रुव ने दुःखों पर बैठकर तप किया, परन्तु परम-तत्त्व को नहीं छोड़ा। मीरा की कथायें प्रसिद्ध हैं—परम-तत्त्व के साक्षात्कार से उसे सर्प भी शालिग्राम प्रतीत होते थे और विष भी उसके लिये अमृत था। योग की ऐसी ही विचित्र महिमा है। योग की पूर्णता नहीं है जहां कोई दुःख न रहे।

शान्ति, प्रकाश, आनन्द और शक्ति के प्रकाश में चलनेवाले को भयङ्कर दुःख के आक्रमण भी विचलित नहीं कर पाते। कभी-कभी तो दुःख अन्तर्ज्योति को सुरक्षित रखने में सहायक होते हैं और प्रतिपल चिमनी या ग्लोब की भांति ऊपर से ढक कर अन्दर की ज्योति को अधिक प्रकाशमान करते हैं।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

तम्, विद्यात्, दुःखसंयोगवियोगम्, योगसंज्ञितम्,
सः, निश्चयेन, योक्तव्यः, योगः, अनिर्विण्णचेतसा,

दुःखसंयोगवियोगम्=दुःख के संयोग से वियोग का, योगसंज्ञितम्=नाम योग है, तम्=उसको, विद्यात्=जानना चाहिये, सः=वह, योगः=योग, अनिर्विण्णचेतसा=उत्साह और धैर्यपूर्ण अथक चित्त से, निश्चयेन=निश्चयपूर्वक, योक्तव्यः=करने योग्य है ।

कहते उसे ही योग जिसमें सर्वदुःख-वियोग है ।
दृढ़-चित्त होकर साधने के योग्य ही यह योग है ॥

अर्थ——दुःख के संयोग से वियोग का नाम 'योग' है, उसको जानना चाहिये, वह योग उत्साह और धैर्यपूर्ण अथक-चित्त से निश्चय-पूर्वक करने योग्य है ;

व्याख्या—सब दुःखों से छुड़ा देना योग का ध्येय है । संसार में नित्य नये-नये दुःखों से संयोग होता रहता है । 'योग' उसका नाम है जिसमें दुःखों से वियोग हो जाय, अनन्त-सुख से जीवन भरा रहे और त्रय-तापों से बचा रहे ।

ऊपर के तीन श्लोकों में योग का वर्णन है ।

योग उसे कहते हैं—

१—जिसके सेवन द्वारा चित्त उपराम हो जाता है ।

२—जिसके द्वारा आत्मा से आत्मा को देखता हुआ साधक, आत्मा में सन्तुष्ट हो जाता है ।

३—जिसमें इन्द्रियों से परे शुद्ध-बुद्धि द्वारा ग्रहण किये जानेवाले सुख का अनुभव होता है ।

४—जिसमें स्थित हुआ योगी, तत्त्व से विचलित नहीं होता ।

५—जिसे पाकर उससे अधिक श्रेष्ठ दूसरा लाभ नहीं दीखता।

६—घोर दुःख भी जिसमें जमे हुए साधक को नहीं डिगा पाते।

गीता का योग मानव-मात्र की मुक्ति-साधना है। यह 'योग' दुःखमय संसार को सुखी बनाने के लिये परमेश्वर का प्रसाद है। इस योग का उद्देश्य है अनन्त आनन्द की प्रतिष्ठा करना। मनुष्य को मनुष्य में परमात्मा का दर्शन करा देने के लिये यह योग है।

योग में कहीं दुःख नहीं है। योगी तप और यज्ञ-कर्मों से विष को अमृत, शत्रु को मित्र, अग्नि को शीतल और दुःख को सुख बना लेता है।

केवल योग की परिभाषा और महिमा जान लेने से 'योग' नहीं होता। 'योग' सुखी-जीवन का आधार है और सफलता का साधन है। प्रत्येक नर-नारी को दृढ़-चित्त होकर योग की साधना करनी चाहिये।

जो कर्म की कठिनता को देखकर धीरज छोड़ देता है, उकता जाता है, शिथिल अथवा उत्साह-हीन हो जाता है, वह योग नहीं कर सकता। अनिर्विण्ण चित्त से योग की साधना करनी चाहिये। साहस और उत्साह को साथ रखकर हृदय से अथक परिश्रम करनेवाला योग में सफल होता है। विषाद-रहित होकर दृढ़-निश्चय से योग-साधना सरल हो जाती है।

एक पौराणिक कथा है—समुद्र ने एक टिट्टिभ पक्षी के अण्डे बहा दिये। उस पक्षी ने समुद्र को सुखाने का प्रण किया, जिससे वह फिर ऐसा अत्याचार न कर सके।

वह पक्षी एक-एक बूंद जल समुद्र से निकाल कर बाहर फैंकने लगा। समुद्र में अगाध जल था, परन्तु अपने कर्म की कठिनाई देख कर पक्षी निराश नहीं हुआ। उसने अपने कर्म से मुंह नहीं मोड़ा, थककर या भयभीत होकर कर्म नहीं छोड़ा। पक्षी ने जल को सुखा देना ही अपने जीवन का ध्येय बना लिया और उत्साह तथा साहस से अपने कर्त्तव्य में लगा रहा।

देखनेवाले उस पर हँसते थे। साथियों ने उसे समझाया कि एक-एक बूंद निकालने से कहीं समुद्र खाली होता है? पर टिट्टिभ न माना। दैवयोग से महर्षि नारद उस ओर आ निकले। वे हँसे। टिट्टिभ ने कहा—'एक जन्म की तो बात क्या? अनेकों जन्म लेकर भी मैं समुद्र को सुखाकर छोड़ूंगा।'

नारद जी उस पक्षी की अनिर्विण्णता देखकर प्रसन्न हुए और गरुड़ से सब वृतान्त कह सुनाया। गरुड़ ने इस पक्षी की सहायता का संकल्प किया। समुद्र हार गया और उसने पक्षी के अण्डे लौटा दिये।

संसार के दुःख रूप जल को सुखाने में ऐसा ही दृढ़-प्रतिज्ञ, समर्थ होता है। उत्साह पूर्वक दृढ़-चित्त से कर्म करनेवाले को दैवी प्रकाश और सहायता मिलती है।

सम्पूर्ण दुःखों को दूर करनेवाले 'योग' की साधना धैर्य, निरन्तर अभ्यास, उत्साह और श्रद्धा से होती है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ (योगदर्शन १।१४)

वह अभ्यास बहुत समय तक लगातार और श्रद्धा सहित करने से दृढ़ हो जाता है।

विरोधी शक्तियों के आक्रमण से कभी-कभी साधक निराश, उत्साह-हीन, शिथिल अथवा दुःखी हो जाता है पर ये सब अवस्थाएँ अस्थायी होती हैं। दृढ़ आधार पर टिके रहनेवाले को गिरने का भय नहीं होना चाहिये। परिस्थितियों से भयभीत होने में सुख नहीं है। सुख है—उनसे जूझने में और उन्हें, शान्त हृदय से, बुद्धि, विचार और कर्म-कुशलता द्वारा अनुकूल बना लेने में। परिस्थितियों के सामने घुटने टेक देनेवाला गिर जाता है परन्तु दृढ़ता पूर्वक डट जानेवाला आगे निकल जाता है।

धैर्य, उत्साह और चित्त की दृढ़ता प्राप्त करने के लिये गीता निम्नलिखित साधनों का वर्णन करती है—

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

संकल्पप्रभवान्, कामान्, त्यक्त्वा, सर्वान्, अशेषतः, मनसा, एव, इन्द्रियग्रामम्, विनियम्य, समन्ततः,

संकल्पप्रभवान्=संकल्प से उत्पन्न, सर्वान=सम्पूर्ण, कामान्=कामनाओं को, अशेषतः=सब प्रकार से, त्यक्त्वा=छोड़कर, मनसा=मन से, एव=ही, इन्द्रियग्रामम्=इन्द्रियों के समूह को, समन्ततः=सब ओरसे, विनियम्य=रोककर।

संकल्प से उत्पन्न सारी कामनायें छोड़ के।
मन से सदा सब ओर से ही इन्द्रियों को मोड़ के ॥

अर्थ—संकल्प से उत्पन्न सम्पूर्ण कामनाओं को सब प्रकार से छोड़कर मन से ही इन्द्रियों के समूह को सब ओर से रोककर।

व्याख्या—अभ्यास के बाहरी साधनों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अन्तरङ्ग साधन हैं। योगदर्शन में यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पांच योग के बाहरी अंग कहे हैं। इन अंगों की पूर्णता के लिये धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन है।

ध्यान के लिये संकल्प से उत्पन्न हुई कामनाओं का त्याग सर्वप्रथम साधन है। कामनायें संकल्प से उत्पन्न होती हैं। इन्द्रियों का स्वभाव है—विषयों की ओर जाना, यही कामना का रूप है। ज्ञानेन्द्रियां मन ही मन विषयों का चिन्तन करती हैं, इस चिन्तन से मन में जो विचार उठते हैं, उन्हींका नाम 'संकल्प' है। मन संकल्प-जनित कामनाओं से घिरा रहता है, उन्हींके साथ उठता-बैठता-दौड़ता है। कामनाओं के साथ खेलनेवाला मन, निश्चल नहीं बैठ सकता। जैसे वायु के वेग से जल में तरङ्गें उठती हैं, उसी प्रकार संकल्पों से मनमें विषयों की तरङ्गें उठती हैं। हिलते हुए जलमें जिस प्रकार परछाईं स्पष्ट नहीं दीखती,

उसी प्रकार कामनाओं से अशान्त अन्तःकरण में आत्मा का दर्शन नहीं होता। चंचलता में ध्यान नहीं जमता, अतः ध्यान के लिये 'सर्वानशेषतः'- कामनाओं का एकदम त्याग करना होता है। कोई भी वासना, आशा, तृष्णा अथवा चिन्ता, ध्यान नहीं लगने देती।

मन के द्वारा इन्द्रियों का भी नियन्त्रण आवश्यक है।

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच ॥

कठ० १।३।३

जीवात्मा को, रथ का स्वामी समझो, शरीर उसका रथ है, बुद्धि सारथि है और मन लगाम है।

इन्द्रियाँ, शरीर-रथ में जुते हुए घोड़ों के समान हैं। इन्द्रिय रूप घोड़े विषय-मार्ग पर चलते हैं। सारथि की विशेषता इसमें है कि वह घोड़ों को इधर-उधर न जाने देकर सीधा ध्येय-स्थान पर रथ को पहुँचा दे। कुशल और सधा हुआ सारथि बागडोर को भली प्रकार अपने हाथ में रखकर अपना कर्तव्य पूरा करता है। इसी प्रकार जो साधक मन को साध लेता है और सधे हुए मन से इन्द्रियों को चलाता है वह योग को प्राप्त कर लेता है।

यौगिक चेतना को तैयार करने के लिये शान्ति, समता, पवित्रता और निर्मलता की सबसे अधिक आवश्यकता है। जब व्यक्तिगत मांग नहीं रहती तभी शान्ति और समता आनी सम्भव है। कामनाओं को छोड़े बिना आध्यात्मिक वातावरण नहीं बनता। आध्यात्मिकता के बिना जीवन में शांति, समता और दृढ़ता नहीं आती।

मन से इन्द्रियों के समूह को रोकनेवाला साधक आध्यात्मिक वातावरण बनाने में सफल होता है। जिन्होंने ध्यान लगाने का अभ्यास किया है उन्हें अनुभव होता है कि मन कभी एक तरफ जाता है कभी दूसरी तरफ, उसे चारों ओर से नियम में लाकर स्थिर बैठने से ध्यान लगता है। ध्यान के लिये धैर्य से धीरे-धीरे प्रयत्न करना चाहिये—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

शनैः, शनैः, उपरमेत्, बुद्ध्या, धृतिगृहीतया, आत्मसंस्थम्, मनः, कृत्वा, न, किंचित्, अपि, चिन्तयेत्.

शनैः-शनैः=धीरे-धीरे. धृतिगृहीतया=धीरज धारण करनेवाली, बुद्ध्या=बुद्धि से. उपरमेत्=शान्त होना चाहिये (और), मनः=मनको. आत्मसंस्थम्=आत्मा में स्थित, कृत्वा=करके. किंचित्=कुछ, अपि=भी, न=नहीं, चिन्तयेत्=चिन्तन करना चाहिये ।

हो शान्त क्रमशः धीर मति से आत्म-सुस्थिर मन करे ।
कोई विषय का फिर न किंचित् चित्त में चिन्तन करे ।।

अर्थ—धीरे-धीरे धीरज धारण करनेवाली बुद्धि से शान्त होना चाहिये और मन को आत्मा में स्थित करके कुछ भी चिन्तन नहीं करना चाहिये ।

व्याख्या—जिस काम में मन लग जाता है उसमें सफलता अवश्य मिलती है । मन के द्वारा मन-ही-मन इन्द्रिय-निग्रह करना योग-सिद्धि का सरल साधन है । ऐसा करने में धैर्य नहीं टूटना चाहिये । शान्ति एकदम नहीं मिल जाती । बारम्बार यत्न करने पर भी शान्ति मिल जाये तो भी जीवन सफल समझना चाहिये ।

अतः धैर्य की सहायता से बुद्धि को साधकर बुद्धि के योग द्वारा मन को इधर-उधर न जाने देकर आत्मा में लगाना चाहिये ।

मन को वश में रखना, उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक उसे किसी में लगाया न जाय । जब मन पूरी तरह परमेश्वर में टिक जाता है तब उसमें दोष नहीं रहते । वह आत्मा या परमात्मा का रूप ही बन जाता है ।

बाहरी वातावरण अथवा विपरीत परिस्थितियाँ मन को आत्मा

में नहीं टिकने देतीं, परन्तु इसमें भय या निराशा की कोई बात नहीं है। हम जैसे हैं और जिन परिस्थितियों में हैं उन्हीं से ऊपर उठना है। यदि सभी परिस्थितियाँ अनुकूल हो जायँ तो साधना या प्रयत्न की आवश्यकता ही नहीं रहती है। अतः मन का संयम इस बात पर निर्भर करता है कि आप पर बाहरी अवस्थाओं की क्या प्रतिक्रिया होती है और आप उनका सामना कैसे करते हैं।

आपका मन चञ्चल है इसके लिये चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। चिन्ता इस बात की होनी चाहिये कि आपका मन आत्मा में टिकने के लिये सदा उत्सुक रहे, क्रियाशील रहे और सचाई से तत्पर रहे।

विषयों का चिन्तन मन बड़ी सरलता से करता है। विषयों में मन को रस मिलता है। मन विषयों की ओर दौड़ने में अभ्यस्त होता है। उसे आत्मा में स्थित करना कठिन कार्य है, धैर्य-पूर्वक अभ्यास द्वारा ही यह साधना सुलभ होती है।

धैर्य को धारण करनेवाली बुद्धि में दृढ़ता होती है, बुद्धि जब अधीर और भयभीत नहीं होती तो कठिन समस्याओं का भी सुलझाव मिल जाता है। धैर्य धर्म की सेना का प्रथम सेनापति है। विषयों के आक्रमण को धैर्य आगे से रोकता है और अक्रोध सबसे पीछे रहकर सद्गुणों की सेना के पैर नहीं उखड़ने देता—

> धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
> धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ —मनु०

धर्म के इन दश लक्षणों में धृति सबसे पहला है और अक्रोध सबसे अन्तिम। संकट के समय में जिसका धैर्य छूट जाता है, उसे संकट दबा लेते हैं। आपत्तियां धैर्य की परीक्षा लेने आती हैं और उसे परख कर चली जाती हैं। धीर-बुद्धि से प्रत्येक अभ्यास और कर्म में पूर्णता मिलती है। साधना के समय मन इधर-उधर भागे तो उसे धैर्य-पूर्वक रोकना चाहिये—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

यतः, यतः, निश्चरति मनः, चञ्चलम्, अस्थिरम्, ततः, ततः, नियम्य, एतत्, आत्मनि, एव, वशम्, नयेत्,

एतत्=यह, चञ्चलम्=चञ्चल, (और), अस्थिरम्=अस्थिर, मनः=मन, यतः-यतः=जहां-जहां से, निश्चरति=बाहर जाता है, ततः-ततः=वहां-वहां से, नियम्य=रोककर, आत्मनि=आत्मा के, एव=ही, वशम्=वश में, नयेत्=करना चाहिये ।

यह मन चपल अस्थिर जहां से भाग कर जाये परे ।
रोके वहाँ से और फिर आधीन आत्मा के करे ॥

अर्थ—यह चञ्चल और अस्थिर मन, जहाँ-जहाँ से बाहर जाता है, वहाँ-वहाँ से रोककर आत्मा के ही वश में करना चाहिये ।

व्याख्या—मन चञ्चल और अस्थिर है । मन अपने स्वाभाविक दोषों के कारण इन्द्रियों के साथ दौड़ता है, इसलिये 'चञ्चल' है और प्रयत्न करने पर भी एकाग्र नहीं होता—अधिक काल तक कहीं स्थिर होकर नहीं बैठता, अतः अस्थिर कहा जाता है ।

कर्म की सफलता मन की एकाग्रता पर निर्भर है । महाकवि ईमरसन का कथन है कि, "यदि जीवन में बुद्धिमानी की कोई बात है तो वह एकाग्रता है और यदि कोई निकृष्ट बात है तो वह है—अपनी शक्तियों को बखेर देना ।"

जिस इन्द्रिय के साथ मन जाता है उसीका संयम करके उसीके द्वारा मन को रोकना चाहिये । आँख रूप की ज्वाला में पतंगे की भांति भस्म होने के लिये गिरती है तो आँख के रास्ते से मन निकल कर भागता है । ऐसी अवस्था में आँख के संयम द्वारा मन को रोकना चाहिये—आँख बन्द करके मन को आत्मा के साथ बाँधना चाहिये

अथवा आंखें खुली रखकर सब रूपों में परमात्मा का दर्शन करना चाहिये। इसीप्रकार जिस इन्द्रिय के साथ मन जाय, उसीकी साधना द्वारा मन को रोक कर उसे आत्मा के आधीन करना चाहिये।

जैसे घोड़ों के विचलित होने पर सारथि तुरन्त बागडोर खींच कर उन्हें इधर-उधर जाने से रोकता है, इसी प्रकार मन को रोकने से वह आत्मा के आधीन हो जाता है।

मन को एक काम में लगा देने का अभ्यास पूर्ण होते ही ध्यान की सिद्धि मिलती है। सफल और असफल मनुष्य में इतना ही अन्तर है, कि एक सावधानी और कुशलता से ध्यान लगाकर कर्म करता है और दूसरा राग-द्वेष, चिन्ता आदि विकारों में उलझा हुआ कर्म का बोझ ढोता है।

यदि मन, अभ्यास द्वारा आत्मा के आधीन न हो तो किसी विशेष नियम अथवा व्रत की दृढ़ धारणा से सफलता मिलती है। व्रत द्वारा जीवन को नियम में बाँधने से मन आत्मा की आधीनता स्वीकार कर लेता है। जिस समय भी वह कहीं भागे, उसे अपनी प्रतिज्ञा अथवा व्रत की याद दिलाकर नियम में लेआना चाहिये।

मन की साधना में महाकवि सूरदास की उक्ति बड़े काम की है—

मेरो मन अन्त कहूँ नहिं जावे।
जैसे उड़ जहाज को पंछी पुनि जहाज पै आवे ॥

जहाज पर बैठाहुआ पक्षी उड़कर जाता है, परन्तु चारों तरफ पानी ही पानी होने के कारण उसे बैठने के लिये स्थान नहीं मिलता तो लौटकर फिर जहाज पर ही आ बैठता है। इसीप्रकार मन को आत्मा रूपी पोत पर बैठाना चाहिये। इधर-उधर की दौड़ में जब इसे कहीं बैठने का स्थान नहीं मिलता तो लाचार होकर आत्मा के साथ बैठता है।

मन को आत्मा के आधीन करने से जप, तप, ध्यान, योग तथा प्रत्येक कर्म में सफलता मिलती है; साथ ही शान्ति एवं आनन्द का प्रत्यक्ष प्रसाद प्राप्त होता है—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

प्रशान्तमनसम्, हि, एनम्, योगिनम्, सुखम्, उत्तमम्, उपैति, शान्तरजसम्, ब्रह्मभूतम्, अकल्मषम् ।

प्रशान्तमनसम्=भलीभांति शान्त मनवाले, शान्तरजसम्=रजोगुण रहित, अकल्मषम्=निष्पाप, ब्रह्मभूतम=ब्रह्मरूप हुए, एनम्=उस, योगिनम्=योगी को, हि=निस्सन्देह, उत्तमम्=उत्तम, सुखम=सुख, उपैति=प्राप्त होता है ।

जो ब्रह्मभूत, प्रशान्त-मन है रज-रहित, निष्पाप है ।
उस कर्मयोगी को परम सुख, प्राप्त होता आप है ॥

अर्थ—भली-भांति शान्त मनवाले, रजोगुण-रहित, निष्पाप ब्रह्मरूप हुए उस योगी को निस्सन्देह उत्तम सुख प्राप्त होता है ।

व्याख्या—ध्यान-योग के चार फल हैं—

१—मन का भली प्रकार शान्त होना ।

२—रजोगुण-रहित होना ।

३—निष्पाप होना ।

४—ब्रह्मरूप होना ।

योग द्वारा इन सिद्धियों को प्राप्त करनेवाला नित्य सच्चिदानन्द में टिका रहता है, यही सर्वोत्तम सुख है । उपनिषदों के अनुसार ब्रह्म सुखरूप है । जिसे सुख चाहिये, उसे ब्रह्म की खोज करनी चाहिये । ब्रह्म अपने से कहीं अलग नहीं है । जिनका मन भली प्रकार शान्त हो जाता है, वे ब्रह्म को देख लेते हैं अथवा अनन्त सुख प्राप्त कर लेते हैं ।

प्रशान्तमनसम्—भली-भांति शान्त मनवाला—

प्रशान्त मनवाला वह है, जिसका मन इधर-उधर नहीं भटकता, चित्त एकाग्र रहता है, जो नित्य आत्मवान् है, विषयों के सामने

आने पर भी जिसका मन चञ्चल नहीं होता, दुःख, निराशा और उलझनें जिसके धीरज को नहीं तोड़ पातीं, जिसका मन सब प्रकार निर्विकार तथा शान्त रहता है और जो धैर्य-बुद्धि से निर्भय होकर समस्त कर्म करता है।

शान्त और प्रसन्न मन हो जाने से बुद्धि में दृढ़ता और पवित्रता भर जाती है। मन की शान्ति से ऐसी बुद्धि जागृत होती है, जो प्रत्येक कर्म को सावधानी और कुशलता से सहज में पूरा कर लेती है। प्रशान्त मनवाला अपनी सारी शक्तियों को कर्तव्य-पालन पर केन्द्रित कर देता है. वह कर्म में निमग्न होना जानता है और स्वधर्म का आचरण करते समय कभी अशान्त नहीं होता।

जो अशान्त है, उसे सुख नहीं मिलता। अशान्त का संसार उजड़ जाता है। विचार-पूर्वक शान्ति से कर्म करनेवाला 'महान् योगी' कहा जाता है। श्रीकृष्ण में यही शान्ति थी। विषधर सर्प के सिर पर खड़े हुए भी वे उतने ही शान्त और प्रसन्न रहते थे, जितने संसार के आमोद-प्रमोद में। जितनी शान्ति और संयम से वे ध्यान लगाते थे, उतनी ही शान्ति और संयम से भयङ्कर युद्ध में अर्जुन का रथ हांकते थे। उनके धीरज का बांध कभी टूटा नहीं। श्रीकृष्ण ने कंस और चाणूर की भांति भय और विषाद का अन्त कर दिया था, प्रशान्त मनवाले की यही विशेषता है।

शान्तरजसम्—रजोगुण-रहित—

रजोगुण से काम और क्रोध का जन्म होता है। स्वार्थों का पालन-पोषण करनेवाला रजोगुण है। रजोगुण तृष्णा का विस्तार करता है। अशान्ति, रजोगुण के घर में ठहरती है, लोभ और मोह का पेट भरनेवाला रजोगुण है।

रजोगुण जितना कम होता है उतना ही सिर का बोझ हल्का हो जाता है, आनन्द का अनुभव होता है और शान्ति मिलती है।

योग का प्रकाश होते ही रजोगुण का कुहरा फट जाता है।

रजोगुण सदा दुःखमय है, वह आत्मा के शासन में विद्रोह करता है। रजोगुण—झूठ, छल और कपट का व्यवहार बढ़ाता है। योगी पुरुष रजोगुण से बच कर कर्म करते हैं। रजोगुण का अन्त करना ध्यान-योग का प्रत्यक्ष चमत्कार है।

अकल्मषम् - निष्पाप होना—

रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होनेवाले विकार पाप का रूप धारण करते हैं। जीवन का दुरुपयोग करना, समय नष्ट करना, आलस्य और मोह में पड़े रहना, दुर्गुणों से घिरे रहना, अज्ञान और अंधेरे में रहना, पाप है। पापों के हटते ही अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। निर्मल अन्तःकरण में भगवान् का आसन लगता है।

पाप-रहित होने का सर्वोत्तम उपाय है—पुण्य की कमाई करना। वेदों के ऋषि एक मंगल-कामना करते थे—

"रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्।"

(अथर्ववेद ७।११५।४)

'हे प्रभो! पुण्य की कमाई मेरे घर की शोभा बढ़ावे। मैंने पाप की कमाई को नष्ट कर दिया है।'

जहाँ अन्याय और पाप की कमाई नहीं आती, वहाँ देवता रहते हैं। पुण्य और परिश्रम की कमाई खानेवाला सदा निष्पाप है।

जो कर्म-योग, भक्ति-योग, ज्ञान-योग, ध्यान-योग और दिव्य आशीर्वादों से अपने पापों को धो डालता है, वह पवित्र और निष्पाप कहलाता है। निष्पाप होना योग का प्रसाद है, जो निष्पाप है वह सदा निर्मल स्पष्ट और खुला रहता है।

रोगी, दुःखी, दरिद्री, भूखा, असंयमी, अनियमित, कर्महीन, आलसी और समय पर काम न करनेवाला पापमय है।

काम और क्रोध का वेग मनुष्य को पाप में पटकता है। कामुकता और क्रोध के आक्रमण तन, मन और प्राणों को व्याकुल कर देते हैं। व्याकुलता में शान्ति कहां? पाप के मूल काम और क्रोध पर नियन्त्रण

करते ही दिव्य चेतना और दिव्य आनन्द सहज में प्राप्त हो जाता है।

वास्तव में जो सदाचारी है वही निष्पाप है। निष्पाप रहने की कला जिसे आ जाती है वह नित्य आनन्द में निमग्न रहता है।

ब्रह्मभूतम्—ब्रह्मरूप—

ब्रह्ममय कर्म करते-करते और ब्रह्म की उपासना करते-करते जो ब्रह्ममय हो जाता है, उसे ब्रह्मरूप कहते हैं। ध्यान-योग द्वारा साधक ब्रह्मानन्द में जितना अधिक निमग्न होता है, उसमें उतना ही ब्रह्मभाव प्रकट होता है।

प्रत्येक प्राणी में ब्रह्म है, प्राणियों के विकार ब्रह्म को ढक लेते हैं। अविद्या और विकारों के नष्ट होते ही ब्रह्म की ज्योति प्रकट हो जाती है। जो ब्रह्म-ज्योति के प्रकाश में रहकर कर्म करता है वह ब्रह्मभूत कहलाता है।

ब्रह्म ही सोम है, आत्मा है, सत्य है और अन्तर में बैठा दिव्य-शक्तियों का स्वामी है। योग, यज्ञ, तप, दान, सदाचार, समता तथा समस्त साधनाओं द्वारा ब्रह्म जब मन वचन और कर्मों में अभिव्यक्त होने लगता है तो दिव्य कर्मों और सर्वोच्च क्रियाओं का सहायक होता है। ब्रह्म की शक्ति और सहारा पाकर काम करनेवाला सदा शान्त, तुष्ट और पुष्ट रहता है।

लोहा जब तक अग्नि की भट्टी में रखा रहता है तब तक लाल रहता है, अग्नि से बाहर होते ही वह धीरे-धीरे काला पड़ जाता है, इसी प्रकार ब्रह्माग्नि में, निर्मल वातावरण में, ध्यान में अथवा सत्संग में रहनेवाला पवित्र रहता है, इनसे हटते ही माया की वायु लगती है और कालापन आ जाता है। इसीलिए श्रीकृष्ण ने महामन्त्र दिया है—'मामनुस्मर युध्य च' मेरा स्मरण करते हुए संसार के युद्ध रूप कर्म करते रहो।

जगत् में जीवन-युद्ध करते हुए जो किसी समय भगवान् को नहीं भूलते. वे ही निष्पाप और ब्रह्मरूप होते हैं। जीवन के किसी क्षण में भी परमेश्वर से अलग न होनेवाला योगी नित्य ब्रह्मानन्द का सुख भोगता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

युञ्जन्, एवम्, सदा, आत्मानम्, योगी, विगतकल्मषः, सुखेन, ब्रह्मसंस्पर्शम्, अत्यन्तम्, सुखम्, अश्नुते ।

एवम्=इस प्रकार, विगतकल्मषः=पाप-रहित, योगी=योगी, आत्मानम्=अपने-आपको, सदा=निरन्तर, युञ्जन=योग में लगाता हुआ, सुखेन=सुख पूर्वक, ब्रह्मसंस्पर्शम्=ब्रह्म-प्राप्ति के, अत्यन्तम्=अनन्त, सुखम्=आनन्द को, अश्नुते=भोगता है ।

निष्पाप हो इस भांति जो करता निरन्तर योग है ।
वह ब्रह्म-प्राप्ति-स्वरूप-सुख करता सदा उपभोग है ॥

अर्थ—इस प्रकार पाप-रहित योगी अपने-आपको निरन्तर योग में लगाता हुआ सुख-पूर्वक ब्रह्म-प्राप्ति के अनन्त आनन्द को भोगता है ।

व्याख्या—संसार के साथ रहनेवाले को संसार मिलता है और ब्रह्म के साथ रहनेवाले को ब्रह्म मिलता है ।

'जो जैसी संगति करै सो तैसो फल पाय ।'

महात्माओं के सम्पर्क में आनेवाला, निष्पाप होकर महात्मा बन जाता है । जो पापों को छोड़कर निरन्तर योग का अभ्यास करता है, उसे साधना के फलरूप में अनन्त आनन्द मिलता है । ब्रह्मानन्द के गीत गाने से अथवा 'सोऽहं' की रट लगाने से ही अक्षय आनन्द नहीं मिल जाता; बादल गरजता रहे, पर जल न बरसाये तो उससे अंकुर नहीं फूटते; बोलने की अपेक्षा करना श्रेष्ठ है । इसी न्याय से जो जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करके, योग करता है वही आनन्द पाता है । केवल दूसरों को उपदेश देने से ब्रह्म-रस का अनुभव नहीं होता ।

निरन्तर योग की साधना से धीरे-धीरे ब्रह्म-रस मिलता है ।

आम का फल जितना पकता जाता है, उतनी ही उसकी खटास दूर होती है और उसमें मधुरता आती है। इसी प्रकार ध्यान जितना अधिक लगता है अथवा योग की जितनी साधना होती है उतना ही ब्रह्मानन्द मिलता है।

आनन्द का उद्गम-स्थान आत्मा है। आत्मा के साथ रहना ही योग है। योग होने पर रोम-रोम से आनन्द की झंकारें उठने लगती हैं।

मिथ्याचार और अज्ञान से योग नहीं सधता। उमड़ते हुए अनन्तों बादल प्रकाश नहीं करते, बिजली की एक ही चमक चकाचौंध कर देती है। जीवन में एक क्षण के लिये भी बिजली की भांति चमक जाना हजारों वर्ष के घिरे घुटे जीवन से श्रेष्ठ है।

जिन्हें आनन्द चाहिये, उन्हें प्रकाश में आना चाहिये। पापों की घटा हटते ही प्रकाश निकल आता है। योग इन्हीं पापों के बादलों को छिन्न-भिन्न करता है। आनन्द केवल ब्रह्म के स्पर्श में रहने से मिलता है।

उपनिषदों ने आनन्द की विवेचना की है—

आनन्द ब्रह्म आनन्द जीव,
आनन्द हृदय की भाषा।
आनन्द सच्चिदानन्द सत्य शिव,
सुन्दर की परिभाषा॥

सर्वत्र आनन्द ही आनन्द हो! मन वचन और कर्म में आनन्द, ध्यान में आनन्द, समाधि में आनन्द और प्रत्येक प्रगति में आनन्द। आनन्द उसी समय उमड़ता है जब ब्रह्म के साथ स्पर्श होता है। ब्रह्म अछूत है, उसे कोई पाप अथवा पाप-भावना छू नहीं पाती। जो निष्पाप हो जाता है वही ब्रह्म का स्पर्श करने योग्य होता है।

निष्पाप होने का सर्वोत्तम उपाय है—योग। जो विकारों को छोड़कर इन्द्रियों को आधीन करके आत्मा को निरन्तर परमात्मा के साथ जोड़ता है उसे योग की सिद्धि मिल जाती है। ऐसी सिद्धि के लिये दैनिक व्यवहार में भी ब्रह्मभाव रखना पड़ता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२६॥

सर्वभूतस्थम्, आत्मानम्, सर्वभूतानि, च, आत्मनि,
ईक्षते, योगयुक्तात्मा, सर्वत्र, समदर्शनः,

योगयुक्तात्मा=योग-युक्त आत्मा, सर्वत्र=सबमें, समदर्शनः=समभाव से देखनेवाला योगी, आत्मानम्=अपने को, सर्वभूतस्थम्=सब प्राणियों में, च=और, सर्वभूतानि=सब प्राणियों को, आत्मनि=अपने में, ईक्षते=देखता है ।

युक्तात्म समदर्शी पुरुष सर्वत्र ही देखे सदा ।
मैं प्राणियों में और प्राणीमात्र मुझमें सर्वदा ॥

अर्थ—योग-युक्त आत्मा सबमें समभाव से देखनेवाला योगी अपने को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को अपने में देखता है ।

व्याख्या—ब्रह्मानन्द सबसे श्रेष्ठ सुख है । आनन्द ही मुक्ति है । आनन्द को प्राप्त करने के लिये संसार में आनन्द बढ़ाना चाहिये । जो अपने आनन्द को सबके आनन्द से मिला देता है और सबके आनन्द में आनन्द मानता है वह योग-युक्तात्मा कहा जाता है ।

जगत् ब्रह्ममय है । जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है । प्रत्येक प्राणी में वही एक ब्रह्म है—रोम-रोम में चर-अचर में वही एक तत्त्व है, इस सत्य को जानकर जो व्यवहार में लाता है वह समदर्शी योगी संसार में आनन्द बढ़ाता है । भागवत ने इसी सत्य का सुन्दर दर्शन कराया है—

मनसैतानि भूतानि प्रणमेत्तद् बहुमानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥

(भाग० ३।२६।३४)

सम्पूर्ण प्राणियों में अन्तर्यामी सर्वेश्वर परमेश्वर भगवान् रहते हैं, ऐसा मानकर सबको मान देते हुए प्रेम और श्रद्धा सहित हृदय

से प्रणाम करना चाहिये।

जो धन, बल, विद्या आदि के अभिमान से भेद देखते हैं, घृणा, द्वेष और दम्भ के भाव रखते हैं, वे परमात्मा से द्वेष करते हैं। उनके मन को कभी शान्ति नहीं मिलती।

गोस्वामी तुलसीदास सम-दृष्टि से सबको प्रणाम करते थे—

सियाराम मय सब जग जानी। करहुँ प्रणाम जोरि युग पानी॥

आत्मा और परमात्मा के नाते सबका दुःख-सुख एक समान है। जिस कर्म से अथवा व्यवहार से एक को दुःख होता है, उससे दूसरे को भी दुःख हो सकता है। अतः सबके साथ उदार, समान और प्रेममय व्यवहार करना चाहिये। साम्यवाद का यही मूलमन्त्र है। संसार में कहीं विषमता न आने पाये, इसका एकमात्र उपाय समदर्शन है।

सम-दर्शन के मूल में परमेश्वर को देखने से वह व्यवहार में आ जाता है। अपने-अपने स्वार्थ और सुख की कामना से विषमता फैलती है।

समदर्शन में कहीं छल, कपट, दलबन्दी और काले कर्मों का स्थान नहीं है, वहां तो सबको सुखी करने की उदार और उदात्त अभिलाषा है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (ईश० ७)

जब सब प्राणी अपने आत्मा के समान जान लिये जाते हैं, तो फिर मोह, शोक और द्वेष कहां रह सकता है?

भक्ति, ज्ञान और योग सबकी पूर्णता समदर्शन पर निर्भर है।

ध्यान-योग का पहला साधन—चित्त की एकाग्रता है, दूसरा साधन—जीवन को नियमित और संयमित बनाना है और तीसरा साधन—समदर्शन है।

समदर्शी आत्मा का सच्चा मान करता है। सर्वत्र आत्मा का आदर करनेवाला आत्मा की ज्योति को प्राप्त कर लेता है। उसमें आत्म-विश्वास, आत्म-संयम और आत्म-सम्मान जाग्रत हो जाता है। वह सदा अपने प्रियतम परमेश्वर के साथ रहकर व्यवहार करता है—

योगं मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

यः, माम्, पश्यति, सर्वत्र, सर्वम्, च, मयि, पश्यति, तस्य, अहम्, न, प्रणश्यामि, सः, च, मे, न, प्रणश्यति ।

यः=जो, सर्वत्र=सम्पूर्ण भूतों में, माम्=मुझे, पश्यति=देखता है, च=और, सर्वम्=सम्पूर्ण भूतों को, मयि=मुझमें, पश्यति=देखता है, अहम्=मैं, तस्य=उससे, न=नहीं, प्रणश्यामि=अलग होता, च=और, सः=वह, मे=मुझसे, न=नहीं, प्रणश्यति=अलग होता ।

जो देखता मुझमें सभी को और मुझको सब कहीं ।
मैं दूर उस से हूँ नहीं, वह दूर मुझसे है नहीं ॥

अर्थ—जो सम्पूर्ण भूतों में मुझे देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझमें देखता है; मैं उससे अलग नहीं होता और वह मुझसे अलग नहीं होता ।

व्याख्या—योग की साधना करनेवाले का ध्यान जब एकाग्र हो जाता है और अभ्यास पक जाता है, तब वह सर्वत्र अपने ध्येय का ही दर्शन करता है । यही ध्यान की सिद्धि है और यही है ध्यान की महिमा ! ऐसी दृष्टि हो जाने पर प्रभु अपने प्रिय जीव को छोड़कर जायें भी कहाँ ? और जीव ब्रह्म से अलग कैसे रहे ? इसीलिये श्रीकृष्ण ने घोषणा की कि जो सबमें मेरे स्वरूप को देखता है उससे मैं कहीं छिपा नहीं रह सकता ।

जो अपने में परमेश्वर को देखता है और स्वयं भी विशुद्ध कर्मों द्वारा परमेश्वर में मिला रहता है, उससे अलग परमेश्वर कहाँ रह सकते हैं ? सच्चा अद्वैत ज्ञान यही है । इस ज्ञान के बिना कर्म, भक्ति और योग की साधना व्यर्थ है ।

तद्रूप हो जाना ही चित्त की शुद्धि का लक्षण है । निर्मल अन्तःकरणवाला निर्मल-ब्रह्म में मिल जाता है ।

उमा जे राम चरन रत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, केहि सन करहिं विरोध ॥

भगवान् की भक्ति निर्वैर होकर सबका मित्र होने से पूरी होती है।

गोपियों ने इसी भक्ति की लीला की थी। वे सर्वत्र और सबमें श्रीकृष्ण को देखती थीं। श्रीकृष्ण प्रत्येक गोपी और ग्वाल-बाल के साथ खेलते थे। गोप-गोपियों के लिये पुत्र, भाई, पिता, पति, श्वसुर सब कृष्ण-रूप हो गये थे। ऐसे दर्शन से जीवन कितना सुखी, तृप्त और प्रेममय बनता है, यह बात कहने की नहीं अनुभव करने की है।

यशोदा ने अपने श्रीकृष्ण के मुख में सारा ब्रह्माण्ड देखा। अर्जुन ने अपने भगवान् में विश्व का दर्शन किया, कौशल्या ने अपने राम को भगवत्-प्रेम से खिलाया। परिवार में, मोहल्ले में, समाज में, स्वदेश में और सम्पूर्ण विश्व में जब सब भगवान् के रूप हो जाते हैं तभी प्रत्येक कर्म भगवान् के लिये होता है। इस स्थिति में भगवान् कभी आँखों से ओझल नहीं होते, अलग नहीं होते और प्रत्येक कर्म में भक्त के साथ रहते हैं।

ज्ञान को व्यवहार में उतारने का साधन 'भक्ति' है। निराकार आत्मा को प्रत्येक व्यक्ति में साकार देखकर जो छोटे-बड़े सबमें समान विशुद्ध प्रेम रखता है, सद्भाव से अपने-आपको सेवा में लगा देता है, वही परमेश्वर की भक्ति करता है।

भागवत में उत्तम भक्त का एक लक्षण है—

'सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥'

भक्तों में उत्तम-भक्त वह है जो सब प्राणियों में अपने भगवान् को देखता है और यह भाव रखता है कि सब प्राणी, भगवान् में भी हैं और मुझमें भी।

यही वास्तविक आत्म-दर्शन अथवा भगवद्-दर्शन है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

सर्वभूतस्थितम्, यः, माम्, भजति, एकत्वम्, आस्थितः,
सर्वथा, वर्तमानः, अपि, सः, योगी, मयि, वर्तते ।

यः=जो, एकत्वम्=एकता के भाव में, आस्थितः=स्थित हुआ, सर्वभूतस्थितम्=सब प्राणियों में स्थित, माम्=मुझ सच्चिदानन्द को, भजति=भजता है, सः=वह, योगी=योगी, सर्वथा=सब प्रकार से, वर्तमानः= व्यवहार करता हुआ, अपि=भी, मयि=मुझमें ही, वर्तते=वर्तता है.

एकत्व-मति से जान जीवों में मुझे नर नित्य ही ;
भजता रहे जो सर्वथा कर कर्म, मुझमें है वही ॥

अर्थ—जो एकता के भाव में स्थित हुआ सब प्राणियों में स्थित मुझ सच्चिदानन्द को भजता है, वह योगी सब प्रकार से व्यवहार करता हुआ भी मुझमें ही बर्तता है ।

व्याख्या—परमेश्वर में रहकर कर्म करने का सर्वोत्तम ज्ञान और आदर्श सबके साथ अपने को मिला देना है । बात-चीत में, रहन-सहन में, व्यवहार में और प्रत्येक चेष्टा में एकता का भाव आजाने से भगवान् का भजन होता है । जिसमें भगवान् बसते हैं, उसका अपमान करके अथवा कष्ट देकर भगवान् को किसने पाया है ? मानव परमेश्वर का चलता-फिरता मन्दिर है ।

सब प्रकार के कर्म करते हुए भगवान् में टिके रहने का निश्चित और स्पष्ट मार्ग यही है कि सब जीवों में बसे हुए एक परमेश्वर का दर्शन और भजन किया जाय । भगवान् का भजन सबके साथ मैत्री और करुणा का व्यवहार करने से होता है । सबके साथ समान व्यवहार करनेवाला परमेश्वर को पहचान लेता है ।

परमात्मा सर्वत्र है अथवा आत्मा सर्वव्यापी है । 'इदं सर्वमात्मैव'—

यह सब आत्मा ही है। एक ही आत्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को आच्छादित किये हुए है। आत्मा के इस महान् ज्ञान को जान लेना कठिन नहीं है, परन्तु उसे व्यवहार में लाना दुष्कर है।

भगवान् अलग हैं, मैं कुछ और हूँ तथा संसार के अन्य प्राणी कुछ और हैं ऐसा माननेवाले को शान्तिदायिनी भक्ति नहीं मिलती।

अव्यक्त परमात्मा को प्राप्त करने के लिये व्यक्त प्राणियों की सेवा अथवा भक्ति एक व्यावहारिक और सरल साधन है। 'वासुदेवः सर्वमिति' का ज्ञान प्राणियों की सेवा के लिये है। यही एकत्व-दृष्टि परमेश्वर को व्यक्त कर देती है।

एकता का फल 'मुक्ति' है। जिसमें आत्मा की एकता का ज्ञान और व्यवहार नहीं है, उसे कर्म बन्धन में बांध लेता है। जो आत्मा की एकता के ज्ञान को व्यवहार में ले आता है, उसके कर्म ईश्वरीय होते हैं, वह ईश्वर में रह कर कर्म करता है।

कठोपनिषद् में एक दृष्टान्त से यही बात कही गयी है—"पहाड़ों की चोटियों पर बरसनेवाला जल, अनेक धाराओं में फूट-फूट कर पहाड़ के चारों तरफ बहता है, परन्तु जल में पड़नेवाला जल उसीके साथ मिल कर एक हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञानी, अनेकों छोटी-छोटी धाराओं में भ्रान्त होकर भटकता है, परन्तु ज्ञानी, संसार के अनेक रूपों में मिल कर एक हो जाता है और भगवद्भाव के अगाध समुद्र तक पहुँचता है।"

भगवान् से वही मिलता है, जो सबके साथ 'एकता' की दृष्टि से व्यवहार करनेवाला है। कर्म, भले ही ज्ञान से क्षय होता हो, परन्तु जब तक ज्ञान में भक्ति का योग नहीं होता और कर्म-भेदों के झंझट नहीं मिटते, तब तक परमेश्वर की बात समझ में नहीं आती।

एकता के कर्म पुरुष को पुरुषोत्तम से मिलाते हैं, मुक्ति का मार्ग दिखाते हैं और दुःखों को निर्मूल करके संसार में स्वर्ग उतार लाते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

आत्मौपम्येन, सर्वत्र, समम्, पश्यति, यः, अर्जुन,
सुखम्, वा, यदि, वा, दुःखम्, सः, योगी, परमः, मतः,

अर्जुन=हे अर्जुन, यः=जो, सर्वत्र=सम्पूर्ण प्राणियों में, सुखम्=सुख, यदि वा=अथवा, दुःखम्=दुःख को, आत्मौपम्येन=अपने-जैसा, वा=और, समम्=समान, पश्यति=देखता है, सः=वह, योगी=योगी, परमः=श्रेष्ठ, मतः=माना गया है ।

सुख दुःख अपना और औरों का समस्त समान है ।
जो जानता अर्जुन! वही योगी सदैव प्रधान है ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! जो सम्पूर्ण प्राणियों में सुख अथवा दुःख को अपने-जैसा और समान देखता है वह योगी परम-श्रेष्ठ माना गया है ।

व्याख्या—'आत्मौपम्येन सर्वत्र' का भाव है—अपनी आत्मा की उपमा से सर्वत्र देखना। सुख-दुःख, जैसा एक को होता है वैसा ही दूसरे को। जिसे अपना आत्मा और शरीर प्रिय है, उसे दूसरे का भी उतना ही प्रिय हो जाय, तो कहीं कुछ अप्रिय न रहे। जैसे शरीर के किसी एक अङ्ग में पीड़ा होने से सारा शरीर व्याकुल हो जाता है, इसी प्रकार संसार के साथ एकता स्थापित करनेवाला, किसी भी जीव को दुःखी देख कर दुःख का अनुभव करता है। सबके सुख में सुखी होना और सबके दुःख में दुःख मानना, अपने साथ सब की एकता स्थापित करने का साधन है। सुख बांटने से सुख बढ़ता है और इसी प्रकार यदि सबके दुःख में हाथ बँटाया जाय तो दुःख घट जाता है और उसमें बल नहीं रहता।

प्रत्येक कर्म करते समय यह विचार करना चाहिये कि मेरे कर्म

से किसी को दुःख तो नहीं होगा ? यदि दूसरा मनुष्य मेरे प्रति ऐसा ही कर्म करता है तो मुझे दुःख मिलता है या सुख ? इस उपमा से विचार पूर्वक किया गया कर्म, आनन्द की ओर ले जाता है।

ज्ञान से यह जान लिया जाता है कि सबका सुख-दुःख समान है, भक्ति सुख-दुःख में सबके साथ रहने का आदेश देती है और कर्म-योग सबके सुख-दुःख को समान समझ कर व्यवहार करने का बल देता है।

पापों का क्षय होने पर समदर्शन होता है। जब स्वार्थ की दीवारें टूट जाती हैं, मोह-ममता का परदा हट जाता है तब अपने और पराये सुख-दुःख में अन्तर नहीं रहता। जिसका हृदय शुद्ध है, बुद्धि सूक्ष्म है और व्यवहार प्रेममय है वही आत्म-दर्शन का अधिकारी होता है।

दूसरे को दुःख देकर सुख पाने की आशा रखना एक धोखा या मिथ्या-ज्ञान है। भारतीय धर्म का यदि सबसे ऊँचा कोई आदर्श रहा है तो यही कि सुख बाँटो और सुख पाओ। सब सुखी हों सब नीरोगी हों—यही भाव आत्म-सुख का अजस्र स्रोत है।

जो समदर्शी है, स्वच्छ चित्त और निर्मल अन्तःकरणवाला है उसकी उपस्थिति से सुख मिलता है; उसकी बोल-चाल गति और दर्शन में ईश्वरीय प्रेम उमड़ता है।

सुख-दुःख को केवल समान समझने से काम नहीं चलता और न दया दिखा देने से ही। नम्रता-पूर्वक बोल लेने से भी 'समत्व-योग' की साधना नहीं होती। समत्व-योग उस समय होता है, जब व्यवहार से किसी आत्मा को कष्ट नहीं पहुँचता। योगी की श्रेष्ठता यही है कि वह ज्ञान और भक्ति का सहारा लेकर सुखों को बढ़ाने और दुःखों को दूर करने में तत्पर रहता है।

विश्व-बन्धुत्व और विश्व-शान्ति का उपाय सम-बुद्धि से कर्म करना है। विषम-बुद्धि से विषमता बढ़ती है। जहाँ दूसरों को दुःख देकर स्वयं को सुखी बनाने का भाव रहता है, वहाँ सुख ठहरता नहीं

और दुःखों की बाढ़ आजाती है। एक परिवार के सदस्य उसी समय प्रेम से रह सकते हैं, जब सब सबको सुखी रखने का प्रयत्न करें, किसी को दुःख हो तो उसे दूर करने की चेष्टा करें। नगर, राष्ट्र और विश्व को सुखी बनाने के लिये भी यही न्याय और नियम है।

जो योगी, अपने कर्मों से सबको सुखी करने के प्रयत्न करता है, उसीको गीता श्रेष्ठ मानती है।

लोकमान्य तिलक ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है—

"प्राणिमात्र में एक ही आत्मा है, यह दृष्टि सांख्य और कर्मयोग दोनों मार्गों में एक-सी है। ऐसे ही पातञ्जल-योग में भी समाधि लगाकर परमेश्वर की पहचान हो जाने पर यही साम्यावस्था प्राप्त होती है। परन्तु सांख्य और पातञ्जल योगी दोनों को ही सब कर्मों का त्याग इष्ट है। अतः वे व्यवहार में इस साम्य-बुद्धि के उपयोग करने का अवसर ही नहीं आने देते और गीता का कर्मयोगी ऐसा न कर अध्यात्म-ज्ञान से प्राप्त हुई साम्य-बुद्धि का व्यवहार में भी नित्य उपयोग करके जगत् के सभी काम लोक-संग्रह के लिये किया करता है।"

कर्मयोगी अपने व्यवहार से स्वयं शान्त होकर शान्ति बांटता है। जो सृष्टि को मंगल-दृष्टि से देखता है, उसी पर शान्ति की वृष्टि होती है। भय फैलानेवाला सदा भयभीत रहता है और शान्ति के कर्म करनेवाला सदा शान्ति पाता है। संसार में प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है—'बबूल का पेड़ बोने से आम नहीं मिलते।' अपने अन्तःकरण की सृष्टि को आनन्द से भरनेवाला संसार में कहीं दुःख, अशान्ति और विषमता नहीं फैलाता। आत्मा की दृष्टि, ज्ञान से मिलती है, भक्ति से स्वस्थ होती है और कर्म से व्यावहारिक जीवन में उतर आती है।

योग की सिद्धि सम-दृष्टि के बिना नहीं होती। समत्व-योग प्राप्त करने में सबसे अधिक सहायता देनेवाला मन है। मन की साधना पर सम्पूर्ण साधनायें निर्भर हैं। इसीलिये समदर्शन का महत्व सुनकर अर्जुन ने कहा—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

यः, अयम्, योगः, त्वया, प्रोक्तः, साम्येन, मधुसूदन, एतस्य, अहम्, न, पश्यामि, चञ्चलत्वात्, स्थितिम्, स्थिराम् ।

मधुसूदन=हे मधुसूदन, त्वया=आपने, यः=जो, अयम्=यह, साम्येन=समता से होनेवाला, योगः=योग, प्रोक्तः=कहा है, अहम्=मैं, चञ्चलत्वात्=मन की चञ्चलता के कारण, एतस्य=इसकी, स्थिराम्=अचल, स्थितिम्=स्थिति को, न=नहीं, पश्यामि=देखता हूँ।

जो साम्य-मति से प्राप्य तुमने योग मधुसूदन ! कहा ।
मन की चपलता से महा अस्थिर मुझे वह दिख रहा ॥

अर्थ—हे मधुसूदन ! आपने जो यह समता से होनेवाला योग कहा है, मैं मन की चञ्चलता के कारण इसकी अचल स्थिति को नहीं देखता हूँ।

व्याख्या—यहाँ योग का अभिप्राय सम्पूर्ण योगों से है। भक्ति-योग, ज्ञानयोग, कर्मयोग और दुःखों को दूर करनेवाले सब प्रकार के योग की साधना के तीन साधन गीता के इस अध्याय में कहे गये हैं—

(१) एकाग्रता, (२) नियमित जीवन बनाना, (३) समदृष्टि ।

ये तीनों साधन समता के सूत्र में गुंथे हुए हैं। समता न हो तो साधन बिखर जाते हैं—

एकाग्रता के लिये मन, इन्द्रियों और आत्मा में समता होनी चाहिये। ध्यान करते समय सम्पूर्ण शरीर में समता रहनी चाहिये।

योग की साधना के लिये जीवन के प्रत्येक व्यवहार में समता और नियम की आवश्यकता है।

समदृष्टि ही योग की आत्यन्तिक सिद्धि है, सर्वत्र ब्रह्म-दर्शन के बिना संसार के पापों और तापों का अन्त नहीं होता।

इस प्रकार मन और आत्मा की एकता, सम्पूर्ण अङ्गों का सन्तुलन, प्रत्येक व्यवहार में नियम, चित्त में राग-द्वेष आदि का अभाव, प्राणिमात्र के साथ सम-व्यवहार अथवा ब्रह्म-दर्शन और सर्वत्र सम-बुद्धि रखना 'साम्य-योग' कहलाता है।

विषमता से किसी भी योग की साधना नहीं होती। योग का अखण्ड-सुख उसी समय मिलता है जब कामना, संकल्प और राग-द्वेष के ऊँचे-नीचे, विषम प्रदेश से निकल कर मन, आत्मा के आनन्दमय, एकरस और समतल स्वदेश में स्वतन्त्रता से बसता है।

अर्जुन अन्ध-विश्वासी और अकर्मण्य श्रोता नहीं था। वह शास्त्र के ज्ञान को व्यवहार में लाने के लिये उत्सुक और प्रयत्नशील था। उसने अनुभव किया कि श्रीकृष्ण का बताया हुआ समता से प्राप्त होनेवाला योग उस समय तक सुलभ नहीं हो सकता, जब तक मन चंचल है।

मन की स्थायी शांति और अचंचलता के बिना योग में स्थिरता नहीं आती। कारण अचंचल मन में समुद्र की भांति लहरें उठती रहती हैं, कोई विचार अधिक देर तक नहीं ठहरता और मनुष्य बेचैनी से मुक्त नहीं हो पाता। चंचलता से जो निर्बलता उत्पन्न होती है वह किसी कार्य को पूरा नहीं कर पाती।

मन की चंचलता जीव को प्रसन्नता का सुख अनुभव नहीं होने देती, कभी-कभी कुभाव दुर्भाव और उलझनों में फँसाकर कर्म में कठिनाई उत्पन्न कर देती है और किसी निर्णय पर नहीं पहुँचने देती।

सम्पूर्ण शक्तियों का केन्द्र मन है। जहां मन लग जाता है वहां कोई कार्य कठिन नहीं रहता।

अर्जुन ने मनुष्य की इस स्वाभाविक दुर्बलता को छुपाया नहीं—स्पष्ट कह दिया कि "हे मधुसूदन! (असुर और आसुरीभाव का संहार करनेवाले) मन की साधना मुझे कठिन मालूम होती है।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

चञ्चलम्, हि, मनः, कृष्ण, प्रमाथि, बलवत्, दृढम्, तस्य, अहम्, निग्रहम्, मन्ये, वायोः, इव, सुदुष्करम् ।

हि=क्योंकि, कृष्ण=हे कृष्ण, मनः=मन, चञ्चलम्=चञ्चल, प्रमाथि=हठीला, दृढम्=दृढ़ (और), बलवत्=बलवान् है, तस्य=उसको, निग्रहम्=वश में करना, अहम=मैं, वायोः=वायु को, (बाँधने की) इव=भांति, सुदुष्करम्=बहुत कठिन, मन्ये=मानता हूँ ।

हे कृष्ण ! मन चञ्चल हठी बलवान् है दृढ़ है घना ।
मन साधना दुष्कर दिखे जैसे हवा का बाँधना ॥

अर्थ—क्योंकि हे कृष्ण ! मन चंचल, हठीला, दृढ़ और बलवान् है, उसको वश में करना, मैं वायु को बाँधने की भांति बहुत कठिन मानता हूँ ।

व्याख्या—अर्जुन ने अपनी कठिनाई को सरल करने के लिये सद्भावना और जिज्ञासा से श्रद्धा पूर्वक गुरु से निवेदन किया है ।

गीता में अर्जुन और कृष्ण के नाम, रहस्यमय और प्रसङ्गानुसार हैं । कृष्ण का अर्थ है—दोषान् कर्षति निवारयतीति कृष्णः' जो दोषों और पापों को दूर कर देता है वह 'कृष्ण' है । आकर्षतीति कृष्णः-अपनी ओर आकर्षित कर लेनेवाले को 'कृष्ण' कहते हैं ।

जो पापादिक दोष निवारण, करता है अविराम ।
अपने प्रति आकर्षित करता, कृष्ण उसी का नाम ॥

मन के द्वारा होनेवाले पापों से छूटने के लिये और कठिनाई से वश में आनेवाले मन को अपने आधीन करने की युक्ति जानने के लिये अर्जुन ने जगद्गुरु श्रीकृष्ण से निवेदन किया—

१—मन चञ्चल है ।

२—मन इन्द्रियों को मथकर विक्षुब्ध कर देनेवाला है ।

३—मन बलवान् और दृढ़ है।

४—मन का निग्रह करना, वायु को बाँधने के समान है।

१. मन चञ्चल है—

मन कहीं एक स्थान पर नहीं ठहरता, चलते रहना उसका स्वभाव है। सारे संकल्प-विकल्प मन से उठते हैं। मन की चंचलता के कारण कर्म अधूरे रह जाते हैं, इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं, बुद्धि हार जाती है और संसार भार बन जाता है। मन में एकाग्रता न होने से ज्ञान, भक्ति, कर्म, जप-तप, यज्ञ-याग आदि किसी में भी पूर्णता नहीं आती।

२. मन इन्द्रियों को मथकर विक्षुब्ध कर देनेवाला है—

बुद्धिमान् नर-नारी इन्द्रियों को स्वाधीन रखने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु मन इन्द्रियों को मथ डालता है और अपने आधीन कर लेता है। मन इन्द्रियों का नियन्ता है, प्रायः इन्द्रियाँ मन की आज्ञा में कर्म करती हैं। शुभ और मङ्गल कार्यों में मन विक्षेप डालता है, अनेकों विघ्न उपस्थित करता है और ऐसे बखेड़े खड़े कर देता है कि स्वधर्म और कर्तव्य-पालन का मार्ग छोड़कर मनुष्य मन के पीछे-पीछे चलता है।

३. मन बलवान् और दृढ़ है—

मन की शक्ति अपार है, वह चंचल होने के साथ-साथ बलवान् भी है। बन्धन और मोक्ष का कारण मन है। मन पर विजय पाना महाबली शत्रुओं को पराजित करने से भी कठिन है।

मन दृढ़ और हठीला है, बुद्धि के समझाये समझता नहीं, इन्द्रियों के मनाये मानता नहीं, सदा अपनी ही करता है। मन सारे जगत् को अपने अनुकूल बनाना चाहता है और अपनी हठ रखने के लिये भले-बुरे का विचार नहीं करता।

४. मन का निग्रह करना वायु को बाँधने के समान है—

वायु जिस प्रकार रोका या बाँधा नहीं जा सकता, उसी प्रकार मन वश में नहीं आता। मन की गति वायु से भी अधिक वेगवती है, रोकते-रोकते भी मन प्रायः निकल भागता है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

असंशयम्, महाबाहो, मनः, दुर्निग्रहम्, चलम्,
अभ्यासेन, तु, कौन्तेय, वैराग्येण, च, गृह्यते ।

महाबाहो=हे महाबाहो, असंशयम्=इसमें सन्देह नहीं कि, मनः=मन, चलम्=चंचल (और), दुर्निग्रहम्=कठिनाई से वश में आनेवाला है, तु=परन्तु, कौन्तेय=हे कौन्तेय, अभ्यासेन=अभ्यास, च=और, वैराग्येण=वैराग्य से, गृह्यते=वश में आ जाता है ।

चंचल असंशय मन महाबाहो ! कठिन साधन घना ।
अभ्यास और विराग से पर पार्थ ! होती साधना ॥

अर्थ—हे महाबाहो ! इसमें सन्देह नहीं कि मन चंचल और कठिनाई से वश में आनेवाला है, परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से वश में आ जाता है ।

व्याख्या—जहां प्रबल इच्छा है वहां कुछ भी असम्भव नहीं। प्रयत्नों के साथ सत्य होने से कुछ अनहोना नहीं रहता। अर्जुन ने वायु को रोकने के समान मन को रोकना असम्भव-सा मान लिया। श्रीकृष्ण ने उत्साह और प्रेरणा भरी भाषा में आश्वासन देते हुए कहा कि "तुम जो कुछ कहते हो वह निस्सन्देह ठीक है, मन बड़ा चंचल है और कठिनाई से वश में आता है, परन्तु कठिनाइयां भी सरल हो सकती हैं ।

अर्जुन को निमित्त बनाकर मानव-मात्र के हित के लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने मन को वश में करने के दो साधन कहे हैं—

१—अभ्यास से मन वश में होता है ।

२—वैराग्य से मन पर विजय मिलती है ।

१. अभ्यास से मन वश में होता है—

योगदर्शन के अनुसार 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' चित्त के ठहराने के लिये बार-बार प्रयत्न करने को अभ्यास कहते हैं। अभ्यास. शुद्ध सत्याग्रह है। सत्य के लिये अपराजित और अथक-आग्रह से जो प्रयत्न होता है, वही अभ्यास है।

अभ्यास से वृत्तियों में स्वभावतः परिवर्तन हो जाता है। जब अभ्यास मनुष्य के स्वभाव का एक अङ्ग बन जाता है, अथवा स्वभाव को सरल और विशुद्ध रहने का अभ्यास हो जाता है, तब चंचलता स्वयं मिट जाती है।

अभ्यास से पूर्णता प्राप्त होती है। तपस्वी, योगी, कवि, चित्रकार आदि अभ्यास के बल से तन्मय होकर कर्म में सफलता प्राप्त करते हैं।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'महाबाहु' कहा। उसकी भुजायें विशाल थीं, उसने अभ्यास द्वारा वीरता और निपुणता प्राप्त की थी।

एक दिन अर्जुन अंधेरे में भोजन कर रहे थे। उन्होंने देखा कि हाथ भोजन लेकर सीधा मुख में जाता है, कान या नाक पर नहीं लगता। बचपन से ही हाथ का अभ्यास पक गया है। अर्जुन ने तुरन्त धनुष-बाण उठाया और अंधेरे में शब्द सुनकर निशाना लगाने का अभ्यास करने निकल पड़ा। उत्साह पूर्वक निरन्तर अभ्यास करते-करते अर्जुन शब्दवेधी बाण चलाने में सफल-प्रयत्न हो गया।

धीरे-धीरे लगातार अभ्यास करने से अद्भुत शक्ति मिलती है। अभ्यास से बनी विशाल भुजायें मन की चंचलता का निपात कर देती हैं।

अभ्यास के साधन—

गीता के इस छठे अध्याय में १० वें श्लोक से २१ वें श्लोक तक अभ्यास के साधनों का स्पष्ट वर्णन है।

एकान्त में एकाग्र होकर स्थिर-आसन पर बैठने से अभ्यास का प्रारम्भ होता है।

मन के संयम से अभ्यास की साधना होती है।

तप, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और ईश्वर प्रणिधान द्वारा अभ्यास बढ़ता है।

जीवन को नियमित बनाने से अभ्यास दृढ़ होता है।

अभ्यास के सिद्ध हो जाने पर अनन्त सुख का अनुभव होता है, मन आत्मा के दिव्य-भवन में आनन्द से विहार करता है, यम और नियम द्वार पर पहरा देते हैं और विषय-विकारों को अन्दर प्रवेश करने की अनुमति नहीं मिलती।

ध्यान, जप, प्राणायाम और प्रसन्नता अभ्यास करने में सहायता और प्रकाश देते हैं। प्रेम और तल्लीनता से अभ्यास सरस और सरल बन जाता है। गोपियों ने अनन्य प्रेम से सर्वत्र श्रीकृष्ण को देखने का अभ्यास सिद्ध कर लिया था।

महर्षि वसिष्ठ ने सुन्दर रीति से अभ्यास को सरल किया है—

उपविश्योपविश्यैव चित्तज्ञेन मुहुर्मुहुः।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥
अंकुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च ॥
वासनासंपरित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥

किसी श्रेष्ठ-युक्ति अथवा उपाय का आश्रय न लेकर बार-बार आसन पर बैठने से ही मन वश में नहीं आता, उसी प्रकार जैसे अंकुश के बिना हाथी वश में नहीं आता। (१) अध्यात्म-विद्या की प्राप्ति, (२) साधु-समागम, (३) वासनाओं के परित्याग, (४) प्राणों के संयम, इन युक्तियों से चित्त को जीतने का अभ्यास सुगम हो जाता है।

अभ्यास के साथ वैराग्य होना अत्यन्त आवश्यक है। किसान खेतों को सींचता हुआ जल को एक तरफ से बन्द करता है और दूसरी तरफ ले जाता है। इसी प्रकार अभ्यास द्वारा मन को एक तरफ से हटाना चाहिये और वैराग्य के सहारे उसे परमार्थ के खेत में लगाना चाहिये। अभ्यास, मन का संयम करता है। वैराग्य, मन को सत्य शिव और सुन्दर मार्ग पर लगाता है।

२. वैराग्य से मन पर विजय मिलती है—

वैराग्य का अभिप्राय है—सांसारिक-विषयों में राग न रखना। जो अनुचित है, हेय है, करने योग्य नहीं है, पाप-पूर्ण है, विकारों से भरा है और विदेशी है उससे असहयोग करना 'वैराग्य' है।

वैराग्य बुराई का साथ नहीं देता, भलाई के रास्ते चलता है, स्वार्थ को उभरने नहीं देता और परमार्थ का अभिषेक करता है।

स्त्री, पुत्र, परिवार और धन-सम्पत्ति का त्याग वैराग्य नहीं है। वैराग्य है—वस्तुओं के संसर्ग से उत्पन्न होनेवाले विषय और विकारों का त्याग। वैराग्यशील सारे संसार को अपना परिवार बना लेता है। ममता और वासना, उसे संकुचित और छोटा नहीं कर पाते, वह किसी राग की सीमा में नहीं बँधता। उसका शील, चित्त-वृत्तियों के अथाह जल में नहीं डूबता और अहंकार के ऊंचे पहाड़ से टकरा कर चूर-चूर नहीं होता।

ज्ञान, ध्यान, संयम, दानवीरता और जप-तप करनेवाले बहुत हैं, परन्तु ऐसे वैराग्य-शील दुर्लभ हैं, जिन्हें ज्ञान, ध्यान आदि का अभिमान नहीं है और जो राग-द्वेष से मुक्त, निर्लेप रहते हैं।

कामना और अभिमान का त्याग वास्तविक 'वैराग्य' है। जीवन की कृत्रिमता हटाने से वैराग्य की साधना होती है। बालकों-जैसी सरल, स्वाभाविक और मधुर-वृत्ति हो जाने से जब बिना प्रयास विषय-भोगों से निवृत्ति हो जाती है तथा निरन्तर उन्नति के लिये प्रवृत्ति रहती है, तब वैराग्य का अलख जागता है।

अभ्यास और वैराग्य, अथवा सत्याग्रह और असहयोग और भी सरल शब्दों में कहें तो सत्यं शिवं और सुन्दरम् को ग्रहण करना तथा असत्य अशिव और असुन्दर से असहयोग करना मन को वश में करने का सर्व-श्रेष्ठ उपाय है।

कर्तव्य-पालन को अत्यधिक महत्व देने से और कर्म में हृदय लगा देने से, मन सरलता-पूर्वक वश में आ जाता है।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

असंयतात्मना, योगः, दुष्प्रापः, इति, मे, मतिः, वश्यात्मना, तु, यतता, शक्यः, अवाप्तुम्, उपायतः ।

मे=मेरा, इति=यह, मतिः=मत है (कि), असंयतात्मना=असंयत आत्मा को, योगः=योग, दुष्प्रापः=प्राप्त होना कठिन है, तु=परन्तु, वश्यात्मना=संयत-आत्मा, यतता=प्रयत्नशील के लिये, उपायतः=उपाय करने से (योग), अवाप्तुम्=प्राप्त होना, शक्यः=सम्भव है ।

जीता न जो मन, योग है दुष्प्राप्य मत मेरा यही ।
मन जीत कर जो यत्न करता प्राप्त करता है वही ॥

अर्थ—मेरा यह मत है कि असंयत-आत्मा को योग प्राप्त होना कठिन है. परन्तु संयत-आत्मा प्रयत्नशील के लिये उपाय करने से योग प्राप्त होना सम्भव है ।

व्याख्या—योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपना निश्चित और स्पष्ट मत इस प्रकार बताया है—

१—असंयत-आत्मा को योग-सिद्धि नहीं मिलती ।

२—संयत-आत्मा को प्रयत्न करने पर योग प्राप्त होता है ।

३—प्रयत्न भी उपाय से करने चाहियें ।

१. असंयत आत्मा को योग-सिद्धि नहीं मिलती—

मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, इन्द्रियां और शरीर जिसके वश में नहीं है, उसे 'असंयत-आत्मा' कहते हैं । योग-साधना के लिये जीवन में सर्वत्र संयम की आवश्यकता है । यद्यपि अन्तःकरण, इन्द्रियां अथवा शरीर किसी पर भी संयम हो जाय, तो धीरे-धीरे मनुष्य पूर्ण संयमी हो जाता है, परन्तु इन्द्रियों का संयम होने पर मन और बुद्धि का संयम न हो तो साधना में मिथ्याचार आ जाता है ।

मन के संयम को प्रधान माना गया है, इसीलिये असंयत-आत्मा का अर्थ प्रायः 'मन को वश में न करनेवाला' किया जाता है।

जहां आत्म-संयम है, वहीं योग होता है। आत्म-संयम न होने से कुयोग या ब्रह्म-वियोग होता है, जिसमें दुःख ही दुःख है। कर्म-योग, ब्रह्म-योग, ज्ञान-योग, व्यवहार-योग अथवा किसी भी प्रकार के योग की सफलता के लिये अन्तःकरण इन्द्रियों और शरीर पर पूरा-पूरा संयम होना चाहिये। संयम में जीवन का सुख है, असंयम में सदा रोगों और मृत्यु का भय है। दुःख और विकार असंयमी को घेरते हैं। दुःखों को दूर करनेवाला 'योग' है। यह निश्चित है कि आत्म-संयम के बिना योग नहीं हो सकता।

धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में यदि संयम नहीं होता तो सहन-शीलता नष्ट हो जाती है, व्यवस्था बिगड़ जाती है, एक-दूसरे के विचारों और व्यवहारों में मेल नहीं होता। संयम होने पर प्रत्येक अवस्था में 'योग' बना रहता है।

२. संयत-आत्मा को प्रयत्न करने पर योग प्राप्त होता है—

योग का आधार संयम है। संस्कारों से, गुरु-कृपा से, भगवत्-कृपा से अथवा साधना द्वारा संयम की सिद्धि मिलती है। मन का संयम हो जाने पर भी जड़ता अथवा कर्महीनता से योग प्राप्त नहीं होता। जैसे प्राणों के बिना सम्पूर्ण शरीर है, इसी प्रकार प्रयत्न अथवा पुरुषार्थ के बिना योग है। योग का प्राण पुरुषार्थ है। प्रत्येक स्थिति में प्रयत्नशील रहना ही जीवन है! अग्नि के बुझने पर जैसे राख ठण्डी हो जाती है, इसी प्रकार निरन्तर प्रयत्नों की ज्योति न होने से जीवन ठण्डा पड़ जाता है और अंधेरे में घिर जाता है। कर्म, भक्ति और ज्ञान सबके साथ पुरुषार्थ नितान्त आवश्यक है। पुरुषार्थ में प्रयत्न और उत्साह दोनों का योग होता है। उत्साह के बिना प्रयत्न व्यर्थ है—

उत्साहो बलवानार्य नास्त्युत्साहात्परं बलम्।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किंचिदपि दुर्लभम्॥

भय्या लक्ष्मण ! उत्साह बड़ा बलवान् होता है, उत्साह से बढ़कर दूसरा कोई बल नहीं है। संसार में उत्साही पुरुष के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

कठिन-से-कठिन परिस्थिति में भी उत्साही नर-नारी साहस नहीं छोड़ते। उत्साहहीन, दीन और दुःख में डूबे हुए के सब काम बिगड़ जाते हैं, आपत्तियां उसे घेर लेती हैं। उत्साह न छोड़ना सफलता का मूल-मन्त्र है। उत्साह परम-सुख है, उत्साह कर्म करानेवाला है और उत्साह से ही प्रत्येक कर्म में सिद्धि मिलती है।

उत्साह के साथ प्रयत्न करनेवाले में सत्य, तपस्या, ज्ञान और ब्रह्मचर्य के भाव उदित होते हैं। उसके हृदय में परमात्मा की निर्मल ज्योति प्रकाश करती है। प्रयत्नशील मनुष्य ही इस प्रकाश में जीव, जगत् और जगत्पति का दर्शन पाते हैं।

इस जगत् में भाग्य भी पुरुषार्थी का मार्ग नहीं रोक पाता। भाग्य को बनानेवाला पुरुषार्थ है।

३. प्रयत्न भी उपाय से करने चाहियें—

उपाय का अर्थ साधन और युक्ति दोनों हो सकते हैं। मन को वश में रखनेवाले साधक को आसन, प्राणायाम, सन्ध्या-वन्दन आदि साधनों की सहायता से सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये।

विधि-पूर्वक प्रयत्न न होने से परिश्रम व्यर्थ चला जाता है। प्रत्येक कर्म के करने का उपाय जानकर पुरुषार्थ करने से सफलता मिलती है। बिना समझे-बूझे किये गये कर्म का करना और न करना एक समान है। युक्ति से विधिपूर्वक किये गये कर्मों द्वारा योग बन पड़ता है। अतः मन पर विजय प्राप्त करके युक्ति-पूर्वक प्रयत्नशील रहनेवाला उस योग को प्राप्त करता है, जिससे सर्वत्र मंगल और आनन्द की सृष्टि बनती है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण का निर्णय सुनकर अर्जुन को एक सन्देह हुआ, उसने कहा—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

अयतिः, श्रद्धया, उपेतः, योगात्, चलितमानसः,
अप्राप्य, योगसंसिद्धिम्, काम्, गतिम्, कृष्ण, गच्छति।

कृष्ण=हे कृष्ण (जो), श्रद्धया=श्रद्धा से, उपेतः=युक्त है (परन्तु) अयतिः=अयति है, योगात्=योग से, चलितमानसः=जिसका मन विचलित हो गया है (वह), योगसंसिद्धिम्=योग-सिद्धि को, अप्राप्य=प्राप्त न करके, काम्=किस, गतिम्=गति को, गच्छति=पाता है।

जो योग-विचलित, यत्न-हीन परन्तु श्रद्धावान् हो ।
वह योग-सिद्धि न प्राप्त कर, गति कौनसी पाता कहो ?

अर्थ—हे कृष्ण ! जो श्रद्धा से युक्त है, परन्तु अयति है योग से जिसका मन विचलित हो गया है वह योग-सिद्धि को प्राप्त न करके किस गति को पाता है ?

व्याख्या—इस संसार में सावधानी से पैर रखनेवाला भी कभी कभी गिर जाता है। ऐसी अवस्था में संयमी और धर्म-प्रिय नर-नारियों के मन को शंकायें घेर लेती हैं।

अनेक साधक, भोग-विलास में पड़े हुए प्राणियों को सुखी देखकर और अपने को संकटों में फँसा देखकर उदास तथा शिथिल-प्रयत्न हो जाते हैं; बहुत से धर्म-मार्ग की कठिनाई को देखकर पीछे हट जाते हैं; कुछ ऐसे हैं जो युक्ति उपाय साधन अथवा संस्कारों के अभाव से असफल रहते हैं; कुछ साधक धीरे-धीरे चलते हैं और परम सुख अथवा योग-सिद्धि प्राप्त करने से पहले ही उनकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है ऐसे सब साधक 'अयति' कहे जाते हैं।

अयति, संशय-बुद्धि से, निपुणता, संयम तथा प्रयत्नों के अभाव से अथवा किसी न किसी प्रकार योग-विचलित हो जाता है।

जिनमें मंगल-मार्ग की ओर बढ़ने की रुचि और श्रद्धा नहीं होती; कर्म, भक्ति, ज्ञान, साधना आदि शुभ कर्मों में जो विश्वास नहीं करते, उन्हें अन्त में गिरना पड़ता है।

अर्जुन को उनकी चिन्ता हुई जिनमें योग-धर्म के लिये श्रद्धा रहती है, परन्तु जो अयति होने के कारण विचलित हो जाते हैं।

श्रद्धा नींव की ईंट के समान है। धर्म, कर्म और साधना की दीवारें श्रद्धा पर खड़ी होती हैं। श्रद्धा के साथ प्रयत्न करनेवाला अपने ध्येय को प्राप्त कर लेता है। 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः' ४।३९

'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धान्वितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति।'

शान्त और दान्त अर्थात् जितेन्द्रिय होकर उपरति और तितिक्षा से श्रद्धावान् अपने में ही आत्मा का दर्शन कर लेता है।

श्रद्धा को साधन-चतुष्टय का विशेष अंग कहा गया है। विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षता को 'साधन-चतुष्टय' कहते हैं। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा षट्-सम्पत्ति है।

संयम, साधन-चतुष्टय और षट्-सम्पत्ति से युक्त जीवन निरन्तर ऊपर उठता है, भावना बनी रहती है, भावना से कर्तव्य-निष्ठा बढ़ती है, कर्तव्य-पालन से सम्पूर्ण शक्तियों का विकास होता है।

यह ठीक है परन्तु अर्जुन का प्रश्न यह है कि शिथिल प्रयत्न और अधूरे साधक में केवल श्रद्धा हो तो उसे कौनसी गति प्राप्त होती है?

अथवा सन्त ज्ञानेश्वर के शब्दों में—

'मान लीजिये कि कोई पुरुष योग-साधन का उपाय तो नहीं जानता, परन्तु फिर भी बहुत अधिक श्रद्धा से मोक्ष-पद प्राप्त करने का प्रयत्न आरम्भ करता है, वह इन्द्रियों का ग्राम पीछे छोड़कर आत्म-स्वरूप वाले दूरस्थ स्थान तक पहुँचने के उद्देश्य से श्रद्धावाले मार्ग का अनुसरण करता है, परन्तु उसे आत्म-स्वरूप की भी प्राप्ति नहीं होती और वह पीछे भी नहीं लौट सकता। इस प्रकार वह बीच में पड़ा रह जाता है और इसी बीच में उसकी आयु का सूर्य अस्त हो जाता है।'

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

कच्चित्, न, उभयविभ्रष्टः, छिन्नाभ्रम्, इव, नश्यति,
अप्रतिष्ठः, महाबाहो, विमूढः, ब्रह्मणः, पथि ।

महाबाहो=हे महाबाहो, कच्चित्=क्या, (वह) ब्रह्मणः=ब्रह्म के, पथि=मार्ग में, विमूढः=भूला हुआ, अप्रतिष्ठः=आश्रय रहित पुरुष, छिन्नाभ्रम्=छिन्न-भिन्न बादल की, इव=भांति, उभयविभ्रष्टः=दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ, न नश्यति= नष्ट तो नहीं हो जाता ।

मोहित निराश्रय, ब्रह्म-पथ में हो उभय पथ-भ्रष्ट क्या ?
वह बादलों सा छिन्न होता सदैव विनष्ट क्या ?

अर्थ—हे महाबाहो ! क्या वह ब्रह्म के मार्ग में भूला हुआ आश्रय-रहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादल की भांति दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ नष्ट तो नहीं हो जाता ?

व्याख्या—अधूरे साधक की दयनीय दशा का चित्र अर्जुन की आंखों में समा गया। उसका हृदय द्रवित हो गया और उसने कहा—हे महाबाहो ! आप विशाल और समर्थ भुजाओंवाले हैं भक्त के लिये दो हाथों से नहीं चार हाथों से आप चारों पदार्थ सुलभ कर देते हैं। अतः कृपा करके इतना बतलाइये कि ब्रह्म को प्राप्त न करनेवाले ब्रह्म-पथ के पथिक की क्या गति होती है ? क्या वह बादल की भांति छिन्न-भिन्न हो जाता है, न इधर का रहता है न उधर का ? जैसे बादल का टुकड़ा बड़े बादलों से छूटकर अलग हो जाता है, वायु उसे इधर-उधर उड़ाती है और वह बिना वर्षा किये ही नष्ट हो जाता है। क्या इसी प्रकार ब्रह्म तक न पहुँचनेवाला साधक ब्रह्म में मिलने की इच्छा रखता हुआ भी सांसारिक-वायु के थपेड़ों से नष्ट हो जाता है ? न उसे संसार के सुख मिलते और न ब्रह्मानन्द ?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३६॥

एतत्, मे, संशयम्, कृष्ण, छेत्तुम्, अर्हसि, अशेषतः, त्वदन्यः, संशयस्य, अस्य, छेत्ता, न, हि, उपपद्यते ।

कृष्ण=हे कृष्ण, मे=मेरे, एतत्=इस, संशयम्=संशय को, अशेषतः=जड़ से, छेत्तुम्=निर्मूल करने, अर्हसि=योग्य (आप ही) हैं, हि=क्योंकि, अस्य=इस, संशयस्य=संशय को, छेत्ता=काटनेवाला, त्वदन्यः=आपके अतिरिक्त दूसरा, न=नहीं, उपपद्यते=हो सकता ।

हे कृष्ण ! करुणा कर सकल सन्देह मेरा मेटिये ।
तज कर तुम्हें है कौन यह भ्रम दूर करने के लिये ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! मेरे इस संशय को जड़ से निर्मूल करने योग्य आप ही हैं, क्योंकि इस संशय को काटनेवाला आपके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता ।

व्याख्या—श्रीकृष्ण मानव-मात्र की जिज्ञासापूर्ण करनेवाले हैं । उनकी वाणी में आकर्षण, प्रवाह, मधुरता और विशेष आनन्द है । अर्जुन को अपने गुरु में पूर्ण विश्वास और श्रद्धा है ।

संशय साधक का सबसे बड़ा बाधक है । मन में दुविधा बनी रहने से हाथ कुछ नहीं आता और अशान्ति बढ़ती है ।

अर्जुन ने सहज-भाव से अपना प्रश्न श्रीकृष्ण के सामने रख दिया । उसके प्रश्न करने में कोई अहंभाव धृष्टता, कुतर्क और अवहेलना नहीं थी । जहां जैसी जिज्ञासा से प्रश्न होते हैं, वहां वैसा ही उत्तर मिलता है । मनुष्य का समाधान करनेवाली उसकी सात्त्विक जिज्ञासा ही होती है ।

अर्जुन की व्याकुलता, श्रद्धा और सात्त्विक-जिज्ञासा को देखकर श्रीकृष्ण ने इस प्रकार उत्तर दिया—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

पार्थ, न, एव, इह, न, अमुत्र, विनाशः, तस्य, विद्यते,
न, हि, कल्याणकृत्, कश्चित्, दुर्गतिम्, तात, गच्छति ।

पार्थ=हे पार्थ, तस्य=उस साधक का, न=न तो, इह=इस लोक में (और), न=न, अमुत्र=उस लोक में, एव=ही, विनाशः=विनाश, विद्यते=होता है, हि=क्योंकि, तात=हे तात, कल्याणकृत्=शुभ कर्म करनेवाला, कश्चित्=कोई भी, दुर्गतिम्=दुर्गति को, न=नहीं, गच्छति=प्राप्त होता ।

इस लोक में परलोक में वह नष्ट होता है नहीं ।
कल्याण-कारी-कर्म करने में नहीं दुर्गति कहीं ॥

अर्थ—हे पार्थ ! उस साधक का न तो इस लोक में और न उस लोक में ही विनाश होता है, क्योंकि हे तात ! शुभ-कर्म करनेवाला कोई भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ।

व्याख्या—संसार में दो मार्ग हैं—

१—मंगल-मार्ग ।

२—अमंगल-मार्ग ।

एक मार्ग पर चलनेवाला दूसरे मार्ग पर नहीं चल सकता। बीच का कोई तीसरा रास्ता नहीं है । बुराई की तरफ बढ़नेवाला भलाई नहीं पाता और भले मार्ग पर चलनेवाले की कभी दुर्गति नहीं होती। जो बुराई के रास्ते चलते हैं, उनका गिरना निश्चित है । जो बुराई की ओर चलते-चलते मंगल-मार्ग को देखते हैं, उनके सुधरने की सम्भावना बनी रहती है और जो शिव-मार्ग पर चलते-चलते अशिव-मार्ग पर दृष्टि रखते हैं, उनके गिरने की सम्भावना बनी रहती है । जो दोनों मार्गों पर चलना चाहते हैं, वे दो घोड़ों पर सवारी करनेवाले के समान हैं । उनका जीवन सदा विपत्ति और आशङ्काओं से घिरा रहता है ।

जो किसी प्रकार भी जाने-अनजाने में, मन से बेमन से शिव-मार्ग पर आजाता है, श्रद्धा से साधना में लग जाता है, उसका कभी विनाश नहीं होता। उसके लिये दशों दिशाओं में मङ्गल के द्वार खुल जाते हैं, उसका मन आत्मानन्द का अनुभव करने लगता है, उसके नेत्रों में ब्रह्म की झांकी झूलने लगती है और उसके हृदय से अपवित्रता का मल छुटने लगता है।

ब्रह्म-पथ का पथिक, रास्ता जाने या न जाने, धीरे-धीरे चले या शीघ्रता से, वह अपने अन्तिम ध्येय पर अवश्य पहुँचता है। ध्येय पर पहुंचने से पहले ही जीवन छूटजाय, तो भी उसकी दुर्गति नहीं होती।

शुभ-कर्मों के करनेवालों को कभी निराश, दुःखी और दीन नहीं होना चाहिये। उनके जीवन-सूर्य को क्षणिक बादल घेर सकते हैं, परन्तु उनका प्रकाश ढका नहीं रहता। उनके लिये कहीं दुर्गति नहीं है।

ब्रह्म और जीव की शाश्वत मित्रता के समान श्रीकृष्ण और अर्जुन की मित्रता थी। अर्जुन का श्रीकृष्ण में गुरु-भाव जाग्रत हो गया था, परन्तु श्रीकृष्ण अर्जुन से अपने निकटतम-सम्बन्धी, साथी और अभिन्न-मित्र की भांति प्रेम करते थे। गुरु के साथ मित्रों और साथियों-जैसा व्यवहार करनेवाले शिष्य को ज्ञान की सम्पत्ति नहीं मिलती और शिष्य के साथ अभिमान-पूर्ण, कठोर और तुच्छ व्यवहार करनेवाला गुरु, शिष्य को कुछ दे नहीं पाता।

श्रद्धा और तप से शिष्य कुछ पा सकता है।
वात्सल्य और मैत्री भाव से गुरु कुछ दे सकता है।

जिन धीर जनों में से वासना और विकार निकल जाते हैं, उन्हें 'कल्याण-कृत्' कहते हैं। शुभ-कृत्यों से इस लोक में शांति और सुख का विस्तार होता है. संकुचित भावों की दीवारें टूट जाती हैं और मनुष्य को चलने और बढ़ने का उदार और व्यापक मार्ग मिलता है। जिसका संसार सुखमय बन जाता है, उसे परलोक भी सुख से भरा-पूरा मिलता है।

श्रेय के मङ्गलमय-मार्ग पर चलने में, आनेवाले दुःख, सुख बन जाते हैं। शुभ-मार्ग पर चलनेवाले का परिश्रम कभी व्यर्थ नहीं जाता, परमेश्वर की कृपा बादल बन कर उस पर छाया करती है, वायु उसके अनुकूल बहती है, सृष्टि उसके साथ रहती है और उसके लिये लोक तथा परलोक दोनों सुखमय बन जाते हैं—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

प्राप्य, पुण्यकृताम्, लोकान्, उषित्वा, शाश्वतीः, समाः,
शुचीनाम्, श्रीमताम्, गेहे, योगभ्रष्टः, अभिजायते ।

योगभ्रष्टः=योगभ्रष्ट, पुण्यकृताम्=पुण्यवानों के, लोकान=लोकों को, प्राप्य=प्राप्त करके, शाश्वतीः=बहुत, समाः=वर्षों तक (वहां), उषित्वा=रहकर, शुचीनाम्=पवित्र, श्रीमताम्=श्रीमानों के, गेहे=घर में, अभिजायते=जन्म लेता है।

शुभ लोक पाकर पुण्यवानों का, रहे वर्षों वहीं ।
फिर योग-विचलित जन्मता श्रीमान् शुचि के घर कहीं ॥

अर्थ—योग-भ्रष्ट, पुण्यवानों के लोकों को प्राप्त करके बहुत वर्षों तक वहाँ रह कर पवित्र श्रीमानों के घर में जन्म लेता है।

व्याख्या—योग की पूर्ण-सिद्धि न होने के दो कारण हैं—

१—मन की चंचलता के कारण दृढ़-अभ्यास न होना।

२—अभ्यास करते-करते मृत्यु के मुख में चले जाना।

मन पर संयम न होने से कर्म में कुशलता नहीं आती और श्रद्धा-पूर्वक करते-करते भी कर्म अधूरा रह जाता है। किसी भी काम को पूरा करने के लिये मन की सम्पूर्ण शक्तियों को उसमें लगा देना आवश्यक है। मन को साध कर सतत-परिश्रम करनेवाले के प्रयत्न सदा पूरे होते हैं।

प्रयत्नों में शिथिलता उसी समय आती है, जब मन साथ नहीं देता। मन छूट जाता है तो अभ्यास भी टूट जाता है। जो एक दिन के लिये अपना किसी प्रकार का अभ्यास छोड़ता है, उसे अपने अन्दर कमी मालूम होने लगती है। जो दो-चार दिन तक कर्म करना छोड़ता है, उसकी कमी आस-पास के नर-नारियों को भी दीखने लगती है और

जो अधिक दिनों तक अपने कर्म का अभ्यास छोड़ देता है, वह सदा असफल रहता है, संसार के सामने उसका सिर नीचा हो जाता है।

सच्चे और पवित्र हृदय से किया हुआ थोड़ा-सा अभ्यास भी व्यर्थ नहीं जाता। जैसे एक व्यापारी दिन भर का उपार्जित किया हुआ धन, रात को सन्दूक में रख देता है और दूसरे दिन सोकर उठने पर उसे वह धन फिर मिल जाता है, इसी प्रकार योग-भ्रष्ट की गति है। वह अपने संचित अभ्यास को दूसरे जन्म में प्राप्त कर लेता है।

एक चलनेवाला सारे दिन चलते-चलते रात को सो जाता है, तो दूसरे दिन उठ कर वह जहाँ तक आ पहुँचा है, उससे आगे ही चलता है, प्रारम्भ से नहीं चलता। इसी प्रकार योग-भ्रष्ट, शिव-मार्ग पर एक जन्म में जितना चल देता है, दूसरे जन्म में उससे आगे चलता है।

मृत्यु रात की नींद के समान है। जैसे दिन भर काम करके रात्रि को सोना आवश्यक है, वैसे ही जन्म के पश्चात् मृत्यु आवश्यक है। वैदिक-संस्कृति की एक यही विशेषता है कि इसका माननेवाला कभी मरता नहीं। उसका कारण-शरीर सहस्रों बार जन्म और मृत्यु होने पर भी अमर बना रहता है। नींद से उठ कर कर्म करनेवाले की भांति वह मृत्यु के पश्चात् जीवन पाकर अपने संचित-संस्कारों को ग्रहण करता है और उनसे कर्म करने में लग जाता है, यही सच्चा जीवन है। इस पर विचार करनेवाले सदा शुभ-कर्म करते हैं। दैवी-सम्पत्ति को संचित करनेवाले जन्म-जन्म में निरन्तर आगे बढ़ते और सुख पाते हैं।

शुभाशुभकर्मों के अनुसार अच्छे और बुरे लोकों की प्राप्ति होती है। पुण्यवानों के लोकों का वर्णन, धर्म-ग्रन्थों में बड़ी सुन्दरता से किया गया है—

सत्यवादी, तपस्वी, शूरवीर, दयावान्, धर्मशील नर-नारी अपने संचित पुण्यों के अनुसार वरुण-लोक, इन्द्र-लोक, प्रजापति-लोक, ब्रह्म-लोक आदि लोकों को प्राप्त करते हैं। पुण्य-लोकों में रोग, शोक,

बुढ़ापा और मृत्यु का भय नहीं होता। सत्यं शिवं और सुन्दरम् के प्रत्यक्ष दर्शन पुण्य-लोकों में होते हैं। वहाँ सब एक-दूसरे पर विश्वास करते हैं। प्रेम और सेवा की बन्दनवार पुण्य-लोकों में द्वार-द्वार पर बँधी रहती है। पवित्रता और शोभा पुण्य-लोकों का शृङ्गार करती है। सुन्दर-उद्यानों में सुगन्धित रंग-बिरंगे फूल, फूल कर जीवन को उत्साह और आनन्द से भरते हैं। चारों ओर फलों से लदे हुए सुन्दर वृक्ष झूमते हैं। झम्पा-झूलती खेती लहराती है। पुण्य-लोकों का जीवन सब प्रकार सुखी और कृतकृत्य होता है।

ऐसे आनन्ददायक दिव्य-लोकों में योग का साधक अपनी साधना के अनुसार बहुत समय तक रहता है। फिर अपनी अधूरी साधना को पूर्ण करने के लिये वह पवित्र श्रीमानों के कुलों मे जन्म लेता है।

इस मृत्यु-लोक में पूर्णता प्राप्त करने के लिये धन, बल और विद्या—श्री, शक्ति और सरस्वती तीन महा-शक्तियों की आवश्यकता है। इन तीनों शक्तियों के बिना जीवन अधूरा रहता है। इन तीनों महा-शक्तियों का योगफल मुक्ति है।

योग-साधना करते-करते लम्बी नींद अर्थात् मृत्यु की गोद में सो जानेवाला जागने पर पवित्र श्री-सम्पन्न कुलों में जन्म लेता है। अपवित्र धनी-वर्गों में श्री का मद होता है, वहाँ चरित्र और सदाचार का अपमान किया जाता है। दूषित धनवानों के द्वार धर्म के लिये बन्द रहते हैं। अतः होनहार, तेजस्वी, तीव्र बुद्धिवाली सन्तान उन पवित्र धनवानों के यहाँ होती हैं, जो तप और सदाचार से अपने घरों को सजाते हैं। जिनके द्वार—चरित्र, शुभ-संकल्प और धर्माचरण के लिये सदा खुले रहते हैं, उन्हीं के यहां योगी जन जन्म लेते हैं।

जो योगी एक जन्म में सिद्धि नहीं पाते वे उन पवित्र श्रीमानों के यहां जन्मते हैं जो योग्य-सन्तान पाने की कामना करते हैं और जो धर्म-संस्थापना तथा लोक-संग्रह के लिये जीवनअर्पण करते हैं—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा, योगिनाम्, एव, कुले, भवति, धीमताम्,
एतत्, हि, दुर्लभतरम्, लोके, जन्म, यत्, ईदृशम् ।

अथवा=अथवा, धीमताम्=ज्ञानवान्, योगिनाम्=योगियों के, कुले=कुल में, एव=ही, भवति=जन्म लेता है, लोके=संसार में, एतत्=यह, यत्=जो, ईदृशम्=इस प्रकार का, जन्म=जन्म है (वह), हि=निस्सन्देह, दुर्लभतरम्=अत्यन्त दुर्लभ है ।

या जन्म लेता श्रेष्ठ ज्ञानी योगियों के वंश में ।
दुर्लभ सदा संसार में है जन्म ऐसे अंश में ॥

अर्थ—अथवा ज्ञानवान् योगियों के कुल में ही जन्म लेता है, संसार में यह जो इस प्रकार का जन्म है, वह निस्सन्देह अत्यन्त दुर्लभ है ।

व्याख्या—योगियों के यहां योग-साधना की सम्पूर्ण सुविधायें, अनायास ही सुलभ हो जाती हैं। सुविधा जीवन के विकास का एक महत्त्व-पूर्ण साधन है। सम्पूर्ण सुविधायें जुटाने में कभी-कभी समूचा जीवन लग जाता है । कठिन प्रयत्न करने पर भी सारी सुविधायें नहीं मिलतीं, गुरुत्व का वातावरण नहीं बनता । अनेकों प्रतिभावान् व्यक्तियों के जीवन अनुकूल वातावरण न मिलने के कारण ही दबे रह जाते हैं ।

अनुकूल वातावरण, उन्नति करने की सुविधायें, संस्कारों का योग और पुरुषार्थ के मिलते ही जीवन का सर्वोदय होता है, सर्वतोमुखी प्रतिभा साधक को वरण करती है, सर्वत्र जय-जयकार होता है, आनन्द के कलश भर जाते हैं और मनुष्य पूर्णकाम हो जाता है ।

सत्संग, सद्बुद्धि, संयम, स्वास्थ्य, सौम्यता, सम्पन्नता और सत्य जहां मिल जाते हैं, वहीं स्वर्ग है । अष्ट-सिद्धियां और नव-निधियां वहां आने के लिये उत्सुक रहती हैं; वहां सम्पूर्ण कलाओं का प्रकाश होता है; आनन्द खुलकर खेलता है और जीवन-मुक्ति हाथ बांधे खड़ी रहती है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

तत्र, तम्, बुद्धिसंयोगम्, लभते, पौर्वदेहिकम्,
यतते, च, ततः, भूयः, संसिद्धौ, कुरुनन्दन ।

तत्र=वहां (वह), पौर्वदेहिकम्=पहिले जन्म के, तम्=उस, बुद्धिसंयोगम्=बुद्धि-संयोग को, लभते=प्राप्त करता है, च=और, कुरुनन्दन=हे कुरुनन्दन, ततः=उससे, भूयः=फिर, संसिद्धौ=योग-सिद्धि के लिये, यतते=प्रयत्न करता है ।

पाता वहां फिर पूर्व-मति-संयोग वह नर - रत्न है ।
उस बुद्धि से फिर सिद्धि के करता सदैव प्रयत्न है ॥

अर्थ—वहां वह पहले जन्म के उस बुद्धि-संयोग को प्राप्त करता है और हे कुरुनन्दन! उससे फिर योग-सिद्धि के लिये प्रयत्न करता है।

व्याख्या—पिछले संस्कार अगले जन्म में साथ चलते हैं, सत्संग मिलने से संस्कार अधिकाधिक निर्मल बनते हैं। पवित्र वातावरण शुभ संस्कारों को उभारता है और अशुभ संस्कारों को दबाता है। इसी प्रकार अपवित्र वातावरण अशुभ संस्कारों को बल देता है और शुभ संस्कारों को क्षीण करता है।

श्रीमानों और योगीजनों के घरों में जन्म पाने का प्रत्यक्ष लाभ यही है कि वहां शुभ संस्कारों को उभरने और फूलने-फलने का अवसर मिलता है।

माता-पिता और स्वजनों के आचरण का प्रभाव बालक पर पड़ता है। धर्म, सदाचार और चरित्र की शिक्षा घर से ही प्रारम्भ होती है। बालक जैसा देखते हैं वैसा करते हैं। पवित्र घरों में योगियों की पूर्व-बुद्धि का संयोग सहज में जाग्रत हो उठता है।

भाग्य, अनुकूल परिस्थितियां और प्रयत्न तीनों के संयोग से

जीवन का विकास होता है। इनमें एक के बिना दूसरे का बल अपूर्ण रहता है। योगीजनों को भगवत्-कृपा से भाग्य, अनुकूल परिस्थिति और प्रयत्न तीनों मिल जाते हैं।

भोगी सञ्चित पुण्यों को घटाता है और योगी प्रयत्न करके पुण्यों को बढ़ाता है। अपनी शक्ति और भाग्य को व्यर्थ व्यय न करनेवाला योगी, अव्यय ब्रह्म की कृपा का अधिकारी बन जाता है।

स्वयं ज्ञान रूप हो जानेवाला ही ईश्वरीय ज्ञान तक पहुंचता है। ज्ञान स्वरूप होने के लिये पवित्र बुद्धि की आवश्यकता है, पवित्र बुद्धि या योग-बुद्धि उत्तम संस्कारों से बनती है।

संस्कारों से प्राप्त योग-बुद्धि द्वारा किये गये प्रयत्नों से मनुष्य घड़ी की सुई की भांति निरन्तर आगे बढ़ता है। जीवन संग्राम में विजय उस बुद्धि से मिलती है, जिसमें कर्म करने की कुशलता है और जो सदा कर्म-तत्पर रहकर परात्पर पुरुष में टिकी रहती है।

योगबुद्धि कभी परमेश्वर से वियोग नहीं होने देती, क्षुद्र अहंकार को दबाये रखती है और त्याग का महामंत्र सिखाती है। सफलता वही पाता है जो योग-बुद्धि से अपने जीवन का निरन्तर बलिदान करता है। योगबुद्धि से सिद्धि के प्रयत्न करने वाले में पुरुषार्थ, प्रसन्नता, प्रेम, त्याग, सेवा, निर्मलता और सम्पूर्ण दैवी गुण सदा जाग्रत रहते हैं: वह सदा प्रगति करता हुआ मंगल मार्ग पर चलता है।

शुभ मार्ग पर चलनेवाला निरन्तर आगे बढ़ता है, जन्म-जन्म के सात्त्विक प्रयत्नों द्वारा उसका जीवन पवित्र और महान् बन जाता है। सत्-प्रयत्नों से सम्पूर्ण सिद्धियां सुलभ हो जाती हैं। प्रयत्न करने की प्रेरणा देनेवाला अभ्यास है। योगबुद्धि पाकर जिसका अभ्यास दृढ़ हो जाता है वह कभी पाप और पतन की ओर नहीं जाता। संयोग-वश संस्कारी जीव, पाप की ओर फिसलता है तो परमेश्वर के हाथ उसे बचा लेते हैं। पुण्य-मार्ग पर चलने का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर, पाप के पंथ पर पैर स्वयं ही नहीं पड़ते।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

पूर्वाभ्यासेन, तेन, एव, ह्रियते, हि, अवशः, अपि, सः,
जिज्ञासुः, अपि, योगस्य, शब्दब्रह्म, अतिवर्तते ।

सः=वह, अवशः=विवश होकर, अपि=भी, तेन=उस, पूर्वाभ्यासेन=पहिले के अभ्यास से, एव=ही, हि=निस्सन्देह, ह्रियते=खींचा जाता है, योगस्य=योग का, जिज्ञासुः=जिज्ञासु, अपि=भी, शब्दब्रह्म=शब्द-ब्रह्म को, अतिवर्तते=पार कर जाता है ।

हे पार्थ ! पूर्वाभ्यास से खिंचता उधर लाचार हो ।
हो योग-इच्छुक वेद-वर्णित कर्म-फल से पार हो ॥

अर्थ—वह विवश होकर भी उस पहिले के अभ्यास से ही निस्सन्देह खींचा जाता है, योग का जिज्ञासु भी शब्द-ब्रह्म को पार कर जाता है ।

व्याख्या—पूर्व जन्म का अभ्यास अगले जन्म में जाग्रत हो जाय तो पुण्य की ओर ही प्रवृत्ति होती है । सूर्योदय से पहिले जैसे ऊषाकाल होता है, इसी प्रकार भाग्योदय से पहले अभ्यास का उदय होता है । अभ्यास मनुष्य के मन को दूसरी ओर नहीं जाने देता । अभ्यास से बनी हुई आंखें अशुभ नहीं देखतीं । जिसे जैसा अभ्यास पड़ जाता है, वह वैसा ही बन जाता है ।

पूर्व-जन्म का अभ्यास योगी को बरबस परम-तत्त्व की ओर खींचता है । अभ्यास में बड़ा बल है । अभ्यास से निमग्नता आती है इन्द्रियाँ उसे धोखा नहीं दे पातीं, जिसका अभ्यास दृढ़ हो जाता है । दीर्घकाल तक निरन्तर, सत्कार (सत्य+श्रद्धा+स्नेह+सद्भाव) पूर्वक जो अभ्यास किया जाता है वह दृढ़ हो जाता है । अभ्यास के बिना योग की जिज्ञासा स्थिर नहीं होती ।

जिसमें एक बार भी योग की जिज्ञासा हो जाती है, उसे निश्चय-पूर्वक परम सुख मिलता है। योग की जिज्ञासा करनेवाला शब्द-ब्रह्म को पार कर जाता है।

शब्द-ब्रह्म एक रहस्यमय शब्द है।

शब्द-ब्रह्म = वेद में कहे हुए कर्मफल (शंकराचार्य)।

शब्द-ब्रह्म = काम्य-कर्म (तिलक)।

प्रायः कर्म किसी न किसी कामना से किये जाते हैं। कामना से कर्म करते-करते जब अखण्ड सुख अथवा योग की जिज्ञासा होती है तो कर्मों में पवित्रता बढ़ती है। पवित्र कर्मों से चित्त शुद्ध होता है। शुद्ध चित्त से कर्म करनेवाला योगी शब्द-ब्रह्म से पार हो जाता है।

केवल शब्द-ज्ञान से मनुष्य की उलझनें नहीं सुलझतीं, शब्द-ज्ञान के साथ व्यवहार-कला का योग होने से मुक्ति के कर्म प्रारम्भ होते हैं। योगी, अपने अभ्यास से बने हुए स्वभाव से प्रेरित होकर शब्द-ज्ञान से परे विशुद्ध व्यवहार करता है। उसका अनुभव पक जाता है—अनुभव का डंडा जिसके हाथ आ जाता है वह पहाड़ों को लाँघ सकता है, समुद्र तैर सकता है और इस भूमंडल पर जो चाहे कर सकता है। जिसके पास अनुभव है वही योगी है।

योगी और भोगी में इतना ही अन्तर है कि, 'भोगी' समय के प्रवाह में बह जाता है, परिस्थितियों से दब जाता है, सङ्कटों के सामने घुटने टेक देता है और मन तथा इन्द्रियों का दास बन कर रहता है। 'योगी'—दिनों के फेर को नहीं मानता, भाग्य को अपने अनुकूल बना लेता है, परिस्थितियों का सदुपयोग करता है, सङ्कटों में धैर्य-बुद्धि से काम लेता है और मन तथा इन्द्रियों पर संयम से शासन करता है। योगी का अभ्यास, उसे क्षणभंगुर विषय-सुख से हटा कर बल-पूर्वक अनन्त आनन्द की ओर ले जाता है। योगी कामना के लिये नहीं, कर्तव्य-पालन के लिये कर्म करता है। योगी के प्रयत्नों में कभी शिथिलता नहीं आती—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु, योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

प्रयत्नात्, यतमानः, तु, योगी, संशुद्धकिल्बिषः,
अनेकजन्मसंसिद्धः, ततः याति, पराम्, गतिम् ।

प्रयत्नात्=प्रयत्न से, यतमानः=अभ्यास करनेवाला, तु=और, संशुद्धकिल्बिषः=पापों को धो डालनेवाला, योगी=योगी, अनेकजन्मसंसिद्धः=अनेक जन्मों के अनन्तर सिद्ध होकर, ततः=फिर, पराम्=परम, गतिम्=गति को, याति=प्राप्त करता है ।

अति यत्न से वह योगसेवी सर्वपाप-विहीन हो ।
बहु जन्म पीछे सिद्ध होकर परम-गति में लीन हो ॥

अर्थ—प्रयत्न से अभ्यास करनेवाला और पापों को धो डालनेवाला योगी, अनेक जन्मों के अनन्तर सिद्ध होकर फिर परम-गति को प्राप्त करता है ।

व्याख्या—परम-गति के लिये बड़े प्रयत्न करने पड़ते हैं । सुख सरलता से नहीं मिलता । दुःखों को निर्मूल करके अनन्त-आनन्द में टिक जाने के लिये बहुत समय तक अभ्यास की आवश्यकता है ।

उत्साह के साथ निरन्तर प्रयत्न करना अभ्यास का प्राण है । निर्जीव और बेमन से किये गये शिथिल अभ्यास से मुक्ति का मधुर फल नहीं मिलता ।

अखण्ड सुख अथवा जीवन-मुक्ति के लिये—

१—प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करना चाहिये ।

२—पापों को धो डालना चाहिये ।

३—अखण्ड-सुख मिलने तक दृढ़ता से अभ्यास में लगे रहना चाहिये ।

१—प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करना चाहिये—

मनुष्य जहाँ आज है, कल उसे उससे आगे बढ़ जाना है, जीवन का यही चिह्न है। धीरे-धीरे लगातार चलनेवाला, दौड़ कर चलनेवाले से अधिक दूर तक जाता है और निश्चित ध्येय पर पहुँचता है। बिना परिश्रम किये प्राप्त होनेवाली वस्तु शीघ्र नष्ट हो जाती है।

प्रयत्नशील नित्य कर्म-तत्पर और सावधान रहता है।

वेदों ने एक आदेश दिया है—

'भूत्यै जागरणं अभूत्यै स्वप्नम्। (यजु० ३०।१७)

जागने से सब ऐश्वर्य मिलते हैं, सोने से दरिद्रता हाथ लगती है।

प्रयत्नशील सदा जागता है। जागने का अर्थ है—सत्य के साथ सावधान रहना। जप-तप, ज्ञान-विज्ञान, भक्ति-योग आदि साधनों की पूर्णता, जागरूक रहकर प्रयत्न करने से होती है।

शिवसंहिता में चार प्रकार के प्रयत्न करनेवालों की चर्चा है—

१- मृदु—जो सुख और सरलता से सिद्धि चाहता है। जिसके प्रयत्नों में शिथिलता रहती है। जो ज्ञान और सावधानी से प्रयत्न नहीं करता, राग और रोग जिसे ग्रस लेते हैं, जिसके प्रयत्नों के मूल में लोभ बसा रहता है और जो प्रयत्न करने में पाप और पुण्य का विचार नहीं करता।

इस प्रकार प्रयत्न करनेवाला जन्म-जन्मान्तर तक प्रयत्न करके बड़ी कठिनाई से पवित्र होता है।

२- मध्य—जो परिश्रम से प्रयत्न करता है और जिसमें तप, तितिक्षा, अभ्यास तथा वैराग्य की पवित्र एवं सम-बुद्धि होती है।

३- अधिमात्रक—जो दृढ़ता से मन को स्थिर कर लेता है, बुद्धि जिसकी आत्मा से प्रकाश पाती है, जो सब प्रकार जितेन्द्रिय तथा पराक्रमी होता है और अनन्य-गति से ब्रह्म-पथ पर चलता है।

४- अधिमात्रतम—जिसके परम पुरुषार्थ और उत्साह को कभी आलस्य और निराशा का घुन नहीं लगता, जो पवित्र-निष्ठावान् है, जिसका जीवन संयम से तेजस्वी और उन्नतिशील बन गया है, जिसमें सर्वतोमुखी प्रतिभा है, चरित्र जिसका मित्र है, पवित्र शक्ति जिसकी सहचरी है और जिसके एक हाथ में कर्म तथा दूसरे हाथ में विजय रहती है।

प्रयत्न उस समय सफल होता है जब ज्ञान, पवित्रता, प्रेम और उत्साह के झरने अन्तःकरण से उमड़ कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को सींचते हैं।

सफलता वहां हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं जहां सरलता पूर्वक प्रयत्न करने का स्वभाव बन जाता है। जिस प्रकार आम के वृक्ष पर बैठते ही कोयल कूक उठती है, कमल पर भौंरा मंडराता है, बाग में बुलबुल बोलती है इसी प्रकार आत्म-भाव में स्थित होते ही प्रयत्न चहक उठते हैं—सफलता स्वयं आ मिलती है।

प्रयत्नशील साधक, निरन्तर प्रगति करते हुए, मल और विकारों को धो डालते हैं।

२—पापों को धो डालना चाहिये—

पापों और विकारों के रहते हुए, जीवन पवित्र नहीं बनता। मन, वचन और कर्मों के-विकारों को धो डालनेवाला निष्पाप मनुष्य, परम-गति के लिये प्रयत्न करने योग्य बुद्धि-योग प्राप्त करता है। जैसे रात के साथ दिन नहीं रहता, उसी प्रकार पाप के साथ दैवी-प्रयत्न नहीं रहते। पाप की नाव डूबती है।

योगी पुरुष, यज्ञ-कर्मों से अपने पापों को धो डालते हैं। नियमित-संयमित और सादे जीवन पर पाप की छाया नहीं पड़ती। मन को प्रेमपूर्वक किसी न किसी शुभ-कार्य में लगाये रखने से, पापों को सिर उठाने का अवसर नहीं मिलता। अतः चले चलो! निरन्तर चलनेवाले के पाप कट जाते हैं। ऐसे चलो कि—

तुम चलो मोद मंगल उमड़ने लगें और झड़ने लगें बोलने में सुमन।
गीत गायें दिशाएँ दशों मोद से सुख से नाचे धरा और गूंजे गगन ॥
चलनेवालोंके चरणोंमें रहती विजय, आलसी अधमरा भूमि का भार है।
उठो जागो चलो और आगे बढ़ो ! हार कर बैठने में कहाँ सार है ॥

३—अखण्ड-सुख मिलने तक दृढ़ता से अभ्यास करना चाहिये—

करनेवाले को आज, कल, सप्ताह में, महीने में, वर्ष में, इस जीवन में अथवा आगामी जीवन में, कभी न कभी सफलता मिलती है। साबुन लगाकर एक पानी से, दूसरे पानी से अथवा तीसरे पानी से, जब तक वस्त्र स्वच्छ नहीं हो जाता तब तक धोना पड़ता है; इसी प्रकार परम-गति प्राप्त होने तक निरन्तर प्रयत्न करने चाहियें।

भगवान् राम ने एक दिन में असुरों का संहार नहीं कर दिया था, वर्षों के तप और शक्ति-सञ्चय से भूमि का भार हल्का किया था। लक्ष्मण ने कठिन तप द्वारा मेघनाद को जीतने की शक्ति प्राप्त की थी।

श्रीकृष्ण ने जीवन-पर्यन्त प्रयत्न करके धर्म की संस्थापना की थी। ज्ञान और विज्ञान के पीछे धैर्य-पूर्वक किये गये महाप्रयत्नों का बल रहता है। परम-गति अनेकों जन्म के पश्चात्, शुद्ध होते-होते मिलती है।

परम-गति—

परम-गति जीवन की सर्वश्रेष्ठ सफलता है। देहाभिमान का अंधेरा हटा कर ब्रह्म का दर्शन कर लेना और उसके प्रकाश से प्रकाशमान रहना—परम-गति है। छोटे-से जीवन को महान् और व्यापक बना लेना, परम-गति का लक्षण है। जैसे-जैसे पाप धुलते हैं; मोह और ममता का पराभव होता है और मनुष्य अनन्त में मिल कर सर्वमय होता जाता है, वैसे-वैसे ही वह परम-गति के समीप पहुँचता है जिसके आगे कोई गति नहीं है, वही 'परम-गति' है।

तपस्वी, ज्ञानी, कर्मनिष्ठ सभी परम-गति को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। जो परम-गति को पा लेता है—वही योगी है। इसीलिये योगी भगवान् को प्रिय है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

तपस्विभ्यः, अधिकः, योगी, ज्ञानिभ्यः, अपि, मतः, अधिकः, कर्मिभ्यः, च, अधिकः, योगी, तस्मात्, योगी, भव, अर्जुन ।

अर्जुन=हे अर्जुन, तपस्विभ्यः=तपस्वियों से, योगी=योगी, अधिकः=अधिक है, ज्ञानिभ्यः=ज्ञानियों से, अपि=भी, अधिकः=श्रेष्ठ, मतः=माना गया है, च=और, कर्मिभ्यः=सकाम कर्म करनेवालों से भी, योगी=योगी, अधिकः=श्रेष्ठ है, तस्मात्=इसलिये, योगी=योगी, भव=हो ।

सारे तपस्वी ज्ञानियों से, कर्मनिष्ठों से सदा ।
है श्रेष्ठ योगी पार्थ ! हो इस हेतु योगी सर्वदा ॥

अर्थ—हे अर्जुन ! तपस्वियों से योगी अधिक है, ज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम-कर्म करनेवालों से भी योगी श्रेष्ठ है, इसलिये योगी हो ।

व्याख्या—गीता में 'योग' शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक और उदार है । गीता का योगी स्थित-प्रज्ञ है । वह आत्म-तृप्त यतचित्तात्मा परिग्रह को त्यागनेवाला, वीतराग, कर्तव्य-परायण, नियमित एवं संयमित व्यवहार करनेवाला, जीवन्मुक्त और समदर्शी पुरुष है ।

शरीर और इन्द्रियों को कष्ट देना तप अथवा योग का लक्ष्य नहीं है । ब्रह्म और जीव का योग, समत्व-योग अथवा अखण्ड-आनन्द प्राप्त करने में ही योग और तप का उपयोग है । तन, मन और वचन से तप करनेवाला, योगी जीवन को पवित्र और महान् बना लेता है, अतः 'योगी' श्रेष्ठ है ।

ज्ञान का कोष भरा रहने से आत्म-शान्ति नहीं मिलती । कर्म के बिना ज्ञान पंगु है । कर्म-हीन ज्ञानी का जीवन, सुगन्ध-हीन पुष्प के समान है । आचरण में न आनेवाला ज्ञान, बोझा मात्र है । अतः

ज्ञानी से भी ज्ञान और कर्म का योग करनेवाला योगी श्रेष्ठ है।

कर्म-हीन संसार के भार बन कर रहते हैं। दूसरों के सहारे जिनका पालन होता है, उनसे वे श्रेष्ठ हैं, जो कर्म करते हैं, चाहे वह कर्म कामना-पूर्ति के लिये ही हो।

सकाम-कर्म करनेवालों से 'योगी' बहुत श्रेष्ठ है। सकाम कर्म में भय, चिन्ता, काम, क्रोध, राग, द्वेष और अनेकों विकार जीवन को दबाये रहते हैं। योगी का जीवन मुक्त होता है। वह निर्भय होकर कर्तव्य-पालन करता है। बाधाओं को सहज में पार कर जाता है। चिन्ताओं की चिता पर बार-बार नहीं जलता।

वेदों का एक आदेश है—

'मा पुरा जरसो मृथाः।' (अथर्व० ५।३०।१७)

मनुष्य ! बुढ़ापे से पहले मत मर।

सकाम कर्म करनेवाला बार-बार मरता है, योगी कभी नहीं मरता। अतः योगी बनना, प्रत्येक उन्नत-शील मनुष्य के जीवन का ध्येय होना चाहिये।

तपस्वी जिसके लिये तप करते हैं, ज्ञानी जिसे जानने के लिये सर्वस्व त्याग देते हैं, सकामी जन और कर्मनिष्ठ अनेक कामनाओं से जिसकी ओर जाते हैं, योगी उसे अपने आप में देखता है और स्वयं वही बन जाता है।

इस प्रकार योग के साधन और महिमा का सविस्तार सरल और सुबोध वर्णन करके भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय-सखा को योगी बनने का आदेश देते हैं।

योगी कभी नीचे नहीं गिरता—

'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्।' (अथर्व० ८।१।६)

पुरुष के लिये ऊपर उठना है, नीचे गिरना नहीं।

योगी पुरुष, अपनी योग्यता और कर्मों से सबको प्रिय लगता है। देवता भी पुरुषार्थी भक्त को चाहते हैं। इसीलिये श्रीकृष्ण ने कहा—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

योगिनाम्, अपि, सर्वेषाम्, मद्गतेन, अन्तरात्मना,
श्रद्धावान्, भजते, यः, माम्, सः, मे, युक्ततमः, मतः ।

सर्वेषाम्=सम्पूर्ण, योगिनाम्=योगियों में, अपि=भी, मे=मुझे, सः=वह योगी, युक्ततमः=परम श्रेष्ठ, मतः=मान्य है, यः=जो, श्रद्धावान्=श्रद्धावान, मद्गतेन= मुझमें लगे हुए, अन्तरात्मना=अन्तरात्मा से, माम्=मुझे, भजते=भजता है ।

सब योगियों में मानता मैं युक्ततम योगी वही ।
श्रद्धा-सहित मम ध्यान धर भजता मुझे जो नित्य ही ॥

अर्थ—सम्पूर्ण योगियों में भी मुझे वह योगी परम-श्रेष्ठ मान्य है, जो श्रद्धावान् मुझमें लगे हुए अन्तरात्मा से मुझे भजता है ।

व्याख्या—जिस प्रकार शास्त्र-ज्ञान और कर्म-कुशलता के योग से शुभ-कर्मों की साधना होती है, उसी प्रकार योग और भक्ति के समन्वय से योग पूर्ण होता है ।

भगवान् को योगी-भक्त परम-प्रिय है । 'योगी भक्त' वह है—

१—जो श्रद्धावान् है । २—जो भगवान् में लगे हुए अन्तःकरण से भगवान का भजन करता है ।

श्रद्धावान्—

श्रद्धा से अभिमत-फल मिलता है । श्रद्धा महाशक्ति है ।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥

(ऋग्० १०।१५१।४)

देवता, यजमान, मनुष्य सब श्रद्धा की उपासना करते हैं । हृदय से श्रद्धावान् होनेवाले के लिये धन-धान्य आदि स्वयं सुलभ हो जाते हैं ।

श्रद्धा के शुभागमन से हृदय, अपनी सम्पूर्ण शक्तियों के साथ सात्त्विक और उदार भाव से कर्म में लग जाता है। सूर्य जैसे पुष्पों को प्रफुल्लित करता है, उसी प्रकार श्रद्धा, कर्म में जीवन भर देती है। श्रद्धा-हीन कर्म व्यर्थ होते हैं और अन्ध-श्रद्धा से मिथ्याचार का जन्म होता है।

जिसके मन, वचन और कर्म तीनों एक तान और एक प्राण होकर कर्म में लग जाते हैं. वही सात्त्विक श्रद्धावाला है। भगवान् उसीको श्रेष्ठ मानते हैं।

जो भगवान् में लगे हुए अन्तःकरण से भगवान् का भजन करता है—

योगी चित्त-वृत्तियों का निरोध करके अपने अन्तःकरण के चारों श्वेत अर्थात् निष्पाप घोड़ों की बागडोर भगवान् के हाथ में सौंप देता है; मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को भगवान् में मिला देता है और फिर वह जो कुछ करता है, उससे भगवान् की पूजा होती है।

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार जब तक पवित्र होकर भगवान् में नहीं लगते, तब तक पाप-ताप उन्हें घेरे रहते हैं। अन्तरात्मा और परमात्मा का योग होते ही विकारों, वासनाओं, पापों-तापों और द्वन्द्वों से पीछा छूट जाता है। ऐसी अवस्था में किये गये कर्म—ध्यान, जप, तप, उपासना आदि सब प्रकार पूर्ण और आनन्ददायक होते हैं।

योग की सर्वोत्तम साधना परमात्मा में स्थित होकर कर्म करने में है। जो ऐसा करता है, उसीको भगवान् सर्व-श्रेष्ठ मानते हैं।

卐

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे संयमयोगो
नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥